रसगङ्गाधर

एक अध्ययन

धानेशचन्द्र उप्रेती

विशिष्ट-पुरस्कारार्थ

रसगंगाधर

एक अध्ययन

पं० थानेशचन्द्र उप्रैती

परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स
27/28 शक्ति नगर
दिल्ली-110007

© प्रकाशक

प्रथम संस्करण
1989

मूल्य 200.00

मुद्रक—गुप्ता प्रिंटर्स, ई-2/16, शास्त्री नगर
दिल्ली-110052.

विषयानुक्रमणी

भूमिका 1-144

मंगलाचरण 1, ग्रन्थ परिचय 3, पण्डितराज का जीवनवृत्त 10, किंवदन्तियाँ 14, व्यक्तित्व एवं अभ्युदय 18, स्थितिकाल 20, अप्पय्यदीक्षित और पण्डितराज 22, पाण्डित्य 24, पण्डितराज की काव्यकला 27, सामयिक प्रभाव 31, पण्डितराज की अन्योक्तियाँ 32, आराध्यदेव 34, रचनायें 35, **रसगङ्गाधर** 36, रसगङ्गाधर की शैली 39, अद्भुत प्रतिभा का परिणाम 40, रसगङ्गाधर की टीका सम्पत्ति 43, **काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन** 47, आचार्य दण्डी 49, वामन 50, आनन्दवर्धन 51, आचार्य कुन्तक 52, आचार्य मम्मट 53, विश्वनाथ 54, पण्डितराज जगन्नाथ 55, काव्यस्वरूप 56, **पण्डितराज का काव्य-लक्षण** 57, रमणीय व सामान्य अर्थ में भेद 58, पण्डितराज का परिष्कृत लक्षण 61, फलित लक्षण, 64, पण्डितराज के लक्षण की समीक्षा 67, विश्वनाथ के काव्यलक्षण में असहमति 69, काव्य का कारण 71, अन्य आचार्यों का मत 72-76, **प्रतिभा** का स्वरूप 77, अन्य मतानुसार व्याख्या 79, **काव्य का वर्गीकरण** 83, अलंकारों के तीन रूप 87, उत्तमोत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य के भेद 88, असंलक्ष्य तथा संलक्ष्यक्रम 90, **रसस्वरूप विवेचन** 93, मम्मट के व्यक्तिवाद की व्याख्या 97, अभिनवगुप्त के तन्मयीभवन की व्याख्या 99, भट्टनायक का भुक्तिवाद 102, अनिर्वचनीय ख्यातिवादी 106, अन्यथाख्यातिवादी 108, भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद 110, शंकुक का अनुमितिवाद 112, **भावस्वरूप विवेचन** 114, भरत का भाव-लक्षण 115, पूर्वपक्षीय भावलक्षण 118, भावध्वनि की सीमायें 120, व्यञ्जक सामग्री 123, **गुणों का निरूपण** 124, पण्डितराज का मत 127, काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों के साथ पण्डितराज 131-141, रसगङ्गाधर का सिंहावलोकन 142-144।

प्रथम आनन 145-281

रसगङ्गाधर का प्रतिपाद्य विषय 145-147, **काव्य लक्षण** 148-155 काव्य का कारण 155-56, प्रतिभा के कारण 156-58, काव्य के भेद 159-66, उत्तम काव्य का लक्षण 167, मध्यम काव्य 173, अधम काव्य 174, रस-स्वरूप विवेचन 175-181, **भट्टनायक का भुक्तिवाद** 182, अनिर्वचनीयता-वादी मत 187, करुणरसप्रधान काव्यों की सुखरूपता 189, अन्यथाख्यातिवादी

मत 191, **भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवादी मत** 194, **शंकुक का अनुमितिवादी मत** 196, विभावादि समुदितवादी मत 197, चमत्कारवादी मत 198, केवल विभावादि मत 198, केवल अनुभाववादी मत 199, केवल सञ्चारीवादी मत 199, **रससंख्या** 201, नाट्य में शान्तरस विषपक विवाद 202, स्थायीभाव भेद 205, विभावादि निरूपण 210, शृङ्गार के भेद 212, करुण, शान्त रौद्र 215, वीर 216, अद्भुत हास्य 217, वीभत्स 219, हास्य व वीभत्स का आश्रय 220, अतिरिक्त रसों की आशंका 221, रसास्वाद के प्रतिबन्धक दोषों का निर्वचन 225, **गुणों का निरूपण** 227, वामनादियों के मत 231, श्लेषगुण 232, प्रसादगुण 233, माधुर्य गुण 234, सुकुमारता अर्थव्यक्ति 235, उदारता 236, कान्ति, समाधि एवं प्राचीनोक्त दश अर्थगुण 237, गुणत्रय-वाद 242, भावध्वनि का निरूपण 246, **चौंतीस भावों का नाम निर्देश** 252, हर्ष, स्मृति 252, व्रीडा, मोह 254, धृति शङ्का 255, ग्लानि, दैन्य 256, चिन्ता, मद 257, श्रम, गर्व 258, निद्रा 259, मति 260, त्रास 261, सुप्तम्, विबोध 262, अमर्ष 263, अवहित्था, उग्रता 264, उन्माद 265, मरण, वितर्क 266, विषाद 267, औत्सुक्य 268, आवेग, जडता 269, आलस्य, असूया 270, अपस्मार, चपलता 272, निर्वेद, भाव 273, **संचारी भावों की संख्या** 274, रसाभास 274, भावाभास, भावशान्ति 276, भावोदय 277, भावसन्धि 278, भावशबलता 279.

द्वितीय आनन 282-564

मंगलाचरण 28-283, **प्रतिपाद्य विषय** संलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद 284, शब्द-शक्तिमूलकध्वनि के विषय में विवाद 287, नानार्थशक्ति के नियामक तत्त्व 298, अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य 303, शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि 307, लक्षणामूला ध्वनि 308, शब्दशक्ति या वृत्ति का स्वरूप 310, **अभिधा शक्ति** 312, **लक्षणा** 315, प्रयोजनवती लक्षणा के भेद 320, रूपक और उपमा में भेद 321, काव्य में अलंकारों का महत्त्व 326, **उपमा** 329, उपमेयोपमा 335, अनन्वय 338, असम, 341, उदाहरण 343, स्मरण 346, **रूपक** 349, रूपक के भेद 354, सन्देह 362, भ्रान्तिमान् 370, उल्लेख 375, अपह्नुति 379, **उत्प्रेक्षा** 385, उत्प्रेक्षा का विभाग 389, रुय्यक का मत 399, वैय्याकरणों का मत 405, मीमांसकों का मत 405, नैय्यायिकों का मत 406, **अतिशयोक्ति** 408, निरवयवा अतिशयोक्ति 410, प्राचीनों का मत 411, अतिशयोक्ति के भेद 412, **तुल्ययोगिता** 416, उपमा में अतिप्रसक्ति का कारण 418, दीपक 419, प्रतिवस्तूपमा 422, दृष्टान्त 425, निदर्शना 427, व्यतिरेक 429, सहोक्ति 433, विनोक्ति 438, समासोक्ति 442, परिकर 448, श्लेष 452, सभङ्गश्लेष 454, अप्रस्तुतप्रशंसा 456, पर्यायोक्त 459, व्याजस्तुति 463, आक्षेप 467, विरोधाभास 470, लक्षणा व विरोधाभास में अन्तर 492, विभावना 473, विशेषोक्ति 476, असंगति 478, विषम 480,

सम 483, विचित्र 405, अधिक 486, अन्योन्य 488, विशेष 492, व्याघात 494, शृंखला 497, कारणमाला 498, एकावली 499, अपोहक का अर्थ 500 सार 501, काव्यलिङ्ग 504, अर्थान्तरन्यास 506, अनुमान 508, यथासंख्य 512, पर्याय 514, परिवृत्ति 515, परिसंख्या 516, अर्थापत्ति 520, विकल्प 523, समुच्चय 526, समाधि 528, प्रत्यनीक 530, प्रतीप 531, प्रोढोक्ति 534, ललित 535, प्रहर्षण 538, विषादन 545, उल्लास 506, अवज्ञा 547, अनुज्ञा 548, तद्गुण 548, अतद्गुण 550, मीलित 551, सामान्य 453, उत्तर 560, ग्रन्थ समाप्ति 564।

परिशिष्ट

उदाहरण रूप में उद्धृत श्लोकसूची 565-569.

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

रसगङ्गाधर

एक अध्ययन

कालिन्दीपुलिने पवित्रप्रणये कृष्णाय दत्ताशयाम्,
राधां बाधितकल्मषां सविनयं वन्दे परां देवताम् ।
यस्या नीलकटाक्षलास्यललिताज्जाताऽसिताभाजला,
कालिन्दी कमनीयकुन्दकलिकाकाराऽपि सोत्कण्ठया[1] ॥ १ ॥

प्रणम्य परमात्मानं जगन्नाथं महामहम्[2] ।
जगन्नाथस्य प्रथितं प्रबन्धं परिशीलये ॥ २ ॥

भुवि भव्येषु नव्येषु प्रबन्धेषु विराजते ।
पण्डितेन्द्रस्य प्रौढोऽयं रसगङ्गाधराभिधेः ॥ ३ ॥

तर्ककर्कशसंङ्कीर्णे प्रवन्धेऽस्मिन् गतिर्मम ।
पूर्वसूरिसमारब्धैर्व्याख्यानैः स्याच्छनैश्शनैः ॥ ४ ॥

श्रीप्रेमवल्लभपितुः प्रणयात् तथा च,
श्रीसद्गुरोश्चरणरेणुवरप्रसादात् ।
यायात् सतां नयनगोचरतां मदीयं,
सच्चिन्तितं प्रथितग्रन्थमणेर्महार्घम्[3] ॥ ५ ॥

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा निर्मित यह रसगङ्गाधर नामक काव्यशास्त्रीय सन्दर्भ संस्कृत साहित्याकाश का देदीप्यमान नक्षत्र है और एतद् विषयक ग्रंथरत्नो में अद्वितीय हीरक मणि है, इसमें किसी भी विवेकशील विद्वान् की विमति नहीं है ।

---

1. नीलाकटाक्षलास्यविलासात् स्वच्छजलाऽपि कालिन्दी-यमुनासोत्कण्ठया अहमप्येवं स्यामिति नीलाभा जाता, अथवा सोत्कण्ठया श्वेतजलाऽपि यमुना तादृशी राधा वीक्ष्य रागमोहादिकालुष्यादसितभा जाता ।
2. महान् महो यस्य तम्—महउद्धव उत्सवः, इत्यमरः ।
3. महार्घम् बहुमूल्यमित्यर्थ : ।

निःसन्देह काव्यशास्त्र के इतिहास में पण्डितराज जगन्नाथ का नाम स्वर्णाक्षरों से समुल्लेखनीय है। पण्डित परम्परा में भी पण्डितराज का नाम बड़े सम्मान, श्रद्धा व आतंक के साथ लिया जाता है। यदि किसी को काव्यशास्त्रीय मीमांसा की मोसलता को, और तर्ककर्कश के कठोर युक्तिजाल को, तथा विपक्ष पक्ष के प्रचण्ड खण्डन को तथा साथ ही साथ कोमलकान्त पदावलियों के रसास्वादन को युगपत् अर्थात् एककालावच्छेदेन अवगाहन करना हो तो, उसे अवश्य पण्डितराज के इस प्रौढ़ परिष्कृत रसगङ्गाधर नामक ग्रन्थ को पढ़ना चाहिए।

न्याय, मीमांसा, वेदान्तादिशास्त्र-सरणियों का अनुसरण करने वाली जो विवेचना पद्धति, अलंकारशास्त्र के परिसर में, श्रीमद्-अभिनवगुप्तपादाचार्य के द्वारा अङ्कुरित हुई, और मम्मटभट्टादि द्वारा जिसका पल्लवन किया गया, तथा अप्पय्य-दीक्षितप्रभृति प्रौढ़ विद्वानों के प्रयास से जो पुष्पित हुई, वही विवेचना पद्धति पण्डितराज की पवित्र लेखनी का सहवास प्राप्त कर प्रकृष्ट परिपाक को प्राप्त करती हुई साहित्योद्यान को सुरभित कर रही है।

पण्डितराज जैसी पवित्रात्मा को प्राप्त कर सचमुच भारतीय साहित्यशास्त्र अपने को गौरवान्वित समझता है। आनन्दवर्धन व अभिनवगुप्त के बाद शताब्दियों तक साहित्यशास्त्रीय प्रौढ़ चिन्तन पद्धति करीब-करीब अवरुद्ध सी प्रतीत होती थी। बीच-बीच में केवल शब्दशक्तियों को दार्शनिक दिशा प्रदान कर, उन्हीं की मान्यताओं के विषय में बहुत कुछ ननु नच की नोंक झोंक चलती रही। इन्हीं उलझनों को सुलझाने मात्र में साहित्य का विद्यार्थी अपने को कृतकृत्य समझने लगा, और इतने ही में साहित्य की इति समझ बैठा। समीक्षा के क्षेत्र में किसी नई चेतना का हमें तब तक कोई खास आभास नहीं होता है, जब तक कि इस दिशा में पण्डितराज के ग्रन्थराज के सिद्धान्त सूर्य का अरुणोदय नहीं हो जाता।

पण्डितराज का रसगङ्गाधर हमें जहाँ प्राचीन से प्राचीनतम सिद्धान्तों की उपलब्धि कराने में तत्पर है, वहाँ नवीन से भी नवीनतम काव्यशास्त्रीय चेतनाओं को हमेशा अग्रसर करने में प्रवण है। काव्यशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों पर टीका प्रटीका व तट्टीकाओं द्वारा जितना आलोचन हुआ है, उसका आधा भी कहीं चिन्तन व मनन रसगङ्गाधर पर होता तो, शायद काव्यशास्त्र के इतिहास में एक नया ही अध्याय जुड़ गया होता।

यह सब होते हुये भी यह ग्रंथ अभी तक विद्वानों की विशिष्ट चर्चा का विषय नहीं बन रहा है, इसमें एकमात्र कारण पण्डितराज के द्वारा अपनाई गयी नव्यन्याय की परिष्कृत शैली ही हो, या उसकी प्रौढ़ता के साथ-साथ विषय के विवेचन का कोई प्रकार हो, जो कि सहसा अपरिपक्व बुद्धि वालों के विचार में नहीं आता है।

वस्तुतः यह ग्रन्थ नव्यन्याय की "अवच्छेदकावच्छिन्न" की शैली के कारण कुछ दुर्भेद्य सा भी हो गया है। इसीलिए सामान्य विद्वानों की परिधि से परे की यह बात हो गयी है। जैसा कि रसगङ्गाधर के सरला टीकाकार आचार्य मञ्जुनाथ भट्टजी ने इसके विषय में लिखा है कि—

साहित्य को एक सामान्यशास्त्र समझ कर अब तक जिस किसी विषय के भी विद्वान, इस शास्त्र पर अपनी बकबास शुरू कर देते थे, परन्तु पण्डितराज के द्वारा परिष्कृत शैली के अपनाये जाने पर, अब यह साहित्यशास्त्र भी अभेद्य दुर्ग सा हो गया है---

पुरा प्रविश्यात्र निजप्रसङ्गादन्ये व्यजृम्भन्त बुधाः कदाचित्।
अद्यानया पण्डितराजशैल्या त्वसाधिसाहित्यमभेद्यदुर्गम्॥

सचमुच यह ग्रन्थ उत्तम शैली के कारण एक दुर्भेद्य लौह मन्जूषा ही है, जहाँ से सिद्धान्तरत्नों को निकाल लेना कोई सरल कार्य नहीं है। साथ ही साथ यह विभिन्न शास्त्रों एवं अनेक दर्शनों के प्रभाव से भी, अपने प्रतिपाद्य विषय में अत्यन्त गम्भीर हो गया है। फलतः इसकी गम्भीरता व दुरूहता सहसा विद्वानों को इस ओर प्रवृत्त नहीं होने देती है। तार्किक शिरोमणि महाकवि श्री हर्ष की यह गर्वोक्ति पण्डितराज में अक्षरशः घटती है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि हठन्यायग्रहग्रन्थिले।
तर्के वा मयि संविधातरि स्वयं लीलायते भारती॥

सुकुमार काव्य कला में जहाँ पण्डितराज अतिशय कोमलता की परम अवधि हैं, वहाँ तर्क-कर्कश वचनों में भी वादिराज हैं। कवितार्किक श्री हर्ष की कविताकला जितनी दुरूह है, ठीक उसी तरह उनके दर्शन ग्रन्थों की विवेचना पद्धति भी उतनी ही दुरूह है, जैसा कि खण्डनखण्डखाद्य नामक वेदान्त शास्त्रीय ग्रन्थ के पाठक स्वयं अनुभव करते हैं।

स्वयं उन्होंने अपने इन (नैषधीय चरित महाकाव्य और खण्डनखण्डखाद्य नामक) ग्रन्थों के अन्त में लिख दिया है, कि गुरुसंप्रदाय के बिना मेरे ग्रन्थों का स्वारस्य समझना बहुत ही मुश्किल है। अतः कोई भी मन्दमति इन ग्रन्थों के रहस्य को यों ही जानने की चेष्टा न करें।

क्योंकि कहीं-कहीं जानबूझकर मैने ग्रन्थ दुरूह बना दिया है। इन ग्रन्थों के रहस्यों के जिज्ञासु पाठकों को चाहिए कि वे श्रद्धापूर्वक गुरूजी की समाराधना करके ही उत्तम रहस्यों के समास्वादन का आनन्द प्रदान करें—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिति माऽस्मिन् खलः खेलतु।

श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः[1] ॥

कहीं-कहीं तो श्रीहर्ष की दुरूह फक्किकायें या पंक्तियां शास्त्र के परिनिष्ठित पण्डित को भी चक्कर में डाल देती है ।

परन्तु पण्डितराज के विषय में कविता व शास्त्रीय चर्चा के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई कठिनाइयाँ नहीं है । भगवती भागीरथी के निर्मल प्रवाह की तरह पण्डितराज की प्रसन्न व गम्भीरा सरस्वती समालोचकों के अन्तःकरण को तरङ्गित करती हुई नये-नये विचार वीचियों को जन्म देती है ।

पण्डितराज की यह प्रसन्नपदा सरस्वती न तो मम्मट भट्ट की तरह अत्यन्त संक्षिप्त व संदेह संकीर्ण ही है । और न साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ की तरह विवेचना वैभव शून्य ही है । अप्पय्य-दीक्षित की तरह इनमें पूर्वाग्रहों की मोहसंकटता भी लक्षित नहीं होती है, अपितु पण्डितराज के उदात्त विचारों के प्रकाश में यह पूर्णतया प्रतीत हो जाता है कि साहित्य सभी शास्त्रों का सार है । रस निरूपण के प्रसङ्ग में वेदान्त, न्याय, सांख्य तथा शैव दर्शन के सिद्धान्तों का बड़ी मार्मिकता के साथ विश्लेषण किया गया है । इसी प्रकार अलंकार निरूपण के प्रसङ्ग में शाब्दबोध के प्रकारों के साथ-साथ व्याकरणशास्त्र की बहुत सी बारिकियों का, तथा उपमा व रूपकालंकार के व्याख्यान के अवसर पर विभिन्न समासों का भी सुन्दर विवेचन हुआ है ।

वस्तुतः मम्मट का काव्यलक्षण भी, पण्डितराज की कठोर समालोचना निकष में ही कशाकर खरा उतरता है । अन्यथा तो वह भी एक सामान्य आलंकारिक के काव्यलक्षण की तरह किसी विशेषता से सम्पन्न नहीं प्रतीत होता है ।

प्रायः सभी प्राचीन आलंकारिकों ने मधुर रस (शृङ्गार, करुण व शान्त) के व्यञ्जक पद्यों की कोमलता व मधुरता की सुरक्षा के लिए काफी प्रयत्न किया है । इसके लिए कुछ नियम व उपनियम भी बनाये गये, जैसे संयुक्ताक्षर, टवर्ग, व रेफ घटित रचना न हो । साथ ही साथ असमासा या स्वल्पसमासा रचना हो, इत्यादि । परन्तु उत्तम कोमल रसों के लिए इस प्रकार की रचना करना कितना कठिन है, यह तो वे ही विद्वज्जन जान सकते हैं जिन्हें इस प्रकार की रचना करने का कभी सौभाग्य प्राप्त हुआ है । सामान्यतः किसी भी पद्यरचना के वाक्यार्थ में पूर्वकालिक

---

1. गुरुपरम्परया बिना एकस्यापि पद्यस्यार्थो बौद्धुं न शक्यते, तस्माद् गुरूपरम्पराया एवाध्येयमिदं काव्यमित्यर्थः । यश्चेदं गुरुपरम्पराया अधीते-सततं सुखी भवतु इति—महाकविस्तस्मै आशिषं ददाति, (मल्लिनाथः)
नै० च० अन्तिम श्लोक मल्ली० टीका ।

"क्त्वा" प्रत्ययार्थ तो पदे-पदे आता है। यह प्रत्यय किसी भी धातु से जोड़ा जाय तो कुछ कठोरता अवश्य ला देगा, जैसे-दृश् धातु से यदि "क्त्वा" प्रत्यय किया जाय तो उसका "दृष्ट्वा" रूप बनेगा। यह मधुराक्षर दृश् धातु जन्य होता हुआ भी संयुक्ताक्षर व टवर्ग घटित होने के कारण किसी भी प्रिय पद्य की मधुरता को अवश्य नष्ट कर देगा। ऐसी स्थिति में यदि उक्त 'क्त्वा' प्रत्ययान्त शब्दों के साथ उपसर्गादि जोड़कर "ल्यप्" प्रत्ययान्तरूप भी बना दिया जाय, तो भी व्यञ्जन संयोगजन्य कटुता तो अवश्य ही रहेगी, यही स्थिति "तुमुन्" प्रत्ययादि की भी है।

तात्पर्य यह है कि संस्कृत भाषा में केवल मधुर वर्णों की रचना करना कितना दुष्कर कार्य है। इस विषय में अनुसंधानपूर्वक आलोचना करने पर महाकवियों की भी महनीय रचना उत्तम दोष से अछूती नहीं रहती है, फिर सामान्य कवियों का तो कहना ही क्या है। स्वयं नियम विधाता ग्रन्थकार भी उक्त नियम के औचित्य से विचलित हो जाते हैं।

अमरुक जैसे महाकवि जिनका एक पद्य ही सौ प्रबन्धों की तुलना करता है, उक्त आलोचना के प्रकाश में उनका भी प्रयास इस दिशा में सर्वथा असफल मालूम पड़ता है। परन्तु इस दिशा में भी स्वयं पण्डितराज एक विलक्षण प्रतिभा-शाली कवि हैं, जिनकी कविता पूर्वोक्त दोषों से लेशमाल भी मलिन नहीं है।

अलंकारशास्त्र का मार्मिक विद्वान् यदि कवित्व कलाप्रवीण भी होय तो वह कैसा हो सकता है इसके लिए पण्डितराज एक अनुपम निदर्शन हैं। वस्तुतः पण्डितराज जैसा मेधावी विद्वान् न तो हुआ है, और न निकट भविष्य में इसकी आशा ही की जा सकती है, यदि पण्डितराज का उत्तम ग्रन्थ आज नहीं होता तो साहित्यिक पदार्थों का मार्मिक विवेचन भी उपलब्ध नहीं होता, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

जिस प्रकार पण्डितराज ने निर्मल रसधारा प्रवाहित की, उसी प्रकार अलंकारों को भी स्वच्छ कर उन्हें असामान्य सुषमा से समन्वित किया। बिना रसगङ्गाधर पढ़े रसों का, गुणों का, व स्थायी और व्यभिचारी भावों का, विशद परिचय प्राप्त नहीं होता है। ये सब शब्द पारिभाषिक-शब्दों की तरह मालूम पड़ते हैं। इसका अर्थ भी साक्षात् स्पष्ट नहीं होता, यही बात अलंकार पदार्थ के विषय में भी है।

निश्चित ही पण्डितराज की पदार्थ प्रतिपादन शैली सर्वथा प्राञ्जल है। वक्तव्य वस्तु का विवेचन ऐसे नपे तुले ओजस्वी शब्दों द्वारा किया गया है, जिसमें कि अतिव्याप्त्यादि दोषों के लिए कोई गुन्जाइस ही नहीं रह जाती है।

कारिकाबद्ध या पद्यबद्ध लक्षण ग्रन्थों में जिस तरह विवश होकर लेखक को वक्तव्य विषय थोड़े से शब्दों में या अस्पष्ट पदों के द्वारा संकोच के साथ प्रतिपादन

करना पड़ता है, वह स्थिति प्रस्तुत ग्रन्थ में नहीं है। यहाँ गद्य के द्वारा वक्तव्य विषय का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

परन्तु इस ग्रन्थ में नव्यन्याय की (अवच्छेदकावच्छिन्न से युक्त) शैली का आश्रयण किया गया है, जिससे परिचय न रखने वाले अल्पज्ञ व्यक्तियों को आपाततः यह ग्रन्थ अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। नव्यन्याय से थोड़ा भी परिचय रखने वाला पाठक उक्त ग्रन्थ के स्वारस्य को हृदयङ्गम करने में सर्वथा समर्थ हो सकता है।

पण्डितराज के समय तक नव्यन्याय अपनी विकसित दशा में आ चुका था। वादप्रधान उस युग में नव्यन्याय अपनी अलौकिक छटा से यत्र तत्र सर्वत्र ही व्याप्त था। संस्कृत वाङ्मय की कोई भी शाखा नव्यन्याय के संक्रामक परिष्कार से अछूती नहीं थी। उस युग में नव्यन्याय की शैली में ग्रथ लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था, अन्यथा प्रौढ़ पण्डित किसी ग्रन्थकार को बड़ी हीन दृष्टि से देखते थे। किसी भी शास्त्र के ग्रन्थ उस समय इसी शैली में लिखे जाते थे। फिर साहित्यशास्त्र ही अकेला इसका अपवाद क्यों बनता। कुछ अंश में उत्तम शैली को अप्पय्यदीक्षित भी साहित्यशास्त्र में अपना चुके थे। तब उत्तम वातावरण से प्रभावित होकर पण्डितराज को भी विवश होकर इस प्रचलित शैली का अवलम्बन करना ही था। दूसरी बात यह है कि नटभार्या की तरह साहित्यशास्त्र पर सभी विद्वान् अधिकारी होने का दावा करते थे। अधकचरे संस्कृतज्ञ भी इस शास्त्र में अपना अधिकार समझने लगे। यह बात साहित्यमर्मज्ञ पण्डितराज को सह्य नहीं हुई, अतः उन्होंने जानबूझकर भी इस ग्रन्थ में उक्त शैली को अपनाया। फलतः उस शैली के अपनाने से अलंकारशास्त्र एक अभेद्य दुर्ग हो गया, अब साहित्यशास्त्र भी प्रौढ़ पण्डितों के ही चर्चा का विषय बना।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में रसगङ्गाधर पण्डितराज जगन्नाथ की एक अन्तिम प्रौढ़ रचना है। यह एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है, जो पूर्व चिन्तित पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ, निरन्तर उदीयमान चिन्तन प्रभा को आगे बढ़ा रहा है।

अपने गम्भीरतम आलोचन के द्वारा यह ग्रन्थ संस्कृत काव्य क्षेत्र में नवीनतम मान्यताओं को सुप्रतिष्ठित करता हुआ कविता को मार्मिकता की चरम सीमा तक पहुँचा देता है। रमणीय अर्थ व शब्दों का काव्य में सन्निवेश कैसे किया जाय, इसके लिए बहुत पहिले से ही साहित्यिक लोग सचेत रहे हैं और अपने-अपने प्रबन्धों में इस विषय पर खूब विचार भी किया हैं।

काव्यशास्त्र के इस विमर्श को हम निम्न प्रकार से तीन भागों में विभक्त पाते हैं—

(1) सर्व प्रथम वह समय था जब कि काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के विषय में, या इनके शोभाधायक तत्त्व अलंकारों के विषय में ही अधिक विचार किया जाता था। उस समय अलंकारों को ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व माना जाता था। रस-भावादिकों को भी अलंकार पक्ष के कक्ष में निक्षिप्त किया जाता था, इनके लिए कोई विशिष्ट स्थान निर्धारित नहीं था। रसवदलंकार, प्रेय, उर्जस्वि व समाहितादि अलंकार वर्ग में उक्त बहुमूल्य काव्यतत्त्वों का समावेश किया जाता था। कुछ समय के बाद वामनाचार्य ने "रीतिरात्मा काव्यस्य" कह कर गुण विशिष्ट पदरचना को काव्य का सर्वस्व माना। इन्होंने माधुर्यादि गुणों से सम्भूत शोभा को ही काव्य का मूल तत्त्व माना। इसका आधार विशिष्ट पदरचना स्वरूप रीति को माना। फलतः ऐसी पदरचना रूप रीति काव्य की आत्मा है, जो गुणों से विशिष्ट हो।

(2) दूसरा समय वह था, जबकि साहित्यशास्त्र का कलेवर कुछ अधिक परिष्कृत होने लगा। अब केवल अलंकार व गुणों पर ही दृष्टि न लगाकर पद-पदार्थ-वाक्यार्थादि का भी प्रौढ़-दार्शनिक दृष्टि से विचार होने लगा, फलतः काव्याङ्गों के स्थूल से स्थूल अङ्गों से लेकर अत्यन्त सूक्ष्म अंशों पर भी विचार हुआ। शब्दवृत्ति के विषय में भी केवल अभिधा, तात्पर्या व लक्षणा पर ही विचार न होकर काव्य के पार्यन्तिक सार के प्रकाशन हेतु व्यञ्जना वृत्ति पर भी विस्तृत विचार प्रारम्भ हो गया। इसी वृत्ति के द्वारा बोध्य प्रतीयमानार्थ काव्य का सार या सर्वस्व माना गया, जिसके लिए 'ध्वनि' संज्ञा स्वीकृत हुई। यह प्रयास पूर्ण संरम्भ के साथ आचार्य आनन्द वर्धन का था। उनके टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त व मम्मट भट्ट, रुय्यक आदि आचार्यों ने बाद में उक्त सिद्धान्त के सवर्धन हेतु पूर्ण सहयोग दिया। काव्यशास्त्र के इस मध्यकाल में ध्वनि सिद्धान्त की काव्य की आत्मा के रूप में पूर्णतया उद्घोषणा हो गई, ध्वनिकाव्य उत्तम काव्य समझा गया। इसके अन्तर्गत रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि व अलंकार ध्वनि,—इन तीन प्रकार की ध्वनियों का समावेश किया गया और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य मध्यम काव्य, तथा शब्दार्थालंकार प्रधान काव्य अधम काव्य समझा गया।

काव्यशास्त्र के इतिहास में यह समय एक प्रकार से स्वर्णिम समय माना जाता है, जिसमें काव्य के मूलतत्त्वों पर काफी विचार विमर्श व वादविवाद होता रहा।

(3) इसके बाद तीसरा समय वह समय है, जिसमें काव्य के अत्यन्त सारभूत केवल रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना गया। इसका कुछ संकेत हमें कविराज विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में काव्य स्वरूप वर्णन के अवसर पर मिलता है, **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** इत्यादि। यद्यपि इसके विचार का सूत्रपात अभिनव गुप्त के ही व्याख्यानों में प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु उनकी यह रसध्वनि की

प्रधानता वस्तु व अलंकार सापेक्ष्य है, फिर वे एक मान्य आचार्य के टीकाकार हैं। खुले मैदान में वे उनसे विमत भी नहीं होना चाहते हैं। खुलकर इसकी घोषणा निश्चित ही साहित्यदर्पण में हुई, वह भी पूर्व मान्यता की आलोचना के रूप में। यद्यपि इसका प्रतिवाद पण्डितराज के द्वारा हुआ। इस प्रसङ्ग में उन्होंने बड़ी शालीनता के साथ आनन्दवर्धनाचार्य की धारणा का ध्यान रक्खा, परन्तु कोई भी विवेकशील आलोचक इस बात से असहमत नहीं होगा कि काव्यशास्त्र के इतिहास में यह उत्तरोत्तर सूक्ष्म विवेचना व मार्मिकता का प्रकृष्ट पक्ष है।

प्रकारान्तर से स्वयं पण्डितराज भी इस सिद्धान्त के अपवाद नहीं है। क्योंकि स्वयं आपने भी अपने काव्यलक्षण "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" में इसकी उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्मातिसूक्ष्मसमीक्षा या पद-पदार्थों का परिष्कार करते हुए, अपने परिष्कृत फलित लक्षण को चमत्कार से ही प्रारम्भ कर आखिर में चमत्कार में ही उसका पर्यवसान किया है। कहना न होगा कि यह चमत्कृति या चमत्कार वस्तु, अलंकार व रस इन तीनों प्रकारों का भी सारतम अंश है या शैवदर्शन के अनुसार परमतत्त्व है। जो परम विश्राम धाम है कहने का तात्पर्य यह है कि पण्डितराज के समय में तो फिर काव्यतत्त्व भाषा व शैली आदि सभी अङ्ग व उपाङ्गों की उत्तरोत्तर मार्मिक आलोचना प्रारम्भ हो गई। समालोचकों को काव्य विषयक लेशमात्र भी अस्वच्छता बर्दास्त नहीं होती थी। प्राचीन आचार्यों का काव्यशास्त्रविषयक मनन व आलोचन का जहाँ विराम होता है, उसके आगे से पण्डितराज का चिन्तन प्रारम्भ होता है। मतलब यह है कि जहाँ अन्य आचार्यों की "इति" है वहाँ से पण्डितराज का "अथ" प्रारम्भ होता है। साहित्यशास्त्र की यह औचित्योपनिषद् या मार्मिक आलोचना पद्धति पण्डितराज जैसे प्रतिभावान् पण्डित को प्राप्त कर निश्चित-निश्चिन्त विश्राम कर रही है।

यद्यपि अमरभारती संस्कृत सरस्वती का यह साहित्योद्यान अभिनव समालोचना से सर्वथा शून्य नहीं हुआ है। उत्तरोत्तर समन्यूनाधिक भाव से मूल ग्रन्थ व टीका या प्रटीकाओं के रूप में साहित्यलता के ललित-पुष्पों का उद्भव होता रहा है, परन्तु समग्र काव्य साम्राज्य का सार्वभौम अनुशासक **रसगङ्गाधर** सदृश ग्रन्थमणि पुनः प्रेक्षकों की परिधि में नहीं आया।

इसकी भव्यता व नव्यता के उत्कर्ष के समक्ष या साम्य के संघर्ष में कोई भी साहित्यशास्त्रीय प्रबन्ध सुधीजनों के मध्य में मान्य न हो सका।

पण्डितराज के प्रबन्ध की निरूपण पद्धति, शीर्षक व प्रस्तावना, उपक्रम तथा उपसंहारादि सभी आकर्षक रूप में हमें उपलब्ध होते हैं।

आपकी निरुपणपद्धति या शैली, आपके समग्र व्यक्तित्व को प्रदर्शित करती हुई वक्तव्य विषय को प्राञ्जल तथा उदात्तरूप प्रदान करती है। आपके शीर्षक

व प्रस्तावना में भी किसी प्रकार की कहीं अस्पष्टता या अस्वच्छता परिलक्षित नहीं होती। कहीं-कहीं तो शीर्षक न होते हुए भी केवल प्रस्तावना ही शीर्षक का काम कर देती है। जैसे काव्यलक्षण की प्रस्तावना में—

"तत्र काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरावश्यकतया तल्लक्षणं तावन्निरुप्यते"

जैसे भावध्वनि के पूर्व प्रस्तावना वाक्य में—

"अथ भावध्वनिर्निरूप्यते" इत्यादि।

प्रायः स्वतन्त्र विषय की प्रस्तावना "अथ" शब्द से प्रारम्भ होती है, जबकि पूर्व सम्बद्ध विषय की प्रस्तावना "तत्र" या "तत्" शब्द से प्रारम्भ होती है। जहाँ प्रस्तावना नहीं आती है, वहाँ विवेचन का प्रथम वाक्य बड़ा ही परिचयात्मक होता है--

"तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा" लम्बे विवेचनों के अन्त में उपसंहार वाक्य भी दे दिये जाते हैं, जैसे—रसनिरुपण प्रसंङ्ग में—

"एवं संक्षेपेण निरुपिता रसाः" इत्यादि।

इस प्रकार पण्डितराज जिस विषय को प्रारम्भ कर उसका विवेचन करते हैं, वह विस्तृत होने पर भी उपक्रम व उपसंहार की सुव्यवस्था होने के कारण विषय की एकरूपता में किसी प्रकार का व्याघात नहीं आता है।

लक्षण विवेचन भी पण्डितराज का अपना कुछ विलक्षण प्रकार का ही है। वे जिस लक्षण को उपस्थित करते हैं, बाद में उसका विवेचन भी अवश्य करते हैं, जैसे काव्य के लक्षण में—

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"

"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता" इत्यादि।

स्वमत संस्थापन में पण्डितराज जितने प्रवीण हैं, परमत के समालोचन या निरसन में भी उतने ही दक्ष हैं। वे अन्य बड़े से बड़े आचार्य के साथ भी बड़ी निर्भीकता के साथ प्रतिवाद करते हैं। विशेषकर अप्पय्यदीक्षित को माफ करने का तो अवसर ही नहीं आता। इस प्रकार वे अपने विवेच्य विषय पर बड़ी तल्लीनता के साथ डट जाते हैं।

कभी-कभी पण्डितराज मतभेदों के बीच में ओझल भी रहते हैं। प्रायः संस्कृत पण्डितों की यह सामान्य प्रणाली है कि वे सीधा-सीधा अपना मत स्पष्ट न प्रकट करके "केचन" "अपरे" "अन्ये" इत्यादि शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं। इन्हीं मतभेदों में पण्डितराज भी कभी-कभी छिपे रहते हैं। कभी तो वे पूर्व मत की समालोचना कर अन्तिम मत की स्थापना द्वारा अपना पक्ष प्रकट करते हैं। कभी नव्यों का पक्ष लेकर अपने को नवीनों की कोटि में रख लेते हैं। कभी-कभी

प्राचीन मान्यताओं को सिद्धान्त पक्ष में रखकर "वस्तुतस्तु" जैसे शब्दों से अपना मत व्यक्त करते हैं।

यद्यपि पण्डितराज का अपना विषय निरूपण प्रकार सारा ही ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल है, तथापि वे सर्वांश में ध्वनिवादि आचार्यों से सहमत नहीं हैं। ऐसे अवसर पर वे अपने को मतभेद के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। वे बलात् अपनी मान्यताओं को किसी के मत्थे थोपते नहीं हैं। उदाहरण स्वरूप जैसे—पण्डितराज रसादि ध्वनियों को केवल असंलक्ष्यक्रम ही नहीं मानते, अपितु उन्हें संलक्ष्यक्रम भी मानते हैं—"यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणं, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति यथा—तल्पगतापि च सुतनुः" इत्यादौ। अन्यत्र भी जैसे-गुणों के विषय में—पण्डितराज गुणों को रसमात्र का धर्म नहीं मानते हैं परन्तु ऐसी स्थिति में वे प्रथम बड़ी इमानदारी के साथ प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों को रख देते हैं, बाद में वैकल्पिक स्थिति में अपनी मान्यता को रखते हैं।

उन मूल सिद्धान्तों को जिन्हें मम्मट भट्ट आदि आचार्य विशदरूप में वर्णन कर चुके हैं, पण्डितराज उन सिद्धान्तों का पुनः पिष्टपेषण नहीं करते, अपितु प्रतीकरूप में ही उत्तम सिद्धान्तों की सूचनामात्र दे देते हैं। वे पाठक से यह आशा रखते हैं कि उसने उनका अध्ययन कर लिया होगा।

इस प्रकार पण्डितराज का यह ग्रन्थमणि काव्यशास्त्र की मौलिक समस्याओं का समाधान बड़ी ही सावधानी के साथ प्रस्तुत करता है।

पण्डितराज जगन्नाथ का जीवनवृत्त

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने जन्म से किस देश को अलंकृत किया, यह इदमित्थंतया निश्चित रूप से कहना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार मम्मट भट्ट कैयट, जैय्यट, अल्लटादि के नाम साम्य से ही उनकी जन्मभूमि या उस कश्मीरादि देश का सहज में अनुमान लगाया जाता है, इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ के विषय में केवल नाम साम्य से अनुमान लगा लेना भी कोई सुकर कार्य नहीं है।

जैसे अप्पय्यदीक्षित, भट्टोजिदीक्षित, रङ्गोजीभट्ट इत्यादि नामों की समता में सीधे दक्षिणदेश—आन्ध्र-द्रविड़ादि देशों का निर्धारण कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं है, इस तरह भी पण्डितराज जगन्नाथ के विषय में नियम को लागू करना ठीक नहीं है। क्योंकि पण्डितराज अपने "जगन्नाथ" इन नामाक्षरों से तो सीधे उत्तर भारत के से प्रतीत होते हैं, अन्यथा उनका जन्म यदि दक्षिण भारत में होता तो निश्चित ही उनके नाम में भी कुछ भिन्नता होती, जैसे—जगन्नाथ के बदले "जगन्नाथन्" यह नाम होता। सामान्यतः दक्षिण भारत के लोगों के आजकल

भी ऐसे ही नाम मिलते है, जैसे "स्वामिनाथन्,—शंकररमन्" इत्यादि ।

जहाँ तक मेरा अपना विचार है, पण्डितराज के पूर्वजों की जन्मभूमि भले ही दक्षिण भारत वर्तमान आन्ध्र प्रदेश या तैलंगजनपद रहा हो, क्योंकि इन्होंने अपने को "तैलङ्गायमङ्गलालय" कहा है । इनके पिता "पेरूभट्ट" का जन्म उसी जनपद में हुआ हो, बाद में वे शास्त्राध्ययन के लिए काशी आए थे, यह बात तो स्वयं पण्डितराज ने अपने पिता के विषय में कही ही है—"श्रीमद् ज्ञानेन्द्र भिक्षो-रधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः" इत्यादि ग्रन्थारम्भ के प्रारम्भिक पद्य में, इसी में इन्होंने "स्मरहरनगरे" इस पद के द्वारा काशी निवास का भी संकेत किया है ।

यह सम्भव है कि सर्वशास्त्र विशारद पेरुभट्ट ने बाद में अपने अध्ययन अध्यापनादि वृत्ति को स्वीकृत कर, काशी को ही अपना कार्य क्षेत्र भी बना लिया हो । इसी तीन त्रिलोक से न्यारी पवित्र नगरी में पण्डितराज का जन्म हुआ हो, जिसके अनुरूप ही पण्डितराज का केवल नाम ही नहीं अपितु प्रतिभा, पाण्डित्य व प्रभाव भी परिलक्षित होता है ।

यहीं पर अपने पिता से इन्होंने समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर, जयपुर-दिल्ली आदि प्रदेशों के लिए भी अपनी युवावस्था में प्रस्थान किया होगा, अन्यथा तो प्रतिभा व प्रभा से तरल इस प्रकाश का जन्म अन्यत्र असम्भव सा प्रतीत होता हैं, जैसा कि महाकवि कालिदास का कथन भी इस प्रसङ्ग में स्मरण हो आता है—

मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रुपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।। (अ. श. प्र. अ.)

पण्डितराज के इतिवृत्त के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं, जिनमें परस्पर भी एकवाक्यता नहीं दिखाई देती है । जिस प्रकार इनके इतिवृत्त के विषय की विविधता है, उसी प्रकार पण्डितराज के किंवदन्तियों के विषय में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है ।

उपलब्ध पण्डितराज का इतिवृत्त जो कि अधिकारी पण्डितों द्वारा संकलित है, उसे हम विस्तार से प्रस्तुत करने का उपक्रम करते रहे हैं—

पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ब्राह्मण थे जैसा कि उन्होंने अपने "आसफ विलास" नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है—"तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेना-सफविलासाख्येयमाख्यायिका निरमीयत सेयमनुग्रहेण सहृयानामनुदिनमुल्लासिता भवतात्"—इनके पिता का नाम पेरुभट्ट या पेरम भट्ट था । ये पेरुभट्ट वर्तमान आन्ध्र प्रान्त के तैलङ्गाना नामक क्षेत्र में बेगिनाड कुल में उत्पन्न हुए, ये अद्वितीय विद्वान थे । काशी में ज्ञानेन्द्र भिक्षु नामक किसी संन्यासी से इन्होंने वेदान्तशास्त्र

का अध्ययन किया । किन्हीं-किन्हीं विद्वानों का विचार है कि ये ज्ञानेन्द्रभिक्षु सिद्धान्त कौमुदी के तत्त्ववोधिनी टीकाकार ही हैं, परन्तु तत्त्वबोधिनी टीकाकार का नाम ज्ञानेन्द्र सरस्वती है । समय के अनुसार भी वे उक्त भिक्षु से अर्वाचीन होंगे, क्योंकि भट्टोजिदीक्षितकृत सिद्धान्तकौमुदी की टीका "मनोरमा" जो स्वयं भट्टोजिदीक्षित द्वारा निर्मित है, उसका खण्डन "मनोरमा कुचमर्दिनी" के नाम से स्वयं पण्डितराज ने किया है । इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित के समसामयिक जब स्वयं पण्डितराज हुये, तब उक्त कौमुदी के तत्त्ववोधिनी टीकाकार का समय तो सम्भवतः पण्डितराज के बाद का हो, अतः पेरुभट्ट के गुरु ज्ञानेन्द्रभिक्षु उक्त सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती से सर्वथा भिन्न है ।

महेन्द्रनामक विद्वान् से न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र का अध्ययन किया । खण्डदेवोपाध्याय से पूर्वमीमांसा का अध्ययन किया, और शेष वीरेश्वर पण्डित से व्याकरण महाभाष्यादि का अध्ययन किया था । एतद् अतिरिक्त अन्य वेदादि शास्त्रों का भी इन्होंने विधिवत् अध्ययन किया । इस प्रकार समस्त शास्त्रों के अध्ययन व मनन के द्वारा ये सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे, अतएव पण्डितराज ने स्वयं इन्हें सर्वविद्याधर कहा है ।

अपने परम पण्डित पिता के विषय में पण्डितराज के शब्द इस प्रकार हैं—

श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः,
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत् ।
देवादेवाव्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयम्,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः ॥

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने सर्वविद्या विशारद पूज्य पिता से ही सभी शास्त्रों का अध्ययन किया ।

अपने पिता की प्रशिक्षण प्रिय प्रणाली की चर्चा करते हुए पण्डितराज कहते हैं कि जिनकी सरल तथा सरस शिक्षण चेष्टा से जब पाषाण-बुद्धि, शिष्य भी पिघल सकता है, तब मेरे जैसे चैतन्य व प्रतिभासम्पन्न शिष्य के विषय में तो कहना ही क्या—

"पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया ।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम् ॥

इस प्रकार पण्डितराज के पिता का नाम पेरुभट्ट था,[1] और माता का नाम लक्ष्मी था ।

---

1. तैलंगान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मीदयालालितः,
श्रीमत् पेरमभट्टसूनुरनिशं विद्वल्ललाटन्तपः,, इत्यादि (प्राणाभरण)

पिता के लालन-पालन व शिक्षा-दीक्षादि आशीर्वादों से पण्डितराज एक प्रतिभासम्पन्न प्रौढ़ विद्वान् बन गए, विशेषकर दर्शनशास्त्र, साहित्यशास्त्र पर तो पण्डितराज का पूर्ण अधिकार था। इसके लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं। रसगङ्गाधर के तत्तत् शास्त्रीय प्रसङ्गों से पण्डितराज की पूर्ण प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है।

पण्डितराज अपने युग के विद्वानों में सर्वाधिक भाग्यशाली पण्डित समझे जाते हैं, क्योंकि वे युवावस्था में ही अपनी विमलविद्या के प्रभाव से तत्कालीन बादशाह-शाहजाँ के कृपापात्र बन गए और उन्हीं से "पण्डितराज" की उपाधि भी प्राप्त की।

कहते हैं कि जब इनके विद्या की प्रशस्ति एवं इनके व्यक्तित्व का प्रभाव सर्वत्र फैल रहा था, उसी समय "बादशाह-शाहजहाँ" का कोई प्रमुख[1] अधिकारी, कायस्थ जातीय माथुर कुलोत्पन्न मुकुन्दराय नामक व्यक्ति इनकी विद्वत्ता से अत्यधिक प्रभावित हुआ। इसी के माध्यम से पण्डितराज का शाहजहाँ के राज-दरबार में प्रवेश हुआ। शाहजहाँ की ही छत्रच्छाया में दिल्ली में ही पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी युवावस्था का अधिक भाग बिताया। यहीं से पण्डितराज का अभ्युदय भी हुआ, जैसा कि स्वयं उन्होंने लिखा है—

"दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः"

दिल्ली वल्लभ शाहजहाँ के वरदहस्त की विलासमय छाया में पण्डितराज ने असामान्य सुखों का उपभोग किया। वे बादशाह के पूर्ण कृपापात्र बने रहे, जिसकी अभिव्यञ्जना समय-समय में उन्होंने अपनी कवित्वपूर्ण लेखनी द्वारा की। वे अन्य सामान्य राजाओं की अपेक्षा दिल्लीवल्लभ शाहजहाँ दिल्लीश्वर को या जगदीश्वर को ही उनकी सारी आकांक्षाओं को पूर्ण करने में सर्वथा समर्थ समझते हैं। अन्य छोटे मोटे सामन्त या राजा लोग तो जितना भी दे, उससे तो पण्डितराज का नमक मिर्च चलाना तक मुश्किल है—

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं, शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्॥

---

1. मूर्तिमदेव नबावासफखानमनःप्रसादेन द्विनकुलसेवाद्देवाकिवाङ्मनःकायेन माथुरकुलसमुद्रेन्दुना रायमुकुन्देनादिष्टेन श्रीसार्वभौमशाहिजहानप्रसादाधिगतपण्डितरायपदवीवाजितेन तैलंगकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेनासफविलासाख्येयमा ख्यायिका निरमीयत।

पण्डितराज के विषय में अन्य किंवदन्तियाँ

कुछ लोगों का कथन है कि "पण्डितराज" अपने अध्ययन के बाद जब जयपुर आये, तो वहाँ उन्होंने एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की। वहाँ दिल्ली से आये हुए शाहजहाँ के दरबार से सम्बन्धित किसी काजी को, उनके मजहबी (धर्म) ग्रंथों को शीघ्र पढ़कर, विवाद में उसे परास्त किया। जब वह काजी जयपुर से लौटकर, शाहजहाँ के राजदरबार में आया तो उसने बादशाह के सम्मुख पण्डितराज की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह काजी के मुख से पण्डितराज की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुआ, और पण्डितराज को दिल्ली बुला लिया।

विलासमय दिल्ली दरबार में बादशाह के कृपाभाजन बने हुए पण्डितराज किसी यवन कन्या पर आसक्त हो गये और बादशाह की अनुकम्पा से उस यवनी के साथ पण्डितराज का विवाह हो गया। इस प्रकार युवावस्था पण्डितराज ने बादशाह के आश्रय में ही सुखपूर्वक व्यतीत की।

बाद में जब वे उस प्रेयसी यवनी के साथ काशी लौटे तो, काशी की पण्डितसभा ने जिसमें अप्पय्यदीक्षित आदि प्रमुख थे, पण्डितराज का घोर विरोध किया। यहाँ तक कि उन्हें ब्राह्मण जाति से च्युत कर देने तक का निश्चय किया गया, साथ ही साथ 'यवनी-संसर्गग्रसितः" कह कर इनका अपमान भी किया।

वर्तमान शताब्दी के प्रबुद्ध समाज सुधारकों को सम्भवतः यह एक सामान्य घटना मालूम पड़े या पण्डितों का इस प्रकार का पण्डितराज के प्रति उत्तम निर्णय एक उपहास्यास्पद मालूम पड़े। क्योंकि वर्तमान समय में जाति बन्धन या वर्गवाद, सम्प्रदायवाद आदि सभी का बन्धन बहुत कुछ शिथिल हो चुका है।

आज बिना किसी संकोच के पंक्तिपावन पण्डित भी अन्तर्राष्ट्रीय विवाह कर रहे हैं। परन्तु आज से करीब पचास वर्ष पूर्व या उससे भी पूर्व यह शृंखला इतनी शिथिल नहीं थी। लोग विशेषकर पण्डित समुदाय किसी यवन या ईशाई के यहाँ सेवावृत्ति करना तक गर्हित समझते थे, फिर यवन या अन्य ईशाई आदि जातियों के साथ विवाहादि की तो चर्चा ही कहाँ। जब इतने समय में इतनी कट्टरता थी, तब आज से करीब तीन शताब्दी से पूर्व पण्डितराज के समय में वह कट्टरता कितनी अधिक रही होगी, इसका अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है और उस समय के इतने कट्टर पण्डित समुदाय द्वारा पण्डितराज को न जाने कितने अपमान व कितनी यातनाओं का सामना करना पड़ा होगा ?

इस प्रकार की विषम परिस्थिति में काशी में पण्डितराज अपने को पवित्र सिद्ध करने के लिए गङ्गातट पर सबसे ऊपर की सीड़ी में बैठकर, तत्काल स्वरचित

पद्यों द्वारा गङ्गा जी की स्तुति करने लगे—जिन भक्ति भरे पद्यों का संग्रह "गंगालहरी" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है।

जिन पद्यरत्नों को सुनकर किसी भी भक्त को गंगा में असामान्य श्रद्धा हो जाती है—

उदाहरण के लिए दो तीन पद्यों को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तत्,
महेश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमयमूर्तं सुमनसां,
सुधासौन्दर्यन्ते सलिलमशिवं नः शमयतु॥

अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा,
विलोलद्वानीरं तव जननि तीरं श्रितवताम्।
सुधातः स्वादीयः सलिलभरमातृप्ति पिबतां,
जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम्॥

निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदाम्,
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगताम्,।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियाम्,
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः॥

उक्त पद्यों के परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्डितराज का गंगाविषयक भक्ति प्रवण हृदय कितना पवित्र है। जिस प्रकार पण्डितराज साहित्य-शास्त्र के विषय में एक अद्वितीय विद्वान् व कठोर समीक्षक हैं, इसी प्रकार भक्ति के विषय में भी सर्वथा आराध्य देव के प्रति समर्पित हैं। पण्डितराज ही नहीं अपितु उनकी प्रेयसी यवनी भी गंगाजी की परम भक्त है, यह बात उनके पद्य से स्पष्टतया प्रकट हो जाती है—

सुरधुनिमुनिकन्ये! तारये पुण्यवन्तम्,
स तरति निजपुण्यैस्तत्र किन्ते महत्वम्।
यदि हि यवनकन्यां पापिनीं मां पुनीहि,
तदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वम्॥

इस प्रकार पण्डितराज व यवनी की भक्तिपूर्ण स्तुति से गंगाजी प्रसन्न हो गयीं। एक-एक पद्य सुनकर एक एक सीढ़ी चढ़ती गयीं। बावनवें पद्य पर, गंगाजी पण्डितराज के निकट पहुँच गयी। इस तरह यवन कन्या सहित पण्डितराज गंगाजी के पावन जल में समाधिस्थ हो गये।

अन्य किंवदन्ती के अनुसार बादशाह की कृपा से जब पण्डितराज अतुल-सम्पति को प्राप्त किये, तब युवावस्था में उस सम्पत्ति ने पण्डितराज के विलासमय जीवन में घृताहुति का काम किया। वे यौवन व धनमद के आवेश में अपना विवेक खो बैठे। फलतः किसी यवन-तरुणी पर आसक्त हो गये। परन्तु कुछ ही समय पश्चात् उस यवनी की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु से पण्डितराज के हृदय मे बड़ी चोट लगी, अब उन्हें दिल्ली अप्रिय लगने लगी। इस प्रकार वे दिल्ली छोड़कर काशी चले गए। परन्तु काशी में भी पण्डितराज को शान्ति नहीं मिली। प्रेयसी का विरह तो इन्हें सता ही रहा था, साथ ही साथ काशी के पण्डितों ने भी इन्हें सताना प्रारम्भ कर दिया। यवनी-संसर्ग की बात सुनकर काशी के पण्डित बात-बात में इनका अनादर करने लगे। अन्त में पण्डितराज अपने जीवन से ऊब गये। वर्षा की उमड़ती हुई गंगा की धारा में, स्वनिर्मित गंगालहरी का पाठ करते हुए कूद पड़े।

कुछ लोग इससे भी भिन्न तरह की किंवदन्ती कहते हैं, जिसका सारांश इस प्रकार है—

कहते हैं कि जयपुर नरेश जयसिंह अध्ययनावस्था में ही इन्हें काशी से जयपुर ले आये। कारण यह था कि बादशाह के दरबार में मुल्ला लोग जयपुर नरेश पर आक्षेप करते हुए कहते थे कि "आप लोग तो वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं" क्योंकि परशुराम ने इक्कीस बार इस पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना दिया था। तब आपके पूर्वज बचे कैसे ? दूसरी बात यह है कि अरबी भाषा संस्कृत भाषा से भी प्राचीन है।

ये आक्षेप जयपुर नरेश को हमेशा खटकते रहते थे। वे किसी ऐसे प्रतिभा-वान् पण्डित की तलाश में थे, जो उक्त आक्षेपों का उत्तर दे सके। पण्डितराज में उन्हें इस प्रकार कुछ प्रतिभा दीख पड़ी। जयपुर नरेश ने पण्डितराज से उक्त आक्षेपों की चर्चा की। पण्डितराज ने मुल्लों को निरुत्तर करने की प्रतिज्ञा की। पण्डितराज जयपुर आये, तत्काल उन्होंने मुल्लों के प्रथम आक्षेप का उत्तर दे दिया।

उन्होंने कहा—"परशुराम ने इक्कीस बार इस पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया" इस लोकोक्ति का यह अर्थ नहीं है कि बाद में एक भी क्षत्रिय नहीं बचा। यदि ऐसा माना जाए कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा, तब तो इक्कीस बार वाली बात ही मिथ्या हो जाएगी, अर्थात्-प्रथम बार में ही जब सब क्षत्रिय मारे जा चुके, तब फिर क्षत्रिय आये ही कहाँ से, जिनका कि इक्कीस बार उन्हें नाश करना पड़ा। इससे यह मानना ही होगा कि अधिकतर क्षत्रिय बचे रहे होंगे, वे ही क्षत्रिय इन राजाओं के पूर्वज होंगे।

द्वितीय आक्षेप के उत्तर के लिए पण्डितराज ने कुछ समय मांगा, जिससे कि

वे अरबीभाषा का अध्ययन कर सकें। इसके लिए जयपुर नरेश ने अरबी पढ़ने के लिए पण्डितराज को आगरा भेज दिया, वहाँ पण्डितराज ने अरबी का खूब अध्ययन किया।

पुनः जयपुर नरेश पण्डितराज को शाही दरबार में ले गये, जहाँ उन्होंने द्वितीय आक्षेप का भी उत्तर दिया। इस प्रसङ्ग में पण्डितराज ने कहा कि मुसलमानों के "दृदास" नामक पुस्तक में लिखा है कि 'मुसलमानों को हिन्दुओं से सर्वथा विपरीत आचरण करना चाहिए' वही उनका धर्म है।

इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व हिन्दुओं का कोई धर्म था, और धर्म भाषा के बिना हो नहीं सकता। अतः यह भी सिद्ध है कि हिन्दुओं की कोई धार्मिक भाषा भी थी और यह भाषा संस्कृत से अतिरिक्त दूसरी हो नहीं सकती है। अतः यह निश्चय हुआ कि अरबी से संस्कृत भाषा प्राचीन है।

इन उत्तरों को सुनकर गुणग्राही बादशाह शाहजहाँ परम प्रसन्न हुआ, और उन्होंने पण्डितराज को अपने शाही दरबार में आदरपूर्वक रक्खा।

पण्डितराज के विषय में एक अन्य दन्तकथा इस प्रकार प्रचलित है—

एक समय जब पण्डितराज शाहजहाँ के साथ शतरञ्ज खेल रहे थे, तब इसी बीच में शाहजहाँ को प्यास लग गई। उसने जल लाने के लिए आदेश दिया तो कोई लवङ्गी नाम की यवन युवती शिर में जल से भरे स्वर्णकलश रखकर समीप में आई। उस यवनी के अद्‌भुत सौन्दर्य को देखकर बादशाह ने पण्डितराज को उसका वर्णन करने को कहा। पण्डितराज ने मुस्कुराते हुए उस यवनी का वर्णन इस प्रकार किया—

इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा,
कुसुम्भारुणं चारु चेलं वसाना।
समस्तस्य लोकस्य चेतः प्रवृत्तिं,
गृहीत्वा घटे न्यस्य यातीव भाति॥

उक्त वर्णन को सुनकर बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ, और बोला---हे कवे! यह वर्णन तो बड़ा ही रमणीय है, तुम स्वेच्छा से पुरस्कार मांगो।

पण्डितराज ने पुरस्कार के रूप में उसी यवनी की याचना इस प्रकार की—

न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं,
न वित्तेषु सक्तिर्मदीया कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा,
लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु॥

यवनी नवनीतकोमलाङ्गी, शयनीये यदि लभ्यते कदाचित् ।
अवनीतलमेव साधु मन्ये, न वनी माधवनी विलासहेतुः ॥

यह सब सुनकर दिल्लीश्वर शाहजहाँ ने पुरस्कार के रूप में सहर्ष पण्डितराज को वह यवनी समर्पित कर दी ।

इन पूर्वोक्त किंवदन्तियों से जो तथ्य निकलते हैं, वे इस प्रकार हैं—

जयपुर महाराजा द्वारा पण्डितराज का बादशाह के दरबार में प्रवेश होना, और वहाँ किसी यवन सुन्दरी पर आसक्त होना, और उसके साथ विवाह करना, अन्तिम अवस्था में काशी में निवास करना, और गंगा जी की गोद में समा जाना ।

पण्डितराज का व्यक्तित्वपूर्ण जीवन एवं अभ्युदय

पण्डितराज का जन्म एक सर्वसाधनसम्पन्न विद्वान ब्राह्मण के घर में हुआ था, अतः उनके लालन-पालन की पूर्ण सुविधा में उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा हुई । पिता के इकलौते पुत्र होने के नाते भी इनके माता-पिता का इन पर पूर्ण स्नेह व संरक्षण था । सौभाग्यवश सर्वविद्याविशारद अपने पिता से ही सारी विद्याओं का लाभ हुआ, इसके लिए भी पण्डितराज को कहीं अन्यत्र भटकना नहीं पड़ा । युवावस्था में दिल्ली के बादशाह का विलासमय वरद आश्रय प्राप्त होने से पण्डितराज के जीवन में चारचाँद लग गये । ऐसे वैभवपूर्ण युवावस्था के विलासमय जीवन में किसी सुन्दरी से प्रेम हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है ।

वैसे पण्डितराज की विवाहिता पत्नी भी कम सुन्दर नहीं थी । उसका नाम कामेश्वरी था । उसी का प्रभाव था कि पण्डितराज विलक्षण प्रतिभाशाली तथा असामान्य कवित्व कला सम्पन्न हुए । अपनी पत्नी के विषय में स्वयं पण्डितराज ने लिखा है, कि वह मंगलमयी गृहदेवता की तरह कभी भी मेरे हृदय से दूर नहीं होती है—

"साहित्यमंगलमयी गृहदेवता मे कामेश्वरी हृदयतो दयिता न याति" ।

कवित्वकला के उद्गम में इनकी पत्नी का ही प्रभाव था, इसका भी उन्होंने स्वयं वर्णन किया है—

काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे,
पीयूषसारसरसास्तव ये विलासाः ।
तानन्तरेण रमणीरमणीयशीले!
चेतोहरा सुकविता भविता कथं नः ॥

इसीलिए तो पण्डितराज अपनी कविता के विषय में साभिमान चेलेन्ज (आह्वान) से कह देते हैं कि —

"वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः"

अत्यन्त सुशील व सुन्दरी पत्नी थी, पुत्ररत्न भी विलक्षण सुन्दर था, धनधान्य की सुसम्पन्नता, तथा पाण्डित्य की परमप्रतिष्ठा थी, अमृत के समान राजसम्मान था। लोकोत्तर जीवन तथा यशस्विनी कविता का साथ था यह पण्डितराज के मंगलमय जीवन के अभ्युदय का मध्याह्न था।

कहते हैं कि परिणत अवस्था में पण्डितराज को पुत्र व पत्नी के वियोग से सन्तप्त होना पड़ा। पत्नी के वियोग में विलाप करते हुए पण्डितराज लिखते हैं—

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात् करं मे,
या रुढवत्यसि शिलाशकलं विवाहे।
सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि,
द्यामारोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति॥

विवाह में सप्तपदी के अवसर पर, वधू वर के दक्षिण हाथ को अपने दक्षिण हाथ से पकड़ती है और वर उसे शिलाशकल पर चढ़ने के लिए प्रेरणा देता है, कि—**"आरोहमेमश्मानमेव त्वं स्थिराभव"** इस पत्थर पर तुम आरोहण करो, और पत्थर की तरह स्थिर हो जाओ। यह वस्तुस्थिति है, इस पर पण्डितराज विलाप इस प्रकार करते हैं—

विवाह के समय सप्तपदी के अवसर पर, पैर के फिसलने के भय से मेरे हाथ को पकड़कर, शिलाखण्ड पर जो तुमने आरोहण किया था, यह तुम आज मुझे छोड़कर हे विलासिनि! स्वर्ग में आरोहण कर रही हो? यहाँ मेरे हृदय के सौ-सौ टुकड़े हो रहे हैं।

अपनी पत्नी के विलक्षण सौन्दर्य का जब वे स्मरण करते हैं तो विलाप करते हुए विलक्षण कल्पना करते हैं—

चिन्ता शशाम सकलाऽपि सरोरूहाणाम्,
इन्दोश्च विम्बमसनां सुषमामयासीत्।
अभ्युद्गतः कलकलः किल कोकिलानां,
प्राणप्रिये यदवधि त्वमितो गतासि॥

कहने का तात्पर्य यह है कि तुम्हारे मुख के सौन्दर्य के समक्ष कमल व चन्द्र संकुचित से थे, अब तुम्हारे अभाव में उन्हें पूर्ण विकास का अवसर मिला। तुम्हारी सत्ता में आजतक कोकिल भी मौन थे, अब उनका भी कलरव प्रारम्भ हो

गया है। इसी प्रकार पुत्र के विषय में भी एक जगह रसगंगाधर में उन्होंने विलाप किया है—

हा तनय! विनयशालिन्! कथमिव परलोकपथिको अभूः, इत्यादि।

यही पुत्र व पत्नी वियोगजन्य निर्वेद ही पण्डितराज की कविता के समाप्त होने में हेतु हैं। इसी निर्वेद व वैराग्य ने पण्डितराज के रसगंगाधर के प्रणयन के उत्साह को भी भङ्ग कर दिया। फलतः रसगंगाधर पञ्चानन न होकर द्वितीय आनन तक ही रह गया। रसगंगाधर के विषय में अधिकतर विद्वानों की यही धारणा है।

पण्डितराज का स्थिति काल

अन्य विद्वानों की तरह पण्डितराज का जीवन काल या रचना समय उतना अस्पष्ट नहीं है, क्योंकि स्वयं पण्डितराज ने अपने माता-पिता व आश्रयदाता का स्पष्ट रूप में वर्णन किया है। जैसा कि स्वयं उन्होंने लिखा है—

"दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः"।

इससे यह निश्चित है कि उहोंने अपनी युवावस्था का अधिकभाग दिल्ली-वल्लभ शाहजहाँ के दरबार में बिताया।

शाहजहाँ के विषय में इतिहासकारों का स्पष्ट कथन है कि 1628 इसवीं में उसका राज्याभिषेक हुआ था, और 1658 इसवीं में अपने पुत्र औरंगजेब द्वारा वह कैद कर लिया गया गया तथा 1666 इसवीं में मर गया।

इससे यह निश्चित है कि पण्डितराज का स्थितिकाल इसी बीच का अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग होना चाहिए।

बाह्य प्रमाणों के आधार पर भी या ग्रन्थों के पूर्वापर पर्यालोचन द्वारा भी यही समय पण्डितराज का समुचित मालूम पड़ता है, क्योंकि अप्पय्यदीक्षित के बाद का समय, पण्डितराज का समय मानना उचित है। अथवा अप्पय्यदीक्षित की वृद्धावस्था में सम्भवतः पण्डितराज अपनी युवावस्था में होंगे, क्योंकि इन्होंने जगह-जगह रसगंगाधर में अप्पय्यदीक्षित का खण्डन किया है। अप्पय्यदीक्षित का समय सोलहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है, क्योंकि इनके आश्रयदाता वेंकट प्रथम का शिलालेखों में 1586 से लेकर 1612 ईसवीय तक का उल्लेख मिलता है और रसगंगाधर के टीकाकार नागेश भट्ट का समय अठारहवीं शताब्दी है। इस प्रकार भी पण्डितराज का स्थितिकाल सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ऊपर और अठारहवीं शताब्दी के नीचे अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी का मध्यभाग निश्चित होता है। बाद में शाहजहाँ के कैद कर लिये जाने के बाद पण्डितराज दिल्ली छोड़कर मथुरा चले आये, किन्हीं विद्वानों का कहना है कि बाद में पण्डितराज काशी चले आये।

पण्डितराज के संक्षिप्त जीवन-दर्शन की झलक दिखलाने वाले इस श्लोक में **"सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते"** यह पाठ भी उपलब्ध होता है, सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि सम्पादिताः,
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः ।
सम्प्रत्युज्जितवासनं मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते,
सर्वं पण्डितराजिराजतिलकेनाकारि लोकोत्तरम् ॥

यह पद्य भामिनी-विलास नामक खण्डकाव्य का अन्तिम पद्य है । इस पद्य में पण्डितराज ने अपने जीवन की एक संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

आपका कथन है कि जीवन में गम्भीरता पूर्वक शास्त्रों का चिन्तन किया, शास्त्रविधि के अनुसार ब्राह्मणोचित सभी नित्य नैमित्तिकादि कर्मों का अनुष्ठान भी किया, दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के आश्रय में शाही सम्मान भी प्राप्त किया, उन्हीं की छत्रछाया में युवावस्था को भी व्यतीत कर अब हरिभक्ति के लिए दिल्ली छोड़कर मथुरा पुरी का आश्रय ले रहा हूँ । इस प्रकार मैंने (पण्डितराज ने) यावत् जीवन सभी लोकोत्तर कृत्यों का सम्पादन किया । अर्थात् जो कुछ भी जीवन में किया, वह बड़े ही ठाट-बाट के साथ किया ।

वृद्धावस्था में पण्डितराज का काशीवास

एक किंवदन्ती के अनुसार पण्डितराज का वृद्धावस्था में काशी रहना सिद्ध होता है । लोगों का कहना है कि एक दिन काशी के गंगातट पर पण्डितराज अपनी प्रेयसी यवनी के साथ जब सो रहे थे, तो इनकी सफेद शिखा खटिया से बाहर लटक रही थी, मुंह वस्त्र से ढका हुआ था ।

संयोगवश इसी समय प्रातः अप्पय्यदीक्षित भी स्नान के लिए उसी घाट की ओर आये, पण्डितराज को प्रातः भी सोये हुए देखकर एकाएक कहने लगे—

"किं निश्शङ्कःशेषे-शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ"

अरे अवशिष्ट इस वृद्धावस्था में तुम क्यों निःशङ्क सोये हो, कुछ भजन-पूजन करते भला ?

इस पद्य को सुनकर जब पण्डितराज ने मुँह खोलकर दीक्षित जी को देखा, तो फिर झट से दीक्षित जी बोल उठे—

"अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवीः भवता"

अथवा आप आराम से सोयें, क्योंकि (अन्तिम समय में आपका उद्धार करने वाली) गंगाजी आपके सन्निकट ही हैं।

परन्तु पं० मधूसूदन शास्त्री मिश्रजी ने अपने रसगङ्गाधर की भूमिका में उक्त किंवदन्ती का खण्डन किया है। आपका कहना है कि उक्त पद्य भी पण्डितराज द्वारा ही निर्मित है, जो कि "शान्तविलास" में उपलब्ध है। पण्डितराज के हृदय में गंगा की भक्ति भी अगाध है, सम्भवतः अन्तिम अवस्था में वे गंगा के निकट रहने की इच्छा से काशी आ गये हों, जैसा कि उन्हीं के द्वारा निर्मित शान्तविलास के पद्य से प्रतीत होता है—

किं निःशङ्कं शेषे-शेषे वयसः समागतो मृत्युः।
अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवी जननी॥

स्वयं पण्डितराज अपने चित्त को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि। अन्तिम अवस्था आ गई है, मृत्यु नजदीक है, अब निःशंक क्यों सो रहे हो? अथवा सुखपूर्वक सोओ, समीप में माता गंगा जाग रही हैं, जो सबका उद्धार करती हैं।

यदि उक्त पद्य अप्पय्यदीक्षित का होता तो पण्डितराज उसे शान्तविलास में अपने पद्यों में सम्मिलित क्यों करते जबकि वे दूसरे के पद्यों को मन से भी स्पर्श नहीं करना चाहते हैं। साक्षात् संकलन तो दूर रहा, स्वयं उनकी धारणा है कि जिस मृग में स्वयं कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति है, तो फिर वह क्यों किसी पुष्पों की सुगन्ध को सूँघने की चेष्टा करेगा?

"कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण किं चीयते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः"

फिर कविता की चोरी को तो वे एक बड़ा अपराध भी समझते हैं। स्वयं ऐसे चोरों को वे बड़े कठोर शब्दों से फटकारते हैं—और खुद भी इस चोरी से सावधान रहते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि इन्हीं बदमाश चोरों के भय से तो मैंने अपने पद्यरत्नों को एक मजबूत पेटी में बन्द कर दिया है—

दुर्वृत्ता जारजन्यानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषा कृता मया॥

अप्पय्यदीक्षित और पण्डितराज

पण्डितराज के ही समय में दक्षिण भारत के एक अप्पय्यदीक्षित नाम के तमिल ब्राह्मण भी उस समय काशी में रहते थे। दीक्षित जी वेदान्तादि दर्शन शास्त्रों के साथ-साथ साहित्यशास्त्र के भी धुरन्धर विद्वानों में थे। आपने साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित तीन ग्रन्थों की रचना की, जिनके नाम—वृत्तिवार्तिक, कुवलयानन्द, और चित्रमीमांसा है।

वृत्तिवार्तिक में शब्द-शक्तियों के विषय में विचार है, और कुवलयानन्द पीयूषवर्ष जयदेव के चन्द्रालोक के अलंकार मयूख के कारिकाभाग पर आश्रित अलंकारों का विवेचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें अलंकारों का सरल सुन्दर विवेचन किया गया है।

चित्रमीमांसा नामक दीक्षित जी का ग्रंथ विशेषकर लगभग बीस बाईस प्रमुख अलंकारों का आलोचनात्मक एवं गम्भीर शैली का ग्रंथ है, जिसमें प्राचीन आलंकारिकों का प्रसङ्गवश खण्डन-मण्डन भी किया गया है। नव्यन्याय का भी श्रीगणेश साहित्यशास्त्र में दीक्षित जी की चित्रमीमांसा से होता है। पण्डितराज की अपेक्षा दीक्षित जी वयोवृद्ध थे।

कहते हैं कि पण्डितराज जब अपनी प्रेयसी यवनी के साथ दिल्ली से काशी पहुँचे तो, दीक्षित जी ने "यवनीसंसर्गग्रसितः" कहकर पण्डितसभा में इनका घोर अपमान किया। तभी से इन दोनों में आपस में अनबन हो गई, अतएव रसगंगाधर में पण्डितराज ने बहुत जगह दीक्षित जी का खण्डन किया, साथ ही साथ उनके लिए बड़े उपालम्भपूर्ण वचनों का भी प्रयोग किया, जिनसे पण्डितराज का तद्विषयक रोष अभिव्यक्त होता है—और यदुक्तं द्रविड़पुंगवेन या द्रविड़शिरोमणिना, आदि कहकर अपना विरोध प्रकट किया है। कहीं-कहीं "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि पदों की दीक्षित कृत व्याख्या की कठोर समालोचना भी की है। साथ ही साथ दीक्षित जी के उक्त व्याख्यान को अलंकार शास्त्र की परम्परा के भी विरूद्ध बताया। इसी प्रकार प्रसङ्गवश उनकी बात का जोरदार खण्डन किया।

यह सब तो पण्डितराज व दीक्षित जी के व्यक्तिगत विरोध की बात है, परन्तु कुछ लोग इन दोनों को समसामयिक मानने में सहमत नहीं हैं, क्योंकि शाहजहाँ का राज्याभिषेक काल सन् 1628 ई० है, और सन् 1658 ई० में औरंगजेब ने उसे कैद कर लिया था। सन् 1666 ईसवी में शाहजहाँ की मृत्यु हो गई थी, लोगों का कहना है कि यह समय तो अप्पय्यदीक्षित के भाई के पौत्र का समय है, जो कि उनका भी पौत्र हुआ, जिसने 'नीलकण्ठविजयचम्पू' नामक ग्रंथ को बनाया था, रस ग्रंथ में नीलकण्ठ दीक्षित ने अपना समय वहीं लिखा है जो पण्डितराज का समय है, इसीलिए बहुत विद्वान् अप्पय्यदीक्षित व पण्डितराज को समसामयिक नहीं मानते।

परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह युक्ति कोई उचित मालूम नहीं पड़ती, क्योंकि युवक पौत्र को देखने वाले वृद्ध आज भी दुर्लभ नहीं हैं, फिर उस युग में तो लोग अधिक दीर्घजीवी होते थे। इसमें भी नीलकण्ठ तो दीक्षित जी का अपना पौत्र भी नहीं था, अपितु वह भातृ पौत्र था। इसीलिए केवल इसी घटना के आधार पर इन दोनों विद्वानों का समसामयिक न माना जाना कोई ठोस प्रमाण

सिद्ध बात नहीं है, अपितु इसके विपरीत प्रमाणतः उक्त दोंनों अप्पय्यदीक्षित व पण्डितराज का समसामयिक होना ही सिद्ध होता है, जिसमें निम्न श्लोक भी प्रमाण है—

"द्रप्यद्राविणदुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा,
यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना ।
तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृदनात् कुचम्,
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्पय्ययाद्यान् स्थितान् ॥

गर्वीले द्राविड़ (अप्पय्यदीक्षित आदि) के दुराग्रह रूप भूतावेश से गुरुद्रोही भट्टोजिदीक्षित ने भरी सभा में, बिना सोचे-समझे पण्डितराज को म्लेच्छ कह दिया था, जिसको धैर्यनिधि पण्डितराज ने उनकी मनोरमा का कुचमर्दन करके सत्य कर दिखाया । अर्थात् भट्टोजिदीक्षित कृत मनोरमा नामक ग्रंथ का खण्डन कर दिया और अप्पय्यदीक्षित आदि देखते ही रह गये ।

इस प्रसङ्ग में दूसरा भी पद्य उद्धृत करने योग्य है—जिसका आशय यह है कि—अप्पय्यदीक्षित ने अपने जीवन के बहत्तरवें वर्ष के पूर्वार्ध में विश्वजित् नामक याग करने के उद्देश्य से पृथ्वी के चारों ओर घूमते हुए भट्टोजिदीक्षित प्रमुख विद्वानों को शास्त्रार्थ में जीता और अन्त में उस ख्यातिप्राप्त पण्डितराज जगन्नाथ का भी उद्धार कर दिया । फिर उसी वर्ष के उत्तरार्ध में विश्वजित् नामक यज्ञ किया और चिदम्बर क्षेत्र में सभी सज्जनों के देखते हुये आप्तज्योति को प्राप्त हो गये ।

यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिताः,
भट्टोजिप्रमुखाः स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः ।
पूर्वेऽर्धे, चरमे, द्विसप्ततितमस्याद्वस्य सद् विश्वजि,
द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजन् ज्योतिः सतां पश्यताम् ॥

इस श्लोक से भी पण्डितराज, अप्पय्यदीक्षित, और भट्टोजिदीक्षित का समकालीनत्व सिद्ध होता है ।

पण्डितराज का पाण्डित्य

सकलशास्त्रविशारद, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, कवि तार्किक चक्रवर्ती, पण्डितराज का पाण्डित्य निश्चित ही लोकोत्तर था । पण्डितराज शारदा के असामान्य कृपाभाजन थे । जिस प्रकार ये सरस्वती के कृपापात्र थे, उसी प्रकार लक्ष्मी के भी प्रसाद से परिपूर्ण थे । यह कहना कोई अतिरन्जन न होगा कि ये श्री व सरस्वती के असामान्य स्पर्धा के विषय थे ।

पण्डित सम्राट् पण्डितराज का ही यह कौशल था कि वे किसी विषय के

मार्मिक अंश का स्पर्श करते थे, और अपनी कुशाग्रबुद्धि से किसी भी पदार्थ की तह तक जाने की क्षमता रखते थे ।

प्रतिपक्षी के पक्ष को पूर्णतया निरस्त करने का प्रतिभापूर्ण सामर्थ्य रखते थे, इसीलिए तो अप्पय्यदीक्षित प्रणीत चित्रमीमांसा के खण्डन के अवसर पर गर्वोक्ति-पूर्ण यह उद्घोष किया है—

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानाम्,
अप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम् ।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यात्,
तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥

अर्थात्—अप्पय्यदीक्षित के इस चित्रमीमांसा नामक ग्रन्थ में, सूक्ष्म विचार करके मैंने जिन दोषों को दिखलाया है, यदि कोई निष्पक्ष निर्मत्सर उज्ज्वलमति उक्त दोषों का उद्धार कर सके तो, मैं उस मेधावी के चरणों में प्रणाम करूँ ।

पण्डितराज केवल साहित्यशास्त्र के ही परम धुरन्धर नहीं थे, अपितु व्याकरणादि समस्त शास्त्रों के पारङ्गत थे । तार्किक चक्रवर्ती इस विद्वान की तर्क शैली भी विलक्षण ही है । काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण की समालोचना करते हुए कितनी सुन्दर युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

यत्तु प्राञ्चः "अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्" इत्याहुस्तत्र विचार्यते, शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात् । "काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतम् अर्थो न ज्ञातः, इत्यादि विश्वजनीन व्यवहारत प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थप्रतिपत्तेश्च ।

व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणया अर्थेऽपि, उपपादनीयः इति चेत्, स्यादपि एवं यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले, काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं हठतरं किमपि प्रमाणं स्यात्, तदेव तु न पश्यामः, विमतवाक्यन्तु अश्रद्धेयमेव ।

इत्थञ्च असति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिग्राहके प्रमाणे, प्रागुक्ताद् व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्धयन्ती शक्ति को नाम निवारयितुमीष्टे, एतेन विनिगमनाभावाद् उभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम् ।

तदेव शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, नतु स्वकल्पितस्यैव काव्यपदार्थस्य ।

इतिदिक्, रसगङ्गाधर (प्र० आ०)

इस प्रकार मान्य आचार्यों के भी मतों को विनम्र शब्दों में खण्डन करने में आप नहीं चूकते ।

प्राचीन आचार्य अलंकारों के केवल स्थूल रूपों का निर्देश करके अपनी कृतकृत्यता का अनुभव करते थे। मध्यकाल में रुय्यक, जयरथ, अप्पय्यदीक्षित आदि आचार्यों ने अलंकारों के विषय में अवश्य ऊहापोहपूर्ण विचार किया, किन्तु "तरुणीस्तन एव राजते ननु हारावलि रामणीयकम्" इत्यादि श्री हर्ष की सूक्ति के अनुसार अलंकारों का अलंकारत्व तब निखरा जब वे पण्डितराज की प्रतिभा पर आरुढ़ हुए। अतः पण्डितराज की यह गर्वोक्ति भी सत्योक्ति है कि—

"अलंकारान् सर्वानपि गलित-गर्वान् रचयतु"।

पण्डितराज का स्वभाव अत्यन्त स्पष्ट एवं स्वच्छ है। वे कटु से कटु सत्य कहने में भी नहीं हिचकते। एक समय की बात है कि कोई कवि अपनी कविता पण्डितराज को सुनाना चाहता था, परन्तु कविता सुनाने के पहिले ही पण्डितराज ने कह दिया—

मित्र ! यदि आप अंगूर के पाक को भी मात करने वाली कविता को सुनाने में समर्थ हैं, तो आराम से सुनाइए, अन्यथा स्वकृत पाप की तरह अपनी कविता को भी हृदय में ही संभालिए—

इस विषय में वे किसी को भी माफ नहीं करते, उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रवन्,
मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरी हारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे ! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशाम्,
नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद् वहिर्मा कृथाः ॥

विधाता ने पण्डितराज के स्वभाव में अभिमान को कूट-कूट कर भर दिया था। पाण्डित्य के विषय में स्वाभिमान की तो ये साक्षात् मूर्ति है। इनकी गर्वोक्तियाँ संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं—

आपका कहना है कि दुनियाँ में कविता करने वाले तो बहुत हैं, परन्तु मृद्वीकापाक अर्थात् अत्यन्त मधुरवाणी का आचार्य तो मै ही हूँ—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादाच कूलात् पयोधेः,
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीका-मध्यनिर्यन् मसृणरसझरी माधुरीभाग्यभाजाम्,
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥

इसी असामान्य पाण्डित्य व कोमलकान्तपदावली की मधुर कविता के कारण पण्डितराज पण्डितसमाज में अपनी सानी नहीं रखते, अर्थात् पण्डितराज का प्रतिस्पर्धी कोई नहीं था। रसगंगाधर पण्डितराज के पाण्डित्य का मनोरम निदर्शन है।

पण्डितराज की काव्यकला

कवित्वकला के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ महाकवि कालिदास को छोड़कर और सभी कवीश्वरों से उत्कृष्ट माने जाते हैं, इस बात को सभी काव्यरसिक स्वीकार करते हैं ।

पण्डितराज का पाण्डित्य जैसे अपने चरम उत्कर्ष में है, इसी प्रकार इनकी कवित्वकला भी अपनी असामान्य विच्छित्ति से काव्यरसिकों को सदा आप्यायित करती रहती है । संस्कृत के प्रायः अन्य विद्वानों के विषय में यह बात नहीं है । किन्हीं विद्वानों में आचार्यत्व है तो कवित्व नहीं है, अन्य विद्वानों में कवित्व है तो आचार्यत्व नहीं है । पण्डितराज में दोनों बातें हैं । जहाँ मार्मिक आलोचना से परिष्कृत आचार्यत्व है तो वहाँ कोमलकान्त-पदावली प्रयुक्त कवित्व भी है ।

अलंकारशास्त्र के उन आचार्यों को इस अंश में निश्चित ही बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा, जिन्होंने केवल अपने ग्रन्थों में लक्षणभर बना दिया था । आगे उस लक्षणों के अनुकूल उदाहरणों को यत्र-तत्र महाकवियों के काव्यों से ढूंढ लेना भी सरल नहीं था । क्योंकि एक तो उन लक्षणों के मुताबिक सर्वांश में बने बनाये उदाहरण मिल सकना कठिन है, फिर जिस किसी अंश में भी समन्यूनाधिक-भाव से अनुकूल उदाहरण मिल गये वे ही अपने लक्षणग्रन्थों में उन्होंने उदाहरण के तौर पर रख दिये, ज्यादे निरीक्षण की भी उन्होंने परवाह नहीं की, उन्हीं को उस लक्षण का उदाहरण समझ लिया ।

सौभाग्यवश पण्डितराज इस दोष से मुक्त हैं । उन्हें जिस लक्षण के लिए जैसा उदाहरण चाहिए तुरन्त उसकी तत्काल रचना कर लेते हैं । यही कारण है कि मधुरपदरचना या माधुर्यगुण वाले रसों के विषय में अन्य आचार्यों की अपेक्षा पण्डितराज अधिक मार्मिक एवं सूक्ष्म विचार कर सके हैं ।

रसगङ्गाधर के प्रारम्भ में ही इस बात की उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं स्वनिर्मित पद्यों से ही उदाहरणों को भी प्रस्तुत करूँगा । अन्य किसी भी कवि के काव्यों का उदाहरण इस ग्रंथ में नहीं रखूंगा । क्या स्वयं कस्तूरी उत्पन्न करने वाला मृग, किन्हीं पुष्पों के सुगन्ध का सेवनकरेगा ?

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरुपं,
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः,
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

इस प्रकार पण्डितराज अपने लक्षण के अनुरूप उदाहरण को स्वयं बनाकर पाठकों के सामने रख देते हैं । यह स्वनिर्मित उदाहरण सर्वांश में उक्त लक्षण से

संगत होता है, इतना ही नहीं पाठकों के व्युत्पत्ति के लिए, उसी के सामने प्रत्युदाहरण भी प्रस्तुत कर देते हैं ।

काव्य के जीवातुभूत व्यङ्ग्यार्थ के शरीरस्थानीय पदरचना का कितना महत्त्व है, यह बात किसी से छिपी नहीं है । कान्तासम्मित काव्य वचन प्रथमतः कोमल कान्त पदावलियों के द्वारा ही विनेयों को अभिमुख करते हैं, इसीलिए तो दण्डी व वामन ने इष्टार्थ को व रीति को विशिष्ट पदरचना से अवच्छिन्न किया । यदि पदरचना ही सर्वप्रथम श्रवणोद्वेजक या कर्णकटु हो तो फिर अर्थ के ऊपर विचार ही कौन करेगा ?

अतः कविता के लिए तो सर्व-प्रथम पदरचना की मधुरता अत्यन्त अपेक्षित है । स्वयं भामहादि ने इस तथ्य को समझा है, और इसका उचित आदर भी किया है । शृङ्गारादि रसों में टवर्ग, रेफ, संयुक्ताक्षर और झयसंयोग का परिहार करना कितना कठिन है, यह तो वे ही भुक्तभोगी सज्जन जान सकते हैं, जिन्होंने कभी इस ओर प्रयास किया हो ।

प्रसिद्ध साहित्यकारों ने भी टवर्ग वर्जित, संयुक्ताक्षर रहित, रेफ व समासों से शून्य रचना का शृङ्गारादि रसों के लिए उद्घोषित तो कर दिया, परन्तु व्यवहार में इसका निर्वाह उतना नहीं कर सके ।

शृंङ्गार रस के उदाहरण के लिए सभी आचार्यों के पास केवल अमरुक कवि का एक ही पद्य रह जाता है, उसी को सभी ने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । वह पद्य है "**शून्यं वासगृहं विलोक्य**" इत्यादि । इसमें अनेक पद माधुर्य के प्रतिकूल है, जैसे—उत्थाय, किञ्चिच्छनैः, शनैर्निन्द्रा, निर्वर्ण्य, पत्युर्मुखम् इत्यादि । इस पर पण्डितराज का स्पष्ट कथन है कि यह तो कवि के निर्माणद्रारिद्रय का प्रकाशन कर रहा है । अर्थात् कवि के पास इतना शब्दकोष नहीं है कि वह शृङ्गाररस के अनुकूल, उक्त पदों के बदले अन्य मधुर पदों का प्रयोग कर सके । बेचारे आलंकारिकों को तो हम कुछ नहीं कहते, क्योंकि वे तो उदाहरण के तौर पर उक्त पद्य को प्रस्तुत करने के लिए मजबूर हैं ।

आचार्य वामन का "**रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टपदरचना रीति, विशेषो गुणात्मा**" । कहने का कदाचित् यही तात्पर्य था कि विशिष्ट रचना द्वारा ही काव्य काव्येतर से व्यावृत्त हो जाय । मध्यकाल में भी राजशेखर आदि आचार्यों ने भी कोमल पदरचना को ही लक्षित कर प्राकृत भाषा की प्रशंसा की है । प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत पदरचना को क्लिष्ट समझा गया—

"ललिए महुरक्खरए जुवइजण बल्लहे सर्सिगारे ।
संते पाइय कव्वे को सक्कई सक्कम्प्रं पदिडं ।। (प्राकृत)

ललिते मधुराक्षरे युवतिजनवल्लभे, सश्रृङ्गारे।
सति प्राकृतकाव्ये कः शक्नोति संस्कृतं पठितुम् ॥ (संस्कृत)

प्राकृतभाषा के कवि ही केवल इस भाषा के पदबन्धों की प्रशंसा नहीं किये, अपितु संस्कृतभाषा कवि भी, इनमें भी मूर्धन्यतम कवि राजशेखर प्रभृति भी उस समय प्राकृतभाषा के पदबन्धों से पूर्णतया मुग्ध थे। ये लोग संस्कृत भाषा के पदों को प्राकृत की अपेक्षा कठिन समझते थे। इसीलिए कर्पूरमञ्जरी में स्वयं राजशेखर ने कहा है कि—

"परुसा सक्कअ बंधा, पाउब बंधो वि होई सुउमारो।
पुरुस माहलाणं जेत्तिअमिहत्तरं तेत्तिअ मिमाणं" ॥ (प्राकृत)

परुषाः संस्कृतबन्धाः प्राकृतबन्धोऽपि भवति सुकुमारः।
पुरुषमहिलानां यावदिहान्तरं तावदेतेषाम् ॥ (संस्कृतम्)

कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुष व महिलाओं में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर सुकुमारता के विषय में संस्कृत व प्राकृत भाषा में भी है।

प्राकृत कवियों के सहयोग या देखादेखी से अब संस्कृत कवि भी अपने काव्यों को लालित्यपूर्ण पदावलियों से सजाने लगे। अब उत्तरोत्तर संस्कृत काव्यों में मधुर रचना के विषय में प्रयास होने लगा। मम्मटभट्ट के समय में संस्कृत रचना के विषय में जितना विचार हुआ, उससे भी कहीं अधिक इस विषय में साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ के समय में हुआ।

तदनन्तर पण्डितराज का तो वह समय था, जबकि संस्कृत साहित्य से सुन्दर-सुन्दर अंशों को लेकर समृद्ध होती हुई व्रजभाषा अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर रही थी। सन्त सूरदास व सन्त तुलसीदास ने व्रजभाषा व अवधीभाषा को जो गौरव प्रदान किया "सतसई" के निर्माता विहारीलाल ने उसका और भी संवर्धन किया। विहारी ने तो दोहा जैसे छोटे छन्द में वर्ण्य विषय, व्यङ्ग्य-चमत्कार और अलंकार के झन्कार को समन्वित कर निश्चय ही गागर में सागर ही भर दिया। इसीलिए तो विहारी के सतसईया, सामान्य विद्वानों को तो क्या, तुलसी सूर जैसे साहित्यकारों के लिए भी तीर की तरह मालूम पड़ने लगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि राजा से लेकर रङ्क तक जितना भी सहृदय-समाज था सब विहारी की कविता से वशीभूत था। व्रजभाषा में अब अपभ्रंश के सहयोग से वर्णों के गुरु व लघु बनाने की स्वच्छन्दता आ गई। फलतः व्रजभाषा में अब उन कठोर या संयुक्ताक्षरों की छटनी हो जाने से केवल मधुर शब्दों की ही रचना होने लगी। अब दृष्टि, द्युति, गात्र, कर्कश इन संयुक्ताक्षर एवं कठोर

शब्दों की जगह पर दीठि, दुति, गात, करसक, परस आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग हो रहा था ।[1]

इस प्रकार ब्रजभाषा का वैभव, व उत्कर्ष कोमलपदावली से उत्तरोत्तर विकासशील हो रहा था । ऐसे स्पर्धामय समय में जयपुर में, देहली राजधानी में या उत्तर भारत में अपनी कविता की यशःपताका फैलाता हुआ पण्डितराज उक्त ब्रजभाषा के प्रभाव को न जानता हो, इस बात को कोई सहृदय स्वीकार नहीं करेगा, तब संस्कृत भाषा का वह नियम कविता में प्रयुक्त न होकर केवल शास्त्रीय ग्रंथों में ही पड़ा रहे प्रयोग में न आ सके यह बात पण्डितराज जैसे सर्वाङ्गीण प्रतिभासम्पन्न पण्डित को कैसे सहन हो सकती है ? इसीलिए रसगङ्गाधर में पदरचना के विषय में पण्डितराज ने कुछ नियमों को और दृढ़ कर दिया, संयुक्ताक्षर विषयक बहुत से नये नियमों का आविर्भाव भी किया ।

अब पदरचना के विषय में पण्डितराज ने इतना मार्मिक विचार कर दिया कि जिसके आगे ब्रजभाषा के पोषक पण्डितों को भी निष्प्रभ हो जाना पड़ा । किस वर्ण के अनन्तर किस वर्ण के आ जाने से कटुता आ जाती है, इसके विषय में रसगङ्गाधर में जितना मार्मिक विवेचन हुआ है, सम्भवतः अन्य किसी भी साहित्य में इतना विवेचन नहीं हुआ होगा । मधुर रचना के ऐसे-ऐसे पद्य स्वयं रचकर रसगङ्गाधर में प्रस्तुत किये हैं, जिनमें कोई भी प्रतिपक्षी किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं कर सकता है ।

सायंकाल अपने प्रिय के भवन की ओर जाती हुई किसी रमणी का यह वर्णन कितना रमणीय है —

लोलालकावलिवलन्नयनारविन्द-
लीलावशंवदितलोकविलोचनायाः ।
सायाह्नि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-
श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः ।।

ब्रजभाषा के साहित्य में उस समय पदान्तानुप्रास की काफी चर्चा होती थी । इसी स्पर्धा में पण्डितराज ने भी पदान्तानुप्रास की अपनी कविता में अपूर्व छटा दिखलाने की कोशिश की—यद्यपि शंकराचार्य प्रभृति प्राचीन विद्वानों ने भी

---

1. दीठि न परत समान द्युति कनक-कनकसे गात,
भूषन कर करकस लगत परस पिहाने जात (विहारी)

दृशमुपैति कनकं वपुराप्य कनकसमकान्ति ।
भूषणानि करकस्पर्शतया प्रतिभान्ति ।। (मञ्जुनाथ)

अन्त्यानुप्रास में बहुत से स्तोत्रों की रचना की थी, जैसे गंगाजी की स्तुति में—

तवोत्सङ्गे गङ्गे, यदि पतति कायस्तनुभृतां,
तदा मातः शातक्रतवपदलाभोऽप्यति लघुः ।। इत्यादि

किन्तु पण्डितराज का यह पदान्तानुप्रास भी ब्रजभाषा की कविता से किसी प्रकार कम नहीं है—

नितरां द्वितयाऽद्य निद्रया मे वत यामे चरमे निवेदितायाः।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत्प्रचुकोप वारिवाहः ।।

सामयिक प्रभाव

साहित्य समाज का दर्पण होता है । कोई भी साहित्यिक अपने सम सामयिक प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता है । पण्डितराज जगन्नाथ भी इस नियम के अपवाद नहीं थे, फलतः उस समय के अन्यभाषा कवियों के प्रभाव से या अपनी उत्कृष्टदशा को प्राप्त हुई ब्रजभाषा के साहित्य के प्रभाव से अथवा वैभव के उस परमविलासमय वातावरण से समन्यूनाधिक भाव से प्रभावित होना पण्डितराज के लिए भी एक साधारण सी बात थी ।

विहारी के कुछ पद्यों की छाप पण्डितराज के कविता में भी लक्षित होती है—

श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरुपं,
किन्तु स्फुटं गरलमेतदथाऽमृतं च ।
नो चेत्कथं निपतनादनयोस्तदैव,
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ।।

विहारी का पद्य इस प्रकार है—

अभी हलाहलमदभरे स्वेत श्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जिंहि चितवत इकबार ।।

नीलान्चलेन संवृत्तमाननमाभाति हरिणनयनायाः ।
प्रतिविम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः ।।

विहारी का पद्य इस प्रकार है—

छिप्यो छवीलो मुंह लसै नीले आँचर चीर ।
मनों कलानिधि झलमलै कालिन्दी के तीर ।।

ये सब पद्य पण्डितराज व विहारी के समानार्थक मालूम पड़ते हैं, समसामयिक इन पद्यों में कौन किसका उपजीव्य है, इसमें तो गवेषक ही समुचित गवेषणा करेंगे ।

पाठक यहाँ विलासमय मुगल सम्राट की राजधानी के विलक्षण विलासिता की छटा का पण्डितराज की शब्दावली द्वारा साक्षात्कार कर सकते हैं—

कोई सुन्दरी राजमार्ग से गुजर रही थी, उसके सौन्दर्य से मुग्ध हुए कुछ मनचले उस सुन्दरी का पीछा करने लगे। चलते-चलते जब वह सुन्दरी अपने भवन में प्रवेश करने लगी, तो सहसा उसे उन बेचारों के इतने परिश्रम पर दया आ गई, ये बेचारे भी उसकी आशा की प्रतीक्षा में थे, अतः सुन्दरी ने अपने नील कमल के समान नयनों के कटाक्षपात द्वारा, उन्हें जाने की अनुमति दे दी—

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ वाला पथि पातयाम्बभूव॥

उस समय के विलासी मुगलों के भवनों में विनोदार्थ कपोतों के जोड़ों का जमघट भी रहता था, जिसको आजकल भी मुसलमान शिष्टाचार की तरह मानते हैं—

निरुध्य यान्ती तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
मयि स्मितार्द्रवदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयांबभूव॥

पण्डितराज की अन्योक्तियाँ

पण्डितराज की गर्वोक्तियों की तरह अन्योक्तियाँ भी संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्ध हैं। ये अन्योक्तियाँ सहृदयहृदयावर्जक, काव्यकला केकमनीय विलास समन्वित, भाववैचित्र्य के चित्रों से विद्वज्जनों की कण्ठाभरण बन गयीं हैं। सुनते ही सहृदयों के श्रवणों में पीयूषरसायन का आस्वाद प्रदान करती हैं—

पण्डितराज अन्योक्ति के द्वारा किसी कवि को आश्वासन दे रहे हैं कि हे कवे, यदि अरसिक लोग तुम्हारा अनादर करते हैं तो, करने दो, इसमें तुम्हें दुःखी होने की कोई बात नहीं है, किन्तु मर्मज्ञ रसिक चिरायु हों, जो हमेशा तुम्हारा आदर करेंगे। तात्पर्य यह है कि मूर्खों के आदर की तुम आकङ्क्षा ही मत रक्खो, मूर्खों का आदर तो निरादर से भी कहीं अधिक कष्टदायक है—

कमलिनी मलिनीकरोति चेतः किमिति बकैरहहेलिताऽनभिज्ञैः।
परिणतमकरन्दमार्मिकास्ते जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः॥

इसी प्रकार वे स्वयं अपनी वाणी को भी धैर्य दिला रहे हैं—

मद्वाणि ? मा कुरु विषादमनादरेण,
मात्सर्यमग्नमनसां सहसा खलानाम्।
काव्यारविन्द-मकरन्दमधुव्रताना—
मास्येषु धास्यतितमां कियतो विलासान्॥

कोई आश्रयदाता राजा ही जब किसी विपत्ति के द्वारा अकिञ्चन हो जाता है, तो अनन्य शरण उसके आश्रित जो उसके सेवक हैं, वे बेचारे कहाँ जायें ! कवि ने ऐसे सेवकों की दशा, उस मछलियों के द्वारा प्रकट की है, जिनका आश्रयभूत-सरोवर जल सूख गया है—

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गाः,
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति ।
सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो,
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु ॥

जो दुर्जन को वश में करना चाहता है, वह हालाहल को पीना चाहता है । कालानल को चुम्बन करना चाहता है, और व्यालाधिप—भयानक काले सांप का आलिङ्गन करना चाहता है—

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन,
कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम् ।
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा,
यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम् ॥

सज्जनों का निर्मल चित्त बिना किसी स्वार्थ के किस प्रकार परोपकार में संलग्न रहता है, पण्डितराज के शब्दों में इसका वर्णन इस प्रकार है—

कस्मादिन्दुरसौ धिनोति जगतीं पीयूषवर्षैः करैः,
कस्माद् वा जलधारयैष धरणी धाराधरः सिञ्चति ।
भ्रामं भ्राममयं च नन्दयति वा कस्मात् त्रिलोकी रविः,
साधूनां हि परोपकारकरणे नोपाध्यपेक्षं मनः ॥

पण्डितराज स्वयं अपनी कविता के विषय में कहते हैं कि सम्भव है शहद, अंगूर व वामाधरसुधा कदाचित् किसी को पसन्द न हो, या इनके अतिशय आस्वादन से दिल उब जाय, परन्तु जगन्नाथ की कविता तो निरन्तर एकरस आनन्द ही प्रदान करती है, किसी भी सहृदय और सजीव व्यक्ति की इसमें दो राय नहीं है—

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा,
कदाचित् केषाञ्चित् न खलु विदधीरन्नपि मुदम् ।
ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो,
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः ॥

पण्डितराज अपनी पूर्व सम्पन्नावस्था व वर्तमान विपन्नावस्था की तुलना ऐसे मराल से कह रहे हैं, जो पहिले खिले हुए पराग से पूर्ण कमलों वाले मानसरोवर

में विहार करता था, सम्प्रति मेंढकों की टर-टर से परिपूर्ण कीचड़ से सने हुए पोखरे में बड़े कष्ट के साथ समय विता रहा है--

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्,
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकमेकाकुले,
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥

गीतिकाव्य प्रणेताओं में कविवर जयदेव के बाद पण्डितराज का ही नाम आता है, यद्यपि पण्डितराज ने प्रायः अपनी कविता में गीति का ही निर्माण किया है, परन्तु इन सब में "भामिनी विलास" पण्डितराज की सर्वोच्च गीति रचना है, यह ग्रंथ प्रास्ताविक, शृंङ्गार करुण व शान्त, चार प्रकरणों में विभक्त है ।

भतृहरि की तरह पण्डितराज की शैली भी प्रसन्न, गम्भीर, व भावभङ्गिमा से चमत्कारपूर्ण तथा प्राञ्जल है ।

आराध्यदेव

यद्यपि पण्डितराज के परम आराध्य देव, भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्ण ही हैं, जैसा कि रसगङ्गाधर के मंगलाचरण से भी विदित होता है, कि कादम्बिनी में उन्होंने रहस्यभूत उस आराध्य देव की ही मूर्ति का अध्यवसान किया है । अन्यत्र फुटकर पद्यों से भी प्रतीत होता है कि वे भगवान् कृष्ण के परम उपासक थे । जैसे एक जगह रसगङ्गाधर में उन्होंने कहा है **"सत्यं ब्रूहि मदीयजीव ! भवता, भूयो भवे ग्राम्यता, कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः कुचिल्लथितः"** इत्यादि ।

यह सब होते हुए भी अन्य देवताओं के प्रति भी वे एकदम उदासीन नहीं हैं, अपितु उनमें भी पण्डितराज की अत्यन्त भक्ति है । गंगाजी के प्रति तो उनकी अगाध श्रद्धा है, जैसा कि उनका वाक्य है "निधानं धर्माणाम्" इत्यादि । गंगालहरी का प्रत्येक पद्य पण्डितराज की परा भक्ति का प्रकाशन करता है ।

इसी प्रकार करुणा लहरी में भी पण्डितराज अपने को सर्वथा अपने आराध्य देव के पवित्र चरणों में समर्पित कर देते हैं-

विसीदता नाथ विषानलोपम-
विसादभूमौ भवसागरे विभो! ॥
परं प्रतीकारमपश्यताऽधुना,
मयाऽयमात्मा भवते समर्प्यते ॥

भवानलज्वालविलुप्तचेतनः,
शरण्य! तेऽङ्घ्रि शरणं भयादयाम् ॥

विभाव्य भूयोऽपि दयासुधाम्बुधे !,
विधेहि मे नाथ ! तथा यथेच्छसि ।।

कभी-कभी तो पण्डितराज अपने आराध्य के प्रति व्यङ्ग्यभरा मीठा उपालम्भ भी देते हैं—

अयि ! दीनतरं दयानिधे, दुरवस्थं सकलैः समुज्झितं ।
अधुनाऽपि न मां निभालयन्, भजसे हा कथमश्मचित्तताम् ।।

सुमहान्ति जगन्ति बिभ्रतस्तव यो नाविरभून्मनागपि ।
स कथं परमाप्तदेहिनां परमाणोर्मम धारणे श्रमः ।।

नितरां विनयेन पृच्छ्यते सुविचार्योत्तरमत्र यच्छ मे ।
करितो गिरितोऽप्यहं गुरुस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम् ।।

न धनं न च राज्यसम्पदं न हि विद्यामिदमेकमर्थये ।
मयि धेहि मनागपि प्रभो करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम् ।।

अयमप्यधमोऽपि निर्गुणो दयनीयो भवता दयानिधे ! ।
वमतां फणिनां विषानलं किमु नानन्दयिता हि चन्दनः ।।

इन पद्यों में पण्डितराज का कितना मनोहर भावबन्ध है ।

कभी-कभी जब पण्डितराज संसार की इस विषम ज्वाला को सहन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, तब वे एकाग्रमन से उस मुरलीवाले के मुखचन्द्र के चकोर बन जाते हैं—

विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानल-
प्रसृत्वरशिखावलीविकलितं मदीयं मनः ।।
अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे,
मुकुन्दमुखचन्दिरे चिरमिदं चकोरायताम् ।। (रस०)

पण्डितराज की रचनायें

(1) **रसगङ्गाधरः**—पण्डितराज की एक अपूर्ण कृति है । यह ग्रंथ साहित्य-शास्त्र का सर्वस्व मार्मिक-आलोचना की कसौटी, तथा तर्कपूर्ण विचार पद्धति का प्रस्थापक है । अलंकार शास्त्र के प्रौढ़ परिष्कार का परिद्योतक अपूर्व ग्रन्थ है । इसमें कवितल्लज ने स्वनिर्मित पद्य ही उदाहरणरूप में प्रस्तुत किये हैं ।

(2) **भामिनीविलास**—यह प्रस्ताविलास, शृंङ्गारविलास, करुणविलास, व शान्तविलास नामक चार प्रकरणों से सम्बन्धित खण्डकाव्य या गीतिकाव्य है ।

(3) **चित्रमीमांसाखण्डन**—श्रीमद् अप्पय्यदीक्षित विरचित चित्रमीमांसा

नामक अलंकार ग्रन्थ का यह खण्डनरूप है। पण्डितराज को जब रसगङ्गाधर में प्रकरण प्राप्त अप्पय्यदीक्षित के सिद्धान्तों के खण्डन से सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने इसके लिए पूरे चित्रमीमांसा ग्रंथ का ही खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया।

(4) **मनोरमाकुचमर्दनम्**—यह भट्टोजी दीक्षितविरचित व्याकरण ग्रंथ मनोरमा का खण्डनात्मक ग्रंथ है।

(5) **जगदाभरणम्**—यह ग्रंथ जयपुर महाराज राणा कर्णसिंह के पुत्र राजकुमार जगतसिंह की प्रशंसा में लिखा गया है।

(6) **प्राणाभरणम्**—यह ग्रंथ कामाख्याधिपति की प्रशंसा में लिखा गया है, इसमें करीब 53 श्लोक हैं।

(7) **आसफविलास**—यह ग्रंथ आसफखान की प्रशंसा में लिखा गया है।

(8) **यमुनावर्णनम्**—यह एक गद्यात्मक आख्यायिका है, जिसमें यमुनाजी का वर्णन हैं।

(9) **लक्ष्मीलहरी**—यह ग्रन्थ लक्ष्मी जी की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें एकतालीस पद्य है।

(10) **करुणालहरी**—यह ग्रन्थ भगवान् विष्णु की प्रशस्ति में लिखा गया है, इसमें चौंसठ पद्य है।

(11) **अमृतलहरी**—यह ग्रंथ भी यमुनाजी की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें केवल ग्यारह श्लोक ही हैं।

(12) **सुधालहरी**—यह ग्रंथ भगवान भास्कर की स्तुति में लिखा गया है, इसमें बत्तीस श्लोक हैं।

(13) **गङ्गालहरी**—यह ग्रंथ गंगाजी की प्रशस्ति में लिखा गया है, यह रचना अत्यन्त मधुर व मनोहर है, इसमें बावन श्लोक हैं।

रसगङ्गाधर

संगीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्।
एकमापातमधुरमन्यदालोचनाऽमृतम् ॥

संगीत व साहित्य भगवती सरस्वती के दो पयोधर हैं। प्रथम संगीत केवल श्रवणमात्र से ही मधुर है, अर्थात् संगीत के लिए श्रोता या सामाजिक को इतना मानसिक परिश्रम नहीं करना पड़ता है, जितना कि साहित्य के लिए। अतः पद्य में संगीत के माधुर्य या आस्वादन को आपाततः रमणीय कहा गया है। अन्य साहित्य नामक जो पयोधर हैं, वह आलोचना के द्वारा अपना माधुर्याऽमृत या रसास्वादन

प्रदान करता है अर्थात् साहित्य की जितनी अधिक आलोचना होगी उतना ही वह उत्तरोत्तर आस्वादामृत प्रदान करेगा। इसीलिए आलोचना को साहित्यशास्त्र का प्राण माना गया है। निबन्धनायक रसगङ्गाधर उक्त सिद्धान्त का एक मनोरम निदर्शन है।

रसगङ्गाधर का जितना भाग उपलब्ध है, उसमें साहित्य के जिन-जिन विषयों का प्रतिपादन हुआ है, वे सब पूर्वाचार्यों के निबन्धों की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट, विशद, तथा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोषों से रहित है।

वादयुग के अनुरूप नव्यन्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न से युक्त शैली का अनुसरण कर प्रतिपाद्य विषयों का मार्मिक अन्तस्तलस्पर्शी परिशीलन किया गया है।

विषय प्रतिपादन के प्रसंङ्ग में पण्डितराज प्राचीन सभी आचार्यों की कठिनाई से भी सुपरिचित थे।

इसीलिए उन्होंने पूर्वाग्रह को छोड़कर प्रायः गद्य में ही विशदतया प्रतिपाद्य विषय का व्याख्यान किया, अन्यथा वे भी कारिका या पद्य में ही वर्ण्य विषय को रख सकते थे, परन्तु पूर्वाचार्यों की उस प्रकार की विषय संकीर्णता व अस्पष्टता को देखकर वे अपने विषय को कारिका या पद्य में बाँधने के लिए उत्साहित नहीं हुए।

खासकर मम्मट इस विषय में बहुत बदनाम हैं। काव्यप्रकाश की कुछ कारिकायें इतनी संकीर्ण हैं कि वृत्ति में उनका विस्तार कर देने पर भी टीकाकारों का एक मत नहीं होता है—

जैसे लक्षणा के लक्षण में—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥

"मुख्यार्थस्य बाधे सति, तद्योगे-तस्य मुख्यार्थस्य योगे-सम्बन्धे सति, रूढ़ेः प्रसिद्धे, प्रयोजनात्—शैत्यपावनत्वादिप्रतीतिरूपात्-फलात्, वा शब्देन कर्त्रा (उपरित आक्षिप्यते इदम्) यत् अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा।

यहाँ "यत्" इस अस्पष्टार्थक पद के रख देने से टीकाकारों में काफी मदभेद हो गया है। कुछ लोगों का कहना है कि "यत्" यह पद लक्षणरुप क्रिया का विशेषण है, जिसका समन्वय इस प्रकार होगा "अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते=यत् प्रतिपाद्यते सा लक्षणा" और "लक्ष्यते" यह क्रिया "णिजन्त" है। यहाँ णिच् का अर्थ है हेतु (अर्थात् प्रयोजक कर्ता) वह है शब्द। इस प्रकार इसका अर्थ होगा "अन्यार्थ-प्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा"। कुछ लोगों का कहना है, "यत्" यह लुप्त-करण तृतीयान्त अव्यय है, अर्थात् "यया" के अर्थ में यहाँ यत् शब्द का प्रयोग हुआ है। तब इसका अर्थ होगा—"यया वृत्त्या अन्योऽर्थः (मुख्यार्थाद् भिन्नोऽर्थः तटादिरूपः) लक्ष्यते प्रतिपाद्यते सा (वृत्तिः) लक्षणा इति।

इसी प्रकार अन्यत्र भी अस्पष्ट या संकीर्ण रूप में निर्देश करने से साधारण पाठक का तो कहना ही क्या टीकाकारों का भी मतभेद या व्यामोह हो जाता है। यह सारा अनर्थ होता है ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को केवल कारिका में ही निबद्ध करने के आग्रह से।

इस प्रकार की परिस्थितियों का पूर्ण अनुभव करके ही पण्डितराज ने अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को प्राञ्जल गद्य में निबद्ध किया, जिससे कि विषय विवेचन में किसी प्रकार की न्यूनता न रह जाय।

रसगङ्गाधर में जिस विषय को प्रारम्भ किया है, उसका पूर्वरूप पाठकों के सामने उपस्थित कर दिया है। जैसे रसनिरूपण के प्रसङ्ग में, अभिनव गुप्त के मत की व्याख्या काव्यप्रकाश में मम्मट ने, और रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने भी की है, परन्तु रसगङ्गाधर के अध्ययन के बिना केवल काव्यप्रकाश के अध्ययनमात्र से क्या उस मत का स्वरूप स्पष्ट होता है ?

भट्टनायक का मत तो काव्यप्रकाश में और भी अस्पष्ट है। "स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता है" बस इतना ही कहकर प्रकाशकार मौन हो जाते हैं। "स्वगतत्वेन रस का बोध क्यों नहीं हो सकता है ?" इस स्वाभाविक जिज्ञासा की शान्ति के लिए, प्रकाशकार को कुछ और लिखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता किन्तु ऐसे स्थलों में पण्डितराज पाठकों की जिज्ञासा को समझते थे, अत एव उन्होंने स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने के कारण को बड़े मार्मिक शब्दों में और विशद-रूप से कहा है।

नवों रसों के रति आदि नौ स्थायी भाव हैं। ये सभी आलंकारिक लिख गये, परन्तु ये ही क्यों स्थायी भाव हैं, हर्षादि भी स्थायी भाव क्यों नहीं है ? इन सब प्रश्नों के उत्तर के लिए रसगङ्गाधर का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

इसी प्रकार शृंङ्गार के विषय में भी है। शृंङ्गार संयोग व वियोग के भेद से दो प्रकार का होता है, परन्तु संयोग और वियोग पद से यहाँ क्या विवक्षित है? इस बात को किसी भी ग्रन्थकार ने नहीं कहा। सामान्यतः लोग संयोग का अर्थ "समानाधिकरण्य", अर्थात् एक जगह रहना। और वियोग का अर्थ वैयधिकरण्य अर्थात् भिन्न स्थान में रहना ही समझते हैं।

परन्तु पण्डितराज संयोग व वियोग को दम्पति का केवल समानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य ही नहीं मानते हैं। मानावस्था में दम्पति के एकशय्यासीन होने पर भी वियोग माना जाता है।

तस्मात् समानाधिकरण्य मात्र संयोग नहीं है, और न वैयधिकरण्य मात्र ही वियोग है। अपि तु जहाँ "मैं संयुक्त हूँ" और "में वियुक्त हूँ" इस प्रकार की

बुद्धिवत्ति हो वहीं संयोग और वियोग का वर्णन हो सकता है। क्योंकि परस्पर यह प्रम तो चित्त का धर्म है, अर्थात् चित्र की एक वृत्ति विशेष है जिसके परस्पर द्रवीभाव में, एकाकारता होने से "संयुक्तोऽस्मि", इत्याकारक बोध होता है। और इसके अभाव में कठिन वृत्तियों का सम्मिलन न हो सकने से "वियुक्तोऽस्मि" इत्याकारक बोध होगा। इस प्रकार पण्डितराज का विषय विश्लेषण वैदग्ध्य अन्य आलंकारिकों की अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ संतुलित व विशद है।

रसगङ्गाधर की शैली

रसगङ्गाधर की विषय-प्रतिपादन शैली अत्यन्त प्राञ्जल प्रसादगुणसम्पन्न तथा वक्तव्यविषय को ओजस्वी व उत्तेजक बनाने में सर्वथा समर्थ है।

विषय व भाषा का सन्तुलन सर्वत्र औचित्यपूर्ण है, जिसमें एक भी पद न तो संदिग्ध है, न अधिक है और न न्यून ही है, न कोई वाक्य आक्षेपलभ्य पदों की आकाङ्क्षा ही करता है। वादयुग के उस नव्यन्याय के संपुट से इतना कीलित यह सन्दर्भ है, जिसमें तिलमात्र भी परिवर्तन की गुँजायस नहीं है।

ग्रन्थारम्भ में ग्रंथकार ने जैसी प्रतिज्ञा की है कि मैंने पूर्वाचार्यों के सभी निबन्धों का अच्छी तरह परिशीलन कर, सुदृढ़ विचारसरणि के द्वारा प्रस्तुत रसगङ्गाधर नामक ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसमें किसी प्रकार का भी उक्तशास्त्र विषयक दोष नहीं है। इस ग्रन्थमणि के हृदय में धारण करने से साहित्यविषयक ध्वान्त का ध्वंस हो जाता है, साथ ही साथ अन्य आलंकारिकों के अखर्व गर्व का विगलन हो जाता है—

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं,
मायोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलंकारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु॥

इस शीर्षक के अनुसार यह प्रबन्ध सर्वातिशायी है, इसीलिए इसमें किसी भी स्थल विशेष में किसी भी आनुषङ्गिक विषय का भी विश्लेषण बड़े विचार के साथ हुआ है, प्रधान विषयों के बारे में तो फिर कहना ही क्या। इतनी व्यापक दृष्टि ग्रन्थकार की है, जिसमें सभी विषयों का मार्मिक विवेचन हुआ है।

व्याकरणादि नियमों से सुश्रृङ्खलित पद विन्यासवाली संस्कृत भारती में मधुररस के अनुकूल केवल मधुर पदावलियों का गुम्फन करना कठिन ही नहीं अपि तु असम्भव सा भी है। ज्यादे क्या कहा जाय, साहित्यशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ के

उदाहरण रूप में उपस्थित किए गये मधुररसों के पद्यों को देखेंगे तो वे सर्वथा उन नियमों से संगत नहीं होगें जिनका निर्देश तत्तत् ग्रंथकारों ने किया है। परन्तु पण्डितराज के तो रसगङ्गाधर में उन-उन रसों के अनुकूल उदाहरण पद्यों में किसी प्रकार की कमी की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है।

इस विषय में पण्डितराज ने केवल नियम निर्माण ही नहीं किया, अपितु स्वयं उन नियमों का अनुसरण भी किया है, बल्कि कुछ अपनी नई मान्यताओं से उन नियमों को और भी कठोर कर दिया है। क्योंकि उस समय पण्डितराज को भी अपनी संस्कृत की कविता को विकासशील ब्रजभाषा की प्रतिस्पर्धा में पहुँचाना था। अतः समुचित लालित्य के लिए कुछ नियमों का संवर्धन व उनका सम्यक् परिपालन भी करना ही था।

रसगङ्गाधर पण्डितराज की प्रतिभा का असामान्य परिणाम

पूर्वाचार्यों के अलंकारग्रन्थों की अपेक्षा रसगङ्गाधर पण्डितराज की कुछ निजी विशेषताओं से भी विलक्षण है। इसमें पण्डितराज की प्रतिभा का पूर्ण परिपाक परिलक्षित होता है। अन्य ग्रन्थकारों ने काव्य सिद्धान्तों के विषय में उन्हीं प्राचीन मान्यताओं को कुछ हेर-फेर के साथ दुहराया है, उनके टीकाकारों ने भी पुनः उन्हीं पदों के सुसङ्गति के लिए प्रत्येक पंक्ति का पदकृत्य कर अपना कर्तव्य निभाया है। इतना जरूर हुआ है कि पूर्वमान्यता में यदि किसी प्रतिवादी ने किसी प्रकार का प्रहार किया है, तो उसकी मर्मपट्टी के लिए मूल ग्रन्थकार जितना तत्पर है, टीकाकार का भी उससे कहीं कम उत्साह नहीं है, ध्वनि सिद्धान्त के विषय में अभिनवगुप्त की लोचनटीका, व्यक्तिविवेचन की रूय्यक निर्मित व्याख्या, काव्य प्रकाश की प्रदीपादि टीकायें इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

हाँ ध्वनिवाद का विरोधमूलक कुछ समीक्षात्मक चिन्तन अवश्य हुआ, वक्रोक्ति जीवित व व्यक्तिविवेक जिसके साक्षी हैं, परन्तु उन मूल समस्याओं पर पुनः परिष्कार व अभिनव आविष्कार का उपक्रम किसी ने नहीं किया, पर पण्डितराज निश्चित ही इस विषय के अपवाद हैं, आपने परिष्कार की ही दृष्टि से केवल प्रतिभा का व्यय नहीं किया, अपितु सैद्धान्तिक दृष्टि से भी प्रस्तुत ग्रंथ में कुछ नया आविर्भाव किया, या उन चिरन्तन सिद्धान्तों का ही अपने नये तरीके से पुनः मूल्यांकन किया। जैसे—काव्य के स्वरूप के ही विषय में विचार कीजिए कि भामट्ट से लेकर मम्मट तक वही शब्दार्थ युगल का बहुचर्चित पिष्टपेषण सिद्धान्त पढ़ाया जा रहा था, मध्य में यद्यपि विश्वनाथ ने सगुणौ सालंकारौ इत्यादि के विषय में कुछ आपत्तियाँ प्रकट की, परन्तु विश्वनाथ का वह वादपक्ष उतना प्रबल नहीं था जितना कि अपेक्षित था, फिर टीकाकारों के लिए मम्मट निर्दिष्ट सिद्धान्त ऐसा

राजमार्ग या घन्टापथ हो चुका था, जिसे छोड़कर कोई भी टीकाकार या ध्वनि सिद्धान्त का अनुयायी पथिक एक मिनट के लिए भी फुटपाथ पर खड़ा होकर विहङ्गम दृष्टि को भी पीछे की ओर नहीं डालना चाहता था।

पण्डितराज को यह सब कमी अच्छी तरह प्रतीत हुई, उन्होंने बड़े संरम्भ के साथ उन सिद्धान्तों का पुनः परिष्कार करने का संकल्प किया, पाण्डित्य के साथ-साथ अपनी प्रौढ़ तर्कपूर्ण प्रतिभा का भी इस कार्य में उन्होंने खूब उपयोग किया। प्राचीनों ने जहाँ शब्दार्थ युगल को काव्य माना है, वहाँ अपने शब्दमात्र को ही काव्य माना है—

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"।

काव्य प्रकाशादि ग्रंथों में काव्य में गुण व अलंकारों का रहना आवश्यक बतलाया गया है, परन्तु रसगङ्गाधर में यह कोई आवश्यक नहीं माना है।

प्रायः प्राचीन काव्यशास्त्री कविता के प्रति कारणन्नितयवादी हैं, वे काव्य के प्रति शक्ति, निपुणता, व अभ्यास इन तीनों को आवश्यक समझते हैं, परन्तु पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में केवल प्रतिभा को काव्य के प्रति कारण माना है **"तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा, सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः"**

अदृष्ट व व्युत्पत्तिभ्यास को तो वैकल्पिक रूप में प्रतिभा के प्रति कारण माना है। काव्यप्रकाश के अनुसार काव्य—उत्तम, मध्यम व अधम भेद से तीन प्रकार का होता है, साहित्यदर्पणकार तो अधम भेद को भी स्वीकार नहीं करते हैं। वे केवल उत्तम व मध्यम ही भेद को स्वीकार करते हैं। परन्तु रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने बड़ी युक्ति से उत्तमोत्तम् उत्तम, मध्यम, व अधम, चार प्रकार के काव्यों को माना है।

रस के स्वरुप का का विवेचन अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है, काव्यप्रकाश में रस के विषय में केवल प्रमुख चार ही मतों का प्रदर्शन किया गया है, परन्तु रसगङ्गाधर में बड़े विवेचन के साथ एग्यारह मतों को प्रस्तुत किया गया है। करूण व वीभत्स का रसत्व बड़े युक्तिपूर्ण विवेचन से स्थिर किया गया है। अन्य अलंकार ग्रन्थों में—दान, दया, युद्ध, और धर्म इन चार उपाधियों के भेद से उत्साह स्थायिक वीररस के चार भेद माने गये हैं, जबकि रसगङ्गाधर में सत्यवीर, पाण्डित्यवीर, क्षमावीर और बलवीर, नामक ये चार भेद अधिक दिखलाये गये हैं। पण्डितराज का तो यहाँ तक कहना है कि शृंङ्गार की ही तरह वीर रस के भी अनेक भेद प्रभेद हो सकते हैं।

प्राचीन अलंकारिकों ने गुणों को रसमात्र का धर्म बतलाया है, परन्तु

पण्डितराज ने गुणों को शब्द, अर्थ रचना व रस,—इन चारों के धर्म स्थिर किये हैं। प्राचीनों के द्वारा वर्णित दश शब्द तथा दश अर्थ गुणों का विस्तृत वर्णन किया है, और तत्तत् गुणानुरूपरचना के विषय में वर्जनीय वर्णों का भी विचार बड़ी सूक्ष्मता के साथ हुआ है। भावध्वनि के स्वरूप का परिष्कार बड़े ही मार्मिक ढंग से हुआ है। सञ्चारीभावों का लक्षण, उदाहरण व प्रत्युदाहरण बड़े विस्तार के साथ किया गया है, जिससे पाठकों की व्युत्पत्ति बढ़ती है, भाव ध्वनियाँ का तो इतना सुन्दर विवेचन संस्कृत साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

रसभावादिध्वनियों को प्रायः सभी आलंकारिकों ने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के ही अन्तर्गत माना है. किन्तु ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने अवश्य इस नियम को कुछ शिथिल किया था। इसी आशय से आपने भी स्थान व प्रकरण के भेद से रसभावादि को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत भी माना है। द्वितीय आनन में—अभिधादि के नियामक संयोगादियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अभिधा व लक्षणा के स्वरूप का प्रतिपादन नव्यन्याय की परिष्कृत शैली द्वारा किया गया है।

रुपकालंकार के विषय में शाब्दबोध लक्षणा के द्वारा होता है या अभेदान्वय के द्वारा इसका प्राचीन व नवीन आचार्यों के मतों के साथ खूब विवेचन किया गया है। अलंकारों का पूर्वापेक्षया अत्यन्त परिष्कार पूर्वक मार्मिक विवेचन हुआ है। खासकर उपमा अलंकार के विषय में तो बड़ा ही विस्तृत विमर्श हुआ है। इस प्रसङ्ग में पूर्वाचार्यों द्वारा अनिर्दिष्ट अनेक अभिनव भेदों का भी वर्णन किया गया है।

उत्तरालंकार में उक्त ग्रन्थ का अवसान हुआ है। पण्डितराज में वे समग्रगुण उस मात्रा में विद्यमान थे, प्रस्तुत प्रौढ़ ग्रन्थ के लिए जिनकी अपेक्षा थी। इस माने में पण्डितराज संस्कृत के सभी पण्डितों से प्रकृष्ट भाग्यशाली थे, कि विधाता ने उन्हें कवित्व व पाण्डित्य का अपूर्व मणिकाञ्चनमय संयोग प्रदान किया।

आचार्य मम्मट एक उद्भट पण्डित अवश्य थे, अलंकारशास्त्र का ज्ञान उनमें प्रचुरमात्रा में था, परन्तु वे कवि नहीं थे। अतः उन्हें अपने प्रसिद्ध निबन्ध काव्य-प्रकाश में उदाहरण के लिए परमुखापेक्षी होना पड़ा। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विविध भेदों के स्फुटित होने पर भी उदाहरण की कठिनाई से वे नहीं लिख सके। यद्यपि कवित्व के विषय में साहित्यदर्पणकार मम्मट की अपेक्षा कुछ आगे हैं, और इसके लिए वे अपने को अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग भी कहते हैं। यत्र-तत्र साहित्य दर्पण में उन्होंने 'इदं मम' कहकर, स्वनिर्मित पद्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत भी किया है, तथापि पण्डितराज के समान प्रतिभाशाली महाकवि वे पण्डितों की दृष्टि में नहीं हैं।

शारदा के वरदपुत्र पण्डितराज में नरत्व व कवित्व प्रयुक्त वे दुर्लभगुण एक साथ समाविष्ट हैं, जिनके कारण वे अपने युग के एक महामानव होने के साथ-साथ विश्व विश्रुत विद्वान् और प्रतिभाशाली महाकवि भी थे। विश्वविख्यात कवित्व कीर्ति वाले श्री हर्ष की कविता की मार्मिक आलोचना भी पण्डितराज जैसे पैनी दृष्टि वाले कवीश्वर ही करते हैं।

पण्डितराज के गम्भीरतम औचित्य की चर्चा में महा कवि श्रीहर्ष का यह पद्य वाक्यार्थ बोध के उद्देश्य व विधेयभाव की परीक्षा में विसंस्ठुल सा प्रतीत होता है। श्रीहर्ष के शब्दों में वह इस प्रकार है—

उपासनामेत्य पितुःस्म रज्यते दिने-दिने साऽवसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि श्रृण्वती नलम्॥

उक्त पद्य में दोनों क्रियाओं का उद्देश्य विधेयभाव के द्वारा गुणप्रधान भाव न करने से कवि ने इस पद्य को कुमेलक (ऊँट) की तरह उबड़-खाबड़ बना दिया। षष्ट्यन्त तथा सप्ताम्यत्त पदों द्वारा वन्दियों का दो बार निर्देश करना भी उचित नहीं मालूम पड़ता है। तस्मात् यदि इसी पद्य को प्रकारान्तर से पढ़ा जाय तो इसकी सुन्दरता में कोई बाधा नहीं आयेगी—

उपासनार्थं पितुरागतापि सा निविष्टचित्ता वचनेषु वन्दिनाम्।
प्रशंसतां द्वारि महीपतीनलं विनद्ररोमाऽजनि श्रृण्वती नलम्॥

संशोधित इस पद्य में राजसामान्य का वर्णन करने वाले वन्दियों के वचनों में निविष्ट चित्ता दमयन्ती को उद्देश्य करके नल के श्रवणानन्तर दमयन्ती का विनिडरोमात्व का विधान किया गया है, इस प्रकार के उद्देश्य विधेयभाव द्वारा वाक्यार्थ का गुण प्रधान भाव भी सम्पन्न हो जाता है। अतः पण्डितराज की आलोचना को लक्षित कर पण्डितमञ्जुनाथापरपर्याय सरलाटीकाकार मथुरानाथ शास्त्री जी का यह कथन सर्वथा उचित ही है—

यत्र प्रसङ्गपतितान्यपि मान्यकाव्या-
न्यालोचनानिकषमाप्य भवन्त्यसन्ति।
न ज्ञायते यदिह दोषनिरुपणे तु,
काः काः कवीन्द्रकृतयोऽद्युतयोऽभविष्यन्॥

रसगङ्गाधर की टीका सम्पत्ति

टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से रसगङ्गाधर ग्रन्थमणि अकिञ्चन सा है, संस्कृत साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थ जिस प्रकार प्राचीन टीका प्रटीकाओं से सुसम्पन्न है, विशेषकर इस दिशा में काव्यप्रकाश सौभाग्यशाली ग्रन्थ है, जो अनेक प्राचीन

टीकाओं से समृद्ध है। अलंकारशास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थ रसगङ्गाधर पर बहुत कम टीकायें लिखी गई, इसमें इस ग्रन्थ की नव्यन्याय की सरणि का अनुसरण ही सम्भवतः कारण हो, या विवेच्यविषय की गम्भीरता के कारण भी बहुत कम विद्वानों की इस ओर प्रवृत्ति हुई है।

प्राचीन टीकाओं में सम्प्रति उपलब्ध टीका वैय्याकरण शिरोमणि नागेशभट्ट की है। इससे भी पूर्व एक विषमपदी नाम की टीका, इस ग्रन्थ पर थी। यह बात नागेश के व्याख्यान व प्राचीन पण्डितों के उदन्तों से प्रतीत होती है, परन्तु सम्प्रति वह उपलब्ध नहीं है। वर्तमान समय में उपलब्ध नागेशभट्ट की ही "गुरुमर्मप्रकाश" नामक टीका प्राचीनतम टीका है।

नागेशभट्ट और उसकी टीका

नागेश भट्ट अपने समय के एक उद्भट वैय्याकरण ही नहीं, अपितु अन्यान्य-शास्त्रों के भी परिनिष्ठित पारङ्गत विद्वान् थे। आपकी प्रतिभा प्रायः सभी शास्त्रों में समान थी जिस प्रकार आपने नव्यव्याकरण के उच्चकोटि के प्रौढ़ ग्रन्थों, मञ्जूषा, लघुशब्देन्दुशेख आदि का निर्माण किया उसी प्रकार अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों की वृत्ति व टीकाओं का निर्माण भी किया। जिनमें रसगङ्गाधर की गुरुमर्मप्रकाश टीका काव्यप्रदीप की उद्योत टीका, महाभाष्य प्रदीप की उद्योत टीका, योगसूत्रवृत्ति, सांख्य-सूत्र आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नागेश का समय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। शृंङ्गवेर-पुराधीश, विसेनवंश समुद्भूत महाराजा राम के आप सभापण्डित थे। यह बात रसगङ्गाधर के 'गुरुमर्मप्रकाश' टीका के मङ्गलाचरण से विदित होती है—

नत्वा गङ्गाधरं मर्मप्रकाशं तनुते गुरुम्।
रसगङ्गाधरमणेरतिगूढार्थसंविदे ॥

याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्।
नागेशः शृङ्गवेरेशरामतो लब्धजीविकः ॥

नागेश का समय वह समय था जबकि नव्यन्याय की भाषा में व्याकरण के सिद्धान्तों का पौढ़ परिष्कार चल रहा था। उस समय पण्डितमण्डली में वाद का झञ्झावात अपनी चरम सीमा में आरुढ़ था। नव्यन्याय की शैली का अनुसरण कर पण्डितों की प्रतिभा उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होती हुई, पदार्थ के परिष्कार के विषय में वाक्य, शब्द व वर्ण की तो बात ही क्या अपितु एक-एक मात्रा पर भी गम्भीरतम वाद संघर्ष हो रहा था। यह प्रसिद्धि उस समय की अब भी पण्डितों की मुखारविन्दों में नाचती है कि—

"अर्धमात्रालाघवेन, पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैय्याकरणाः"

ऐसे वादविवादमय संघर्षप्रधान युग में नागेश की प्रतिभा का भी जब पूर्ण परिपाक हो रहा था, संस्कृत साहित्य के उद्यान में प्ररुढ़ हुए इस वादपादप ने अपनी शाखा प्रशाखाओं से उद्यान के सभी भागों को आच्छादित कर दिया। न केवल नव्यन्याय व नव्यव्याकरण के ही क्षेत्र में, अपितु जिस किसी विषय के भी जितने भी ग्रन्थ उस समय लिखे गये, वे सभी उस वादप्रधान शैली से अछूते नहीं रहे, ज्यादा क्या कहा जाय धर्मशास्त्र और साहित्यशास्त्र जैसे कोमल विषय भी उसी राग में रञ्जित हो गये, जिसका ज्वलन्त उदाहरण यह रसगङ्गाधर नामक ग्रन्थ है।

भट्टोजिदीक्षित के समय में जो वाद-सूर्य उदित हुआ नागेशभट्ट का समय उस वाद-सूर्य का मध्याह्न था। बाद में औरङ्गजेब के शासन काल में ही पुनः उस वादयुग का सूर्य अस्ताचल की ओर था। इसके बाद संस्कृत साहित्य का वह संघर्ष ह्रासोन्मुख ही हुआ। नागेशभट्ट इस उत्थान वेला के अन्तिम दीप थे।

रसगङ्गाधर जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ पर नागेश जैसे उद्भट विद्वान का टीका लिखना कम महत्व की बात नहीं है। परन्तु यह टीका इतनी संक्षिप्त है, कि सामान्य विद्वान् इसके द्वारा बड़ी कठिनाई से ग्रन्थाशय को जानने में समर्थ होता है। इसे टीका न कहकर यदि "टिप्पणी" कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

संस्कृत साहित्य की कहावत के अनुसार टीका गुरुओं की भी गुरु है—**"टीका गुरुणां गुरु"**। ग्रन्थसागर को पार करने के लिए तो टीका ही एकमात्र नौका है, परन्तु यदि टीका ही कहीं अस्पष्ट व विपरीतार्थ बोधक हो तो, बेचारा सामान्य पाठक तो उसके शब्दजाल में ही भटकता रहेगा।

टीकाकार का किसी ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने का बहुत बड़ा दायित्व होता है। इस प्रकार टीकाकार का पद मूलकार के परिचर्या के अनुकूल होना चाहिए। जिस मार्ग में मूलकार आगे बढ़ता है, टीकाकार को चाहिए कि जिज्ञासुओं को उसी मार्ग की ओर बढ़ाता हुआ, मार्ग में स्थित कण्टकादि अपकरों को दूर करता जाय। इसके विपरीत यदि टीकाकार स्वयं मार्ग को आच्छादित कर अधिकाधिक कण्टकजाल को ही विछा दे, तो क्या यह टीकाकार का अपना पदोचित कार्य कहा जायेगा?।

वस्तुतः मूलकार व टीकाकार दोनों मिलकर साहित्य की सेवा करते हैं। यह सेवा परमार्थतः सहृदयों की ही सेवा है। यदि दोनों का ही आपस में मतभेद हो जाय तो बेचारे सहृदयों की क्या हालत होगी?

मूलकार व टीकाकार का वही स्थान है, जो स्थान संगीत गोष्ठी में संगीतज्ञ-गायक व मृदङ्गवादक का है। ताल के विषय में मृदङ्गवादक कहीं गायक से भी आगे है। परन्तु गाते समय-गानवेला में तो मृदङ्गवादक को गायक का अनुचर होना

ही पड़ता है। उसे स्वतन्त्र अपनी ताल नहीं ठोकनी पड़ती है, किसी संगीत गोष्ठी में यदि ये दोनों भी स्वतन्त्र होकर अपनी मनमानी करें तो फिर बेचारे रसलोलुप संगीत श्रोताओं का क्या हाल होगा ?

कहने का तात्पर्य यह है कि टीकाकार नागेश को पण्डितराज के आशय को स्पष्ट करने के लिए जितने वक्तव्य की आवश्यकता थी, उस मात्रा में वह न होकर कहीं-कहीं खण्डन की ओर ही अधिक अग्रसर है। अतः अधिक विद्वानों की यह शिकायत है कि नागेश का प्रयास जितना ग्रन्थखण्डन की ओर है, उतनी ग्रन्थ के अभिप्राय को प्रकट करने की ओर नहीं है। इस तरह से भी नागेश की टीका, टीका—("टीकते सह गच्छतीति टीका") न होकर एक लघु टिप्पणी ही है।

मथुरानाथ भट्ट (मञ्जुनाथ) की सरला टीका

मथुरानाथ भट्टजी की स्वल्प कलेवरा यह सरला टीका पाठकों के लिए बहुत ही उपकारक सिद्ध हुई है। अपनी टीका के विषय में स्वयं आपका कथन है कि—नव्यन्याय की तर्कशैली में विन्यस्त पदार्थों को मैंने यथाशक्ति शिथिल व स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

इसमें नव्यन्याय की पदावलियों का यद्यपि साक्षात् पर्याय वाचक-शब्दों द्वारा अर्थ नहीं किया गया, या उसी शैली में उन पक्तियों को शिथिल नहीं किया गया, फिर भी शब्दान्तर से उक्त पक्तियों के आशय को समझाने के लिए पर्याप्त प्रयास किया गया है। स्थल-स्थल में नागेश के द्वारा किए गये अवलेपों का परिमार्जन भी किया गया है, साथ ही साथ नागेश की असावधानी के विषय में भी यत्र-तत्र टिप्पणी द्वारा संकेत किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि पण्डितराज के इस पवित्र आशय का बड़ी श्रद्धा व इमानदारी के साथ पाठकों तक पहुँचाने का सराहनीय प्रयास किया गया है।

हिन्दी टीका

पं० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी जी की रसगङ्गाधर की हिन्दी टीका भी, ग्रन्थ के भावार्थ को समझाने के लिए बहुत अच्छी है। इस टीका का उद्देश्य है कि हिन्दी के विद्वान भी रसगङ्गाधर के सिद्धान्तों से परिचित हो जायें। टीकाकार अपने इस उद्देश्य में बहुत अंशों में सफल भी हैं।

चन्द्रिका संस्कृत हिन्दी टीका

कवि शेखर पं० बदरीनाथ झा जी की संस्कृत टीका कुछ वर्षों पहिले प्रकाशित हुई है। यह टीका सर्वाङ्गपूर्ण है। संस्कृत के विद्वानों व विद्यार्थियों को ग्रन्थ के अभिप्राय को जानने के लिए इससे काफी मदद मिलती है।

इसी टीका के साथ पं० मदन मोहन झा जी की हिन्दी टीका भी प्रकाशित हुई है। इसमें सरल हिन्दी द्वारा उक्त संस्कृत टीका का आशय तथा स्थल विशेष में स्वतन्त्ररूप से कठिन अंशों को समझाने का प्रयास किया गया है।

मधुसूदनी टीका

साहित्याचार्य श्री मधुसूदन शास्त्री जी की मधुसूदनी टीका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह टीका बहुत विस्तृत तथा ग्रन्थाशय को समझाने के लिए सर्वथा समर्थ है। नव्यन्याय की पक्तियों को उक्त टीकाकार ने बड़ी सावधानी के साथ शिथिल करने का सफल प्रयास किया है। स्थल विशेष में अपते मत को भी प्रस्तुत किया है, इस ठीका के साथ आलोचनासहित वितृस्त भूमिका व वालक्रीड़ा नामक हिन्दी टीका भी प्रकाशित हुई है।

चन्द्रकला टीका

अभी हाल ही में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से इस ग्रन्थ पर एक चन्द्रकला नामक टीका भी प्रकाशित हुई है।

इस प्रकार पण्डितराज के इस ग्रंथ पर शनैः-शनैः संस्कृत व हिन्दी के माध्यम से बहुत कार्य हो रहा है।

पण्डितराज की प्रतिभा के प्रकाश में काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन

पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यशास्त्रीय चिन्तन व मन्थन के पूर्व संक्षेप में संस्कृत साहित्य की काव्यशास्त्रीय परम्परा का दिग्दर्शन कराना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे कि उक्त विषय के जिज्ञासु को पण्डितराज के एतद् विषयक चिन्तनधारा का या काव्यशास्त्रीय—अगाध समुद्र के मन्थनजन्य श्रम का ज्ञान बड़ी सुविधा व सरलता से हो जाय।

भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में प्राचीनता व पूर्णता की दृष्टि से आचार्य भरत का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यद्यपि भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय संस्कृति तथा भारतीय कला का विश्वकोष समझा जाता है, फिर भी उत्तम ग्रन्थ में प्रधानरूपेण भारतीय नाट्य कला का ही अधिक वर्णन मिलता है। नाट्य के ही माध्यम से रस, भाव, गुणालंकारादि का भी वर्णन उसमें किया गया है। इस प्रकार भरत को नाट्य के प्रवर्तक के रूप में सुरक्षित कर देने पर, काव्यशास्त्र की शास्त्रीयपरम्परा स्पष्ट रूप से आचार्य "भामह" से ही प्रारम्भ होती है। इसलिए हम काव्यशास्त्र की परम्परा के प्रथम आचार्य भामह का मन्तव्य, काव्य-लक्षण के विषय में कैसा है, इसे दिखलाने का प्रयास करेंगे।

भामह अलंकारवादी युग के अलंकारवादी आचार्य हैं। आपके मत में शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित काव्य हैं, जैसा कि आपने अपने "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ में लिखा है—**"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"**।

आगे आचार्य मम्मट तक करीब-करीब काव्य का यही लक्षण कुछ हेर-फेर के साथ चलता रहा। अधिकतर आचार्यों ने शब्दार्थ युगल को ही काव्य माना, और अपने चिन्तन के अनुरूप कुछ विशेषणों से भी उक्त लक्षण को सुसज्जित किया। लक्षण के एक प्रकार के होने पर भी विभिन्न आचार्यों का कुछ विशेषण व विशेष्यादि की पदावलियों की विचित्रता से उनका अपना दृष्टिकोण भी इस में विषय में भिन्न रहा। यही बात आचार्य भामह के विषय मैं भी है। आपके काव्यलक्षण में घटक जो "सहितौ" यह पद दिया है, वह किसी न किसी प्रकार से अपना इतिहास लिए हुए हैं। भामह शब्द व अर्थ के साहित्य से क्या कहना चाहते हैं। इसको हम भामह के ग्रन्थ काव्यालंकार में काव्यलक्षण के पूर्वा पर प्रसङ्ग पर प्रकाश डालकर बता सकते हैं, जिसका निर्देश आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्यप्रकाश के छठे उल्लास चित्रकाव्य के वर्णन के प्रसङ्ग में किया है—

रुपकादिरलंकारस्तस्यान्यै बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानन्म् ॥

रूपकादिरलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्ति वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥

तदेतदाहुः सौशब्दं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्ठं द्वयं तु नः ॥
"शब्दार्थो संहितौ काव्यम्,"

इन पद्यों में भामह ने अपने से पूर्ववर्ती दो विचारधाराओं का उल्लेख किया है। एक विचारधारा अर्थालंकारों को काव्य के सौन्दर्य का मूलाधार मानती है और दूसरी विचारधारा शब्दालंकारों को ही काव्य के सौन्दर्य का सर्वस्व मानती है। ये दोनों पक्ष या धारायें काव्यगत चमत्कार को केवल अलंकारों में ही ढूँढ़ती हैं। इनका विचार इस प्रकार है—

अर्थालंकारवादी का कहना है कि अर्थालंकारों का ही काव्य के अन्तस्तत्त्व से सम्बन्ध है। जिस प्रकार किसी रमणी का स्वतः सुन्दर भी मुख बिना अलंकारों के सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार इन रुपकादि अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती है। काव्य की चारुता के लिए इन अर्थालंकारों की महती आवश्यकता है। शब्द चारुता या सौशब्द अर्थात् शब्दालंकारादि से तो केवल काव्य का शरीरमात्र का गठन होता है। यह शब्द संगठन या शाब्दी चारुता तो केवल कान्तानन

तक का निर्माण करती है, न कि उसकी वास्तविक शोभा का निर्माण।

शब्दालंकारवादी का कहना है कि काव्य का प्राथमिक सौन्दर्य तो शब्द कौशल या सौशब्द पर ही निर्भर है, अतः शब्दालंकार ही काव्य की प्रतिष्ठा के मूलाधार हैं। अर्थ तो शब्द के बाद प्रतीत होता है, अतः अर्थालंकार काव्य के बहिरङ्ग उपादान हैं, जबकि शब्दालंकार ही काव्य की सर्वविध शोभा को सम्पन्न करते हैं।

इस प्रकार आचार्य भामह के समय में काव्य के सौन्दर्य के विषय में दो परस्पर विरुद्ध धारायें प्रतिस्पर्धा में खेल रही थीं और परस्पर एक दूसरे का अवमूल्यन कर रही थीं। ऐसी स्थिति में भामह ने इन दोनों विचारधाराओं में सामञ्जस्य रखने का एक स्तुत्य प्रयास किया। आपनी अपने राय में दोनों को स्वीकार किया—

"शब्दाभिधेयालंकार भेदादिष्टं द्वयं तु नः"
"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"

अर्थात् हमें तो शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों ही इष्ट हैं, और दोनों शब्द व अर्थ सम्मिलित ही काव्य हैं। इस प्रकार भामह की दृष्टि में अलंकृत शब्द और अर्थ मिलकर काव्य हैं।

आचार्य दण्डी

भामह के बाद इस क्षेत्र में फिर आचार्य दण्डी का नाम उल्लेखनीय है, आपने अपना काव्य लक्षण केवल भामह के ही पदचिह्नों पर चलकर नहीं बनाया, अपितु आपने पूर्व चेतना को भी ध्यान रखते हुए, कुछ परिवर्तन के साथ अपना काव्यलक्षण प्रस्तुत किया। आपका काव्यलक्षण इस प्रकार है—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्" दण्डी का यह इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली काव्य" करीब-करीब पण्डितराज के "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द काव्यम्" से मिलता जुलता है। सम्भव है पण्डितराज को भी दण्डी के इस काव्य लक्षण से ही प्रेरणा मिली हो, क्योंकि दण्डी ने यदि इष्टार्थ से युक्त पदावली का विधान किया, तो पण्डितराज ने रमणीयार्थ के प्रतिपादन द्वारा शब्द का विधान किया, यह बात दूसरी है कि दोनों के इष्ट और रमणीय के अर्थ में कुछ अन्तर हो। दण्डी ने अपने विवेचन में काव्य के महत्त्व की काफी प्रशंसा की है। इसके बाद यह भी बतलाया है कि विद्वानों ने जिज्ञासुओं की व्युत्पत्ति के लिए उस काव्य की क्रिया-विधि का संविधान किया है। इस प्रकार वे काव्य के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं—

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ।।

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ।।

तैः शरीरञ्च काव्यानांमलंकाराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।।

अर्थात् काव्य की क्रिया-विधि का निबन्धन करने वाले विद्वानों ने काव्य के शरीर तथा अलंकारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है, उसमें काव्य का शरीर तो ईष्टार्थ से युक्त पदावली ही है ।

यद्यपि पूर्व पद्यों में दण्डी ने काव्य के शरीरमात्र की चर्चा की है, परन्तु उन्होंने उद्देश्यरूप में यह प्रतिज्ञा की है कि—हम अपने सामर्थ्य के अनुसार काव्य का लक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"यथा सामर्थ्यमस्माभि क्रियते काव्यलक्षणम्"

इस प्रतिज्ञा के अनुसार दण्डी के उक्त लक्षण को काव्य का ही लक्षण समझना चाहिए ।

दण्डी के अनुसार काव्य का मूल तत्त्व तो अलंकार है किन्तु उन अलंकारों में शब्दालंकार व अर्थालंकार ही नहीं अपितु रसवदादि अलंकार भी सम्मिलित हैं । इस प्रकार दण्डी के अनुसार इष्टार्थ-अर्थात् अर्थालंकार से विशिष्ट पदावली ही काव्य है ।

वामनाचार्य

वामनाचार्य ने दण्डी के रीति-मार्ग-विवेचन से प्रेरणा प्राप्त कर, दण्डी के मार्ग को ही काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया, "रीतिरात्मा काव्यस्य" । रीतियों से उनका अभिप्राय "गुण विशिष्ट पदरचना" से है, काव्य के शरीर के विषय में उनकी स्पष्ट धारणा है कि गुण व अलंकार से संस्कृत विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है—केवल शब्द व अर्थ को काव्य कहना तो वे औपचारिक मानते हैं—

"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते, भक्त्या तुशब्दार्थ-मात्रवचनो गृह्यते"

साथ ही साथ उस युग की अलंकारवादी मान्यता को मानने के लिए भी वे मजबूर थे— काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—काव्य अलंकार तत्त्व के ही कारण ग्राह्य है, फिर भी अलंकार को व्यापक अर्थ में मानने का श्रेय वामन को ही है—

"सौन्दर्यमलंकार" अलंकृतिरलंकारः। वस्तुतः वे काव्य की ग्राह्यता सौदर्य के कारण है, यह मानने की इच्छा रखते थे। परन्तु अलंकार प्रधान युग के परिवेश में वे भी बँध चुके थे, फिर भी उन्होंने उसी परिवेश में उन्हीं गुणालंकारों में सौन्दर्यतत्त्व सीमा के निर्धारण करने का काफी प्रयत्न किया।

"स दोषगुणालंकारहानोपादानाभ्याम्"

दोष रहित सगुण व सालंकार शब्द अर्थ काव्य है। अलंकारों की अपेक्षा गुण तत्त्व को काव्य में वास्तविक उपादेय ठहराकर, उन्होंने काव्य चिन्तन की धारा को भामह व दण्डी से बहुत कुछ आगे बढ़ाया। इस प्रकार वामन अन्य अलंकारवादी आचार्यों की अपेक्षा काव्य के मूल तत्त्वों के अधिक समीप पहुँचे। परन्तु यह सब कुछ आपेक्षिक ही रहा। वे न तो काव्य के मूल सत्यों का साक्षात्कार ही कर पाये, और न कोई काव्य का शास्त्रीय लक्षण ही प्रस्तुत कर पाये, और सौन्दर्य के विषय में भी वे पण्डितराज की तरह कोई व्यापक दृष्टि भी नहीं अपना सके।

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्नवर्धनाचार्य

ध्वनि मार्ग के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में या पृथक् कोई काव्यलक्षण नहीं लिखा है, और न काव्य का लक्षण करना उनका उद्देश्य ही था। क्योंकि उस युग में काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के विषय में अधिक विवाद नहीं था, जितना कि काव्य की आत्मा के विषय में, और न अलंकार तथा अलंकार्य में ही कोई स्पष्ट रेखा निर्धारित हो सकी थी।

यद्यपि प्रसङ्गवश 'शब्दार्थ युगल काव्य है,' ऐसा आनन्दवर्धन ने भी एक जगह ध्वन्यालोक में निर्देश किया है "शब्दार्थ शरीरं तावत् काव्यम्" इत्यादि। परन्तु मूल उद्देश्य ध्वनिकार का काव्य की आत्मा "ध्वनि" की स्थापना का था, जिसकी प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। अब तक काव्य जिन तत्त्वों को रस, गुण व अलंकार आदि को करीब-करीब एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर रखा था। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के बाद इन सभी काव्यतत्त्वों का भी यथोचित मूल्याङ्कन हुआ। फलतः रसध्वनि, आदि सभी तत्त्व अलंकार्य कोटि में सन्निविष्ट हुए, और उपमा अनुप्रासादि अलंकार, उपस्कार कोटि में संन्निविष्ट किये गये, साथ ही साथ गुणों का रस के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करते हुए, अन्य समस्त अङ्गों से काव्यात्मा को अलंकृत करके काव्य के क्षेत्र में एक सुव्यवस्था कर दी गयी। आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा काव्यात्मा के रूप में ध्वनि की स्थापना कर देने के बाद काव्यजगत् में एक नवीन चेतना आ गयी। इस व्यवस्था के द्वारा महान् परिवर्तन हो गया।

अलंकारवादियों के स्थूल विवेचन में अब तक जिस रसभावादि-सहृदय

पक्षीय-अनुभूति की प्रायः उपेक्षा सी हो रही थी। अब काव्यशास्त्रीय विवेचन का यह एक प्रमुख पक्ष माना जाने लगा, फलतः सारा काव्य विषय का चिन्तन "काव्य-स्यात्मा ध्वनिः" इसी के उज्ज्वल-आलोक में होने लगा।

व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट को छोड़कर प्रायः सभी अनन्तरभावी आलंकारिक अधिक अंशों में उनके ही अनुयायी बने, और सर्वात्मना इसकी प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए भी कटिबद्ध हुए।

आचार्य कुन्तक

ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना हो जाने के बाद भी इस सिद्धान्त के विरोध या प्रतिस्पर्धा में कुछ न कुछ उथल-पुथल होता रहा, लोग अलंकारवाद के चिरन्तन वासना से एक दम विमुख नहीं हुए। **"सालंकारस्य काव्यता"** वाला स्वर फिर से वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक के मुखारविन्द से गूँज उठा, उन्होंने ध्वनिवाद की प्रतिस्पर्धा में "वक्रोक्ति जीवित" नाम के एक नये ग्रन्थ की ही रचना कर डाली, जिसमें काव्य की आत्मा ध्वनि को न मानकर "वक्रोक्ति" को माना। यह ठीक ध्वनि के विपरीत मान्यता है। ध्वनि में जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के वैचित्र्य में चमत्कार माना गया, वहाँ कुन्तक ने केवल अभिधा के ही वैचित्र्य में चमत्कार मान लिया और स्वयं वक्रोक्ति की व्याख्या में लिख दिया,—**विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिः"**।

ध्वनि परवर्ती युग के आचार्यों में कुन्तक एक मौलिक प्रतिभाशाली आचार्य थे। ध्वनिकार-आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने काव्य-दर्शन के जिन मूल तत्त्वों की आत्माऽभिमुखी व्याख्या की, कुन्तक ने ठीक इसके विपरीत उन्हीं तत्त्वों की वस्तुपरक व्याख्या की। इस प्रकार यदि ध्वनि सिद्धान्त को काव्य का भाव पक्षीय दर्शन कहा जाय, तो वक्रोक्ति को उसका कलापक्षीय विवेचन कह सकते हैं।

कुन्तक ने अपना काव्य लक्षण इस प्रकार किया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तदविदाह्लादकारिणि॥

कुन्तक के अनुसार सहृदयों को आह्लादित करने वाली, वक्रतामय, कवि कौशल-समन्वित रचना में स्थित शब्द और अर्थ काव्य है। कुन्तक के मन्तव्य को समझने के लिए उनकी वक्रोक्ति सम्बन्धिनी कुछ धारणाओं को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि वे वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। इसलिए उन्हीं के शब्दों में वक्रोक्ति की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दरः ।।
उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।।

अर्थात् किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा के भण्डार में अनेक शब्दों के रहते हुए भी कवि उसी शब्द का प्रयोग करता है, जो सबसे अधिक विवक्षित अर्थ को कह सकता हो, और अर्थ भी स्वतः रमणीय व सहृदयाह्लादकारी हो । इस प्रकार का विवक्षितार्थैक शब्द व स्वस्पन्दसुन्दर अर्थ ये दोनों काव्य के अलंकार्य है और यह अद्भुत भंगिमा युक्त कथन रूपा जो वक्रोक्ति है, वह उन दोनों शब्दार्थों की अलंकृति अर्थात् अलंकार है । वक्रोक्ति—भाषा के असामान्य प्रयोग में कवि कौशल द्वारा उपस्थित की गई भङ्गिमा या विच्छित्ति विशेष है—जैसा कि स्वयं इसकी व्याख्या में उन्होंने लिखा है—

"वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी, विचित्रैवाभिधा, वैदग्ध्यं कविकौशलं, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः" ।

कुन्तक के इस काव्यलक्षण में काव्य का उभय पक्षीय बाह्य व आभ्यन्तर सौन्दर्य परिलक्षित होता है । बाह्य सौन्दर्य है विवक्षितार्थैक शब्द और स्वस्पन्दसुन्दर अर्थ-अर्थात् गुणालंकार सम्पत्ति, और आभ्यंतर सौन्दर्य है वक्रोक्ति-जो वैदग्ध्यपूर्ण असमान्य भणिति है ।

कुन्तक अपने वक्तव्य में अधिकतर वस्तून्मुख हो जाते हैं । शब्दार्थ के विशिष्ट साहित्य की चर्चा करते हुए वे काव्य में वक्रता-विचित्र गुणालंकार सम्पत्ति का परस्पर प्रतिस्पर्धी विन्यास अपेक्षित समझते हैं—

"विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्, कीदृशम्? वक्रता विचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाऽधिरोहः" ।

इस प्रकार के वस्तुपक्षीय पक्षपात के कारण ही सम्भवतः वक्रोक्तिवाद अधिक प्रभाव नहीं जमा सका ।

आचार्य मम्मट

ध्वनिवादी आचार्यों में मम्मट का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि ध्वनि की प्रतिक्रिया में उदीयमान अनुमितिवाद ने फिर एक बार ध्वनि प्रासाद की दीवारों को हिला देने का जबरदस्त प्रयत्न किया । महिमभट्ट को इसके लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखना पड़ा, जिसका नाम **व्यक्तिविवेक** है । यह ग्रन्थ ध्वन्यालोक की कठोर आलोचना करता है, और व्यञ्जनावृत्ति के स्थान पर अनुमान से ही रसभावादि व्यङ्ग्य पदार्थों का गतार्थ मानता है ।

मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में अनेक हेत्वाभासों द्वारा महिमभट्ट के अनुमितिवाद का खण्डन किया है, और व्यञ्जना वृत्ति की सफलता के द्वारा पुनः ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है। इसीलिए मम्मट को ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य भी कहते हैं। निश्चित ही ध्वनि की प्रतिष्ठा के महत्त्वपूर्ण कार्य में आचार्य मम्मट का एक सराहनीय व पवित्र प्रयास है।

आपने अपने काव्यप्रकाश में उस समय तक की सुचिन्तित सभी उपलब्धियों का प्रामाणिक संकलन किया है। भामह से लेकर अभिनवगुप्त तक की प्रायः काव्य सम्बन्धी सभी विधाओं का यथोचित प्रतिविम्ब हमें काव्यप्रकाश में उपलब्ध हो जाता है।

आपका काव्यलक्षण ही काव्यशास्त्र की दीर्घपरम्परा का मानों हमें प्रत्यक्ष करा रहा हो, जिसमें अलंकार व गुण सहित शब्दार्थ को काव्य माना है।

''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि''

मम्मट का यह लक्षण अपनी संग्राहकता के कारण सर्वाधिक प्रसिद्ध रहा है। इसमें काव्याङ्गों के समुचित सामञ्जस्य का प्रयत्न किया गया है। शब्द व अर्थ मिलकर काव्य है, यह एक पुराने विवाद का निर्णय सा है। आचार्य वामन की दोष त्याग व गुणालंकार की बात का भी आंशिकरूप में ध्यान रखा गया, इसमें अलंकार के लिए कोई अनिवार्य स्थिति नहीं रक्खी।

''क्वापीत्यनेनतैदाह यत्सर्वत्र सालंकारौ, क्वचित्तु-स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः''।

इस प्रकार ध्वनिवाद की सामञ्जस्यवादिनी मान्यतायें मम्मट के हाथों व्यावहारिक व्यवस्था प्राप्त करके परवर्ती युग का आदर्श बन गयी।

अब मम्मट का काव्यलक्षण सर्वाधिक प्रचलित व प्रमाणित माना गया। अन्य शास्त्रों के मान्य आचार्य भी अन्य आलंकारिकों के लक्षणों को उद्धरण के रूप में न रखकर आचार्य मम्मट के ही लक्षणों को अपने ग्रंथों में उद्धृत करते थे। विशेष बात यह है कि टीकाकारों की एक बहुत विस्तृत परम्परा काव्यप्रकाश की प्रत्येक पंक्ति के समन्वय में अपने प्रयास या पाण्डित्य की सफल समझती थी।

आचार्य विश्वनाथ कविराज

आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश के बाद फिर कोई ऐसी नई मान्यतायें सामने नहीं आयीं। प्रायः मम्मट के ही काव्यलक्षण को कुछ हेर-फेर के साथ लोग अपना काव्यलक्षण प्रस्तुत करते थे।

इस बीच में केवल एक विश्वनाथ ही ऐसे आचार्य प्रतीत होते हैं, जिन्होंने

मम्मटभट्ट से प्रचलित या प्रसिद्ध उस काव्यपरिभाषा में नयी क्रान्ति लाने का प्रयास किया। आपने न तो शब्दवादियों का पक्ष लिया, और न शब्दार्थवादियों का ही, अपितु एक स्वतन्त्र रूप से रस-भावादि पर ही विशेष जोर देते हुए "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया, अपने साहित्य दर्पण नामक ग्रन्थ में। यद्यपि रसध्वनि को अन्य ध्वनियों की अपेक्षा श्रेष्ठ अभिनवगुप्त पादाचार्य ने भी माना है, और इसका उल्लेख भी इन्होंने स्थान-स्थान पर किया है, परन्तु काव्य की परिभाषा के रूप में खुले आम यह घोषणा कविराज विश्वनाथ ने ही की है। परवर्ती युग में रसवाद का प्रतिनिधि विश्वनाथ को ही समझा जाने लगा।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक काव्य के अनेक तत्त्वों का प्रायः निर्णय सा हो चुका था। अब काव्य की आत्मा क्या है, किस वृत्ति से हम काव्य के उस सारभूत चमत्कार का ज्ञान कर सकते हैं,? आज तक ये सब जो बड़ी झञ्झट की बातें थीं, जिनपर प्रायः विद्वानों में शास्त्रार्थ होता रहा, और अपने-अपने मत मतान्तरों की प्रतिष्ठा के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ या टीका ग्रन्थ, अथवा किसी मत विशेष का मण्डन करने के लिए और विमत सिद्धान्त के खण्डन के लिए भी कुछ विद्वान टीकाओं का भी निर्माण करते रहे। पण्डितराज के युग तक आते-आते यह सब कोलाहल शान्त हो चुका था, पण्डितराज का युग तो वह युग था, जब नव्यन्याय की छटा से मण्डित वाद अपनी प्रौढ़ युवावस्था में पदार्पण कर रहा था।

आपाततः काव्यशास्त्र के आलोचनीय तत्त्व बहुत कम रह गये थे, जिनका कि वादविवाद के द्वारा कोई निर्णय किया जाय। फिर इस युग में किसी सामान्य विषय पर भी वाद विवाद करने के लिए पूर्णशास्त्रीय पाण्डित्य की आवश्यकता थी, अन्यथा तो प्रतिवादी थोड़े से उस वाद युगीन नव्यन्याय की बात से हिला देने का साहस रखते थे।

अब साहित्यशास्त्र के जिन पक्षों पर विचार करना था, वे पक्ष अत्यन्त गम्भीर थे तथा प्रौढ़ पाण्डित्य की अपेक्षा रखते थे। ऐसे समय में सिवाय पण्डितराज की प्रखर मेधा के और कौन उन पक्षों पर चिन्तन करने का भी साहस कर सकता था।

अतः प्रस्तुत ग्रंथ में हम पण्डितराज के द्वारा सुचिन्तित काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर प्रकाश डालने से पहिले पाठकों को उस परम्परा से परिचित करा देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जिससे कि पाठकों को भी अनायास ही यह समझ में आ जाय कि पण्डितराज से पहिले इस विषय पर कितना पर्यालोचन हो चुका है, और तदनन्तर

पण्डितराज के कार्यकाल में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का किस प्रकार परिष्कार हुआ है। परम्परागत प्राचीन मान्यताओं की औचित्यपूर्ण व्याख्या पण्डितराज द्वारा किस प्रकार हुई, और साहित्यशास्त्र को पण्डितराज की प्रतिभा द्वारा क्या-क्या उपलब्धियाँ हुई, यह सब तभी मालूम हो सकता है, जब पूर्वपरम्परा व पण्डितराज की चिन्तन धारा सामने उपस्थित हो।

यद्यपि पूर्व प्रक्रिया व प्रतिक्रिया आदि से प्रायः काव्य के तत्त्वों का निर्णयात्मक निरूपण करीब-करीब प्राचीन ग्रन्थों में हो चुका था, फिर भी इन प्रतिक्रियाओं के साथ ही साथ विशिष्ट शब्दवाद तथा शब्दार्थोभयवाद का पुराना विवाद भी किसी न किसी रूप में इस युग में भी चलता रहा, भले ही इसके लिए स्वतन्त्र नये ग्रन्थ न बने हों। परन्तु काव्यप्रकाश की टीका व प्रटीकाओं में उस विवाद की प्रतिध्वनियाँ बनी रहीं।

संक्षेप में यहाँ हम भामह से लेकर पण्डितराज तक की काव्यशास्त्रीय चिन्तन परम्परा को काव्यलक्षणों के रूप में प्रस्तुत करेंगे—

काव्य स्वरूप

शब्दार्थोभयवादी आचार्य	—	केवल शब्दवादी आचार्य
1. भामह	—	**1. दण्डी**
2. आनन्दवर्धन	—	**2. विश्वनाथ**
3. मम्मट	—	**3. जगन्नाथ**

भामह-आनन्दवर्धन व मम्मट स्पष्ट रूप से सम्मिलित शब्दार्थ को काव्य मानते हैं। इनके मत में शब्दार्थ का विशिष्ट साहित्य काव्य के लिए अपेक्षित है। यह वैशिष्ट्य गुणालंकार द्वारा सम्पन्न होता है।

इसी प्रकार केवल शब्दवादियों के मत में विशिष्ट शब्द में ही काव्य रहता है। इनकी शब्द में रहने वाली जो विशेषता है वह भिन्न-भिन्न है। जैसे दण्डी के मत में इष्टार्थ से व्यवच्छिन्न है, अर्थात् अलंकार से युक्त पदावली—शब्दविन्यास काव्य है, तो विश्वनाथ के मत में रसात्मक वाक्य—शब्द काव्य है। यह वैशिष्ट्य रस के द्वारा निष्पन्न होता है। पण्डितराज जगन्नाथ के मत में रमणीयार्थ से विशिष्ट शब्द काव्य है।

काव्यशास्त्र के इतिहास में शब्दालंकार प्रधान, अर्थालंकार प्रधान, केवल शब्द व केवल अर्थ और शब्दार्थोभय-काव्य का भी संकेत प्राचीन ग्रंथों के अनुशीलन से प्राप्त होता है। शब्दार्थोभय पक्ष इस समय तक अधिक प्रचलित हो चुका था, पर केवल शब्द या शब्दालंकारप्रधान पक्ष अभी तक प्रकाश में नहीं आया था। पण्डितराज ने इसी पक्ष की पहल की।

अब इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ पण्डितराज के केवल शब्दनिष्ठ काव्यत्व के पथ का निरूपण करेंगे—

पण्डितराज का काव्य लक्षण

पण्डितराज ने अपना काव्यलक्षण इन शब्दो में प्रस्तुत किया है—

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"

यह पण्डितराज के काव्य का सामान्य लक्षण है इसका अर्थ है—रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

इस प्रकार पण्डितराज की प्रक्रिया के अनुसार काव्य के तीन लक्षण हमारे सामने आते हैं—सामान्यलक्षण, परिष्कृतलक्षण एवं निष्कृष्ट या फलित लक्षण। भाषा में नव्यन्याय की शैली का अवलम्बन कर एक ही काव्य के लक्षण को उत्तरोत्तर परिष्कार कर तीन प्रकार से कहा है। नव्यन्याय की वजह से कहीं-कहीं प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त कठिन सा हो गया है, अतः ऐसे स्थलों को कुछ आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से विस्तार से समझाने से अवश्य वर्ण्य विषय में सरलता आ जायेगी।

सामान्य लक्षण के अनुसार यह तो स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है कि काव्य-स्वरूप के विषय में पण्डितराज शब्दार्थोभयवाद की अपेक्षा विशिष्टशब्दवादी हैं। किन्तु पण्डितराज की यह काव्यविषयिणी शब्दनिष्ठ विशिष्टता या शब्द की विशिष्टता अन्य आचार्यों की वि शिष्टता से विलक्षण है।

रमणीयार्थ विशेषण यह सूचित करता है कि सामान्य भाषा के शब्दों के प्रतिपाद्य अर्थ से काव्य का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न हुआ करता है।

काव्य का यह प्रतिपाद्य अर्थ ध्वनिकार की दृष्टि में सहृदयश्लाघ्य है, तो वक्रोक्तिकार की दृष्टि में स्वस्पन्दसुन्दर है।

पण्डितराज की दृष्टि में काव्य का प्रतिपाद्य अर्थ है "रमणीय"। सामान्य भाषा या अन्य शास्त्रीय शब्द जहाँ केवल अर्थमात्र का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ काव्य के शब्द इसी रमणीय अर्थ के प्रतिपादन में अपनी सफलता समझते हैं। यह रमणीय अर्थ एक प्रकार का चमत्कारी आह्लाद है। पाठक या सहृदय को यहाँ तक पहुँचा देने का शब्द माध्यम है।

इसी बात को यदि नैय्यायिक सरणि से कहा जाय तो, इसका अर्थ होगा कि काव्यीय —शब्दों के प्रतिपाद्य अर्थ, रमणीय अर्थ के अवान्तर व्यापार होते हैं। सामान्यतः अर्थबोध में यदि शब्दज्ञान को कारण मान लें, तो पदार्थ-ज्ञान अवान्तर व्यापार होगा, जिसकी सहकारिणी अभिधा-शक्ति फल होगा और शब्दजन्य शब्दबोध-वाक्यार्थज्ञान। जैसा कि न्यायमुक्तावलीकार विश्वनाथ पञ्चानन ने भी कहा है—

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधी सहकारिणी ।।

काव्यार्थ प्रतिपादन की प्रक्रिया में भी कारण स्थानीय तो शब्द ही होगा, परन्तु सहकारिणी शक्ति से उपलब्ध सामान्यतः प्रतिपादित अर्थ, जो द्वारभूत या अवान्तर व्यापार है, वह हमें रमणीय अर्थ तक पहुँचा देगा । यह रमणीय अर्थ केवल वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ ही नहीं होता है, अपितु व्यङ्ग्यार्थ भी होता है । इसी-लिए वाचक, या लक्षक आदि शब्दों का विन्यास न करके "प्रतिपादक" इस सामान्य पद का प्रयोग किया । अतः ये सब वाच्य लक्ष्य व व्यङ्ग्य-अर्थ रमणीय अर्थ के प्रति आवान्तर-व्यापार होंगे ।इसका अभिप्राय यह होगा कि शब्द सामान्यतः अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थों द्वारा (चाहे वे वाच्यलक्ष्य व्यङ्ग्य कोई भी हो) सहृदय की चेतना में रमणीय अर्थ का समर्पण करता है ।

पण्डितराज के उक्त प्रतिपादनानुसार अर्थ दो प्रकार का है, स्थूल एवं सूक्ष्म । इस स्थूल अर्थ का तो अन्तर्भाव प्रदिपादन में हो जाता है, जिसे हम अवान्तर व्यापार कहते हैं । और सूक्ष्म अर्थ वह रमणीय अर्थ है, जिसमें शब्द के बीच में अवान्तर व्यापार व्यवधान है । पण्डितराज स्थूल अर्थ व शब्द को एक मानते नहीं, जबकि शब्द प्रतिपादक है और अर्थ प्रतिपादन या प्रतिपत्ति क्रिया के अन्तर्गत है या अवान्तर व्यापार है । अतः पण्डितराज के मत में शब्दार्थौ काव्यम् बन नहीं सकता है, सूक्ष्म अर्थ जो रमणीयार्थ है, वह तो व्यवहित शब्द से बहुत दूर है, अतः उसका भी शब्द के साथ साहचर्य नहीं बन सकता है ।

वस्तुतः शब्द काव्यार्थ का प्रतिपादन ही करता है, साहचर्य नियम से उसे साथ नहीं रखता है । फिर पण्डितराज की धारणा के अनुसार शब्द तो काव्य शरीर का घटक है, प्रथमस्तरीय-स्थूल अर्थ तो अवान्तर व्यापार है । ये दोनों मिलकर भी शरीर संघटक नहीं है । पण्डितराज के "प्रतिपादक शब्द" में ये सब अभिप्राय निहित है ।

रमणीय व सामान्य अर्थ में भेद

रमणीयार्थ व सामान्यार्थ को समझने के लिए भी इनमें परस्पर कोई भेदक रेखा का ज्ञान कर लेना आवश्यक है, जिसके कारण काव्यार्थ की रमणीयता अन्य सामान्यार्थ से भिन्न होती है । पण्डितराज स्वयं रमणीयता का शास्त्रीय स्वरूप प्रस्तुत करते हैं—

"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरत्व।"

जिसके ज्ञान से लोकोत्तर अर्थात् अलौकिक आह्लाद—आनन्द की उपलब्धि हो, वही अर्थ रमणीय है । अर्थात् अलौकिक आनन्द का जनक जो ज्ञान, ऐसे

ज्ञान का विषय बनने वाला कोई वस्तुधर्म है, वही रमणीय है, उसी में रमणीयता रहेगी। रमणीयता को ज्ञानगोचरता कहा है। वह हमारे ज्ञान का विषय बनती है। साथ ही साथ ऐसी ज्ञान गोचरता है, जो लोकोत्तर आनन्द प्रदान करती है। तब इसका सीधा सीधा अर्थ यह होगा कि रमणीयता वह अनुभूति है, जो हमारे ज्ञान का विषय बन कर या ज्ञान में आकर लोकोत्तर आह्लाद अर्थात् अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। इसमें पण्डितराज को दो अवयवों की अनुभूति होती है, एक तो सौन्दर्य की गोचरता का बोधात्मक अवयव, दूसरा आल्हादानुभूति का अनुभूत्यात्मक अवयव, फलतः सौन्दर्य के दो धरातल हमारे सामने उपस्थित होते हैं, बोध एवं अनुभूति। जब पण्डितराज रमणीयता की गोचरता का निरुपण करते हैं, तब तो वे "ज्ञान" (बोध) शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु जब उस ज्ञान से जनित आह्लाद की अनुभूति का विश्लेषण करते हैं, तब ज्ञान के स्थान में "भावना" शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार के लोकोत्तर चमत्कारस्वरूप, अलौकिक आह्लाद को उत्पन्न करने में पुनः पुनः अनुसन्धानरूप भावना विशेष ही कारण है।

"कारणं च तदवच्छिन्ने भावना विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मकः"।

उस लोकोत्तर आह्लाद में पण्डितराज ने जिस भावना को कारण माना है, वह भावना बोधवर्गीय है या भाववर्गीय? इनमें अन्तर दिखलाने के लिए भावना विशेष कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि भावना के भी दो भेद हैं—सामान्य और विशेष। यह विशेष पथ अनुसन्धानात्मक है, अतः इसे बोधवर्गीय भावना या ज्ञान समझना चाहिए।

नागेश ने इसी भावना व ज्ञान की एकाकारता स्वीकार की है—

"ज्ञानं च भावनारूपमेव, नान्यदित्याह कारणं चेति"।

इस प्रकार पण्डितराज ने भावना के विशेष व सामान्य पक्ष को मानकर, अर्थात् बोधपक्षीय तथा अनुभूति पक्षीय मानकर रमणीयता को भी विषय व विषयि-गत दोनों तरह माना है, अभिप्राय यह है कि रमणीय विषय के द्वारा ही मानसिक जो बोध है, वही रमणीयता की विषयिनिष्ठता भी है। फलतः रमणीयता के विषय में विषयविषयिता की परस्पर सापेक्ष्यता एवं सामञ्जस्य भी है। यही रमणीयता ज्ञान गोचर होकर अर्थात् किसी ज्ञान का विषय बनकर आह्लाद समर्पण करती है।

अब सामान्य आह्लाद व लोकोत्तर आह्लाद के बीच विभाजक रेखा खींचते हैं। पण्डितराज का कथन है कि काव्य का आह्लाद "लोकोत्तर" होता है, जबकि रूप अनुकूल वेदनीय लौकिक आह्लाद चमत्कार शून्य होते हैं। इस प्रकार

चमत्कारत्व या लोकत्तरत्व, काव्याह्लाद तथा लौकिकाह्लाद में स्पष्ट रेखा खींचते हैं—

"लोकोत्तरत्वञ्च चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति विशेषः"।

यह चमत्कार केवल कौतूहलमात्र न होकर, आह्लाद का ही एक स्वरूप विशेष है। सहृदय की अनुभूति ही इसमें साक्षी है। इसी के आधार पर अन्य लौकिक आह्लादों का इससे व्यावर्तन हो जाता है। इस चमत्कारत्व को पण्डितराज ने अनुभव-साक्षिक एक जाति विशेष माना है। चमत्कारगत यह चमत्कारत्व एक जाति होने के नाते, चमत्कार की विविधरूपता की सूचना देता है। और साथ ही साथ चमत्कार को द्रव्य रूप पदार्थ भी माना है, न कि गुणरूप धर्म। यह रमणीयता से उपलब्ध होने वाली आह्लादगत चमत्कारत्व जाति विशेष, अन्य लौकिक आह्लादों का व्यावर्तन करते हुए विविध काव्याह्लादों की एकाकारता की प्रतीति भी कराता है। दूसरी बात यह है कि जाति पदार्थ की प्राणप्रद विशेषता होती हुई भी, वस्तु की सत्ता से स्वरूपगत सम्बन्ध भी होता है। अतः चमत्कार का आह्लाद से स्वरूपात्मक सम्बन्ध भी जुड़ जाता है।

पण्डितराज की काव्याह्लाद अथवा रमणीयता जनित आह्लाद की अनुभूति तथा उससे चमत्कार के अभेद की धारणा को जानकर ही, आगे हम उनके परिष्कृत एवं फलित लक्षणों को समझ सकते हैं। उन्होंने अपने परिष्कृत लक्षण में काव्याह्लाद के स्थान पर "चमत्कार" शब्द का ही प्रयोग किया है।

अभिनवगुप्ताचार्य की "प्रत्यभिज्ञावृत्ति-विमर्शिनी" में चमत्कार की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार है—

"चमत्कारो हि इति स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुञ्जानता रूपं चमत्वं, तदेव करोति संरम्भे, विमृशति च न अन्यत्र अनुधावति, चमदिति क्रिया-विशेषणम्, अखण्ड एव वा शब्दो निर्विघ्नास्वादनवृत्तिः"।

किसी अन्य की अपेक्षा न रखने वाले, अपने ही आत्मस्वरूप में विश्रान्ति पा जाना। अभिनव के भोगवाद का यही स्वरूप है, आत्म परामर्श या आत्म विश्रान्ति वृत्तियों का बहिर्धावन यहाँ समाप्त हो जाता है। वे निष्क्रिय हो जाती हैं, केवल आत्मस्वरूप का परामर्श होता है, यही विश्रान्ति है।

यह प्रकाशमात्र की केवल स्थिति ही विचारसीमा से परे "अनुत्तर (दशा)" है, परन्तु काव्य में वर्णित रसादि की स्थिति तो दूसरे दर्जे की स्थिति है। जिसमें आनन्दलहरियों का स्पन्दन हो रहा है। इस स्थिति में चेतना के प्रकाश पक्ष में आनन्द के विद्युत्स्पन्दन चल रहे होते हैं। इन्हीं स्पन्दनों में चेतना का डूब जाना ही चमत्कार या रस या भोग है। यह भोग आनन्दशक्ति सम्पन्न शिव का स्वरूप है।

चित्त सामान्यतः वृत्तियों से शून्य तो कभी होता नहीं। ये विभिन्न चित्त-वृत्तियाँ चेतना का आवरण बन कर उसका नियमन किये रहती हैं। ये वृत्तियाँ आत्मविश्रान्ति की विघ्नरूप हैं जिनके कारण निर्विघ्न आत्मपरामर्श नहीं हो पाता है। काव्य तथा नाटक में रसानुभूति के क्षणों में, इन विघ्नभूता, नियमन-कारिणी वृत्तियों का व्यापार अवरुद्ध सा हो जाता है। तथा आनन्दमयी चेतना का निर्विघ्न परामर्श सम्भव हो जाता है। यही आत्म विश्रान्ति रस है, जिसमें आनन्द शक्ति का अन्तर स्पन्द-आन्दोलन होता है। यही भोग है, यही चमत्कार है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में चमत्कार तथा काव्याह्लाद का अभेद समझने के लिए इतना ही पर्याप्त है।

रमणीयता में इसी चमत्कारी आह्लाद को उत्पन्न करने की शक्ति है। इस रमणीयता के अनुभव के दो रूप हैं—एक गोचरता का बोधात्मकरूप, दूसरा आह्लादानुभूति का भावात्मकरूप। प्रथमपक्ष (बोधात्मक) जो कि अनुसन्धानात्मक है, इसे हम भावना विशेष भी कहते हैं। दूसरा भावना का सामान्य पक्ष अथवा जिसे भावात्मकरूप कहते हैं। इस प्रकार अनुभूति के इन दोनों पक्षों का समावेश 'भावना' में किया गया है।

यही भावना विशेष चमत्कारी आह्लाद की अनुभूति का कारण है "जैसा कि कहा भी है—

"कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा"।

पण्डितराज के परिष्कृत लक्षण को समझने के लिए अनुभूति, ज्ञान, तथा भावना के इस अभेद को भी ध्यान में रखना चाहिए।

इस प्रकार सामान्य लक्षण के अनुसार "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय का अर्थ है-चमत्कारी आह्लाद, ऐसे चमत्कारी आह्लाद के समर्पक अर्थों के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।

पण्डितराज का परिष्कृत लक्षण

पूर्वोक्त सामान्य लक्षण का परिष्कार निम्नलिखित शब्दों में है—

"इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वम्, यत् प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं, चमत्कारजनकतावच्छेदकत्वं तत्त्वम्"।

तात्पर्य यह है कि—चमत्कारजनक भावना का विषयीभूत जो अर्थ, ऐसे अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है और जिस प्रकार के शब्दों के द्वारा प्रतिपादित-अर्थ-विषयक भावना में रहने वाला जो चमत्कार उस चमत्कार की जनिका जो भावना

उसका अवच्छेदक (परिचायक) भावनात्व है वही काव्य है। (अर्थात् तादृश-शब्दानुपूर्वीमत्व) सारांश यह है कि प्रथम लक्षण के अनुसार—चमत्कार को उत्पन्न करने वाली भावना के विषयीभूत अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।

पुनः द्वितीय परिष्कृत लक्षण के अनुसार ठीक इसके प्रतिलोम प्रणाली से—जिस प्रकार के शब्दों से प्रतिपादित अर्थ विषयक जो भावना है, उस भावनागत जो चमत्कार है, ऐसे चमत्कार को उत्पन्न करने में समर्थ जो भावना में रहने वाला या भावना का भी विशेषयीभूत अर्थ है, वह भी विशेषण होने के कारण भावना में प्रकार रूप से भाषित होगा। ऐसे अर्थ प्रकारक भावना को भावनात्व कहेंगे वही भावनात्व काव्य है।

परिष्कृत लक्षण की विशेषतायें

पूर्वोक्त परिष्कृत लक्षण नव्यन्याय की पदावली में सन्निविष्ट होने के कारण कुछ जटिल हो गया है। अतः इसकी समस्त विशेषताओं से पाठक सरलतया परिचित नहीं हो सकते हैं, अतः उक्त लक्षण की कुछ ज्ञातव्य बातों को बतलाने का प्रयास करेंगे—

पण्डितराज ने इस परिष्कृत लक्षण में काव्यार्थ के लिए "रमणीय" विशेषण का प्रयोग न करके सामान्यतः "अर्थ" शब्द का ही प्रयोग किया है, फिर उस अर्थ को ज्ञान का विषय न कह कर "भावना" का विषय बताया है। उस भावना को भी आह्लादजनक न कहकर चमत्कार जनक कहा है। इस प्रकार पण्डितराज ने चमत्कार या आह्लाद की लोकोत्तरता का रमणीयता से अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित किया है, इस प्रकार का चमत्कार में पर्यवसित होने वाला अर्थ अवश्य रमणीय होगा, ऐसी उनकी धारणा है। आह्लाद के स्थान पर यहाँ चमत्कार का प्रयोग किया है जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

परिष्कृत प्रथम लक्षण में "ज्ञान" शब्द के स्थान पर जो "भावना" शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका कारण यही कहा जायेगा कि परिष्कृत प्रथम-लक्षण में—सौन्दर्य के बोध पक्ष पर दृष्टि अधिक थी, क्योंकि लक्षण के अनुसार चमत्कार जनक भावना के अर्थ प्रतिपादकत्व पक्ष पर ज्यादा जोर दिया, जिसमें उद्देश्य विधेयभाव में भी यह प्रसङ्ग पूर्वापर क्रम में आ जाता है। और इसी परिष्कृत लक्षण के द्वितीय भाग में अनुभूति पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक दृष्टि है। क्योंकि यहां ऐसी भावना का विधान किया है, जो चमत्कार जनक हो। भावना जब एक प्रकार का ज्ञान है तो वह सविषयक ही होगा। इस भावना का विषय है अर्थ, फलतः शब्द काव्य होंगे जो इस प्रकार के अर्थ के प्रतिपादक होंगे। परिष्कृत इस लक्षण के अंशों में प्रथम अंश में जहां अपेक्षाकृत वस्तुपक्ष प्रधान है, वहां इस द्वितीय अंश में आत्मपक्ष भी उतना ही प्रधान है।

परिष्कृत लक्षण की दूसरी विशेषता

पण्डितराज ने इस लक्षण में एक विशेष प्रकार की परिभाषा प्रणाली का भी अवलम्बन किया है। प्रथम अंश—**"चमत्कारजनकभावना विषयार्थप्रतिपादक शब्दत्वं काव्यम्"** कहकर प्रक्रिया को चमत्कार से प्रारम्भ किया है, और उसे शब्द तक पहुंचाया है। फिर लक्षण के द्वितीय अंश को **"यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्"** कहकर उसी प्रक्रिया को शब्द से प्रारम्भ कर चमत्कार को उत्पन्न करने वाली भावना, और उस भावना का विषय अर्थ ऐसे अर्थ का प्रतिपादक जो शब्द है वह काव्य है।

इस द्वितीय प्रक्रिया में विलोम पद्धति द्वारा शब्द से प्रतिपादित अर्थ, उस अर्थ विषयक जो भावना, उस भावना की चमत्कार जनन-सामर्थ्य की अभिव्यक्ति की ओर अधिक जोर दिया है। इससे स्पष्ट है कि इस पदावली में काव्य के अनुभूति पक्ष पर अधिक जोर दिया गया है। एक बार तो लक्षणकार अनुभूति की ओर संकेत करता हुआ काव्य-शरीर घटक तत्त्वों की ओर छोड़ जाता है, दूसरी बार फ़िर उन काव्य शरीर संघटकों की ओर दृष्टि डालता हुआ सीधा अनुभूति पर चला जाता है।

इस प्रकार वस्तुपक्ष तथा आत्मपक्ष दोनों का एक अच्छा मणिकाञ्चन-मय सामञ्जस्य इस परिष्कृत लक्षण में दृष्टिगोचर होता है। इस शैली को हम अनुलोम व प्रतिलोम शैली कहते हैं।

अनुभूति के आन्तर पक्ष से चलकर शब्द के स्थूल धरातल पर रुकने वाली शैली "अनुलोम शैली" है। तथा शब्द के बाह्य धरातल से चलकर अनुभूति के आन्तर स्तर को स्पर्श करने वाली शैली "प्रतिलोम शैली" है। इन शैलियों के द्वारा पण्डित-राज ने अपने वक्तव्य को अत्यन्त संतुलित रूप देकर कुछ विपर्यास द्वारा लक्षण को अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस अनुलोम व प्रतिलोम की शृङ्खला से काव्य के विषय पक्ष तथा विषयी पक्ष दोनों का प्रतिपादन हो जाता है। कुछ स्पष्टता भी आ जाती है। चमत्कार की जनक भावना, भावना का विषय अर्थ, उस अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

इसी प्रकार—शब्द से प्रतिपादित अर्थ, अर्थ विषयक भावना, उस भावना से जनित चमत्कार, या चमत्कार जनिका भावना का विषयीभूत अर्थ। एक बार शब्द पर काव्य को विश्रान्त किया, तो द्वितीयबार फिर अर्थ तक उस काव्य-भावना को ले गये। यद्यपि काव्य का साक्षात् शरीर संघटक शब्द ही है फिर भी अवान्तर व्यापार युक्त अर्थ उसमें समन्वित रहता है पर ये शब्दार्थ ही काव्य नहीं है। पण्डितराज के मत में तो ऐसा शब्द काव्य है जो लोकोत्तर चमत्कार का जनक हो, अतः लक्षण को अब चमत्कार से ही प्रारम्भ कर चमत्कार में ही पर्यवसान भी

करना है, इसीलिए फलित लक्षण की आवश्यकता हुई ।

फलित लक्षण

पण्डितराज का फलित लक्षण इस प्रकार है—**"स्वविशिष्टजनकता-वच्छेदकार्थप्रतिपादकता संसर्गेण चमत्कारत्ववत्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्"**

यहाँ स्व पद से चमत्कारत्व का ग्रहण करना चाहिए । समवाय सम्बन्ध से चमत्कारत्व विशिष्ट चमत्कार होगा । उसकी या तन्निरूपित, जनकता होगी भावनाज्ञानधारा में, उस जनकता से निरूपित, विषयता सम्बन्धावच्छिन्ना अवच्छेद-कता रहेगी काव्यार्थ में । अर्थात् विषयता सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः वह काव्यार्थ भी भावनानिष्ट जनकता का अवच्छेदक होगा । इस प्रकार के काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द अतः तादृश प्रतिपादकता सम्बन्ध से स्वचमत्कारत्व शब्द में रहेगा ।

यद्यपि चमत्कारत्व साक्षात् काव्य शब्दों में नहीं रहता है, वह तो भावनानिष्ठ है, तथापि परम्परया अर्थ प्रतिपादकता सम्बन्ध से काव्य शब्दों में भी बतलाया गया है । इस सम्बन्ध में प्रतिपादकता भी उस अर्थ की है, जो चमत्कारत्व विशिष्ट चमत्कार या लोकोत्तर आह्लाद के जनकता का अवच्छेदक हो ।

फलित लक्षण की विशेषतायें

इस फलित लक्षण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें 'शब्द' का तो कहीं नाम भी नहीं है ।

"अर्थे प्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्वमेव काव्यत्वम्"

कह कर पण्डितराज ने यहां शब्द के स्थूल धरातल को तो बिल्कुल भी स्पर्श नहीं किया ।

जहां सामान्य लक्षण में वस्तु परकता अधिक थी, वहां लक्षणकार ने शब्द के स्थूल धरातल को मजबूती से पकड़ा था, फिर परिष्कृत लक्षण में वस्तु पक्ष तथा आत्मपक्ष का सामञ्जस्य रहा । वहां विवेचन स्थूल एवं सूक्ष्म के बीच झूल रहा था । फलित लक्षण में वह स्थूल धरातल को छोड़कर सूक्ष्म में परिणत हो गया ।

जो पण्डितराज मम्मटादि के शब्दार्थोभय काव्यत्व का खण्डन साग्रह करते हैं केवल शब्द में ही काव्यत्व की प्रतिष्ठा करते हैं, वे ही अब शब्द के इस स्थूल धरा-तल को छोड़ते जा रहे हैं । यह एक आश्चर्य की बात है, किन्तु इससे उनकी मान्य-ताओं में कोई स्ववचन विरोध नहीं समझना चाहिए । क्योंकि जिस चमत्कारत्व को

काव्य कहा गया है, वह अर्थ प्रतिपादकता संसर्गेण शब्द में भी रह सकती है। फलित लक्षण की सफलता भी इसी में है कि यह काव्य का फलित लक्षण—चमत्कार से ही प्रारम्भ होकर चमत्कार में ही समाप्त होता है। परिष्कृत लक्षण की शैली यदि अनुलोम व प्रतिलोम है तो फलित लक्षण की शैली—"वर्तुलित" है। यह वर्तुलाकार घूम-घूम कर, चमत्कार से चमत्कार तक का चक्कर काटती है। इस फलित लक्षण में काव्य-सौन्दर्य की आत्मपरकता इतनी प्रवण हो जाती है कि, यहां प्रतिपादक शब्द व अवान्तररूप में स्वीकृत अर्थ—ये दोनों ही इस लक्षण में गायब हो जाते हैं। अनुभूयमान चमत्कार ही प्रमुखता पा जाता है। चमत्कार को काव्य का एक निर्णायक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए पण्डितराज ने काव्य के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है, जिसको परिष्कृत नव्यन्याय की पदावली से सुरक्षित कर दिया।

पण्डितराज के इन काव्यलक्षणों के परिष्कारों को देखते हुए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो पण्डितराज बड़े आराम से बैठकर आनन्दवर्धनाचार्य के—"यथार्थशब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ व्यङ्क्तः काव्यविशेषः, स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः" इसी उत्तमकाव्य का अन्तिम परिष्कार कर रहे हों, या यह समझकर कि काव्य का यह स्वरूप प्राचीन भाषा में, बहुत पुराना सा प्रतीत हो रहा है अतः इसका किसी नये चश्मे से पुनः निरीक्षण किया जाय, क्योंकि काव्य का सामान्य लक्षण बनाकर ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें सहसा आनन्दवर्धन का काव्य सिद्धान्त याद आया, जिसमें शब्द व अर्थ का स्थान अप्रधान रहता है। केवल प्रतीयमान अर्थ ही प्रधान रहता है। प्रथम परिष्कृत लक्षण में शब्दार्थ या तादृश शब्दार्थ द्वारा प्रतिपादित रमणीयार्थ को काव्य मानकर भी अन्त में केवल चमत्कारत्व मात्र को काव्य कहना ध्वनिकार के 'तमर्थम्' वाले प्रतीयमानार्थ का ही परिष्कार पूर्वक समर्थन करना है।

यही कारण है कि पण्डितराज ने जो अपना उत्तमोत्तम ध्वनिकाव्य का लक्षण बनाया है, वह सीधे ध्वनिकार के ही ध्वनिकाव्य की छाया में सम्पन्न हुआ है। इस प्रकार जहां एक ओर—पण्डितराज कठोर आलोचक हैं तो दूसरी ओर वे एक सुलझे हुए परिष्कारक भी हैं। यह कार्य पण्डितराज का आनन्दवर्धन के प्रति उचित सम्मान का भी द्योतक मालूम पड़ता है, क्योंकि किसी अन्य बड़े से बड़े आचार्य के लिए भी सम्भवतः इन शब्दों को बड़े संकोच के साथ समर्पण करते **"ध्वनिकृतामलंकारसरणिव्यवस्थापकत्वात्"**।

काव्यत्व शब्दार्थोभयनिष्ठ है या केवल शब्दनिष्ठ

काव्यत्व शब्द एवं अर्थ दोनों में है, अथवा केवल शब्द में इस प्राचीन विवाद में पण्डितराज ने बड़े आग्रह के साथ भाग लिया। आचार्य मम्मट सम्मिलित शब्दार्थ

को काव्य मानते हैं, उनका काव्य लक्षण है---**"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंङ्कृती पुनः क्वाऽपि"** ।

अर्थात्—दोषरहित, गुणसहित कहीं-कहीं अलंकारों से रहित भी सम्मिलित शब्दार्थ काव्य कहलाते हैं । इस प्रकार आचार्य मम्मट काव्य के विषय में शब्दार्थोभयवादी हैं, जबकि पण्डितराज केवल शब्दवादी हैं ।

आपका कहना है कि आचार्य मम्मट जो **"शब्दार्थौ काव्यम्"** कहकर, काव्यत्व या काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्त, शब्द व अर्थ-उभय को मानते हैं, वह ठीक नहीं है । क्या काव्यत्व धर्म उभय वृत्ति है, अर्थात् शब्दार्थ समुदाय में व्यासक्त है ? व्यासन्यवृत्ति के द्वारा काव्यत्व शब्दार्थोभयनिष्ठ है, अथवा प्रत्येक पर्याप्त है, अर्थात् पर्याप्ति सम्बन्ध से शब्द में रहने वाला काव्यत्व अलग है क्या ?

इस सन्दर्भ का आशय यह है कि क्या काव्यत्व शब्दार्थोभयनिष्ठ समुदाय में रहने वाला धर्म है जैसे---द्वित्व, बहुत्व इत्यादि । अथवा किसी एक में ही शब्द अथवा अर्थ में रहने वाला धर्म है---जैसे मनुष्यत्व । यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि काव्यत्व व्यासज्यवृत्ति है, अर्थात् शब्दार्थोभयनिष्ठ धर्म है । तब तो केवल शब्द-श्लोक, वाक्य या केवल अर्थ आपके लक्षण के अनुसार काव्य नहीं कहा जा सकता है । "एको न द्वौ" इस व्यवहार के समान श्लोक वाक्य तो है, परन्तु काव्य नहीं कहा जायेगा क्योंकि "द्वित्व" (संख्या) जैसे दो पदार्थों में मिलकर ही रहती है अलग-अलग नहीं इसीलिए "द्वित्व" उन दोनों पदार्थों का व्यासज्यवृत्ति धर्म है ।

जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं तभी ये दो हैं **"द्वौ"** इस प्रकार का व्यवहार होता है, जब उनमें से एक ही उपस्थित होता है, तब उस समय यह दो नहीं है, एक है, इस प्रकार का व्यवहार होता है । अतः काव्यत्व को यदि व्यासज्यवृत्ति मानोगे, अर्थात् शब्दार्थोभयनिष्ठ मानोगे, तब तो केवल श्लोक—वाक्य काव्य नहीं कहा जायेगा परन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं केवल श्लोक वाक्य को भी काव्य कहा जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् काव्यत्व व्यासज्यवृत्ति धर्म नहीं है । जैसे द्वित्व संख्या होने के कारण गुण है,[1] अतः प्रत्येक धर्मी (इकाई) में समवाय सम्बन्ध से तो नहीं रह सकता है, क्योंकि गुण व द्रव्य का ही समवाय सम्बन्ध होता है, न कि गुण और गुण का । परन्तु वह द्वित्व

---

1. तथाहि द्वित्वं संख्याविशेषत्वात् गुणो भवन्नपि न समवायेन प्रत्येकस्मिन् धर्मिणि वर्तते, गुणान्तरवत्, अन्यथा नीलो घटः इति व्यवहारवत् एकस्मिन्नपि घटे द्वौ इति व्यवहार प्रसज्येत, न च तथा भवति (काव्यतत्त्व समीक्षा)

किसी न किसी सम्बन्ध से तो प्रत्येक इकाई में रहता ही है, इसीलिए तो दो इकाई में द्वित्व धर्म आया है, (अर्थात् एक-एक मिलकर दो हुआ है), और धर्मी इकाई के साथ उसका सम्बन्ध भी है ही; परन्तु यह समवाय न होकर व्यासज्यवृत्तित्वरूप-सम्बन्ध है ।

इस प्रकार द्वित्वादि धर्म की तरह यदि काव्यत्व को शब्दार्थोभयरूप व्यासज्यवृत्तित्वमय धर्म माना जायेगा, तो श्लोकवाक्य,—शब्द या केवल अर्थ काव्य न हो सकेगा । परन्तु व्यवहार में यह सब होता है, अतः आपका लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हुआ ।

यदि आप शब्दार्थोभय काव्य के लक्षण से पर्याप्ति सम्बन्ध द्वारा प्रत्येक में पर्याप्त अर्थात् शब्द में अलग काव्य व अर्थ में अलग काव्य मानना चाहते हैं, तब तो एक ही श्लोक में काव्यद्वय की आपत्ति हो जायेगी अर्थात् एक ही पद्य में शब्द व अर्थ दोनों की सत्ता होने से दो काव्य माने जायेंगे । अतः दोनों प्रकार से काव्यत्व उभयनिष्ठ धर्म नहीं बन सकता है । अर्थात् न तो काव्यत्व व्यासज्यवृत्ति धर्म है, और न प्रत्येक पर्याप्त ही ।

फलतः काव्यत्व शब्दार्थोभयानिष्ठ धर्म नहीं है, अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म ही है ।

नागेश द्वारा मम्मट का समर्थन

रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशभट्ट ने अपनी रसगङ्गाधर की टीका "गुरुमर्मप्रकाश" में पण्डितराज की युक्तियों का खण्डन कर मम्मट के ही मत का समर्थन किया है । उनका कथन इस प्रकार है—काव्यत्व का प्रयोजक जो रसास्वाद व्यञ्जकत्व है वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से रहता है । काव्य पढ़ा—यहाँ पाठ से शब्द का ग्रहण होता है । काव्य को समझा—यहाँ बोध से अर्थ का ग्रहण होता है । ये उभयविधि व्यवहार लोक में देखे जाते हैं, अतः काव्यत्व को व्यास-ज्यवृत्ति धर्म अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में मानने में कोई क्षति नहीं है ।

क्योंकि चमत्कार बोध-जनक ज्ञान विषयता का अवच्छेदक-धर्म रूप लक्षण शब्द व अर्थ दोनों में रहने से प्रकाशोक्त काव्य लक्षण अनुपहसनीय है ।

पण्डितराजीय लक्षण की समीक्षा

पण्डितराज ने अपना काव्य लक्षण नैय्यायिक शैली में उपस्थित कर, सामान्य, परिष्कृत एवं फलित तीन रूपों में प्रदर्शित किया है । उनके लक्षण में समस्त भारतीय आचार्यों के लक्षणों से सर्वाधिक आत्मपरकता है । सामान्य लक्षण में वस्तून्मुखता को आश्रय देते हुए, परिष्कृत द्वितीय लक्षण में वस्तु एवं आत्मपक्षों

का समन्वय रखकर, तृतीय सोपान पर शुद्ध आत्मपरकता के द्वारा काव्य लक्षण करने की यह प्रणाली अब तक किसी आचार्य ने नहीं अपनायी थी। स्थूल से सूक्ष्म की ओर, विषय से विषयी की ओर, वस्तु से आत्मपक्ष की ओर बढ़ने वाली यह उपपादन-पद्धति पण्डितराज की मौलिकता है।

काव्य स्वरूप के विषय में पण्डितराज विशिष्ट शब्दवादी हैं, परन्तु आपकी विशिष्टता भी अन्य आचार्यों से विलक्षण ही है। आपका रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द अपने प्रतिपादन में अर्थ के अवान्तर व्यापार को समेटे हुए है जिसको सामान्यतः उभयवादी शब्द के साथ सम्मिलित किया करते हैं। परन्तु पण्डितराज जिस शब्द को काव्य कहते हैं, वह सामान्य शब्द नहीं है, वह तो रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द है। आपने व्यवहार तर्क एवं अनुभव, तीनों के आधार पर उभयवाद को असंगत ठहराया है।

यद्यपि नागेश ने अपने प्रौढ तर्कों द्वारा पण्डितराज के शब्दवाद का खण्डन करने का प्रबल प्रयत्न किया है, परन्तु वास्तविकता एवं शास्त्रीय गम्भीरता नागेश का साथ नहीं देती। वस्तुतः नागेश पण्डितराज के मूल दृष्टिकोण को ही नहीं समझ सके, जबकि पण्डितराज शब्द व अर्थ के दोनों धरातलों की चेतना को पृथक् एवं स्पष्ट रखना चाहते हैं। उभयवादियों में यह चेतना उतनी स्वच्छ नहीं है, इसका परिणाम यह हुआ कि वे लोग काव्यभेद करते समय शब्दालंकार प्रधान व अर्थालंकार प्रधान काव्यों के लिए कोई पृथक्-पृथक् व्यवस्था नहीं कर सके, किन्तु पण्डितराज उनके लिए निर्णायक व्यवस्था बना सके हैं।

नागेश में भी यह पार्थक्य चेतना नहीं है। उनका प्रमुख तर्क यही है कि आस्वादोद्बोधकता शब्द तथा अर्थ में समान रूप से रहती है, अतः काव्य को उभयनिष्ठ मानना चाहिए। परन्तु इसका समाधान पण्डितराज के इस विवाद के प्रासङ्गिक व्याख्यान में ही मिल जाता है। आपने स्पष्ट रूप से कहा है कि यदि आस्वादोद्बोधकता के आधार पर काव्य के शब्दनिष्ठता का निराकरण करोगे तो राग, संगीत, नाट्याङ्ग जैसी चीजों को भी आस्वादोद्बोधक होने से काव्य कहना पड़ेगा।

शब्दगत काव्यत्व की मान्यता में पण्डितराज का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है। वे शरीर के माध्यम से ही शरीरी की व्याख्या करना उचित समझते हैं।

यही कारण है कि उन्होंने गुणों को जो कि काव्यात्मा के धर्म हैं। तथा अलंकारों को, जो कि हारादि के समान बाह्य शोभाधायक हैं, इन्हें काव्यलक्षण में सम्मिलित करना उचित नहीं समझा, क्योंकि ये उपादान काव्य शरीर के घटक नहीं हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि—

शौर्यदिवदात्मधर्माणां गुणानाम्, हारादिवदुपस्कारकाणामलकाराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च।

इस प्रकार पण्डितराज वेद पुराण इतिहासादि की तरह जो काव्य को केवल शब्दनिष्ठ मानते हैं, उसका कारण ही यही है कि वे काव्य की व्याख्या स्थूल शरीर घटक उपादानों के ही माध्यम से करना चाहते हैं ।

विश्वनाथ के काव्यलक्षण में असहमति

विश्वनाथ कविराज काव्य के उपस्कारक बाह्य उपकरणों की उपादेयता के विषय में किञ्चित् उदासीन से प्रतीत होते हैं । इसीलिए इनका महान् संरम्भ मम्मट के काव्यलक्षण के विशेषणों के खण्डन के लिए रहा है । आपका काव्यलक्षण **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** यद्यपि पण्डितराज के समान ही विशिष्ट शब्दवाद के वर्ग में आता है, तथा उसमें रसानुभूति को आधार बनाकर काव्य की आत्मपरकता को भी निभाने का यत् किञ्चित् प्रयत्न हुआ है, तथापि उसकी व्याप्ति अत्यन्त सीमित है । विश्वनाथ के काव्यलक्षण में रस शब्द पारिभाषिक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है । रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, तथा भाव शान्ति वाले काव्यों तक ही वह सीमित है ।

"रस्यते, इति रस इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते" ।

विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं । इसी के आधार पर वे काव्य का लक्षण भी करना चाहते हैं । यद्यपि अभिनवगुप्त भी यही मानते हैं, परन्तु वे सर्वत्र सर्वविध काव्यों में पार्यन्तिक रूप में "रस" की सत्ता स्वीकार करते हैं । विश्वनाथ केवल रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते हैं ।

पण्डितराज को विश्वनाथ का यह दृष्टिकोण अस्वीकृत है । वे विश्वनाथ के इस रसात्मक वाक्य या रसध्वनि मात्र को काव्य मानने में साहित्यशास्त्र के एक बहुत बड़े भाग की क्षति को सहन करने के लिए तत्पर नहीं हैं । आपका कहना है कि यदि आँख मूँदकर विश्वनाथ के लक्षण का अनुसरण किया जाय, तब तो वस्तुप्रधान ध्वनि तथा अलंकार प्रधान ध्वनि, जिन्हें उत्तम कोटि के काव्य में सम्मिलित किया गया है, उनको भी काव्य-कोटि से बहिष्कृत करना पड़ेगा । इतना ही नहीं, मध्यम कोटि के काव्य तथा अधम कोटि के काव्य जिन्हें काव्य-शास्त्रीय परम्परा काव्यत्व कक्षा में रखती है । वे भी काव्य नहीं कहे जायेंगे । साथ ही साथ महाकवियों में व साहित्यकारों के सम्प्रदाय में बड़ी खलबली मच जायेगी ।

"यत्तु रसवदेव काव्यम्, इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तत्र, वस्त्वलंकार-प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः, न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभाव-प्रसंगात्" ।

काव्य क्षेत्र में यद्यपि रस ही पार्यन्तिक अनुभूति का विषय है, और सकल प्रयोजन मौलिभूत तत्त्व है, इसमें किसी की असहमति नहीं है, फिर भी सर्वत्र

रसास्वाद ही होता हो यह कोई नियम नहीं है। ध्वनि सिद्धान्त की मूलभित्ति भी इसे स्वीकार नहीं करती, क्योंकि ध्वनि सिद्धान्त में रस ध्वनि के ही समकक्ष व स्वतन्त्र वस्तु ध्वनि व अलंकार ध्वनि के भेद भी स्वीकार किये गये हैं। इन भेदों में स्पष्ट ही आह्लाद की तीन अनुभूतियाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। रसध्वनि को यदि भावात्मक-आह्लाद कहें तो वस्तु ध्वनि बौद्धिक आह्लाद है। और अलंकार ध्वनि कलात्मक आह्लाद है, अपनी चरम सीमा में जाकर चाहे सभी आह्लाद चैतन्य की अभिव्यक्ति में समा जायें, परन्तु इस तथ्य का कभी भी अपलाप नहीं किया जा सकता है कि काव्याह्लाद कभी हमें गम्भीर भावोद्‌बोधन के माध्यम से होता है। तो कभी किसी वस्तु या तथ्य में लीन होने से और कभी केवल कल्पना प्रवण बनकर होता है।

यदि केवल रसवादी उक्त दोषों से बचने के लिए इन सभी स्थलों में अन्यत्र भी पार्यन्तिक रूप में एक रसात्मक चमत्कार को दिखलाना चाहे तो, इसके लिए पण्डितराज का कथन है कि—

"ईदृशरसस्पर्शस्य गौश्चलति, मृगो धावति, इत्यादावसिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्, अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्"।

यदि ऐसी ही सर्वत्र खींच-तान कर रसयोजना दिखलायी जायेगी, तब तो फिर "गौश्चलति" गाय जाती है "मृगो धावति" मृग दौड़ता है, इन वाक्यों में भी रसस्पर्श दिखाया जा सकता है, क्योंकि सभी अर्थ—पदार्थ किसी न किसी रूप में विभावादि में से कुछ न कुछ बन ही जाते हैं, अथवा बनाये जाते हैं।

अतः अभीष्ट व्यापकता के अभाव में विश्वनाथ का काव्यलक्षण अग्राह्य है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का अव्यापक काव्य लक्षण नहीं बनाना चाहिए, जो कि काव्य की सभी विधाओं में व्याप्त न हो सके। क्योंकि लक्षण का उद्देश्य होता है, स्वेतर पदार्थों से व्यवच्छेद करके "स्व" का ठीक ठीक परिचय देना, अर्थात् लक्षण का परम प्रयोजन है अपने से भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति करे, साथ ही अपना स्वयं व्यवहार में निमित्त बने या व्यवहार योग्यता का सम्पादन करे। कहा भी है—**"व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्"।**

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर के प्रारम्भ में ही स्वयं लक्षण का निर्वचन इन शब्दों में किया है—**"·····तस्मिन् विशेष्यसावच्छेदकं तदितरमंदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते"।**[1]

---

1. काव्य गुणालंकारादियों से निरूपणीय है, यहां गुणादि विशेषण है, और काव्य विशेष्य है, अतः काव्य में रहने वाली विशेष्यता का अवच्छेदक-परिचायक होगा (रमणीयार्थप्रतिपादकत्वरूप) काव्यत्व, वह व्याकरणादि शास्त्रों से भिन्न है, इस बात को समझने में साधन, एकमात्र लक्षण है।

इस नियम के अनुसार "लक्षण को लक्ष्य-पदार्थों की समस्त परिधि को समेट कर चलना चाहिए। तथा स्वेतर पदार्थों का भेदक (व्यवच्छेदक) होना चाहिए। इस विषय में पण्डितराज पहिले ही सावधान कर रहे हैं कि काव्यत्वेन जिन पदार्थों को हमने स्वीकृत किया है, लक्षण को उन सभी में व्याप्त होना चाहिए तथा काव्येतर सजातीय व विजातीय तत्त्वों का भेदक भी होना चाहिए।

इन नियमों के अनुसार मम्मट व विश्वनाथ के काव्य लक्षणों में विशेष्यतावच्छेदकता तथा तदितरभेदबुद्धिसाधनता की अभीष्ट मात्रा नहीं है।

पण्डितराज के काव्यलक्षण में उक्त नियम का पूर्णरूपेण निर्वाह हुआ है। उसमें वह सीमा संकोच नहीं जो कि विश्वनाथ में था। पण्डितराज के रमणीयार्थ की सीमा पर्याप्त व्यापक है। उसकी विशेष्यतावच्छेदकता काव्य के भावात्मक आह्लाद वाले काव्यों तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु बौद्धिक एवं कलात्मक आह्लाद-वाले काव्यों को भी अभीष्ट सीमा में समेट लेती है। "तदितरभेदबुद्धिसाधनता" तो पण्डितराज के लक्षण में और भी सफल है, क्योंकि हम लौकिक आह्लादों को तो चमत्कार के आधार पर और भौतिक सौन्दर्य को शब्द प्रतिपाद्यता के आधार पर तथा अन्य ललित कलाओं को प्रतिपाद्य रमणीय अर्थ, तथा तत्प्रतिपादक शब्द के आधार पर पृथक् कर सकते हैं।

यद्यपि ललित कलाओं का उद्देश्य भी पार्यन्तिक लोकोत्तर आह्लाद ही है, सभी में रमणीयता होती है, और लालित्य भी होता ही है, और सभी कलायें लोकोत्तर आह्लाद जनक ज्ञान का समर्पण करती हैं, फिर भी रमणीय अर्थ को उपस्थित नहीं करती हैं। उदाहरण स्वरूप संगीत रमणीयता देता है, "रमणीय अर्थ नहीं" इसी प्रकार चित्र, मूर्ति, वास्तु, अभिनेयकाव्य रमणीय अर्थ देते हैं, परन्तु इन सभी के रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द नहीं होते हैं।

उक्त विश्लेषण द्वारा यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तदितर भेदबुद्धि साधनतारूप-विभाजक रेखायें पण्डितराज के काव्यलक्षण में जितनी संतुलित स्पष्ट तथा व्यापक है, उतनी किसी अन्य आचार्य के लक्षण में नहीं। पण्डितराज का यह लक्षण चिरन्तन होता हुआ भी वर्तमान युग के काव्यों के उन सभी विधाओं के आवश्यक अंशों की भी किसी न किसी रूप में पूर्ति कर रहा है। "रमणीयता" को आधार मानकर लिखा गया यह लक्षण आज के "सौन्दर्यशास्त्र" के लक्षण में भी भारी योगदान दे रहा है।

काव्य का कारण

संस्कृत साहित्य के आलोचना क्षेत्र में काव्य की कारणता के प्रसङ्ग में अनेक प्रकार के मत मतान्तर पाये जाते हैं। कुछ विद्वान् काव्य का कारण शक्ति

(प्रतिभा) व्युत्पत्ति व अभ्यास को सम्मिलित रूप से मानते हैं, अन्य विद्वान् केवल शक्ति या प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं, और इस शक्ति या प्रतिभा के पोषक के रूप में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को मानते हैं। इस प्रकार काव्य कारणता के दो पक्ष हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं, प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास-समुदितकारण त्रितयवादी तथा केवल प्रतिभा कारणवादी।

समुदित कारणतावादी आचार्य

प्रतिभा व्युत्पत्ति व अभ्यास को काव्य के प्रति सम्मिलित रूप में कारण मानने वाले आचार्यों में भामह, दण्डी, रुद्रट, व मम्मट प्रमुख हैं। भामह के मतानुसार यद्यपि प्रतिभा तत्त्व काव्य निर्माण में अपरिहार्य है, परन्तु व्युत्पत्ति व अभ्यास की ओर भी उन्होंने कम जोर नहीं दिया है। उनका कथन इस प्रकार है—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

(काव्या० 1.5.)

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्य निबन्धांश्च कार्यःकाव्यक्रियादरः॥

(काव्या० 1.10.)

"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः" इत्यादि

सन्दर्भ के द्वारा भामह ने काव्य के निर्माण में प्रतिभा को अनिवार्य ठहराया व साथ ही साथ "काव्यविदुपासनम्" व अन्य निबन्धावलोकन के द्वारा व्युत्पत्ति को भी उसका आवश्यक अङ्ग माना, और "कार्यः काव्यक्रियादरः" के द्वारा भामह ने अभ्यास की ओर संकेत किया। इस प्रकार काव्य निर्माण की दिशा में यह सम्मिलित कारणत्रितयवाद आचार्य भामह से ही प्रारम्भ हो जाता है।

आचार्य दण्डी

यद्यपि भामह ने प्रतिभा पर अधिक बल दिया, परन्तु दण्डी की राय में तो सामान्यतः तीनों की समुदित रूप में काव्य के प्रति कारणता है, बल्कि उन्होंने प्रतिभा की ओर कुछ शिथिलता भी दिखलाई। आपका कथन है कि पूर्व वासना की कृपा से प्राप्त होने वाली प्रतिभा न भी हो, तो भी व्युत्पत्ति व अभ्यास के द्वारा कवि कर्म में सफलता मिल सकती है—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥[1]

---

1. दण्डी (काव्यादर्श) 1.104.

यह तो एक वैकल्पिक स्थिति पर दण्डी का विचार है, परन्तु सामान्यतः उनके मत में भी स्वाभाविक-प्रतिभा निर्मल शास्त्रज्ञान और अमन्द अभ्यास ही कवि कर्म में कारण हैं—

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ।।[1]

इस प्रकार आचार्य दण्डी के मत में भी काव्य-सम्पत्ति के लिए उक्त कारण न्नितय की महती आवश्यकता है ।

आचार्य रुद्रट

आचार्य रुद्रट भी काव्य की संघटना में तीनों व्यापार मानते हैं—

तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ।।

(1.14. स० का०)

आपका कथन है कि काव्य को व्यर्थ बकवास से दूर रखने व सार अंश से सुसज्जित करने में, इन तीनों —शक्ति व्युत्पत्ति व अभ्यास का व्यापार अत्यन्त आवश्यक है । सहजा व उत्पाद्या के भेद से पुनः प्रतिभा (शक्ति) का दो प्रकार का विभाग किया है । जन्मसिद्ध प्रतिभा सहजा है, जो श्रेयस्करी है, और व्युत्पत्ति व अभ्यास के द्वारा होने वाली प्रतिभा उत्पाद्या है, यह सहजा का संस्कार करती है ।

आचार्य मम्मट

आचार्य मम्मट के अनुसार प्रतिभा अपर पर्याय शक्ति जो कि कवित्व बीजरूप एक संस्कार विशेष है, और लोकव्यवहार शास्त्र एवं काव्यादि के पर्यालोचन से व्युत्पत्ति (निपुणता) तथा काव्यज्ञ विद्वानों की शिक्षा का अभ्यास ये तीनों शक्ति निपुणता व अभ्यास सम्मिलित रूप से काव्य के प्रति हेतु है । इन तीनों की समुदित-कारणता बतलाने के लिए मम्मट ने हेतु पद में एक वचन का प्रयोग किया है । इस आशय को अभिव्यक्त करने वाली कारिका इस प्रकार है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

(1.3. काव्य प्र०)

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे तृण से मणि से व अरणि से सहायान्तर निरपेक्ष रूप में, अलग-अलग अग्निरूपी कार्य उत्पन्न होता है, उस प्रकार शक्ति

---

1. दण्डी (काव्यादर्श) 1.103.

व्युत्पत्ति व अभ्यास के द्वारा परस्पर निरपेक्ष रूप में काव्योत्पत्ति रूप कार्य नहीं होता है। इस प्रकार के हेतु जो अन्य निरपेक्ष स्वतन्त्र रूप से कार्योत्पादन में समर्थ होते हैं, उनके विषय में **"तृणारणिमणि न्याय"** चरितार्थ होता है, परन्तु प्रकृत में तो, अर्थात् आचार्य मम्मट के मत में तो काव्योल्लास तभी सम्भव है, जबकि शक्ति निपुणता व अभ्यास इन तीनों की सम्मिलित हेतुता विद्यमान हो। इस प्रकार की सम्मिलित हेतुता में "दण्ड चक्र चीवरादि न्याय" चरितार्थ होता है। अर्थात् जैसे—घट रूप कार्य के प्रति सम्मिलित-दण्ड, चक्र व चीवर हेतु हैं, उसी प्रकार काव्य रूप कार्य के प्रति भी उक्त सम्मिलित त्रितय हेतु हैं।

केवल प्रतिभावादी आचार्य

काव्य के प्रति केवल प्रतिभा को कारण मानने वाले आचार्य हैं—वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुन्तक व पण्डितराज जगन्नाथ।

आचार्य वामन

"आचार्य वामन की मान्यता में यद्यपि भामह के समान अन्य उपादान व्युत्पत्ति व अभ्यास की भी स्वीकृति है, जैसा कि उनका कथन है, "लोको विद्या प्रकीर्ण च काव्याङ्गनि" इत्यादि। लोकवृत्त, शास्त्रज्ञान व वृद्ध सेवा के प्रति मान आदि को वे काव्य के प्रति कारण मानते हैं, ये भी काव्य के उपकारक हैं। परन्तु मूल कारणता का श्रेय इन्होंने प्रतिभा को ही दिया है, अन्य तो उसके उपकारकमात्र हैं। उनका स्पष्ट कथन है—**"कवित्वबीजं प्रतिभानम्"** (काव्यालंकार सूत्र 1.16)

"यस्माद्बीजं बिना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा अवहासायनं स्यात्" (वृत्ति)।

कवित्व का बीज तो प्रतिभा ही है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर का उत्पन्न होना असम्भव है, उसी प्रकार कवित्वबीजभूता प्रतिभा के बिना काव्यपादप का भी सम्भव नहीं है। यदि किसी ने प्रतिभा के बिना ही 'कागजी' पेड़ की तरह, कुछ तुकबन्दी बना भी दी तो वह काव्यज्ञों का उपहासास्पद होगी, अतः वामन के मत में काव्य का मूल तत्त्व प्रतिभा ही है।

आचार्य आनन्दवर्धन

यद्यपि आनन्दवर्धन ने काव्य हेतुओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है, किन्तु वे सर्वथा प्रतिभा की महत्ता को स्वीकार करते हैं। वे शक्ति (प्रतिभा) व व्युत्पत्ति में शक्ति के पक्षपाती हैं—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संन्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटित्यवभासते॥ (ध्वन्या० तृ० उ०)

यदि कवि में प्रतिभा है तो उसके लिए फिर वर्ण्य विषयों की कमी नहीं हैं। वह पुरातन विषय को भी नवीनरूप में प्रदर्शित कर सकता है, पर प्रतिभा हीन के लिए तो कुछ भी नहीं है।

"न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः" इत्यादि विचारों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य आनन्दवर्धन के मत में भी प्रतिभा ही काव्य का प्रमुख कारण है।

आचार्य राजशेखर

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में बड़े विस्तार के साथ काव्य-कारणता के विषय में विचार किया है। यद्यपि वे उपयोग व उपादेयता की दृष्टि से प्रतिभा व व्युत्पत्ति दोनों को ही श्रेष्ठ समझते हैं—

"प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीयः। (काव्य मीमांसा) इसी कारण इन दोनों विभूतियों से सम्पन्न कवि ही श्रेयस्कर है। इसी प्रतिभा व व्युत्पत्ति के आधार पर कवि भी दो प्रकार के होते हैं—(1) काव्यकवि (2) शास्त्रकवि। दोनों में किसी को भी छोटा नहीं कहा जा सकता है। परन्तु, जब कारणता की बात आती है, तब राजशेखर स्पष्ट रूप से केवल शक्ति को ही काव्य का कारण घोषित करते हैं, दोनों को नहीं—

"सा शक्तिः केवलं काव्ये हेतुः" इति यायावरीयः। किन्तु जहाँ अन्य आचार्यों ने शक्ति व प्रतिभा में समानार्थकता मानी है, वहाँ राजशेखर परस्पर कुछ भेद मानते हैं। शक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हुए वे कहते हैं कि समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता आन्तर प्रयत्न है, अभ्यास बाह्य प्रयत्न है, ये दोनों ही शक्ति को समुद्भासित करते हैं। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के द्वारा इस शक्ति का विविध रूप में प्रसार होता है। शक्तिमान में ही प्रतिभा आती है, और शक्तिमान ही व्युत्पन्न होता है।

इस प्रकार राजशेखर की शक्ति एक व्यापक तत्त्व है। इसकी अपेक्षा प्रतिभा सीमित है। आपके मत में प्रतिभा की सीमा तो विभिन्न शब्द व विभिन्न अर्थ तथा अलंकार तन्त्र आदि उक्ति पक्षों ही तक है, यद्यपि यह अदृष्ट पदार्थों को भी प्रत्यक्ष करती है। तथापि शक्ति कहीं इससे भी व्यापक है। परन्तु आखिर में राजशेखर को भी उपचार रूप से प्रतिभा के अर्थ में ही शक्ति शब्द का प्रयोग करना पड़ा है—
"शक्ति शब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्तते"

इस प्रकार राजशेखर के मत में भी काव्यहेतुओं के प्रसंग में केवल शक्ति या प्रतिभा को ही काव्य का कारण स्वीकार करना पड़ा।

आचार्य कुन्तक

आचार्य कुन्तक ने पूर्ण आग्रह के साथ प्रतिभा के महत्व को स्वीकार किया है। कुन्तक के अनुसार सम्पूर्ण काव्य विधान का केन्द्र विन्दु ही प्रतिभा है।

यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत् प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः, तथापि कविप्रतिभाः प्रौढिरेव प्राधान्येनावविष्ठते।

(व० जी० 32 पृष्ठ)

यद्यपि शब्दार्थ के प्राधान्य से ही कविता की रचना की जाती है, तथापि कवि प्रतिभा की प्रौढता ही प्रधान रूप में व्यवस्थित होती है। सुकुमार मार्ग के वर्णन के प्रसङ्ग में इन्होंने प्रतिभा का निर्देश खुले शब्दों में किया है—

"यत् किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्व प्रतिभोद्भवम्" इस सुकुमार मार्ग में जो कुछ भी वैचित्र्य परिलक्षित होता है, वह सब प्रतिभा की ही देन है। कुन्तक के अनुसार कवि प्रतिभा का ही यह मुख्य कार्य है कि वह शब्द तथा अर्थ में अपूर्व सौन्दर्य का प्रस्फुरण करा देती है—

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते॥ (व० जी० 1.34)

अम्लान-(नूतन) प्रतिभा के द्वारा ही शब्द व अर्थ में नवीन चमत्कार प्रस्फुटित होता है, अर्थात् उनमें एक प्रकार की अनिर्वचनीय अतिशय उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार कुन्तक भी काव्य कारणता के प्रसङ्ग में प्रतिभा को ही प्राथमिकता प्रदान करते हैं। उनके मत में पूर्व जन्म व इस जन्म के संस्कारों का पूर्ण परिपाक ही प्रतिभा है—

"प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा"

तात्पर्य यह है कि मानव के जन्म जन्मान्तरों के संस्कार ही सार रूप में सञ्चित होकर प्रतिभा का निर्माण करते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ भी केवल प्रतिभावादी हैं, प्रतिभा का लक्षण करते हुए आपने कहा है कि—**"सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः"** अर्थात् काव्य रचना के अवसर पर कवि के मस्तिष्क में उचित शब्दार्थों की उपस्थिति ही प्रतिभा है। यही प्रतिभा गत प्रतिभात्व ही काव्यकारणता का अवच्छेदक है। कहने का अर्थ यह है कि प्रतिभात्व वह तत्व है कि जो विविधरूपा प्रतिभाओं में प्रतिभारूपा एकाकारा प्रतीति कराता है। इस प्रकार "प्रतिभात्व" एक जाति है।

प्रतिभा के भी दो कारण हैं—

एक अदृष्ट और दूसरा व्युत्पत्ति और अभ्यास अर्थात् कहीं तो प्रतिभा अदृष्ट, से उत्पन्न होती है, और कहीं व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के द्वारा उत्पन्न होती है ।

प्रतिभा का स्वरूप

प्रतिभा प्रज्ञा का ही एक विशेष रूप है । प्रायः आचार्यों ने प्रज्ञा के माध्यम से ही प्रतिभा का परिचय कराया है । काव्यशास्त्र ने इस तत्त्व को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है । आचार्य दण्डी के मत में प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कार या वासना से सम्बद्ध है **"पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्"** (काव्यादर्श 1.104.) वामनाचार्य ने प्रतिभा को जन्मान्तरागत संस्कार विशेष माना है---**"कवित्वबीजं प्रतिभानम्, जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्"** ।

अभिनवगुप्त ने भी उसे प्राक्तन संस्कार माना है । जो अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ है ।

"अनादिप्राक्तनसंस्कार प्रतिभानमथः" (अभि० भा० खण्ड 1)

"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा" (लोचन पृ० 92)

अर्थात् ऐसी प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं, जो अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ हो ।

राजशेखर के मत में प्रतिभा वह तत्त्व है, जो कवि हृदय में उचित शब्द, अर्थ-अलंकार व अन्य वक्तव्य कौशल को उद्भासित कर दे । आचार्य मम्मट के अनुसार शक्ति (प्रतिभा) वह प्राक्तन संस्कार है, जिसमें काव्यकला के अङ्कुर विद्यमान हों ।

इस प्रकार प्रतिभा के विषय में अनेक मत हैं । पर सब का सार यही है कि प्रतिभा मनुष्य की वह मौलिक बौद्धिक शक्ति का नाम है, जो जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के परिपाक से निष्पन्न होती है, जिसमें नित्य नूतन पदार्थों का उन्मेष होता रहता है ।

पाश्चात्य विद्वानों ने प्रतिभा का वर्णन मनोविज्ञान शास्त्र के अन्तर्गत किया है । मनोविज्ञान के अनुसार प्रतिभा का अर्थ है असाधारण कोटि की मेधा अथवा असामान्य मानसिक शक्ति[1] । भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्यों के मन्तव्यों के सारांश का भी यही तात्पर्य है कि प्रतिभा एक असाधारण जन्मान्तरागत

---

1. दी न्यू डिक्शनरी आफ साइकोलौजी ।

दैवी शक्ति है, जो नियतिकृत नियम रहिता है, जिसमें अपुर्व वस्तु निर्माण की क्षमता है ।

प्रतिभा की अनेकरूपता

सभी कवियों की रचनायें एक सी नहीं होती हैं, सभी में एक सी प्रतिभा नहीं दिखाई पड़ती है । क्योंकि जन्मान्तरीय संस्कारों में जन्म तथा वर्तमान व्युत्पत्ति तथा अभ्यास जन्य या महापुरुष विशेष के प्रसाद से जन्य प्रतिभा में परस्पर महान् भेद होगा । इस प्रकार के प्रतिभा के वैलक्षण्य से काव्यगत विलक्षणता को स्वयं पण्डितराज ने माना है । पण्डितराज के निम्न शब्दों से यह तथ्य स्पष्टतः मालूम पड़ जाता है---

"प्रतिभात्वं च कवितायाः कारणतावच्छेदकं, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि सः" (रस० ग० प्र० मा०) **तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकं, अतो न व्यभिचारः"**
(रस ग० प्र० आ०)

प्रतिभा के कारण

पण्डितराज के अनुसार प्रतिभा के भी दो कारण हैं, कहीं तो अदृष्ट से उत्पन्न प्रतिभा, जिसको जन्मान्तरागत संस्कार विशेष भी कह सकते हैं और कहीं व्युत्पत्ति व अभ्यास प्रतिभा के कारण होते हैं ।

अदृष्ट में भी विभिन्न कारण

देवता महापुरुष आदि के प्रसाद से अथवा वरदान से भी अदृष्ट की उत्पत्ति होती है । यह देखा गया है कि किसी-किसी में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के बिना ही बाल्यावस्था में ही काव्य निर्माण की प्रतिभा दिखाई पड़ती है, अतः व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से पृथक स्वतंत्र अदृष्ट को प्रतिभा के प्रति कारण स्वीकार करना पड़ेगा । जैसा कि स्वयं पण्डितराज का कथन है...

"तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरूषप्रसादादिजन्ममदृष्टम्, बालादेस्तौ विनाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः" (रस० ग० प्र० आ०)

यहाँ एक प्रश्न यह है कि देवता या महापुरुषादि के प्रसाद से जन्य अदृष्ठ द्वारा उपलब्ध प्रतिभा भी एक प्रकार से उत्पाद्य प्रतिभा कही जायेगी, तो क्या पण्डितराज मम्मटभट्टादि की तरह सहजा प्रतिभा को नहीं मानते क्या ?

वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, पण्डितराज उस सहजा प्रतिभा से भी अच्छी तरह सुपरिचित हैं, साथ ही साथ जन्मान्तरीय "अदृष्ट" को भी वे प्रतिभा के प्रति कारण मानते ही हैं, अतः पूर्वोक्त अदृष्ट शब्द को कुछ व्यापक अर्थ में ग्रहण

करना चाहिए । मीमांसा दर्शन के अनुसार अदृष्ट इस जन्म के कर्मों से भी बनता है, और पूर्व जन्मों के कर्मों से भी बनता है । इसलिए पण्डितराज ने लिखा है **"क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्ममदृष्टम्"** इसमें "आदि" पद इसी दृष्टि से रक्खा गया है, कि उससे जन्मान्तरीय अदृष्ट जन्य सहजा प्रतिभा का भी संग्रह हो जाय ।

मीमांसा के अनुसार प्रतिभा की व्याख्या

'अदृष्ट' शब्द मीमांसा दर्शन का है, इसीलिए उसी दर्शन के अनुसार इसकी व्याख्या करना भी आवश्यक है । सामान्य धारणा के अनुसार काव्य प्रतिभा को प्राप्त करने में विशेष पुण्यवत्ता को आधार माना गया है, क्योंकि बहुत पढ़ लिखकर अभ्यास करके भी किसी के ऊपर सरस्वती की कृपा नहीं होती है । अर्थात् वह सरस्वती का कृपापात्र न होने से कवित्वकला से वञ्चित ही रहता है । इस पर यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो इसके मूल में पुण्य और पाप, धर्म तथा अधर्म के योग ही समझे जाते हैं, जैसा कि स्वयं पण्डितराज लिखते हैं..."लोके बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणता निर्णये, पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथानुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि कल्प्यते" (रस० गं० प्र० आ०) अदृष्ट के विषय में इन सब विषयों का विवेचन विशेषकर मीमांसा दर्शन में ही हुआ है । यद्यपि यह 'अदृष्ट' शब्द न्याय दर्शन में भी आता है, जिसका अर्थ जन्मान्तरीय पुण्य-पाप या धर्माधर्मादि ही समझा जाता है, परन्तु मीमांसा दर्शन तो बिना 'अदृष्ट' के एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता है । अत एव पण्डितराज ने यहां 'अदृष्ट' शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में मीमांसा दर्शन का ही आश्रय लिया और इस अदृष्ट जन्य प्रतिभा के कारणों की विवेचना में पण्डितराज की दृष्टि मीमांसा दर्शन की व्यापकता की ओर अग्रसर हुई ।

न्याय-दर्शन के अनुसार प्रतिभा की व्याख्या

न्याय दर्शन के अनुसार "प्रतिभात्व" को जो कि काव्यकारणता का अवच्छेदक है, एक जाति विशेष कहा गया है । नैय्यायिकों ने सामान्य या जाति का लक्षण इस प्रकार किया है—"नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्" (जाति) सामान्य या जाति अनेकों में समवेत (समवाय सम्बन्ध से स्थित) होने के कारण ही अनेक वस्तुओं में अनुगताकारा या एकाकारा प्रतीति भी कराती है, जैसा कि तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने भी लिखा है—

"अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्" (त० भा० पृ० 213)

पण्डितराज के अनुसार काव्य की विविधरूपता का कारण प्रतिभागत विविधता या विलक्षणता है । अतः "प्रतिभात्व" वह तत्त्व है जो अनेक प्रकार की प्रतिभाओं में व्याप्त है, साथ ही साथ प्रतिभारूपा अनुगताकारा या एकाकारा

प्रतीति को भी कराता है, इस प्रकार काव्यकारणतावच्छेदक "प्रतिभात्व" एक जाति है।

न्याय दर्शन में जाति या सामान्य को पर व अपर के भेद से दो तरह का माना गया है। ये पर व अपर शब्द यद्यपि परस्पर सापेक्ष है, फिर भी चरम परता तो सत्ता की ही मानी जाती है। अतः प्रतिभात्व को तो अपर सामान्य या जाति ही स्वीकार करना पड़ेगा। अपर सामान्य अनुवृत्ति प्रत्यय हेतु होने से सामान्य है, तो अन्य पदार्थों का व्यावर्तक होने से "विशेष" भी है। जैसे..."घटत्व सामान्य" पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा एक अपर सामान्य है, तथा अनेक घटों में "घटोऽयं घटोऽयं" इस प्रकार की अनुगताकारा प्रतीति भी कराता है, साथ ही साथ वह "पटत्व" आदि अन्य सामान्यों से भेद बुद्धि भी उत्पन्न कराता है। अतः "घटत्व" रूप अपर सामान्य का एक पक्ष "विशेषात्मक" भी है।

केशव मिश्र ने अपनी तर्कभाषा में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है...

"तच्च द्विविधं, परमपरं च, परं सत्ता बहुविषयत्वात्, सा चानुवृत्ति-प्रत्ययमात्रहेतुत्वात्, सामान्यमात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि, अल्पविषयत्वात्, तच्च व्यावृतोऽपिहेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेषः"

पण्डितराज ने "प्रतिभात्व" को जाति विशेष कहा है। इस विशेषता से हमारे सामने काव्यनिर्माण से सम्बन्धित विशिष्ट प्रतिभा का ही स्वरूप आता है।

कारण में रहने वाले मूल धर्म को नैय्यायिक "कारणतावच्छेदक" कहते हैं, प्रतिभा काव्य की कारण है, अतः प्रतिभात्व ही कारणतावच्छेदक धर्म होगा। इसीलिए पण्डितराज ने **"प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जाति-विशेषः"** कहा है।

जाति किसी भी वस्तु का प्राणप्रद धर्म होता है, अर्थात् बिना इस धर्म के किसी भी वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती है, जैसे गोत्व के बिना गाय की कल्पना ही कैसे की जा सकती है। इसी प्रकार प्रतिभागत प्रतिभात्व भी ऐसा सिद्ध प्राणप्रद धर्म है, जिसके बिना काव्य के मूल कारणभूत प्रतिभा की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

इस प्रकार पण्डितराज ने न्याय की दृष्टि से प्रतिभा के स्वरूप का परिचय दिया।

वेदान्त के अनुसार प्रतिभा की व्याख्या

वेदान्त दर्शन के अनुसार "प्रतिभात्व" एक अखण्ड उपाधि है, जैसा कि पण्डितराज का उल्लेख है—

"तद् मतं च प्रतिभात्वं उपाधिरूपं वा खण्डम्"

वेदान्त के अनुसार चैतन्य या चिति की दो स्थितियाँ हमारे सामने आती हैं—

(1) प्रथम विशुद्ध चिति, (2) द्वितीय औपाधिक चिति। प्रथम निरुपाधिक नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव, अवाङ् मनस गोचर वाली चिति अखण्ड है।

द्वितीय उपाधियुक्त चिति ही व्यवहारोपयोगी होती है, अतएव निरुपाधिक ब्रह्म अखण्ड ब्रह्म के लिए पण्डितराज ने 'अखण्ड' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, अपितु उपाधि से मिलीजुली सत्ता वाली चिति के लिए ही 'उपाधिरूप अखण्ड' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि प्रतिभा एक व्यवहार क्षेत्र की वस्तु है।[1]

वेदान्त में सोपाधिक चिति के भी दो रूप हैं। (1) एक अखण्ड उपाधि (2) द्वितीय सखण्ड उपाधि। अखण्ड उपाधि चेतना का वह रूप है जिसमें ज्ञाता ज्ञान व ज्ञेय के भेद अथवा विकल्प प्रस्फुटित नहीं हुये होते हैं, इसी को निर्विकल्प चेतना भी कहते हैं।

सखण्ड उपाधि में चेतना के अनेक विकल्पात्मक स्तर विकसित हो चुके होते हैं, इन सविकल्पात्मक स्थितियों की परिगणना कौन कर सकता है? जिस प्रकार अखण्ड उपाधि में से सखण्ड, सविकल्प स्थितियों का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार विपरीत क्रम से तिरोभाव भी। इन उन्मीलन व निमीलन की प्रक्रियाओं को ही आचार्य अध्यारोप तथा अपवाद शैलियों से समझाता है। ये अध्यारोप व अपवाद एक प्रकार से चिति में विकल्पों के उन्मीलन तथा निमीलन की ही प्रक्रियायें है।

प्रतिभात्व को अखण्ड उपाधि कहने का तात्पर्य यह हुआ कि प्रतिभा का मूल निर्विकल्पात्मक चेतना है। यह स्थिति विकल्प या विलक्षणताओं की दृष्टि से अव्यक्त या अनुन्मीलित है। विभिन्न रूप अदृष्टों से अथवा व्युत्पत्ति अभ्यास से इसका उन्मीलन होता है, फलतः प्रतिभात्वविशिष्ट प्रतिभा उन्मीलित अवस्था में आती है। यह उन्मीलित अवस्था उन्मीलक कारणों की विविध रूपता के कारण विविध रूपा ही होती है, तथा तदनुरूप उसका कार्य—काव्यसर्जन भी विविध रूप होता है।

इस प्रकार सखण्ड उपाधि या सविकल्पात्मक प्रतिभा के विलक्षण रूपों में प्रतिभा का यह मूलरूप, अखण्ड उपाधि स्वरूप प्रतिभात्व ही सन्निविष्ट है। अतः पण्डितराज के मतानुसार प्रतिभा मूल रूप अर्थात् 'प्रतिभात्व' तो अखण्ड उपाधि

---

1. "सत्यानृतेमिथुनीकृत्य····· नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" (ब्र० सू० शा० भाष्य 1.1)

है, पर अदृष्टादि कारणसामग्री से उन्मीलित प्रतिभा सखण्ड उपाधि है, इस प्रकार वेदान्त दर्शन की व्यापक दृष्टि के अनुसार पण्डितराज ने प्रतिभा के सखण्ड व सविकल्पक नाना रूपों का विश्लेषण किया है ।

नागेश का चिन्तित पाठ भी चिन्त्य

महावैय्याकरण नागेश ने इस प्रसङ्ग में 'अखण्ड' पाठ को चिन्त्य बतलाया है । आपका कथन है कि प्रतिभा तो नील घटत्वादि की तरह सखण्ड ही होगी, अतः "अखण्ड" यह पाठ उचित नहीं है, "नीलघटत्वादिवत्सखण्डोपाधिरेवेति नार्थः, "अखण्डम्" इति पाठस्तु चिन्त्य एव" नागेश प्रतिभा के दो स्तरों से अपरिचित से मालूम पड़ते हैं, जो कि वेदान्त दर्शन के अनुसार है । आपका कथन है कि प्रतिभा को काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति कहा गया है । शब्द व अर्थ की यह उपस्थिति चेतना की सविकल्पक स्थिति ही हो सकती है, और वह नीलघटत्व आदि के समान विशेषण विशेष्यावगाही ज्ञान के क्षेत्र में ही रहती है । अतः उसे नील घटत्वादि के समान सखण्ड उपाधि ही कहना चाहिए, अखण्ड यह पाठ तो उचित नहीं है ।

पण्डितराज व नागेश के इस स्वल्प काल में पाठ भेद की भी कोई कल्पना नहीं की जा सकती है । नागेश को सीधा "अखण्ड" यही पाठ मिला है, इसलिए पाठान्तर का भी कोई प्रश्न नहीं है । रही अब "वा" शब्द की बात, तो उसे नागेश एव के अर्थ में जोड़ लेते हैं, इस प्रकार अखण्ड पाठ को चिन्त्य कह देते हैं ।

नागेश अदृष्टादि प्रयोजकों द्वारा अनुन्मीलित प्रतिभा का जो मूल रूप प्रतिभात्व है, उसे नहीं समझ सके, जबकि पण्डितराज के अनुसार प्रतिभात्व अखण्ड उपाधि है और प्रतिभा सखण्ड उपाधि है ।

सारांश

पण्डितराज के प्रतिभा विवेचन से निम्न तथ्य हमारे सामने आते हैं—

(1) काव्य का कारण केवल प्रतिभा है, प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास ये तीनों नहीं ।

(2) व्युत्पत्ति, अभ्यास तथा अदृष्ट ये प्रतिभा के उन्मीलन में हेतु हैं ।

(3) प्रतिभा का मूल रूप प्रतिभात्व है, जो वेदान्त के अनुसार अखण्ड उपाधि है, और न्याय दर्शन के अनुसार एक सिद्ध जाति विशेष है ।

(4) रमणीय अर्थों तथा तदनुरूप शब्दों की उद्भावना प्रतिभा का कार्य है ।

इस प्रकार पण्डितराज ने मीमांसा न्याय-वेदान्त इन तीनों दर्शनों का आश्र

लेकर काव्य कारणता प्रतिभा का विवेचन किया, जो अन्य आचार्यों की अपेक्षा सर्वथा मौलिक तथा उचित है ।

काव्य का वर्गीकरण

संस्कृत साहित्य में काव्य का वर्गीकरण कई दृष्टियों से हुआ है। भामह से आनन्दवर्धनाचार्य तक के प्राचीन आचार्यों का वर्गीकरण काव्य के बहिरङ्ग उपादानों या साधनों के आधार पर हुआ । इन आचार्यों ने काव्य के विषय, शैली या आकार को आधार मानकर गद्य, पद्य, चम्पू, मुक्तक, नाटक, कथा व आख्यायिका आदि भेदों का वर्णन किया है, और भाषा का आधार लेकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि काव्यभेदों का विवेचन किया है ।

यह सब ध्वनिपूर्वीय युग की बात है, बाद में ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने पर काव्य की आत्मा के विषय में काफी छानबीन हुई । इसी काव्यात्मा को केन्द्र बिन्दु मानकर, काव्य के प्रकारों का विभाजन होने लगा । काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि की घोषणा हुई, जिसके उद्भावक आचार्य आनन्दवर्धन थे । ध्वनि सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण योगदान से काव्य के वर्गीकरण का दृष्टिकोण भी परिवर्तित हुआ । अब काव्य के ये बहिरङ्ग आधार स्थूल समझे जाने लगे, तथा वास्तविक वर्गीकरण अन्तरङ्ग-तत्त्वों के आधार पर किया जाने लगा । ध्वनि सिद्धान्त का प्राणभूततत्त्व व्यञ्जना है, इसी व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति ही काव्य भेदों की प्रामाणिक आधार बनी । फलतः व्यङ्ग्यार्थ जन्य चमत्कार की उच्चावच्च या निम्नोन्नत परिस्थिति के आधार से काव्य के उत्तम, मध्यम, व अधम भेद स्वीकृत हुए ।

ध्वनि पूर्ववर्ती युग के काव्य विभाजन में, तथा ध्वनि पश्चात्वर्ती युग के काव्य विभाजन में महान् अन्तर हो गया । ध्वनि पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार सीधे सामान्य व स्थूल थे । वे विषय शैली, आकार, भाषा आदि के आधार पर काव्य का वर्गीकरण कर रहे थे । उनकी दृष्टि में व्यङ्ग्यार्थजन्य चमत्कार के उत्कर्षापकर्ष के मापने का कोई झञ्झट नहीं था । वे तो सीधे गुण व अलंकारादि से उपस्कृत शब्दार्थ को काव्य मानते थे जिसमें रस भावादि भी सब अलंकारों के ही अन्तर्गत आ जाते थे । उनके लिए तो केवल स्थूल आधार ही काव्य के विभाजन के आधार थे, जैसे रचना-शैली विषय इत्यादि भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक···इन आचार्यों का काव्य वर्गीकरण इस प्रकार है—

(1) **रचना की दृष्टि से**—(क) गद्य काव्य (ख) पद्य काव्य (ग) चम्पू काव्य (गद्य पद्य मिश्रित)

(2) **भाषा की दृष्टि से**—(क) संस्कृत (ख) प्राकृत (ग) अपभ्रंश

विषय वस्तु की दृष्टि से

(क) देवादिचरितशंसीवृत्त—प्रसिद्ध घटनाओं से सम्बद्ध ।
(ख) उत्पाद्य वस्तु—कल्पना प्रसूत कथानक वाले ।
(ग) कलाश्रय—विभिन्न कलाओं से सम्बद्ध ।
(घ) शास्त्राश्रय—विभिन्न शास्त्रों से सम्बद्ध ।

रचना-रूप-प्रकार की दृष्टि से

(क) सर्गबन्ध—पद्य काव्य
(ख) अनिबद्ध—मुक्तकादि
(ग) अभिनेयार्थ—रूपकादि
(घ) आख्यायिका—गद्यभेद
(ङ) कथा—गद्यभेद

पूर्वोक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि पूर्ववर्ती आचार्यों के वर्गीकरण के आधार बहिरङ्ग काव्य के स्थूल उपकरण ही थे । ये लोग शैली, विषय या रचना के विशिष्ट रूप को लेकर काव्य का वर्गीकरण करते थे । यद्यपि काव्यशास्त्र के इतिहास में इन वर्गीकृत आधारों का भी कम महत्त्व नहीं है और इनका भी अपना स्वतन्त्र व्यावहारिक उपयोग है, तथापि इनसे काव्य की मूल चेतना का अधिक परिचय नहीं मिलता है, अतः उक्त वर्गीकरण बाह्य एवं स्थूल ही है ।

ध्वनि परवर्ती युग

ध्वनि परवर्ती युग में ध्वनि सिद्धान्त के संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य की ही दृष्टि सर्वाधिक वैज्ञानिक तथा महत्वपूर्ण समझी गयी । इन्हीं के सिद्धान्तों का अनुसरण आगे के सम्प्रदायानुयायी आचार्यों ने किया । ध्वनिकार ने प्रधानतः काव्य के दो ही रूप स्वीकृत किये, ध्वनिकाव्य और गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य । इन दोनों भेदों से जो भिन्न है, वह तो "चित्रमात्र" है ।

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थितेः ।[1]
उभे काव्ये, ततोऽन्यत्तत् चित्रमित्यभिधीयते ।।

ध्वनिकार किसी वस्तु स्थिति पर ही इसका समर्थन करते हैं । उनका कहना है कि चिरन्तन कवियों की इस ओर प्रवृत्ति है, अतः इसका भी निर्देश कर देना हमारा कर्तव्य है, वस्तुतः वे चित्र काव्य की प्रशंसा नहीं करते । इधर विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन की इस उदासीनता को देखकर स्पष्ट रूप से ही चित्रकाव्य का निषेध

---

1. ध्वन्यालोक तृ० उ० 41 कारिका ।

कर दिया, इसका निराकरण करते हुए वे मम्मट की ओर आक्षेप करते हैं कि—**"केचित् चित्राख्यं तृतीयं भेदमिच्छन्ति यदाहुः—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्" इति तत्र"** ।[1]

विश्वनाथ के कहने का अभिप्राय यह है कि व्यङ्ग्य की दो ही स्थितियाँ हैं, एक प्रधान, दूसरी गौण । प्रथम स्थिति में ध्वनि काव्य होता है, और दूसरी स्थिति में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है । इसके अतिरिक्त कोई तीसरी स्थिति तो सम्भव ही नहीं है, और अव्यङ्ग्य या अस्फुटप्रतीयमान व्यङ्ग्य को काव्य कहना तो एक झमेले की बात है ।

परन्तु मम्मट तो समन्वयवादी आचार्य हैं । वे पूर्व उपलब्धियों को भी अपने काव्य सिद्धान्त में किसी न किसी प्रकार घसीटे हुये हैं । यह बात उनके काव्यलक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वाऽपि" से स्पष्ट ही प्रतीत होता है । इस प्रकार यदि ये गुण व अलंकारों की उपेक्षा करते जायेंगे, तब तो खुद अपने लक्षण को ही दोष ग्रस्त बनायेंगे । यद्यपि अलंकारों के लिए, उनके यहाँ इतनी अनिवार्यता नहीं है । परन्तु इस अंश की इतनी उपेक्षा भी नहीं है । अतः इनके मत में उत्तम, मध्यम गुणालंकार प्रधान अधम काव्य की भी मान्यता है ही ।

आनन्दवर्धन तो ध्वनि व गुणीभूतव्यङ्ग्य का निर्धारण कर चुके थे, साथ ही साथ वे अलंकार्य व अलंकार के बीच एक विभाजक रेखा भी खींच चुके थे । आगे उन्हें आशा भी थी प्राचीन कवियों ने तो उक्त व्यवस्था के अभाव में शब्दार्थ चित्रों में जैसा भी संरम्भ दिखाया हो, परन्तु एक नवीन मार्ग के निर्माण कर देने पर आगामी कविवर तो कम से कम उस घण्टापथ की ओर अग्रसर होंगे ।[2] परन्तु उनकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई । आगे के कवि लोग भी उसी संरम्भ के साथ भिन्न काव्य की ओर प्रवृत्त होते गये । अतः बाध्य होकर भी परवर्ती आचार्यत्व इच्छाऽनिच्छा वश इन सब मान्यताओं को स्वीकृति देता रहा, इसकी स्पष्ट झलक हमें मम्मट के काव्यलक्षण के "अनलंकृती पुनः क्वाऽपि" अंश में मिल जाती है । वस्तुस्थिति के अनुरोध से पण्डितराज को यह सब स्वीकार करना ही था, परन्तु एक संतुलित सीमा के साथ । पण्डितराज ने भी अपना काव्य भेदों की विश्लेषण ध्वनिवादी दृष्टि-कोण पर ही किया, परन्तु विवेचन की स्पष्टता, सूक्ष्मता व निर्णयात्मकता की दृष्टि

---

1. साहित्यदर्पण चतुर्थ परिच्छेद पृ० 264 ।

2. एतच्चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसतात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनाद-स्माभिः परिकल्पितम्, इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः, यतः परिपाकवतां कवीनां रसतात्पर्य-विरहे व्यापार एव न शोभते । (ध्व० तृ० उ० पृ० 422)

से आपका काव्य के प्रभेदों का वर्गीकरण अन्य आचार्यों की अपेक्षा मौलिक तथा विशिष्ट है ।

पण्डितराज व्यङ्ग्यार्थजन्य चमत्कार को ही काव्य के उत्कर्षापकर्ष में निर्णायक तत्त्व मानते हैं । इसी के आधार पर ये काव्य प्रभेदों की परिकल्पना करते हैं । इसी चमत्कार के न्यूनाधिक प्रकर्ष के प्रकाश में पण्डितराज काव्य के चार भेद मानते हैं...

(1) उत्तमोत्तम (2) उत्तम (3) मध्यम (4) अधम ।

उत्तमोत्तम काव्य

पण्डितराज जगन्नाथ का उत्तमोत्तम काव्य, ध्वनिकार का ध्वनि काव्य है, तथा आचार्य मम्मट का उत्तम काव्य है । पण्डितराज के अनुसार उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण इस प्रकार है...

"शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्" ।

अर्थात् शब्द व अर्थ जहाँ अपने को अप्रधान बनाकर किसी चमत्कारिक अर्थ की अभिव्यञ्जना करते हैं, वह काव्य आद्य अर्थात् उत्तमोत्तम काव्य है ।

इस उत्तमोत्तम कोटि के काव्य में रसभावादि समस्त ध्वनियाँ सम्मिलित हैं । वस्तु तथा अलंकार ध्वनियाँ भी इसी काव्य में समाविष्ट हैं । इस उत्तमोत्तम काव्य की दो शर्तें खास हैं—एक तो व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होना, दूसरी व्यङ्ग्य चमत्कार का स्तर भी उत्कृष्ट होना चाहिए । साथ ही साथ पण्डितराज ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जो गुणीभूतव्यङ्ग्य वाच्य-वाचक से प्रधान हो, पर किसी अन्य रसादि के प्रति गौण हो । चमत्कार का आधार होता हुआ ऐसा गुणीभूतव्यङ्ग्य भी उत्तमोत्तम कोटि के काव्य में ही रखा जायेगा जबकि मम्मट आदि आचार्यों ने ऐसे काव्य को द्वितीय श्रेणी में रखा है ।

उत्तम काव्य

पण्डितराज जिसे उत्तम काव्य कहते हैं, अर्थात् द्वितीय श्रेणी का काव्य कहते हैं, इस काव्य को ध्वनिकार आनन्दवर्धन गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य कहते हैं, तथा आचार्य मम्मट इसी काव्य को मध्यम काव्य कहते हैं । पण्डितराज के शब्दों में इसका लक्षण इस प्रकार है—

"यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकरणं तद्द्वितीयम्" । अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्य अप्रधान होते हुए भी चमत्कारी होता है, वहाँ उत्तम काव्य होता है ।

यद्यपि इन प्रथम व द्वितीय भेदों में व्यङ्ग्य की पूर्ण जागरूकता रहती है, तथापि व्यङ्ग्यार्थ के प्रधानाप्रधानभाव के कारण दोनों के चमत्कार में भी अन्तर

होना स्वाभाविक है । अतः चमत्कार की अनुभूति के आधार पर उक्त विभाजन सम्पन्न हुआ है ।

उत्तम काव्य के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने एक और महत्त्वपूर्ण बात कही है, वह है अर्थालंकारों के विषय में कि इन अर्थालंकारों को किस कोटि में रखा जाय, सामान्यतः अर्थालंकारों को चित्र नामक अधम कोटि के काव्य में ही रखा जाता है, परन्तु पण्डितराज अर्थालंकारों की अर्थभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी इस पर एक विवेचनात्मक दृष्टि भी डालते हैं ।

अलंकारों के तीन रूप

प्रायः अलंकारों के हमारे सामने तीन रूप आते हैं ।

(1) ध्वन्यमान अलंकार

जहाँ अलंकार प्रधानतया ध्वनित होते हैं, ये अलंकार वस्तुतः किसी के अलंकार नहीं होते हैं, अपितु स्वयं अलंकार्य होते हैं ।

(2) जागरूक-गुणीभूतव्यङ्ग्य अलंकार

कुछ अलंकार ऐसे हैं, जिनमें गुणीभूतव्यङ्ग्य जागरूक रहता है, जैसे—समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति इत्यादि । इनमें यद्यपि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ गौण—अप्रधान रहता है, परन्तु वह जागरूक रहता है, जबकि रूपक, दीपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में गुणीभूतव्यङ्ग्य की स्थिति उतनी जागरूक नहीं रहती है । यद्यपि दीपकादि में भी उपमा या साम्य व्यङ्ग्य रहता है, परन्तु उसकी अपनी कोई स्थिति नहीं है । उस व्यङ्ग्य की अपेक्षा वहाँ वाच्यार्थ में ही अधिक चमत्कार रहता है न कि व्यङ्ग्यार्थ में । इस प्रकार प्रथम वर्ग के ध्वन्यमान अलंकार तो मम्मटादि के अनुसार उत्तम काव्य में, पर पण्डितराज के अनुसार उत्तमोत्तम काव्य के अन्तर्गत आते हैं । दूसरे या तीसरे वर्ग के अलंकारों के लिए, जिनको कि जागरूक गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा अजागरूक गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा जाता है, उनके लिए मम्मट के यहाँ कोई व्यवस्था नहीं है । पण्डितराज ने उक्त जागरूक गुणीभूतव्यङ्ग्य अलंकारों को उत्तम काव्य के अन्तर्गत रखा, तथा अजागरूक गुणीभूतव्यङ्ग्य वाले अलंकारों को मध्यम काव्य के अन्तर्गत रखा । पण्डितराज के उक्त विवेचन से अलंकार वर्ग अधिक व पूर्ण व्यवस्था को प्राप्त हुआ है । जबकि चित्र काव्य का विश्वनाथ नाम तक नहीं लेना चाहते हैं, और मम्मट जिसे अवर नामक अधम काव्य में लाकर बैठा देते हैं । पण्डितराज अपने मार्मिक विवेचन के द्वारा उक्त अलंकारों को उत्तम काव्य की कोटि में बैठने तक का गौरव प्रदान करते हैं । अलंकारवाद के साथ इतना सहानुभूतिपूर्ण न्याय कोई अन्य ध्वनिवादी नहीं कर सका था ।

मध्यम काव्य

"यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्" अर्थात् जहाँ वाच्य चमत्कार से व्यङ्ग्य चमत्कार हीन होता है, उसे मध्यम काव्य कहते हैं।

इस काव्य भेद में व्यङ्ग्य की स्थिति गुणीभूत एवं अजागरूक रहती है। यद्यपि यह भेद अजागरूक गुणीभूत व्यङ्ग्य वाले अलंकारों के प्रकारों के लिए है, फिर भी इसमें अलंकारों के वे भेद भी लिए जायेंगे, जिनमें अर्थ चमत्कार तथा शब्द चमत्कार समान स्तर का है।

अधम काव्य

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अधम काव्य चतुर्थ श्रेणी का काव्य है, जिसमें मम्मट के अधम काव्य का केवल एक अंश अर्थात् "शब्द चित्र" मात्र आता है।

पण्डितराज के शब्दों में इसका लक्षण इस प्रकार है—

"यत्र-अर्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्"।

अर्थात् जहाँ अर्थ चमत्कार से उपस्कृत शब्द चमत्कार ही प्रधान होता है, वह शब्द चित्र "अधम" नामक चतुर्थ काव्य भेद होता है। इस प्रकार के काव्य में अर्थ चमत्कार का योगमात्र रहता है, पर प्रधानता शब्द चमत्कार में ही रहती है। अतः यह अधम नामक चतुर्थ श्रेणी का काव्य है। यह यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकार प्रधान काव्य है।

यद्यपि केवल शब्द प्रधान और अर्थालंकार—चमत्कार-शून्य "अधमाधम" नामक पञ्चम प्रकार का भी काव्य भेद हो सकता है, परन्तु वह काव्य लक्षण की सीमा से परे होने के कारण काव्य भेदों की गणना से बहिष्कृत है। क्योंकि पण्डितराज स्वयं काव्य का लक्षण—"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" ऐसा कर चुके हैं। अतः काव्य कहलाने के लिए उक्त अर्थ चमत्कार का योग भी अति आवश्यक है, इसीलिए पञ्चम प्रकार के अधमाधम नामक प्रकार को काव्य की कोटि में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है। यद्यपि कवियों ने इस प्रकार के भी काव्यों का निर्माण किया है, जहाँ अर्थ चमत्कार नाममात्र को भी नहीं है, केवल शब्द की ही झन्कार है। जैसे—एकाक्षरी पद्य, अधोवृत्ति यमक और पद्मबन्धादि रचनायें, परन्तु यह वस्तुस्थिति का सम्पूर्णरूप नहीं है, अतएव पण्डितराज के मत में काव्य के चार ही भेद अभीष्ट हैं।

उत्तमोत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य के भेद

पण्डितराज ने काव्य के चार भेद किए हैं, जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है। इन भेदों में उत्तमोत्तम काव्य सर्वप्रथम भेद है, जिसे ध्वनि काव्य के नाम

से भी कहा जाता है, इसके अन्तर्गत रस भावादि सभी प्रकार की ध्वनियाँ आ जाती हैं, फलतः इस उत्तमोत्तम काव्य के अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं, इसे भेदीकरण प्रवृत्ति से ध्वनिकाव्यों की संख्या भी बहुत आगे बढ़ जाती है, जो आज के युग में उपेक्षीय भी समझी जाती है। पण्डितराज ने भी उक्त भेदीकरण प्रवृत्ति में अपनी अरुचि सी दिखलाई। इस प्रकार प्रपञ्च के विस्तार के लिए उन्होंने अपनी शक्ति व शब्द कोष का व्यय नहीं किया। फलतः पण्डितराज ने ध्वनि काव्य के अतिविस्तार के अतिवाद को समेट कर केवल पाँच प्रकार की ध्वनियों को ही मुख्य समझा। रस विवेचन के प्रसङ्ग में स्वयं वे कहते हैं—

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासंख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते— द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च, तत्राद्यस्त्रिविधः। रसवस्त्वलंकार-भेदात्। रसध्वनिरित्यलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रसभावतदाभासभावशान्तिभावोदय भावसन्धिभावशबलत्वानां ग्रहणम्। द्वितीयश्च द्विविधः— अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च।[1]

यद्यपि उत्तमोत्तम—ध्वनिकाव्य के असंख्य भेद हैं, फिर भी कुछ आवश्यक भेदों का निरूपण करेंगे। सर्वप्रथम ध्वनि दो प्रकार का है, अभिधामूलाध्वनि व लक्षणामूलाध्वनि। प्रथम अभिधामूलाध्वनि रस, वस्तु व अलंकार के भेद से तीन प्रकार का है। रसध्वनि यहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का भी उपलक्षण है, अतः रसभावादि सारे भेद उक्त ध्वनि के अन्तर्गत समझे जायेंगे। द्वितीय लक्षणामूला ध्वनि भी दो प्रकार की है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि। यह सब मिलकर पाँच प्रकार की ध्वनि हुई। अतः पण्डितराज के अनुसार उक्त उत्तमोत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य के भेद सामान्यतः पाँच ही प्रकार के हुए, सुविधा के लिए जिनका चित्र प्रस्तुत किया जाता है।

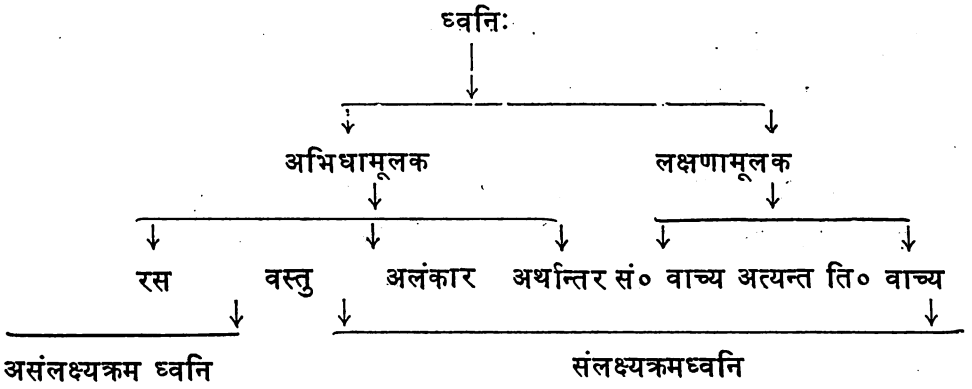

1. रसगङ्गाधर प्र० आ० रस प्रकरण।

असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम

यद्यपि ध्वनिवादी परम्परा में रसभावादि सभी ध्वनियाँ असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के अन्तर्गत आती हैं, परन्तु पण्डितराज ने रस भावादि ध्वनियों को भी एकान्ततः असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ही नहीं माना है, जहाँ विभावादि की प्रतीति लक्षित हो रही हो, या विचार वेद्य प्रकरण हो। ऐसी स्थिति में पण्डितराज का स्पष्ट कथन है कि उक्त रसादि ध्वनि भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत आ सकती हैं। कुछ अंश में इसका संकेत स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य भी कर चुके थे, परन्तु परवर्ती ध्वनिवादियों ने जिनमें आचार्य मम्मट व विश्वनाथ प्रमुख हैं अपने प्रौढ़िवाद के अनुसार रसादि ध्वनियों को असंलक्ष्यक्रम के ही अन्तर्गत माना है।

इस विषय में पण्डितराज आनन्दवर्धन के अनुकूल हैं। अभिधामूला ध्वनि के वस्तु व अलंकारमूलक ध्वनि भी संलक्ष्यक्रम के ही अन्तर्गत हैं। लक्षणामूला ध्वनि के जो अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक दो भेद हैं, वे भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के ही अन्तर्गत हैं। पण्डितराज ने रसगङ्गाधर के द्वितीय आनन में इसका स्पष्ट निर्देश किया है।

असंलक्ष्यक्रम-रसादि ध्वनि के उपभेद

यद्यपि रसभावादि ध्वनियों के भेद गणना अनन्त हो सकती है, क्योंकि भाव लहरियों के नानास्पन्दनों के विस्तार का वर्णन आकर ग्रंथों में पाया जाता है। इनके प्रत्येक प्रकार की परिगणना करना तो असंभव है, अतः सामान्यतः रसादि का एक ही भेद दिखलाया है। स्वयं काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का भी यही कथन है—

"रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते"।[1]

इसीलिए पण्डितराज भी उक्त गणनातीत भेदों के झमेले में नहीं जाना चाहते हैं। फिर भी व्यञ्जकों की दृष्टि से इसके छः भेद होते हैं—

(1) पदगत (2) वाक्यगत (3) प्रबन्धगत (4) पदांशगत (5) रचनागत (6) वर्णगत।

"तदित्थं निरुपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पद-वर्ण-रचना-वाक्य-प्रबन्धैः पदैकदेशैरवर्णात्मकरागादिभिश्चाभिव्यक्तिमामनन्ति"।[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पण्डितराज पूर्वाचार्यों के आशयानुसार व्यञ्जकों

---

1. काव्यप्रकाश 4 उल्लास 57 सूत्र।
2. रसगङ्गाधर प्र० आ० रसप्रकरण।

की चर्चा भर कर रहे हैं, इनके आधार पर किन्हीं भेदोपभेदों को प्रोत्साहन नहीं दे रहे हैं। यद्यपि रचना एवं वर्ग तो पद व वाक्य के ही अन्तर्गत आ सकते हैं, और यह कहा जा सकता है कि रचना तथा वर्ण से युक्त पद व वाक्य ही व्यञ्जक होते हैं, स्वतन्त्रतया वर्ण व रचना नहीं, वे तो व्यञ्जकतावच्छेदक कोटि में ही प्रविष्ट हैं। अर्थात् व्यञ्जकों के विशेषण की श्रेणी में केवल रहने वाले हैं, तथापि आस्वाद वैचित्र्य के कारण उन्हें विशेषण व विशेष्य उभय कोटि में रख देते हैं। अर्थात् रचना व वर्ण से युक्त पद व वाक्य व्यञ्जक हैं, अथवा पद व वाक्य से युक्त रचना व वर्ण व्यञ्जक हैं।

रचना वर्णानां पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जकतावच्छेदककोटि—प्रविष्टत्वमेव, न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रचना-विशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहणे घटादौ दण्डचक्रादेः कारणत्वस्यैव प्रत्येकमेव व्यञ्जकतायाः सिद्धिरिति प्राञ्चः।[1]

यह तो सब प्राचीन मान्यता के अनुसार प्रत्युपस्थापन की बात है, परन्तु पण्डितराज की स्वयं अपनी इस विषय में मान्यता कुछ भिन्न है—

वे कहते हैं कि वर्णविशेष व रचना विशेष माधुर्य आदि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं, उन गुणों के आश्रयीभूत रसों के नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से एक तो व्यर्थ रसादिकों के व्यञ्जकों की संख्या बढ़ती है, दूसरा इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है—

"वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न तु रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावात्"।[2]

गुण विवेचन के प्रसङ्ग में स्वयं पण्डितराज कहते हैं कि गुण रसमात्र के धर्म नहीं है, वे तो द्रुत्यादि-चित्र-वृत्ति के प्रयोजक हैं, तथा यह प्रयोजकता रस के ही समान शब्द, अर्थ, एवं रचना में भी रह सकती हैं, अतः पण्डितराज के अनुसार वर्ण व रचना का सम्बन्ध रसाभिव्यञ्जन की अपेक्षा सीधे गुणाभिव्यञ्जन से है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद

आचार्य मम्मट ने संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि के कुल एकतालीस (41) भेद माने हैं, जिनमें चार शब्दशक्तिमूलक के और छत्तीस (36) अर्थशक्तिमूलक के तथा एक भेद (1) उभयशक्तिमूलक का होता है, इस प्रकार मम्मट के अनुसार इन भेदों की संख्या एकतालीस है जिसका वर्गीकरण इस प्रकार है—

---

1. रसगङ्गाधर प्र० आ० रसप्रकरण।
2. रसगङ्गाधर प्र० आ० रसप्रकरण।

1—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि—वस्तु एवं अलंकार रूप होने से दोनों पद तथा वाक्यगत होंगे, इस प्रकार कुल भेद चार हुए ।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि—वस्तु एवं अलंकार रूप ध्वनि स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्ति तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति इन तीन भेदों से वस्तु तथा अलंकार परस्पर अभिव्यक्त होने पर प्रत्येक के चार रूप होंगे । इस प्रकार तीनों भेदों के मिला देने से बारह प्रकार के बन जायेंगे । वे बारह भेद पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगत होने से पुनः छत्तीस प्रकार के होंगे ।

इधर उभय शक्तिमूलक ध्वनि का एक ही भेद है । सब मिलाकर एकतालीस भेद हुए ।

परन्तु पण्डितराज को अभिधामूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के इतने भेद स्वीकार्य नहीं हैं । वे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के केवल वस्तु अलंकाररूप दो ही ध्वनि मानते हैं, और अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के केवल आठ भेद ही मानते हैं, तथा उभय-शक्तिमूलक ध्वनि का एक भेद । इस प्रकार सब मिलाकर संलक्ष्यक्रमध्वनि के केवल ग्यारह भेद ही उन्हें मान्य है ।

मम्मटादि आचार्यों की तरह वे कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति नामक अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि के अतिरिक्त भेद को स्वीकार नहीं करते हैं । अतएव तन्मूलक चार भेदों के कम हो जाने से अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के भेद केवल आठ ही हुए । कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध इन भेदों में पण्डितराज विशेष अन्तर नहीं मानते । अतएव उक्त दोनों भेदों की एकता ही पण्डितराज को मान्य है, क्योंकि अर्थ दो ही प्रकार का हो सकता है, (निसर्गसिद्ध) स्वतःसम्भवी व (कवि-कल्पनाप्रसूत) कविप्रौढोक्तिसिद्ध ।

यह कविकल्पित अर्थ फिर चाहे साक्षात् कवि के द्वारा प्रस्तुत किया जाय या कविनिबद्ध किसी पात्र के द्वारा प्रस्तुत किया, वह तो कल्पित ही होगा इसमें कोई विशेष फर्क नहीं होता है । द्वितीय आनन के प्रारम्भ में वे स्वयं इस बात को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"प्रतिभा निर्वर्तित्वाविशेषाच्च कवि तदुम्भित वक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयो न पृथक् भावेन गणनोचिता"।

वस्तुतः ध्वनिकार आनन्दवर्धन भी दो ही रूप मानते हैं—कविप्रौढोक्ति तथा स्वतःसम्भवी—

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥[1]

---

1. ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत 2.24

यह तीन भेद तो अभिनवगुप्त को अपनी व्याख्या के बल पर प्राप्त हुए—
"प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमात्-कवेरिति, तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति"[1] इत्यादि।

इसी प्रकार वे लक्षणामूलक ध्वनियों के भी केवल छः ही प्रकार मानते हैं, जिनमें से चार का प्रयोग अलंकार में तथा दो का ध्वनि में होता है।

लक्षणा		उपयोग
1. गौणीसारूपा	—	रूपकालंकार में।
2. गौणीसाध्यवसाना	—	अतिशयोक्ति अलंकार में।
3. शुद्धा सारोपा	—	हेतु अलंकार में।
4. शुद्धा साध्यवसाना	—	हेतु अलंकार में।
5. लक्षणलक्षणा	—	अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में।
6. उपादान लक्षणा	—	अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि में।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार ध्वनि भेदों की संकलना इस प्रकार है।

1. अभिधामूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद		11
2. लक्षणामूलक ,, ,, ,,		2
3. असंलक्ष्यक्रम ध्वनि भेद		1
कुल योग	=	14

इस प्रकार पण्डितराज ने ध्वनियों की अनावश्यक संख्या को हटाकर ध्वनि सिद्धान्त को और भी अधिक व्यावहारिक बना दिया।

रसस्वरूप विवेचन

रस स्वरूप के विवेचन के अवसर पर पण्डितराज ने करीब ग्यारह मतों का निर्देश किया है। प्रथम दो मतों में पण्डितराज ने उनके प्रस्तावक आचार्यों का नाम निर्देश किया है, अर्थात् प्रथम मत के उपस्थापन के प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त व मम्मट का नाम लिया है, और द्वितीय मत के उपस्थापन के अवसर पर भट्ट नायक का नाम लिया है। शेष नौ मतों के सम्बन्ध में यह नहीं बतलाया कि उनके उपस्थापक आचार्य कौन हैं।

पण्डितराज के द्वारा प्रस्तुत ग्यारह मत इस प्रकार हैं—

(1) अभिनवगुप्त व मम्मट के स्वारस्य से निर्दिष्ट अभिव्यक्तिवादी मत।

---

1. ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत लोचन 2.24

(2) आचार्य भट्टनायक का भुक्तिवादी मत ।
(3) प्रथम नव्यमत (अनिर्वचनीय ख्याति वादी) ।
(4) द्वितीय नव्यमत (अन्यथा ख्यातिवादी) ।
(5) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवादी मत ।
(6) शंकुक का अनुमितिवादी मत ।
(7) विभावादि समुदितवादी मत ।
(8) तीनो में से जो ही चमत्कारी हो वही रस है ।
(9) भाव्यमान विभावादि ही रस है ।
(10) भाव्यमान अनुभाव ही रस है ।
(11) भाव्यमान व्यभिचारी ही रस है ।

रस शब्द का अर्थ

साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त यह रस शब्द प्रमुखतया चार अर्थों में व्यवहृत हुआ है—

(1) रस—काव्यानन्द, जिसके लिए रस्यते आस्वाद्यते इति रसः ऐसी व्युत्पत्ति है । रस शब्द का यह व्यापक प्रयोग है । इसे शब्द प्रतिपादित सौन्दर्यानुभूतिजन्य आह्लाद मात्र का पर्यायवाची समझना चाहिए । इस काव्यजन्य आह्लाद को हम सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—1. भावात्मक आनन्द, 2. कल्पनात्मक आनन्द, 3. बौद्धिक आनन्द, इस अर्थ में यह रस शब्द इन सभी प्रकार के आनन्दों को समेट लेता है ।

(2) रस शब्द का दूसरा अर्थ रस ध्वनि है । ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि तीन प्रकार की होती हैं ।

(1) रस ध्वनि (2) अलंकार ध्वनि (3) वस्तु ध्वनि ।

ये तीनों प्रकार की ध्वनियाँ उत्तमोत्तम काव्य या ध्वनि काव्य के अन्तर्गत आ जातीं हैं ।

इनमें प्रथम जो रस ध्वनि है, उसमें समस्त भावात्मक आनन्द आ जाता है, रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, व भावशबलता नामक ध्वनियाँ इसी रस ध्वनि के अन्तर्गत आ जाती हैं ।

इसमें भावात्मक आनन्द के तीन रूप परिलक्षित होते हैं—

(1) व्यञ्जित स्थायी भावों का आनन्द ।
(2) व्यञ्जित सञ्चारी भावों का आनन्द ।
(3) व्यञ्जित स्थायी तथा संञ्चारी भावों का आभासात्मक आनन्द ।

इन सभी प्रकार की भावात्मक अनुभूतियों को ध्वनि सिद्धान्त "रस ध्वनि" वर्ग में रखता है और इस वर्ग के लिए भी "रस" शब्द का प्रयोग करता है।

(3) रस शब्द का तीसरा अर्थ है—प्राधान्येन व्यञ्जित स्थायी भाव मात्र।

यहाँ रस शब्द का यह पारिभाषिक प्रयोग है। इस अर्थ में शृंगार, करुण, हास्य, वीर, भयानक, वीभत्स, रौद्र, अद्भुत, शान्त, ये नौ रस समझे जाते हैं। ये सब विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यञ्जित होकर स्थायी भाव—"रस" कहलाते हैं। यहाँ इस प्रकार के रस शब्द के प्रयोग में केवल व्यञ्जित स्थायी भावों का ही आनन्द समझा जाता है।

(4) रस शब्द का चौथा अर्थ है, स्थायी भाव जब रसों का परस्पर विरोध या अङ्गाङ्गिभाव की चर्चा की जाती है, तब रस शब्द से पूर्णघनानन्द अखण्ड रस नहीं ग्रहण किया जाता है, अपितु उससे "स्थायी भाव मात्र" या "रत्यादि" ही समझा जाता है। प्रायः सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने इन्हीं चार अर्थों में रस शब्द का प्रयोग किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इन्हीं सब अर्थों में रस शब्द का व्यवहार किया है। तथा रस स्वरूप विवेचन की भूमिका इस प्रकार प्रारम्भ की है—

"एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मां रसस्तावदभिधीयते"—

इससे पूर्व पण्डितराज ने उत्तमोत्तम ध्वनि के प्रमुख पाँच भेदों का परिचय दिया है। ये भेद हैं—अभिधामूला ध्वनि के तीन भेद रसध्वनि, अलंकारध्वनि व वस्तुध्वनि। लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद—अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि। इन पाँचों भेदों में रस ध्वनि ही परम रमणीय है। इस रस ध्वनि की आत्मा जो रस है, उसी के स्वरूप का हम यहाँ विवेचन प्रस्तुत करेंगे—

"समुचितललितसन्निवेश चारुणा काव्येन समर्पितैः"[1] इत्यादि प्रकरण द्वारा पण्डितराज के अनुसार प्रमाता के अपने आत्मचैतन्य के ही स्वरूपभूत आनन्द के साथ गोचर किये गये, अपने ही वासना रूप में निहित रत्यादि स्थायीभाव ही रस हैं।

तात्पर्य यह है कि रति, शोक, भय आदि स्थायीभाव जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों के फलस्वरूप हमारे अन्तःकरण में वासना रूप में निविष्ट रहते हैं।

---

1. रसगङ्गाधर प्र० आ० रस प्रकरण।

जब-जब इनकी उद्‌बोधक सामग्री जुट जाती है, ये उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। काव्य सामग्री के द्वारा एक विशिष्ट रूप में उद्‌बुद्ध ये ही स्थायी भाव रस रूप में परिणित हो जाते हैं। पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

"प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्निविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः"।[1]

काव्य के संविधान में दो ऐसी प्रमुख विशेषतायें होती हैं, जो सहृदय प्रमाता को प्रभावित करती हैं। ये हैं—औचित्य एवं लालित्य। काव्य के सन्निवेश में औचित्य पहली शर्त है। शब्द तथा अर्थ के किसी धरातल का औचित्य प्रमाता की चेतना को किसी विषयवासना में लीन नहीं होने देता है। औचित्य के ही समान लालित्य भी काव्य की प्रभविष्णुता के लिए अनिवार्य तत्त्व है। अभिनवगुप्त के अनुसार इसी लालित्य से प्रमातृचेतना सांसारिक भावभूमि के झञ्झटों से ऊपर उठने का अवसर प्राप्त करती है। औचित्य एवं लालित्य दोनों काव्य की वे विषय पक्षीय आवश्यकतायें है, जो सहृदय को यथार्थ के संकुचित धरातल से उठाकर कल्पना के रमणीय धरातल पर पहुँचाने में सहायता करते हैं।

अभिनव ने जो रस प्रतीति के कई प्रकार के विघ्नों का उल्लेख किया है, उनमें से कई के निवारण का श्रेय अभिनय संविधान के ललित उपकरणों को ही है। काव्य में यह स्थान शब्दार्थ संविधान के औचित्य को एवं लालित्य को प्राप्त है। इस समुचित एवं ललित सन्निवेश से चारु काव्य के द्वारा समर्पित किए गए ही विभावादि सहृदय में पूर्ण विभावन की क्षमता प्राप्त कर पाते हैं। सन्निवेश चारुता अनुभूति की विषयपक्षीय आवश्यकता है, किन्तु प्रमाता में जब तक "सहृदयता" नहीं होगी, तो वह काव्य चारुत्व भी किसी काम का नहीं। निर्मल दर्पण में ही पदार्थ प्रतिफलित हो सकते है, काष्ठ भित्ति अथवा पाषाण में नहीं। सहृदय-संवाद की भूमि में ही विभावादि सामग्री लोकोत्तर रूप होकर रसोपयोगिनी बनती है,[2] इस प्रकार काव्य चारुत्व की विषय पक्षीय ग्राह्यता तथा सहृदय की विषयि पक्षीय ग्राहकता, दोनों से प्रमाता की चेतना में एक भावना विशेष उद्‌बुद्ध होती है। आधुनिक भाषा में जिसे "सामाजिक की कल्पना शक्ति क्रियाशील हो जाती है", कह सकते हैं।

इसी भावना विशेष की कृपा से विभावादि का साधारणीकरण सम्भव होता है, जिसे पण्डितराज ने इस प्रकार कहा है—

---

1. रस गङ्गाधर प्र० आ० रस प्रकरण।
2. "तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तर रूपस्यात्" ध्वन्या० लो० हि० उ०।

"तदीय सहृदयता सहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिक विभावानुभाव व्यभिचारि शब्दव्यपदेश्यैः" इत्यादि[1]।

संसार के व्यवहार में जिन नायिकादि को हम कारण, कार्य व सहकारी कारण कहते हैं, काव्यक्षेत्र में उन्हें विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के नाम से कहा जाता है। कारण स्पष्ट है कि काव्य द्वारा समर्पित एवं सहृदय की सहृदयता से गृहीत, उसकी कल्पना भूमि में उपस्थित होकर, वे उसके भाव जागरण के विषय में कारण कार्य सम्बन्ध से काम नहीं आते अपितु विभावन, अनुभावन एवं संचारण का काम करते हैं। यही इनकी अलौकिकता है, लोक-भिन्नता है।

इस लोकभिन्नता का प्रमुख कारण है, इन विभावादियों का साधारणीकृत रूप में उपस्थित होना, काव्यचारुत्व, सहृदय की अपनी सहृदयता, एवं उसकी उद्‌बुद्ध कल्पना, शक्ति की महिमा से सहृदय के मानसपटल पर उपस्थित ये विभावादि अपने विशेष सम्बन्धों से रहित हो जाते हैं, इसीलिए तो पण्डितराज लिखते हैं—**"चारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयै प्रविष्टैस्तदीयसहृदयता सहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिः"** इत्यादि।

इस प्रकार की उक्त विभावादि सामग्री समुदाय के सम्मिलित अलौकिक व्यापार द्वारा या इस अलौकिक प्रक्रिया से प्रमाता के आनन्द स्वरूप चैतन्य पर पड़े हुए अज्ञान को आवरण का आंशिक रूप से विगलन हो जाता है। भग्नावरण चित् विशिष्ट प्रमाता के द्वारा गोचरीभूत रत्यादि ही रस कहलाते हैं। जैसा कि मम्मट ने भी कहा है **"व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रस स्मृतः"**।

मम्मट के व्यक्तिवाद की व्याख्या

जैसा कि रस स्वरूप के विवेचन के प्रसङ्ग में आचार्य मम्मट का कथन था कि "व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः" विभाव अनुभाव संचारी भावों से अभिव्यक्त हुआ स्थायी रत्यादि ही रस है। मम्मट इस अभिव्यक्तिवाद की पण्डितराज वेदान्त दर्शनानुसार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। यहाँ "व्यक्तः" का अर्थ है "व्यक्ति का विषय बनना" (अर्थात् रत्यादि को व्यञ्जना व्यापार का विषय बनना) काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर का भी अभिप्राय इसी प्रकार का है, उन्होंने लिखा है—"व्यक्तः, व्यञ्जनावृत्त्या प्रतिपादितः" इत्यादि। परन्तु विश्वनाथ के अनुसार "व्यक्तः" का अर्थ है "व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो, न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो

---

1. रसगङ्गाधर प्र० आ० रसप्रकरण।

व्यज्यते"[1] अर्थात् दूध जैसे दही के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार रत्यादि स्थायी का रस रूप में परिणाम होता है, न कि पूर्व सिद्ध घटादि की तरह दीपक से अभिव्यक्ति होती है ।

परन्तु पण्डितराज ने उक्त 'व्यक्तः पद की वेदान्त परक व्याख्या इस प्रकार की है—**"व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः, व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्, यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितरत्यादीन्**"[2] व्यक्त का अर्थ है वह चैतन्य जिसका आवरण भंग हो चुका है, अर्थात् 'भग्नावरण चित्' जिस प्रकार एक दीपक किसी सकोरे से ढका होने के कारण न तो स्वयं प्रकाशित हो सकता है, और न किसी समीपस्थ पदार्थ को ही प्रकाशित कर सकता है, इसी प्रकार की अज्ञानावृत्त चैतन्य की स्थिति है । दीपक के ऊपर से सकोरा हटा देने से, दीपक स्वयं भी प्रकाशित होगा, और समीपस्थ पदार्थों को भी प्रकाशित करेगा । ठीक उसी प्रकार अलौकिक काव्य व्यापार द्वारा जब चैतन्य पर पड़ा हुआ अज्ञानावरण दूर हो जाता है, तब वह आत्मचैतन्य अपने वास्तविक प्रकाश से स्वयं प्रकाशित हो जाता है । तथा विभावादि संवलित रत्यादि को भी प्रकाशित करता है, रत्यादि की इसी प्रकाशमयी स्थिति को हम "रस" कहते हैं ।

व्यक्त या व्यक्ति का यह प्रकाशमय रूप अर्थ न तो मम्मट की व्याख्या में है, और न विश्वनाथ ही इसकी उचित व्याख्या कर सके हैं । पण्डितराज ने इसके रहस्य को वेदान्त की मर्मज्ञता के सहारे स्पष्ट किया । व्यक्ति की व्याख्या में बतलाया गया है कि चैतन्य के अज्ञानावरण निवृत्त होते ही चैतन्य स्वयं भी प्रकाशित होता है, और विभावादि संवलित रत्यादि को भी प्रकाशित करता है ।

यहाँ एक आशंका यह है कि रत्यादि तो वासनारूप होने से अन्तःकरण के धर्म हुए, क्योंकि ये सब अन्तःकरण में विद्यमान रहते हैं, अतः आत्मचैतन्य द्वारा इनका प्रकाशन तो ठीक ही है परन्तु बाह्य धर्म, अर्थात् अन्तःकरण में अविद्यमान विभावादि का आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाशन असंभव है, तब आपने कैसे कहा कि विभावादि संवलित रत्यादि को आत्मचैतन्य प्रकाशित करता है । वेदान्ती पण्डितराज के पास इसका बड़ा सरल समाधान है— जैसे स्वप्न में देखा गया घोड़ा बाह्य पदार्थ, अर्थात् अन्तःकरण का धर्म न होता हुआ भी साक्षिभास्य माना जाता है, और जाग्रत अवस्था में युक्ति में आभासित होने वाला रजत अविद्यमान होते हुए भी साक्षिभास्य होता है, अर्थात् तत्तत्

---

1. साहित्यदर्पण तृ० परिच्छेद, रस प्र० ।
2. रस गङ्गाधर प्र० आ० रसप्रकरण ।

अवस्था में उन उन वस्तुओं के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध न होते हुए, भी उन वस्तुओं को केवल साक्षिभास्य ही माना जाता है, इसी प्रकार विभावादि पदार्थों को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं। अर्थात् शकुन्तला आदि विभाव भी भावनारूढ़ होने पर वास्तविक न होते हुए, काल्पनिक ही हैं, पर उस अवस्था में उस सब का मान भी आत्मचैतन्य से ही हो सकता है, बाह्य इन्द्रियों से नहीं। पण्डितराज के शब्दों में यह बात इन शब्दों में है—**"अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाप्युपगतेः, विभावादीनां स्वप्नतुरंगादीनाभिवं रङ्गरजतादीनामिव साक्षिभास्यत्वंमविरुद्धम्"**।[1]

यह आवरणभंग भी व्यञ्जक विभावादि चर्वणा ही है। जब तक यह चर्वणा रहती है, तभी तक आवरणभंग भी रहता है, चर्वणा के समाप्त होते ही, वह आवरणभंग भी समाप्त हो जाता है, इसीलिए उत्पत्ति विनाश भी रस के लिए औपचारिक हैं, इनका वास्तविक सम्बन्ध तो चर्वणा के साथ है।

अभिनवगुप्त के "तन्मयीभवन" की व्याख्या

रस स्वरूप विवेचन के प्रसङ्गों में अभिनवगुप्त पादाचार्य ने "तन्मयीभवनम्" के सिद्धान्त की चर्चा बहुत जगह की है। अभिनव की व्याख्या में इस तन्मयीभवन सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है। अभिनव ने शैवदर्शन के प्रकाश में इसकी व्याख्या की है, परन्तु पण्डितराज यहाँ अभिनव के इस सिद्धान्त की वेदान्त परक व्याख्या करते हैं। पण्डितराज अभिनव के इस तन्मयीभवन सिद्धान्त को रसगङ्गाधर में वैकल्पिक रूप से प्रस्तुत करते हैं। मूल सिद्धान्त यद्यपि वही है, जो अभिनव के द्वारा व्याख्यात है, परन्तु पण्डितराज की वेदान्त परक व्याख्या भी इस सिद्धान्त की उल्लेखनीय है।

मम्मट के रस व्याख्यान के विकल्प में अभिनव के "तन्मयीभवन" सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार है—"यद्वा विभावादिचर्वणा महिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन, तत्तत्स्थाय्युपहित स्वस्वरूपानन्दाकाराचित्तवृत्तिरुपजायते, "तन्मयीभवनम्" इति यावत्"[2] अर्थात् सामाजिक को सहृदयता के सहारे जो विभावादि की चर्वणा होती है, वह एक विशेष आनन्दमयी चेतना को उद्बुद्ध करती है। इसे ही हम रस कहते हैं। अब प्रश्न होता है कि रस की इस अनुभूति में चित्त की या चित्तवृत्ति का क्या स्वरूप होता है।[1] यहाँ चित्तवृत्ति तो होती ही है, क्योंकि यह स्थिति विशुद्ध चैतन्य की तो है नहीं, वेदान्त तो शुद्ध ब्रह्म की स्थिति

---

1. रस० गं० रस प्रकरण।
2. रस गं० रस प्र०।

आने से अव्यवहित पूर्व तक चित्तवृत्ति मानता है, भले ही वह अखण्डाकाराकारित-भात्र हो तो इस विषय में पण्डितराज का मत है कि रसानुभूति क्षण में चित्तवृत्ति **"तत्तत्स्थाय्युपहितस्वरूपानन्दाकारा"** होती है। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार चित्तवृत्ति का स्वभाव है—"प्रमेयाकारा परिणति"। जब वह बाह्य घटादि को अपना विषय बनाती है, तब "तत् तत् विषयाकाराकारित" हो जाती है। और जब अखण्ड चैतन्य को अपना विषय बनाती है, तब "अखण्डाकाराकारित" हो जाती है। बाह्य विषय और अखण्ड को विषय बनाकर चलने में यही अन्तर है कि, जब वह बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष करती है, तब तद्विषयक अज्ञान का नाश करके उन्हें प्रकाशित करती है, किन्तु अखण्ड को जब अपना विषय बनाती है, तब तद्विषयक अज्ञान का नाश करके, स्वयं भी अज्ञान का एक अंश होने के कारण, उसी में विलीन हो जाती है। अखण्ड को प्रकाशित करने की उसमें क्षमता नहीं होती है, क्योंकि अखण्ड तो स्वयं प्रकाश है।

रसानुभूति में शुद्ध चैतन्य की स्थिति नहीं रहती है। यद्यपि वहां चित्त-वृत्ति अन्य उपाधियों से मुक्त रहती है। परन्तु रति आदि तत् तत् स्थायीभावों के उपाधि से तो उपहित ही उपहित चैतन्य या आनन्द की स्थिति में रहती है। यह आनन्द वेदान्त दर्शन के अनुसार चैतन्य का ही स्वरूप है, शैव दर्शन के समान शक्ति नहीं। रसानुभूति में चित्तवृत्ति इसी स्वरूप चैतन्य के उपहित स्वरूप में आकारित रहती है। जिस रस की अनुभूति हो रही हो, उसी के स्थायी की उपाधि से आवृत्त आत्मचैतन्य के आकार की होती है।

चैतन्य की यही चित्तवृत्तिमयता रस है। इसमें चित्तवृत्ति की तो रत्यादि विषयाकारा परिणति होती है, एवं प्रमातृ चेतना की चित्तवृत्त्याकारता या चित्त-वृत्तिमयता का उल्लेख है। यह सब वेदान्त दर्शन के अनुरूप है। परन्तु अभिनव-गुप्तपादाचार्य के अनुसार "तन्मयीभवन" में चेतना एवं चित्तवृत्ति की विषयाकारा परिणति के स्थान पर विषय की ही चेतनारूपता होती है। अभिनव के तन्मयी-भवन को समझने के लिए हमें उनकी अनुभव प्रक्रिया पर ध्यान देना चाहिए।

जब हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं, तब घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रति-फलित होकर हमारे मानस पटल पर उपस्थित होता है। मनः पटल व्यष्टिचेतना का ही एक प्रसृत रूप है—विमर्श का ही एक स्फुरित या स्पन्दित स्वरूप है। इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश विमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है। विषय की यह आत्माकारा परिणति ही 'तन्मयीभवन' है। अभिनवगुप्त इसका विवेचन इस प्रकार करते हैं—**"तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थः? मदीयं स्फुरणं स्पन्दन-माविष्टः, मद्रूपतामापन्न एव, चिन्मयत्वात्"**[1]

---

1. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भा० 1 पृ० 42।

बाह्य भाव पदार्थों का जो स्वरूप प्रमाता की चेतना के समक्ष आता है, वह मूलतः शुद्ध प्रकाश से भिन्न नहीं। तथापि माया के द्वारा पृथक् रूप में भासित होता हुआ संकुचित चेतना के सामने आता है। प्रमाता की चेतना उस वस्तु के साक्षात्कार के समय व्यापक होकर फैल जाती है, फैलकर उस वस्तु को भी अपना अंग बना लेती है। पदार्थों की यह आत्मरूपता की प्राप्ति ही 'तन्मयीभाव' है।

इस प्रकार अभिनव के "तन्मयीभाव" का अर्थ प्रमेय की आत्माकारा परिणति है, जबकि पण्डितराज के तन्मयीभवन में चित्तवृत्ति की विषयाकारा परिणति है।

अभिनव के तन्मयीभवन में प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है पण्डितराज में भीतर से बाहर की ओर है। इसका कारण यही है कि अभिनव के अनुसार तो सभी बाह्य सत्तायें प्रकाशरूपता से भिन्न नहीं, अतः आत्मा को परिणामी न मानते हुए ही विषयों की ही आत्माकारा परिणति बन सकती है। किन्तु पण्डितराज के अनुसार अज्ञानरूपा चित्तवृत्ति ही विभिन्न रूपों में परिणत हो सकती है, आत्मपक्ष अप्रभावित रहना चाहिए।

इस प्रकार पण्डितराज ने अभिनवगुप्त की चर्वणा का भी वेदान्तीकरण कर दिया, "आवरणभङ्ग" तथा "तन्मयीभवन" दो रूपों में रसस्वरूप की व्याख्या होने के कारण, चर्वणा को भी दो रूपों में समझा जा सकता है, एक तो चिद्गत आवरणभङ्ग के रूप में दूसरा स्थाय्युपहित आनन्दाकाराकारित चित्तवृत्ति के रूप में, जैसा कि स्वयं पण्डितराज ने लिखा है—

"चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एवं प्रागुक्ता, तदाकारान्तःकरण-वृत्तिर्वा"।[1]

रसात्मक आनन्द का स्वरूप जहां एक ओर ब्रह्मानन्द से भिन्न होता है, वहाँ लौकिक सुखों से भी दूसरी ओर भिन्न होता है। इसके लौकिक सुख भिन्नता का निरूपण पण्डितराज इन शब्दों में करते हैं।

"आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिस्वरूप-त्वात्"।[2]

आनन्द का यह स्वरूप हमारे सामने लौकिक आनन्द, काव्यानन्द, एवं ब्रह्मानन्द, इन तीनों में परस्पर भिन्नता दिखला देता है, लौकिक आनन्द को

---

1. रस गं० प्र० आ० र० प्र०।
2. वही।

पण्डितराज अन्तःकरण वृत्तिरूप मानते हैं। क्योंकि चित्त का यह स्वभाव है कि वह विषयाकार में परिणत होता है।

वैषयिक अनुभूतियों में यही चित्तवृत्ति चैतन्य के आभास से आभासित होकर कार्य करती है। इस दशा में मिलने वाला सुख आनन्द का शुद्ध रूप नहीं है आनन्द का आभासमात्र है। सुखदुःखादि को वेदान्त भी सांख्य की ही तरह चित्त-वृत्तिरूप ही मानता है।

ब्रह्मानन्द की स्थिति वृत्तिशून्य होती है, यही आनन्द सत् एवं आत्मा का वास्तविक स्वरूपभूत आनन्द होता है।

काव्यानन्द पण्डितराज के अनुसार चित्तवृत्तियों का आनन्द नहीं है अपितु आत्मस्वरूप का ही आनन्द है। अन्तर केवल इतना है कि वह अन्य लौकिक उपाधियों से रहित होते हुए भी एक सात्विक एवं शुद्ध रत्यादि उपाधि से उपहित होता है। जहाँ तक उसके स्वरू पका सम्बन्ध है, वह ब्रह्मानन्द सहोदर है। लौकिक आनन्द का नहीं। काव्यानन्द स्वरूपतः आत्मानन्द होते हुए भी, अन्तर इतना ही है कि इसमें अत्यन्त क्षीण झीना एक सत्वप्रधान आवरण है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

मम्मट एवं अभिनवगुप्ताचार्य के अभिव्यक्तिवाद के अनन्तर पण्डितराज अब भट्टनायक के भुक्तिवाद का निरूपण—**"तादस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम् आत्म-गतवेन तु प्रयत्यो दुर्घटः, शकुन्तलादीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात्, विना विभावयनालम्बनस्य रसादेरप्रतिपत्तेः"**[1] इत्यादि शब्दों द्वारा किया है। यद्यपि मम्मट ने भी भट्टनायक के मत को अपने काव्यप्रकाश में उद्धृत किया है, परन्तु संक्षेप में। पण्डितराज ने मम्मट की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार से व विशद रूप से भट्टनायक के मत को प्रस्तुत किया है।

पण्डितराज के व्याख्यान में भट्टनायक का साधारणीकरण व्यापार हमारे सामने परिष्कृत रूप में तथा विशदरूप में आता है। पूर्वपक्षीय मान्यताओं के निरा-करण स्वरूप साधारणीकरण हेतु जो भावकत्व व्यापार की आवश्यकता पड़ती है, उसकी सम्भावना भी व्यञ्जना के विकल्प में उतनी अनुचित नहीं प्रतीत होती है। यह दूसरी बात है कि व्यञ्जनावादी अपने सम्मान व स्वरूप की रक्षा के लिए उसे गलत बताकर उसके स्थान में व्यञ्जना व्यापार की मान्यता को पुष्ट कर ले। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त व्यापार की आंशिक स्वीकृति के रूप में ही पण्डितराज ने कुछ अभिनव तर्कों की कल्पना की है। जैसे साधारणीकरण के द्वारा कान्तात्व

---

1. रस गङ्गाधर प्र० आ० रसप्रकरण।

आदि साधारण धर्मों के आगे आ जाने भर से सामाजिक को रसानुभूति नहीं हो सकती है, अपितु विभावों के विषय में सामाजिक की चेतना में ऐसा कोई ज्ञान नहीं आना चाहिए, जो किसी प्रकार से उसके अगम्यात्व आदि की भावना जगाता हो, ऐसे ज्ञान का प्रतिबन्ध होना चाहिए। **"न च कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेकमत्रापास्तीति वाच्यम्, अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञान विरहस्य विशेष्यता सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटावश्यं निवेश्यत्वात्"**[1] इत्यादि। अर्थात् विशेष्यता सम्बन्ध से अवच्छिन्न शकुन्तलादिको में अप्रामाण्यनिश्चय से अनालिङ्गित अर्थात् निश्चित रूप से अगम्यात्व प्रकार ज्ञान के अभाव का होना आवश्यक है, तभी वे शकुन्तलादि विभावतावच्छेदक कोटि में आ सकते हैं। तात्पर्य यह है कि—**"इयं शकुन्तला अगम्या"** इत्याकारक ज्ञान में शकुन्तला विशेष्य है, अगम्यात्व विशेषण है। निश्चित रूप से यदि इस प्रकार के अगम्यात्व प्रकारक, शकुन्तलादि विशेष्यता सम्बन्धावच्छिन्न ज्ञान का अभाव रहे। तभी शकुन्तलादि विभावतावच्छेद कोटि में आ सकते हैं। भावार्थ यह है कि किसी भी पात्र को विभाव बनाने के लिए केवल उसके सामान्य कान्तात्व होने तक ही बात सीमित नहीं है। अपितु इसके साथ-साथ उसमें अगम्यात्व प्रकारक ज्ञान का विरह-अभाव का होना भी उतना ही जरूरी है, जितना कि उसका साधारणीकरण का अंश कान्तात्व। इस द्वितीय निषेध्य निषेध की ओर जोर देने से मालूम पड़ता है कि पण्डितराज को भी उक्त भावकत्त्व व्यापार किसी न किसी रूप में स्वीकार्य है। इस प्रकार साधारणीकरण के साथ-साथ रसानुपयोगी ज्ञान के प्रतिबन्धन के लिए ही भावकत्व व्यापार की उद्भावना भट्टनायक करते हैं,। तभी रसानुभूति का मार्ग स्वच्छ होता है। भट्टनायक का यह अभिप्राय पण्डितराज के शब्दों में इस प्रकार है ---

> **तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्थाः भावकत्वव्यापारेण अगम्यात्वादि रसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते, एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकालवयोवस्थादिषु**, इत्यादि।[2]

इस प्रकार भट्टनायक के मत को पण्डितराज ने मम्मट की अपेक्षा अधिक परिमार्जित व बड़ी इमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है।

संक्षेप में इस मत की आलोचना इस प्रकार है—अभिधा के विषय में तो किसी को भी विवाद नहीं है यह सभी को स्वीकृत है, और भोजकत्व व्यापार के द्वारा इन्होंने जो रस की भुक्ति बतलाई है, उसको भी अभिनव अपने व्यञ्जना

---

1. रस गङ्गाधर प्र० आ० रस प्रकरण।
2. वही।

वृत्ति के स्थान में मान ही लेते हैं, बस ध्वनिवादियों की तरफ से एक भावकत्व व्यापार का ही गौरव माना जाता है, अर्थात् इसको वे अतिरिक्त व्यर्थ कल्पना मानते है। पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

"मतस्यैतस्य पूर्वस्यान्मताद् भावकत्वव्यापारान्तर स्वीकार एव विशेषः। भोगस्तु व्यक्तिः, भोगकृत्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम्। अन्या तु सैव सरणिः"।[1]

"नव्यास्तु, परे तु" के नाम से दो नवीन मत

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस स्वरूप के विवेचन के प्रसङ्ग में 'नव्यास्तु' और 'परे तु' के संकेत से दो नवीन मतों का भी मन्तव्य प्रस्तुत किया है। परन्तु इन मतों के उद्भावक किसी आचार्य का नाम नहीं दिया है।

इन दोनों मतों में शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण को छोड़कर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है। किन्हीं विद्वानों का तो यहाँ तक विचार है कि ये दो मत भी पण्डितराज की ही चिन्तन प्रधान दार्शनिक-प्रतिभा के ही परिणाम है। सम्भवतः वे एक बार साहित्यशास्त्र से हटकर, तटस्थदृष्टि से या दार्शनिक दृष्टि से रसस्वरूप का विचार करना चाहते हों, क्योंकि रसगङ्गाधर में पण्डितराज अनेक नव्यों या नवीनों के नाम से अपनी व्यक्तिगत मान्यतायें प्रस्तुत करते हुए पाये जाते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर 'रस' एक प्रकार का ज्ञान विशेष समझा जाता है। इस बात को स्वयं अभिनव ने भी भट्टनायक मत निराकरण के अवसर पर स्वीकार किया है। अभिनव का कहना है कि रस एक प्रतीति विशेष ही है, भले ही उसे भोग, रसना या चर्वणा आदि किसी भी नाम से क्यों न कहा जाय। यह माना कि भुज्यमान या आस्वाद्यमान दशा में वह रस संज्ञा को प्राप्त कर लेता है, वह पूर्वसिद्ध नहीं होता है, तयापि वह एक अनुभव विशेष है। इस तथ्य को कौन मना कर सकता है।

जब रस एक ज्ञान विशेष है, तब यह भी जिज्ञासा स्वाभाविक है कि वह ज्ञान की किस कोटि में आयेगा यथार्थ या अयथार्थ। क्योंकि भारतीय दर्शनों में ज्ञान के प्रकार, स्वरूप, प्रमाण, प्रामाणिकता, प्रकाश्यता, प्रकाशकता आदि को लेकर बड़ी सूक्ष्मता के साथ विचार किया गया है। सभी दर्शन ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ—(मिथ्या) ये दो वर्ग बनाकर ही चलते हैं। तब रस को किस कोटि में रक्खा जाय यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है।

दार्शनिक दृष्टि से रस अयथार्थ ज्ञान की ही कोटि में आता है। कारण

---

1. रस गं० र० प्र०।

यह है कि इन लोगों की धारणा के अनुसार रस केवल कल्पना क्षेत्र की वस्तु है। क्योंकि उसकी मूल सामग्री विभावादि है, जो स्वतः काल्पनिक है। उनकी वास्तविकता को प्रमाणित करना असम्भव सा है। अतः कोई भी वस्तुवादी या आत्मवादी दार्शनिक रस को प्रभा या तत्त्वज्ञान की कोटि में तो रख नहीं सकता है। तब उसे अयथार्थ ज्ञान की ही कोटि में रक्खा जा सकता है। यद्यपि रस को भी यथार्थ-अयथार्थ, तत्त्वज्ञान का भ्रमात्मकज्ञान आदि ज्ञानों के बीच में किसी भी कोटि में रस को रक्खा जा सकता था, परन्तु भारतीय दर्शन की परम्परा में इसके लिए कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला, और न इस पर दार्शनिकों ने स्वतन्त्ररूप से विचार ही किया। यह तो साहित्यिकों का ही एकमात्र प्रयास रहा कि इसे मिथ्या-ज्ञान की निम्नकोटि से बचाकर उत्कृष्ट एवं अलौकिक रमणीय आसन पर बैठा दिया। अन्य लौकिक संवेदनों से विलक्षण कह कर सन्तोष कर लिया।

परन्तु साहित्य के विद्यार्थी को चाहे कितना ही बुरा लगे, शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर रस एक भ्रमात्मक ज्ञान विशेष ही है। पण्डितराज ने भी इन दोनों नवीन मतों में रस को भ्रमात्मक ज्ञान मानकर ही उस पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है। भ्रम के विषय में भारतीय दर्शन एक मत नहीं है। दर्शन का विद्यार्थी इस तथ्य से सुतरां परिचित है। इसके विषय में अनेक ख्यातियाँ प्रचलित हैं। विज्ञानवादी बौद्धों की आत्मख्याति, शून्यवादी बौद्धों की असत्ख्याति, प्रभाकरानुयायी मीमांसकों की अख्याति, भाट्टमीमांसकों की विपरीत ख्याति, तथा नैय्यायिकों की अन्यथा ख्याति, रामानुजियों की सत्ख्याति, और वेदान्तियों की अनिर्वचनीय ख्याति भ्रमात्मक ज्ञान के विषय में इस प्रकार अनेक ख्यातियाँ दार्शनिक ग्रंथों में उपलब्ध होती है।

इन विविध भ्रम ज्ञान सम्बन्धी मतों के विषय में विचार करने से मुख्यतः दो वर्ग हमारे सामने आते हैं। एक वह वर्ग है जो भ्रमज्ञान को "अनिर्वचनीय" कहता है। दूसरा वह वर्ग है जो भ्रमज्ञान के स्वरूप की किसी न किसी प्रकार व्याख्या करता है। अनिर्वचनीयतावादी वर्ग में सर्वप्रमुख वेदान्त है, सांख्य एवं भोगवादी परिणामवादी होते हुए भी, इस विषय में विवर्तवादी वेदान्तियों के अनिर्वचनीयतावाद को ही स्वीकार कर लेते हैं।[1]

---

1. "शुक्तिकायां रजतभ्रमस्थले भुक्तिविवर्तोपादानमिति विवर्तवादः, सांख्यैः पातञ्जलैरद्वैतवैदान्तिमिश्चाद्रियते न तु परिमाणवादिभिरपि सांख्यैः पातञ्जलैश्च तत्र परिणामवाद आद्रतः। इयमेवानिर्वचनीयख्यातिरित्युच्यते, शुक्तौ रजतप्रतीतिसमयेऽनिर्वचनीयरजतोत्पत्तिस्वीकारात्"।

रसवंदर्शनसंग्रह, उपोद्घात से।

दूसरे वर्ग में, जिसे हम "निर्वचनीयवादी" नाम दे सकते हैं, नैय्यायिक, बौद्ध, मीमांसक आदि आते हैं। इस वर्ग के लोगों की धारणायें परस्पर समान न होते हुए भी, इस बात में सब एकमत हैं कि भ्रमज्ञान अनाख्येय नहीं है, अपितु व्याख्येय है। किसी न किसी प्रकार उसकी व्याख्या हो सकती है।

पण्डितराज ने भी रस को भ्रमरूप या भ्रमात्मक ज्ञान विशेष मानकर उभयरूप से अर्थात् अनिर्वचनीयवादी तथा निर्वचनीयवादी के दृष्टिकोण से, इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है।

अधिकतर दार्शनिकों ने व्यञ्जना वृत्ति को अपने क्षेत्र में स्वीकार नहीं किया। यह केवल साहित्यिकों की ही सम्पत्ति रही हैं। यद्यपि प्रमेयप्रधान दार्शनिकों की चेतना में किसी न किसी रूप से व्यञ्जनावृत्ति की भी स्वीकृति लक्षित होती हैं जैसे वेदान्त व शैव दर्शन में। परन्तु मीमांसक व नैय्यायिकों ने तो स्पष्ट ही इसका निषेध किया है, जिसकी प्रतिक्रिया आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त व मम्मटादि के ग्रंथों में प्रतिफलित होती है।

पण्डितराज का निजी पक्षपात प्रथम अनिर्वचनीयवाद के साथ प्रतीत होता है, क्योंकि इस मत में इन्होंने व्यञ्जना वृत्ति को अपनाया है। द्वितीय मत के साथ अपेक्षाकृत तटस्थता है, वह नैय्यायिकों का होने के कारण उसमें व्यञ्जनावृत्ति की भी आवश्यकता नहीं रक्खी।

निष्कर्ष यह है कि इन दोनों नवीन मतों की सृष्टि पण्डित द्वारा ही कुछ दार्शनिक जिज्ञासाओं के फलस्वरूप हुई है।

अनिर्वचनीय ख्यातिवादी प्रथम नव्यमत

काव्य में कवि के कमनीय शब्दों द्वारा तथा नाट्य में नट के कलात्मक अभिनय के द्वारा विभावादि सामग्री उपस्थित की जाती है। इस सामग्री से व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा सामाजिक दुष्यन्त में शकुन्तला विषयक रति का ज्ञान कर लेता है। इस दुष्यन्तगत रति के ज्ञान के अनन्तर सामाजिक की सहृदयता के फलस्वरूप, उसमें एक भावना विशेष उद्‌बुद्ध हो जाती है। यह भावना या कल्पना उसे यथार्थ के धरातल से वञ्चित कर देती है। अतः दार्शनिक दृष्टि से यह एक प्रकार का दोष ही कहा जायेगा। इसी भावना रूप दोष की महिमा से सामाजिक अपने को दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न पाता है, अर्थात् दुष्यन्त से अपने को अभिन्न समझता है।

जिस प्रकार चाकचिक्यादि दोष से शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार भावना विशेष दोष की महिमा से अवास्तविक दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न सामाजिक की चेतना में शकुन्तला विषयक रति उत्पन्न हो जाती है।

यद्यपि सामाजिक के मानस में शकुन्तलादि विभावों की वास्तविक स्थिति नहीं है, किन्तु साक्षिभास्यता के सिद्धान्त के अनुसार अर्थात् स्वप्नतुरंगादि न्याय से या शुक्तिरजतादि न्याय से स्वप्न व जाग्रत में जिस प्रकार अविद्यमान भी अश्व व रजत अविद्या या अन्तःकरण के परिणाम द्वारा साक्षी-आत्मचैतन्य से प्रकाशित होते हैं। अवास्तविक भी शकुन्तलादि अन्तःकरण में प्रकाशित होते हैं, और तद्विषयक रति भी उद्बुद्ध होती है। यह रति पारमार्थिकतया सत् नहीं कही जा सकती है, अनुभूयमान होने के कारण असत् भी नहीं कह सकते। अतः यह रति शुक्तिगत रजत भ्रम के समान ही अनिर्वचनीय होती है।

प्रथम दुष्यन्तगत शकुन्तलाविषयक रति ज्ञान के अनन्तर यह सामाजिक की अज्ञानावच्छिन्न आत्मा में अनिर्वचनीयतया समुत्पन्न रति है, यही रस है। यह सत् तथा असत् शब्दों से अनिर्वचनीय रति भावनारूप दोष के साथ ही उत्पन्न होती है और उसी के साथ समाप्त भी होती है।[1]

प्रश्न यह है कि यह भ्रमरूपा रति आनन्द स्वरूप कैसे होती है[2] समाधान यह है कि इस अनिर्वचनीय रति की प्रतीति के अव्यवहृत अनन्तर लोकोत्तर आह्लाद की अनुभूति होती है। तब इस रति को उस परवर्ती आह्लाद से हम अभिन्न पाते हैं, फलतः इसे ही आनन्दरूप कहने लग जाते हैं।

इस प्रकार परवर्ती आनन्द तत्त्व व उक्त अनिर्वचनीय रति में परस्पर भेदाग्रह—ये उक्त रति को ही आनन्दस्वरूप कहा जाता है। इधर रस अज्ञानावच्छिन्न आत्मा में उद्भूत एक अनिर्वचनीय एवं कल्पित साक्षिभास्य रति है, इसे ही व्यङ्ग्य कह दिया जाता है। वस्तुतः व्यङ्ग्य तो वह रति है, जिसको व्यञ्जना-व्यापार के द्वारा सामाजिक दुष्यन्त में ग्रहण करता है। उस व्यङ्ग्य तथा इस साक्षिभास्य रति के भेद को ग्रहण न किये जा सकने के कारण इसे व्यङ्ग्य कह दिया जाता है। उसी प्रथम रति का ही निर्वचन हो सकता है, न कि द्वितीय साक्षिभास्य अनिर्वचनीय रति का। किन्तु दोनों में भेद ग्रहण न होने से अनिर्वचनीय रति को भी वर्णनीय कहा जाता है।[2]

इस विवेचन में दो चीजें अनिर्वचनीय हैं—एक तो उस कल्पित दुष्यन्तत्व, जिससे प्रमातृचेतना अवच्छिन्न होती है। दूसरी वह रति जो विभाव विषयक

---

1. अयं च कार्यो दोषविशेषस्य नाश्यश्च तन्नाशस्य, (रस गं० प्र० आ० रस प्र०)
2. स्वोतरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् सुखपदव्यपदेश्यो भवतिः। स्वश्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रह्यत् तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानात् व्यङ्ग्यो वर्णनीय श्चोच्यते। (रस गङ्गाधर प्र० आ० रस प्रकरण)

होती है, तथा प्रमातृ चेतना में उत्पन्न होती है । ये दोनों ही शुक्तिगत रजत के समान सदसदनिर्वचनीय है । पारमार्थिक न होते हुए भी साक्षिभास्य है । जहाँ तक प्रमातृ चेतना के कल्पित दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न होने की बात है, इससे परस्पर तादात्म्यवाद की स्वीकृति मिल जाती है । अतः साधारणीकरण के साथ-साथ "अगम्यात्व" जैसे ज्ञानों के लिए किसी प्रतिबन्धक विशेष की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती है । प्रमातृ चेतना का या सामाजिक का आश्रयपात्र के साथ अभेद का सिद्धान्त मान लेने पर फिर उक्त प्रकारक ज्ञानों के प्रतिबन्ध के लिए अतिरिक्त कल्पना को भी अवकाश नहीं है ।

निर्वचनीय या अन्यथाख्यातिवादी द्वितीय मत

यह द्वितीय मत नैय्यायिकों की ओर से प्रस्तुत मालूम पड़ता है । इस मत के अनुसार "रस" एक मानस बोध है, वह रमणीय काव्यार्थ की भावना से उद्भूत होता है और अयथार्थ ज्ञान है, जैसे स्वप्नगत, जो ज्ञान इस प्रकार के काव्यार्थ की भावना से नहीं प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार के आनन्ददायक भी नहीं होते हैं । यह यन्नैवं-तन्नैवं वाली व्यतिरेकी अनुमान है । सीधे शब्दों में यह कह सकते हैं कि यह भ्रमात्मक होते हुए भी भावनाजन्य या कल्पनाजन्य होने के कारण अन्य भ्रमात्मक ज्ञानों से विलक्षण होता है ।[1]

यहाँ भी यह प्रश्न हो सकता है कि शकुन्तलादि विषयक रति जब प्रमाता में विद्यमान ही नहीं, तो फिर अविद्यमान वस्तु का आस्वादन कैसा? उत्तर यह है कि यह रस तो भ्रम रूप है, भ्रम के लिए वस्तु की वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं होती है । शुक्ति में जब रजत का भ्रमात्मक ज्ञान द्रव्य का होता है तब वहाँ रजत की क्या वास्तविक सत्ता होती है ? इसी प्रकार अविद्यमान शकुन्तलादि विषयक रति के अनुभव को ध्यान में रखकर रस का आस्वादन या अनुभव किया जाता है । इस मत के अनुसार भ्रमरूपी रति का तथा प्रमाता की चेतना को तादात्म्य का स्वरूप तीन प्रकार का होगा ।

(1) रस वह भ्रमात्मक ज्ञान है जिसमें प्रमाता अपने में ऐसी रति के सम्बन्ध का अनुभव करता है, जो शकुन्तला विषयक होती है, तथा दुष्यन्त जिसका धर्मी (विशेष्य) होता है । इस प्रकार के बोध में प्रमातृ चेतना का एक विशिष्ट रति से सीधा सम्बन्ध होता है ।

(2) रस वह भ्रमात्मक ज्ञान है जिससे प्रमाता अपने को ऐसे दुष्यन्त से

---

1. स्वप्नादिस्तु बोधो न काव्यार्थजन्येति न रसः, तेन तत्र न तादृशाह्लादापत्तिः (रस गङ्गाधर प्र० आ० रस प्र०)

अभिन्न अनुभव करता है, जो शकुन्तलाविषयक रति से युक्त है। इस बोध में प्रमातृ चेतना का एक विशिष्ट आश्रय-पात्र से सीधा सम्बन्ध होगा।

(3) रस वह भ्रमात्मक ज्ञान है, जिसमें प्रमाता अपने में एक ओर तो दुष्यन्तत्व का अनुभव करता है, दूसरी ओर शकुन्तला विषयक रति का। इस बोध में तादात्म्य तथा रति दोनों का प्रमातृ-चेतना के साथ ही सन्तुलित सम्बन्ध माना जाता है।

इन तीनों प्रकार के ज्ञानों का स्वरूप चाहे कुछ भी हो, सब में समानता यह है कि रति को सभी में विशेषण का स्थान ही प्राप्त है। किसी न किसी रूप में प्रमातृ-चेतना विभावादि विषयक रति से विशिष्ट होती है।

यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि प्रमाता इस विभावादि विषयक रति के ज्ञान की कोटि तक पहुँचता किस साधन से है? अर्थात् शकुन्तला विषयक रति दुष्यन्त में है, इस बात का ज्ञान प्रमाता को कैसे होता है। प्रथम मत में तो यह कार्य व्यञ्जना व्यापार द्वारा होता था, जैसा कि वहां लिखा है "काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनाव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायाम्"[1] किन्तु इस मत में तो व्यञ्जना को स्वीकार ही नहीं किया गया है। तब यह कार्य किसके द्वारा होगा, उत्तर में कहते हैं कि—अनुमान से। इस अनुमान में अनुभावादि चेष्टाओं को लिङ्ग मानकर विभाव विषयक रति का ग्रहण किया जा सकता है। जैसा कि पण्डितराज का उल्लेख है—**"तत्र रतेर्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीततत्वाद् व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानभभ्युपेयम्"**[2] नाट्य में भी नटादि की चेष्टाओं से अनुमान किया जा सकता है।

तब इस मत की स्थिति इस प्रकार होगी—

नटादि के चेष्टाओं रूप लिङ्गों के आधार पर अनुमान से सामाजिक को शकुन्तलादि विषयक रति का दुष्यन्तादि में ज्ञान होता है। फिर भावना या कल्पना रूप दोष से सहृदय की भेद प्रतीति समाप्त हो जाती है, और वह शकुन्तला विषयक रति से विशिष्ट दुष्यन्त के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, इस रतिमान दुष्यन्त के साथ अभेद भावना के आते ही उसमें वस्तुतः अविद्यमान भी रति का सम्बन्ध जुड़ जाता है। यही मानस रतिमदभेद बोध, ही 'रस' है।

इस मत में व्यञ्जना को स्वीकार न करके, उसके स्थान पर अनुमान प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है। अतः यह मत अन्यथाख्यातिवादी नैय्यायिकों के

---

1. रस गङ्गाधर प्र० आ० रस प्रकरग।
2. रस गङ्गाधर प्र० आ० रस प्रकर।

अधिक समीप पड़ता है । रस रूप भ्रम को "मानस बोध" मानना भी न्याय दर्शन के अनुकूल ही है । न्याय के अनुसार समस्त इन्द्रियों के अनुभवों का आधार मन ही चरम इन्द्रिय है ।

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

रस के स्वरूप विवेचन के प्रसङ्ग में भट्टलोल्लट का नाम भी उल्लेखनीय है । लोल्लट एक उत्पत्तिवादी आचार्य है, आप पूर्व से चली आ रही परम्परा (जिसमें भामह, दण्डी, उद्भटादि प्रमुख है) का प्रतिनिधित्व करते हैं । उत्पत्तिवाद स्वयं भट्टलोल्लट की मूल कल्पना नहीं है, अभिनय ने स्वयं इस बात को कहा है ।[1] परन्तु उक्त विचार परम्परा को समुचित व्यवस्था देकर प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य भट्टलोल्लट को ही है ।

नाट्य रस के सम्बन्ध में हमारे सामने तीन बातें मुख्य रूप से आती हैं, मूल अनुकार्य पात्र, अभिनेता नट, दर्शक सामाजिक ।

अब प्रश्न यह है कि इन तीनों में लोल्लट रस किसमें मानते हैं ? काव्य प्रकाश के अनुसार लोल्लट का रस मुख्यतया अनुकार्यगत होता है, सामाजिक "तादरूप्यतानुसन्धान" के सहारे नट में भी उसकी प्रतीति कर लेता है ।

"मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये, तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः" ।[2]

इसी से मिलती जुलती बात को पण्डितराज ने अपने रसगङ्गाधर में भी कहा है—

"मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादि, कमनीय विभावाद्यभिनय-प्रदर्शन कोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्त्तरि नटे समारोप्य साक्षात् क्रियते इत्येके"[3]

वस्तुतः साक्षात् सम्बन्ध से दुष्यन्त आदि अनुकार्य में रहने वाली रति आदि ही रस हैं, उन रति आदि को ही नाटक में विभावादि के सुन्दर अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्तादि का अभिनय करने वाले नट पर उसका आरोप कर, उस आरोपित रस का सामाजिक के द्वारा साक्षात्कार किया जाता है ।

---

1. चिरन्तनानां चायमेव पक्षः, तथाहि दण्डिना स्वालंकारलक्षणेऽभ्यधायि— इत्यादि (अभिनवभारती भाग 1, पृ० 272)
2. काव्यप्रकाश चतु० उल्लास ।
3. रसगङ्गाधर प्र० आ० रस प्र० ।

इन व्याख्यानों से यह प्रतीत होता है कि भट्ट लोल्लट के मत में रस वस्तुतः अनुकार्यगत है, परन्तु अनुकार्य राम दुष्यन्तादि अभिनय अनुकर्ता नट इतनी निपुणता से करता है कि, जिससे उन रामादि के रूपों का अपने में आरोप बड़ी तल्लीनता के साथ कर लेता है, इसी "तद्रूपतानुसन्धान" या "आरोप" के कारण सामाजिक अनुकर्ता नट में ही उस रस की प्रतीति कर लेता है।

यहाँ मम्मट का यह 'तद्रूपतानुसन्धान' शब्द बड़े ही महत्व का है। पण्डितराज ने इसके बदले आरोप शब्द का प्रयोग किया है। अभिनय कला में 'तद्रूपतानुसन्धान' का एक विशिष्ट स्थान है, सामाजिक जब नट में रामादि रूपता का अनुसन्धान करता है, तो मूल राम व नट के भेद को भी भूल जाता है।

आज के सिने मञ्चों में तो यह अभेद कल्पना और भी गहरी हो गई है। बिना इस अभेद भावना के सामाजिक की प्रतीति आगे बढ़ ही नहीं सकती हैं। लोल्लट ने कला के एक विशिष्ट सत्य को हमारे सामने प्रस्तुत किया। उधर नट भी 'तद्रूपतानुसन्धान' के सहारे भावानुभूति में डूब जाता है, लोल्लट की यह मान्यता है।

जो लोग यह मानते हैं कि जब तक अभिनेता स्वयं भावसागर में नहीं डूबेगा तब तक सच्ची कला का प्रदर्शन नहीं कर सकता है, लोल्लट की यह मान्यता उनके पक्ष में है। रस के विषय में लोल्लट की मूल धारणायें इस प्रकार है—

(1) रस अनुकार्य में उत्पन्न होता है, यह विभावानुभाव व सञ्चारी-भावों के द्वारा उपचित या उद्बुद्ध स्थायी भावों की एक विशिष्ट दशा है।

(2) यह रस अनुकार्य रामादिकों के अनुकरण करता नट में भी तद्रूपता-नुसन्धान के बल से रहता है।

(3) सामाजिक में रस उत्पन्न नहीं होता है, परन्तु तद्रूपतानुसन्धान का प्रयोग सामाजिक भी करता है, तब वह इन अभिनेताओं को मूल (रामादि) पात्रों के रूप में ग्रहण कर लेता है। तदनन्तर उसे मूल पात्रों में रहने वाले रस की प्रतीति नट में होने लगती है।

परन्तु परवर्ती आचार्यों को लोल्लट की यह व्याख्या मान्य नहीं हुई, स्वयं शंकुक ने इस पर कई प्रकार के आक्षेप किये, लोल्लट के रस सिद्धान्त की अपनी विशष कमी यह है कि उन्होंने सामाजिक के रसानुभूति समस्या पर ध्यान नहीं दिया, सामाजिक को तो वे केवल प्रतीति कर्ता के रूप में मानते हैं, न कि अनुभव कर्ता के रूप में। इस प्रकार लोल्लट का रस सिद्धान्त विषयगत ही रह गया, विषयि पथ उसमें पूर्णतया उन्मीलित नहीं हो सका। लोल्लट का रस अनुकार्यगत "चेतना" भले ही हों, परन्तु सामाजिक के लिए तो वह एक पदार्थ सा ही है।

यद्यपि लोल्लट की यह रस व्याख्या लौकिक धरातल पर ही की गई है, क्योंकि लोकानुभूति तथा रसानुभूति में वे कोई विभाजक रेखा नहीं खींच सके, और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह लौकिक धरातल उनका इतना उन्नत नहीं हो सका है, कारण कि आश्रय तथा अनुभूति को एक ही स्थान में मान लेने का अर्थ तो यह हुआ कि रोहिताश्व की लाश पर रुदन करने वाली शैव्या करूण रस का आस्वादन कर रही थी।

श्री शंकुक का अनुमितिवाद

शंकुक का रस सिद्धान्त "अनुमितिवाद" के नाम से प्रसिद्ध है। उनकी मान्यता है कि रति, शोक, उत्साह आदि स्थायीभाव मूल रामादि पात्रों में ही होते हैं, नट उनका अनुकरण करता है। नट के द्वारा अनुक्रियमाण स्थायी ही रस है। सामाजिक विभावादि लिङ्गो द्वारा इन रत्यादिकों का अनुमान कर लेता है, सामाजिक की यह अनुमानात्मक प्रतीति ही **रस निष्पत्ति** या **रसानुमिति** है।

पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

"दुष्यन्तादिगतो रत्यादि नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते, विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीते, भिन्ने विषयेऽनुमिति सामग्र्या बलवत्त्वा-दनुभीयमानो रसः इत्यपदे"।[1]

अर्थात्अनुकार्य दुष्यन्तादि गत रत्यादि दुष्यन्त रूप से गृहीत पक्षभूत नट में विभावादि हेतुओं के द्वारा सामाजिक रस का अनुमान कर लेता है कि दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयक रतिमान् तद्विषपक कटाक्षादियत्वात, (यन्नैवं तन्नैवम्) इत्यादि यद्यपि यह सब सामग्री कृत्रिम है, फिर भी वास्तविक रूप से ही प्रतीत होती है, यह सब प्रत्यक्ष होते हुए भी, पक्ष, हेतु साध्यादि रूप अनुमितिसामग्री के बलवान होने से, अथवा अनुमित्सा होने से, जैसा कि न्याय जगत् में प्रसिद्ध है "प्रत्यक्ष परिकानितंमणि वस्तु अनुमानेन बुभुत्सान्ते तर्करसिका:" नीति से अनुमीय-मान ही यह रस अन्यानुमान से विलक्षण होता है।

शंकुक का सामाजिक यह जानता है कि उसके समक्ष अभिनय कर्ता नट उपस्थित है, राम नहीं और ये सब विभावादि कृत्रिम हैं। परन्तु यहाँ काव्य या नाट्य के वस्तु सौन्दर्य बल से इन सारी वस्तुओं को वह लौकिक धरातल की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट व प्रभावशाली समझता है। जैसे चित्र में बने घोड़े को हम केवल कुछ रंग रेखाओं का खेल जानते हुये भी, घोड़ा ही समझते हैं, इसी "चित्र तुरंगन्याय" से सामाजिक नट को नट जानते हुए भी, नट न मानकर राम रूप

---

1. रसगङ्गाधर प्र० आ० रस प्र०।

में ग्रहण कर लेता है। यह एक प्रकार से कला के क्षेत्र में यथार्थ के ऊपर कल्पना की विजय है। नट को राम रूप में ग्रहण करने की यह प्रतीति सम्यक्, मिथ्या संशय सादृश्यादि प्रतीतियों से विलक्षण है।

चित्रतुरंग न्याय को 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से मिथ्यारूप में ग्रहण कर लेने पर भी शंकुक के सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आ सकती है। क्योंकि धर्मकीर्ति के अनुसार मिथ्या ज्ञान भी अर्थक्रिया में समर्थ देखा गया है, इस विषय में अभिनव भारती में उद्धृत धर्मकीर्ति के शब्द इस प्रकार हैं—

अथ क्रियाऽपि मिथ्याज्ञानाद् दृष्टामणि-प्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥[1]

दो दिशाओं में दो चमकदार चीजें दिखाई दे रही हैं, एक उनमें मणि है, दूसरा दीपक। दो दर्शक भी हैं, जो उनके विषय में ज्यादा नहीं जानते हैं, पर उन्हें लेने दौड़ते हैं। दोनों मणि समझ कर ही दौड़ रहे हैं, पर उनमें से एक का (जिसे मणि मिली) मिथ्या ज्ञान भी अर्थक्रिया में समर्थ हो गया। शंकुक का भी यही कथन है कि यहाँ नट की रामरूपा प्रतीति भी मिथ्यावर्ग की होते हुए भी अर्थक्रिया क्षम हो सकती है।

इस प्रकार मूल पात्र के भाव का नट के द्वारा अनुकरण ही शंकुक का "रस" है। सामाजिक द्वारा उसकी अनुमानात्मक प्रतीति रस निष्पत्ति या रसानुमिति है। शंकुक नट के अनुकरण व सामाजिक की प्रतीति में कोई अन्तर नहीं देखते हैं, इस प्रकार न तो नट निरपेक्ष भावानुकरण ही रस है और न सामाजिक का अनुमानमात्र रस है, अपितु नट के द्वारा अनुक्रियमाण भाव सामाजिक की अनुमानात्मक प्रतीति का विषय बनता हुआ ही "रस" है।

विभावादि समुदितवादी मत

कुछ आचार्यों का कहना है कि विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव ये तीनों सम्मिलित होने पर ही "रस" कहलाते हैं, जैसा कि पण्डितराज के शब्दों में—

"विभावादयस्त्रयः समुदिता रसा इति कतिपये"

चमत्कारी ही रस है

कतिपय विद्वानों का मत है कि विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों में जो चमत्कारी हो वही "रस" है, नहीं तो फिर कोई भी नहीं। "त्रिषु य एव चमत्कारी,

---

1. अभिनव भारती भाग 1, पृ० 273।

स एव रसः, अन्यथा तु त्रयोऽपि न, इति बहवः" ।

विभाववादी पक्ष

किन्हीं विद्वानों का कथन है कि पुनः पुनः अनुसन्धीयमान विभाव (आलम्बन व उद्दीपन) ही रस है ।

"भाव्यमानो विभाव एव रस इत्यन्ये" ।

अनुभाववादी पक्ष

कुछ लोगों का मत है कि बार-बार अनुसन्धीयमान अनुभाव ही रस है। "अनुभावस्तथा इतीतरे" ।

व्यभिचारीवादी पक्ष

किन्हीं का मत है कि पुनः पुनः अनुसन्धीयमान व्यभिचारी ही "रस" है। "व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति इति केचित्" । इस प्रकार पण्डितराज का रस विवेचन प्रारम्भ से अन्त तक मौलिक रूप में परिलक्षित होता है । यद्यपि उन्होंने इस मौलिकता का दावा कहीं भी नहीं किया है, फिर भी अभिनव व मम्मट के महत्त्व को अक्षुण्ण रखते हुए, उन्हीं की मान्यताओं को और सुदृढ़ भूमि पर लाकर प्रतिष्ठित कर देना, उन्हीं की स्थापनाओं को चरम दार्शनिकता प्रदान करना, और यह सब इस रूप में कि अपना अहं कहीं भी उद्वेलित प्रतीत न हो । यह सब प्राचीन आचार्यों के प्रति पण्डितराज की श्रद्धा व्यक्त करता है, यह सब कार्य उनका किसी मौलिक आचार्य से कम नहीं है ।

रस शास्त्र के इतिहास में दार्शनिक विवेचनाओं के प्रसङ्ग में अभिनवगुप्ताचार्य के बाद पण्डितराज जगन्नाथ का ही नाम दृष्टिगोचर होता है ।

भाव-स्वरूप विवेचन

रस स्वरूप विवेचन के अनन्तर अब सामान्येन भाव का स्वरूप बतलाना भी आवश्यक है । क्योंकि रस शब्द से रस, भाव, रसाभास, व भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि तथा भावशबलता इन सबका ग्रहण हो जाता है । साहित्यशास्त्र में रस के ही समान "भाव" शब्द भी महत्त्वपूर्ण है । यह अपना एक स्वतन्त्र पारिभाषिक अर्थ रखता है । इसीलिए पण्डितराज भी अपनी ओर से भाव के लक्षण करने में बड़ी तत्परता दिखलाते हैं । पण्डितराज का भाव लक्षण न तो भरत के समान भाव सामान्य का लक्षण है, और न धनञ्जय व धनिक के भाव लक्षण से ही मिलता जुलता है । वस्तुतः पण्डितराज का भाव लक्षण मम्मट के भाव लक्षण की तरह शास्त्रीय है ।

भरत का भाव-लक्षण

भरत ने अपना भाव लक्षण विवेचन इस प्रकार किया है—

भावानिदानीं व्याख्यास्यामः। अथाह भाव इति कस्मात् किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति, भावा इति। भू इति करणे धातुः। तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्, लोकेऽपि च सिद्धमहो ह्यनेन गन्धेन रसेन च सर्वमेव भावितमिति, तच्च व्याप्त्यर्थम्। अब हम भावों की व्याख्या करेंगे, अर्थात् स्थायी भाव व व्यभिचारी भावों का लक्षण करेंगे। भाव इस नाम करण का क्या अभिप्राय है, क्या जो होते हैं, अर्थात् विद्यमान हैं वे भाव हैं, या जो भावित करें वे भाव है? इसके उत्तर में कहते हैं कि जो वाचिक, आंगिक, व सात्विक अभिनयों से युक्त काव्यार्थों का सहृदयों को ज्ञान करा देते हैं, वे चित्तवृत्तियाँ ही भाव हैं।

णिजन्त भू धातु से **"करणाधिकरणयोश्च"** इस सूत्र से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके "भाव" शब्द बनता है। इसलिए भावित, वासित, व कृत यह सब एक ही अर्थ है। जैसा कि लोक में भी प्रसिद्ध है—अहो इस गन्ध से या रस से यह सब (द्रव्य या देश काल) भावित है, या वासित है। यहाँ भावितम् इस शब्द में भाव शब्द से इतच् प्रत्यय किया गया है जिसका अर्थ है भावना जिसमें दे दी गई है। अतः यह भावित शब्द व्याप्ति अर्थ वाला है। इस विषय में भरत के कुछ अपने श्लोक भी हैं—

विभावैराहृतो योऽर्थोऽनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥

जो अर्थ विभाव के द्वारा सम्पन्न किया जाय, और अनुभावों से जिसकी प्रतीति की जाय, तथा वाचिक, आंगिक व सात्विक भावों द्वारा जिसका अभिनय किया जाय उसी अर्थ को भाव कहते हैं।

वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाऽभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥

वाचिक, आंगिक, मुखराग व सात्त्विक अभिनयों द्वारा (जो चित्तवृत्ति-विशेष) कवि के अन्तर्गत अभिप्राय का ज्ञान करा दे उसे ही भाव कहते हैं।

नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध, रसन योग्य चित्तवृत्ति विशेषों का जो सामाजिकों को बोध करा देते हैं, नाट्य के प्रयोक्ता लोग उन्हीं (चित्तवृत्ति विशेषों)

को "भाव" कहते हैं। इस प्रकार भरतमुनि ने व्यापक दृष्टि से यहाँ भाव शब्द की व्याख्या की है।

भाव हमारे समक्ष दो रूपों में आते हैं—व्यञ्जित एवं व्यञ्जक। भाव स्वयं वाच्य नहीं होते हैं, अपितु विभावादि से गम्य होकर ही आते हैं, जैसा कि भरत का कथन है—**"विभावैराहृतो योऽर्थोऽनुभावैस्तु गम्यते"**। दूसरा रूप है—काव्यार्थ-भावन का या व्यञ्जन का, **"काव्यार्थान् रसान् भावयन्ति इति भावा"** यद्यपि भरत ने भावों के व्यज्यमान पथ पर ही अधिक ध्यान दिया है—तथापि उस रूप में नहीं, जिस प्रकार कि मम्मट ने प्राधान्येन व्यञ्जित व्यभिचारी को ही भाव माना।

अभिनवगुप्त ने भरत सूत्र की अभिनव भारती व्याख्या में भाव शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि चित्तवृत्ति विशेष ही भाव हैं।

"भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषो एव विवक्षिताः"।[1]

अभिनव के मन्तव्यानुसार यहाँ रामादि को भावित अथवा व्यञ्जित करने वाली चित्तवृत्तियों का नाम ही भाव है और इनकी सीमा स्थायी, सञ्चारी व सात्विक भावों तक मानी गई है। धनञ्जय भी करीब-करीब भरत के ही मत का अनुसरण करते हैं, जैसा कि उनके भाव का लक्षण है—

"सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्" इत्यादि।

आचार्य मम्मट का भाव लक्षण इस प्रकार है—

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारि तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः।[2] **आदि शब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः"।**

मम्मट ने भाव के लक्षण में दो बातों को लिया है। एक तो दाम्पत्य विषयक रति को छोड़कर, मुनि, गुरु, देवादि विषयक रति को, दूसरे प्राधान्येन व्यञ्जित सञ्चारी भावों की अवस्था को। परवर्ती आचार्यों ने भाव क्षेत्र को और व्यापक करना चाहा। उन्होंने अपुष्ट स्थायीभाव को भी भाव कोटि में ही ले लिया, जबकि मम्मट ने यह कहा कि "कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः" अर्थात् विभावादि पूर्ण सामग्री से अभिव्यक्त ही कान्ता विषयक रति शृंङ्गार हो सकती है। इससे भिन्न अपुष्ट रत्यादि भाव ही हो सकते हैं। यह बात यद्यपि आक्षेपलभ्य है परन्तु विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में स्पष्ट शब्दों में इसे भाव के अन्तर्गत कर लिया। विश्वनाथ का भावलक्षण इस प्रकार है—

---

1. अभिनवभारती सप्तम अ० रस प्रकरण।
2. काव्यप्रकाश 4 उल्लास, सूत्र 48।

संचारिणः प्रधानाति देवादिविषया रतिः ।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥

स्पष्टतया मम्मट के भाव की परिभाषा में दो ही तत्त्व थे—व्यञ्जित, सञ्चारी व कान्तेतर रति । विश्वनाथ ने तीन तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख किया है । अब कान्तेतर रति ही नहीं अपितु कान्ता विषयक रति भी यदि अपूर्ण या अपुष्ट स्थायी हो तो, उसका भी भाव में परिगणन हो जाता है । यह परिवर्धन एक तरह से विकास व संस्कार की सूचना देता है ।

मम्मट के काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने भी बाद में इसी मार्ग को अपनाया, काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने अपनी "प्रदीप" टीका में इस विषय का एक श्लोक भी उपस्थित किया है, जो इस प्रकार है—

रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद् देवादिविषयोऽथवा ।
अन्याङ्गभावा स्यान् न तदा स्थायिशब्दभाक् ॥ इति [1]

यहाँ प्रदीपकार के द्वारा उद्धृत श्लोक में जिस निरङ्ग को भी या निरङ्ग स्थायी भाव को भी भाव कहा गया है, उसे पण्डितराज भाव के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं करते हैं । आपका कहना है कि जब विभावादि के द्वारा व्यञ्जित होकर ही कोई भाव आते हैं तभी वे चर्वणा का विषय बनते हैं, जहाँ विभावादि में से किसी का निरूपण नहीं भी रहता है, तो वे आक्षेपात् वहाँ लभ्य माने जाते हैं । तब निरङ्ग भाव कहने का तो कोई तुक ही नहीं बनता है जिसको कि प्रदीपकारादि "भाव" कोटि में रखने का प्रयत्न कर रहे थे । अब बात रही विश्वनाथ के उद्बुद्धमात्र स्थायी की जिसको कि उन्होंने भाव कोटि में बिठाया है । क्या उद्बुद्धमात्र स्थायी चर्वणा का विषय बन सकता है या नहीं ? यदि वह चर्वणा का विषय है, तब तो वह फिर चमत्कारजनक भी होगा ही । यदि चमत्कारजनक है, तब तो उसे रस ही कहना चाहिए और चर्वणा के अभाव में तो वह भाव कोटि में भी नहीं आ सकता है । अथवा चमत्कार की समन्यूनाधिक अवस्था में भी उसे काव्य के किसी कोटि में रक्खा जा सकता है ।

यदि प्राधान्येन चमत्कार जनक वह उद्बुद्धमात्र स्थायी है तो उसे उत्तमोत्तम काव्य में स्थान मिलना चाहिए । यदि चमत्कार में उसकी कोई गौण-अप्रधान स्थिति है, तो इस दशा में भी वह भाव ध्वनि कहलाने योग्य नहीं है ।

गौण स्थिति के भी दो रूप होते हैं, एक तो विभावादि के पर्याप्त परिपोष को प्राप्त कर किसी प्रधान रस या भावादि के प्रति गौण अप्रधान बनना, दूसरा

---

1. काव्यप्रकाश प्रदीपोद्योत पृष्ठ 126 । आनन्दाश्रम सं० ग्रन्थ० ।

विभावादि के नाममात्र से सहयोग को प्राप्त कर किसी रस या भाव का परिपोष करना। प्रथम स्थिति में तो आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने "रसवदलंकार" माना है, मम्मट ने इसे "अपराङ्गगुणीभूत व्यङ्ग" कहा गया है। दूसरी स्थिति में इन उद्‌बुद्धमात्र स्थायीभावों की स्थिति एक सञ्चारीमात्र की होती है।

"रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः" इत्यादि

इस प्रकार हमारे सामने व्यञ्जित स्थायी भाव की दो स्थितियाँ हैं। प्राधान्येन व्यञ्जित होने पर वह रस है और अप्रधानीभूत स्थिति भी दो प्रकार की हैं। पर्याप्त विभावादि से पुष्ट होने पर किसी के अङ्गरूप में स्थायी को आनन्द व अभिनव ने रसवदलंकार के रूप में माना है और मम्मट ने उसे अपराङ्गव्यङ्ग्य नाम से कहा है। दूसरा विभावादि से अपरिपुष्ट केवल रत्यादि, जो कि विश्वनाथ की भाषा में उद्‌बुद्धमात्र है, वह किसी रस के सञ्चारी भाव की स्थिति में है, अतः किसी अपरिपुष्ट स्थायी को भाव कभी भी नहीं कहा जा सकता है।

भाव विषयक सीमा व विवाद के साथ अब हम पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत भाव लक्षण दिखलाते हैं—

पण्डितराज ने अपना भाव लक्षण प्रस्तुत करने के पूर्व पूर्वपक्ष के रूप में भाव के दो लक्षणों को उपस्थित किया है। साथ ही साथ इनका खण्डनात्मक व्याख्यान भी प्रस्तुत किया है, जिससे भाव के स्वरूप को समझने में काफी सहायता मिल सकती है।

पूर्वपक्षीय भाव लक्षण

(1) विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वम्।

(2) रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वम्।

प्रथम लक्षण में कहा गया है कि जो विभाव और अनुभाव से भिन्न हो, साथ ही साथ रस का व्यञ्जक हो उसे भाव कहते हैं। यह लक्षण अतिव्याप्त है। क्योंकि काव्य के शब्द भी तो अर्थ द्वारा रस के अभिव्यञ्जक हुआ करते हैं और स्वयं विभाव व अनुभाव से भिन्न भी है। यदि उक्त लक्षण में द्वारान्तर निरपेक्षता की शर्त लगा दी जाय तो भी लक्षण असम्भव दोषग्रस्त हो जाएगा, क्योंकि स्वयं भाव भी भावना द्वारा ही रसाभिव्यञ्जक होते हैं। दूसरी बात यह है कि यह लक्षण रसव्यञ्जक भावों पर ही चरितार्थ हो सकता है, न कि स्वतः प्रधानतया ध्वन्यमान भावों पर।

यही हाल दूसरे लक्षण का भी है। वह अनुभावों में अतिव्याप्त है। एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जाता है—

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद् विजानती नितराम् ।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलीं किलामनुते ॥

यहाँ कोई विरहिणी बाला विरहाधिक्य के कारण कालागुरुद्रव अर्थात् अगरूद्रव को हलाहल विष समझती है, तथा नीलकमलों की माला को काला साँप समझती है ।

यह उस विरहिणी का भ्रमात्मक ज्ञान है, जो कि विरहजन्य है, अतः कार्यरूप होने के कारण अनुभाव है तथा अनुभाव होने के कारण रस की चर्वणा का विषय भी है । दूसरी बात यह है कि यह भ्रमात्मक एक ज्ञान विशेष होने से इसकी चित्तवृत्तिता को भी कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता है, अतः **"रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं भावत्वम्"** भाव का यह लक्षण अनुभाव में अतिव्याप्त हो जाता है ।

उक्त द्वितीय लक्षण में नागेश ने एक संशोधन करना चाहा कि यदि इसी लक्षण में विशेषण के रूप में "अनुभावभिन्नत्वे सति" ऐसा जोड़ दिया जाय, तो अनुभाव में अतिव्याप्ति नहीं होगी, परन्तु यह समाधान भो कोई वास्तविक नहीं है, क्योंकि पण्डितराज की मूल आपत्ति ज्यों की त्यों बनीं हुई है । वे कहते हैं कि—

"प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकतायाभावादव्याप्तापत्तेश्च"

अर्थात् यदि **"अनुभावभिन्नत्वे सति"** यह विशेष जोड़ भी दिया जाय तो प्रधानरूप से ध्वन्यमान भावों पर उक्त लक्षण चरितार्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि वहाँ तो रसाभिव्यञ्जकता है ही नहीं । स्वतन्त्ररूप से अभिव्यञ्जित भाव जो किसी अन्य रस का अभिव्यञ्जन नहीं कर रहे हैं, इस लक्षण की सीमा से बाहर ही रह जायेंगे । इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित किये हुए इन दोनों लक्षणों का निराकरण करके पण्डितराज सिद्धान्तभूत भाव लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

"विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम्"

अर्थात् विभावादि सामग्री से व्यंज्यमान हर्षादि में से कोई भी "भाव" है, अपने इस लक्षण का सम्बन्ध वे स्पष्ट शब्दों में मम्मट से जोड़ते हैं—

"यदाहुः व्यभिचार्यञ्जितो भावः" ।

पण्डितराज के भाव के इस लक्षण में अभीष्ट व्यापकता है । इसमें रस व्यञ्जक तथा प्राधान्येन व्यञ्जित, दोनों प्रकार के भाव समा सकते हैं । कोई भी भाव वाच्य नहीं होता है अपितु वह विभावादि व्यज्यमान ही होता है, वह चाहे रस व्यञ्जक हो, या स्वतः प्रधानरूप से व्यञ्जित हो । अतः विभावादि व्यज्यमानता भावों का सामान्य स्वरूप है । ये भाव तैंतीस होते हैं और गुरुनृपादिविषयक रति को मिलाकर इनकी संख्या चौंतीस है—

हर्षादयस्तु—हर्ष-स्मृति-क्रीड़ा-मोह-धृति-शंका-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-श्रम-गर्व-निन्द्रा-मति-व्याधि- त्रास - सुप्त - विबोधअमर्षावहित्थोग्रतोन्मादमरण - वितर्क विषादौत्सुक्यावेश-जडतालस्यासूयाऽपस्मार-चपलताः, प्रतिपक्षकृतधिक्कारादिजन्या निर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः । गुरुदेवनृप-पुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत् ।

(1) पण्डितराज के इस भाव लक्षण में न तो स्थायीभाव आते हैं और न सात्त्विक भाव ।

(2) कोई भी भाव भावना द्वारा ही किसी रस को अभिव्यक्त करता है "भावस्यापि भावनाद्वारेणैव व्यञ्जकत्वात्" ।

(3) सभी भाव चित्तवृत्ति रूप हैं ।

(4) ज्ञान भी चित्तवृत्ति रूप ही है, अतः भ्रम भी एक चित्तवृत्ति का प्रकार ही है ।

(5) अनुभाव केवल बाह्य चेष्टायें ही नहीं होती है, अपितु भावानुभूति के फलस्वरूप, अर्थात् कार्यरूप में होने वाले समस्त प्रतिक्रियात्मक विकार "अनुभाव" होते हैं ।

भाव स्वरूप विवेचन के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने केवल पारिभाषिक "भावध्वनि" के लिए ही सञ्चारियों की प्रधानीभूत अभिव्यक्ति का सीमित क्षेत्र ही निर्दिष्ट किया है ।

भावध्वनि की सीमायें

पण्डितराज भाव शब्द से भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता इस सभी का ग्रहण कर लेते हैं ।

य एते भावशान्त्युदयसन्धि-शबलता-ध्वनयः, उदाहृतास्तेऽपि भावध्वनय एव ।[1]

इस प्रकार उन्होंने भावध्वनि की सीमा केवल भाव तक ही न रखकर इन समस्त भावात्मक ध्वनियों तक मानी है । अभिनवगुप्त के अनुसार भी भाव की तीन ही दशायें हैं, उदय, स्थिति एवं अपाय । इनमें स्थिति दशा तो 'भाव' की है ही उदयावस्था व अपायावस्था को ध्यान में रखकर "भावोदय" और "भावशान्ति" नामक ध्वनियाँ कहीं गयी हैं । भावसन्धि एवं भावशबलता को भाव स्थिति का ही रूपान्तर समझना चाहिए । क्योंकि केवल एक भाव की स्थिति में भाव है तो दो भावों की स्थिति में भावसन्धि और बहुत से भावों की स्थिति में भावशबलता का

---

1. रस गं० र० प्र० ।

चमत्कार होता है । पण्डितराज भावों की स्थिति, उदय, उपाय, सन्धि, शबलता आदि दशाओं को प्रधानता न देकर केवल भाव के चमत्कार को ही प्रधानता देते हैं। आस्वाद का आधार अवस्थाओं को मानने की अपेक्षा पण्डितराज ने भावध्वनि को ही माना है । क्योंकि ये उदय, शान्ति आदि अवस्थायें तो वाच्य भी हो सकती हैं। किन्तु भाव हमेशा व्यङ्ग्य ही होगा । इसके विपरीत भाव वाच्य होने पर फिर चाहे अवस्थायें व्यङ्ग्य ही क्यों न हो, भावध्वनि नहीं कहीं जाएगी ।

भावध्वनि का उदाहरण जहाँ अवस्था वाच्य है ।

क्षमापर्णकपदयोः पदयोः पतति प्रिये ।
शेयुः सरोजनयनानयनारुणकान्तयः ॥

यहाँ प्रशमावस्था वाच्य है । परन्तु व्यज्यमान भाव अमर्ष व्यङ्ग्य ही है । इसके विपरीत जहाँ अवस्था व्यङ्ग्य है और भाव वाच्य है—

निर्वासयन्ती धृतिमङ्गनानां शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः ।
चिरापराधस्मृतिमांसालोऽपि रोषः क्षणप्राद्युपिको बभूव ॥

यहाँ रोष भाव वाच्य है परन्तु उसका प्रशम व्यङ्ग्य है । अतः यहाँ सिद्धान्त पक्ष को ध्वनि मान्य नहीं है । ऐसे स्थलों के लिए पण्डितराज का स्पष्ट निर्णय है—

"तस्माद् भावप्रशमादिष्वपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम्, प्रशमादेस्तूपसर्जनत्वमतो न तस्य वाच्यता दोषः" ।[1]

एक प्रश्न यहाँ यह है कि यदि सर्वत्र भावध्वनि की ही प्रधानता है। तब तो सबका चमत्कार एक सा होगा । फिर भावोदय, भावशान्ति, आदि में परस्पर भेद का कारण क्या है[1], इसके उत्तर में पण्डितराज का यह कथन है कि—

"इदं पुनः भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्, यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थत्वादिरपीति" ।[2]

स्थिति दशा में जो केवल भावध्वनि है उसमें आस्वाद का आधार होता है स्थित्यवच्छिन्न अमर्षादि, या सीधे अमर्ष आदि । क्योंकि सभी भाव स्थिति में ही होते हैं । जबकि भावशान्ति आदि में शान्ति, उदय आदि अवस्थायें भी इन भावों के साथ कुछ चमत्कार लिए रहती हैं । तात्पर्य यह है भावध्वनियाँ इन-इन अवस्थाओं में आकर ही विशेष चमत्कार युक्त होती है, यह भी एक सहज पहचान है ।

---

1. रस गङ्गाधर प्र० आ० भाव प्र० ।
2. वही ।

भावशान्ति एवं भावोदय

भावशान्ति में किसी दूसरे भाव के उदय की अपेक्षा रहती है और भावोदय में किसी पूर्ण भाव की शान्ति अपेक्षित है। यह निश्चित है कि किसी एक भाव के होने पर भावशान्ति या भावोदय ध्वनियाँ नहीं बन सकती है किन्तु चमत्कार का केन्द्र विन्दु कोई एक अंश ही होता है।

भावसन्धि

एक भाव दूसरे भाव से दबा हुआ न हो, परन्तु एक दूसरे को दबाने की क्षमता रखते हों। ऐसे दो भावों के सामानाधिकरणण्य को अर्थात् एक स्थान में रहने को भावसन्धि कहते हैं।

"भावसन्धिरन्योदन्यानभिभूतयोरन्योऽन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम्"।[1]

तात्पर्य यह है कि दो चमत्कारी भावों के खिचाव में जो चमत्कार है, वह भावसन्धि का है।

भावशबलता

पण्डितराज अपने भावों के सम्मिश्रण में "भावशबलता" मानते हैं फिर चाहे वह सम्मिश्रण परस्पर बाध्यवाधक भावों में हो अथवा भावों की परस्पर उदासीनता में हो।

काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने परवर्ती भाव के द्वारा पूर्ववर्ती भाव का निरन्तर उपमर्दन होने पर भावशबलता मानी है। परन्तु पण्डितराज इसके खिलाफ हैं। वे इस मान्यता को स्वयं मम्मट के प्रतिकूल होने से इसे असंगत ठहराते हैं—

"यत्तु काव्यप्रकाशटीकाकारैः" उत्तरोत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्दः शबलता इत्यभ्यधीयत, तन्न।[2]

इसके उदाहरण में जो यह श्लोक दिया है, वह भी ठीक नहीं है—

"पश्येत् कश्चित् चल चपल रे" इत्यादि।

यहाँ शंका, असूया, धृति आदि अनेक भावों का उत्तरोत्तर उपमर्द नहीं है, फिर किसी प्रकार भावशबलता का उदाहरण मान भी लिया जाय, तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि पर्यन्त में तो यह समस्त वाक्यार्थ किसी राजा की स्तुति में पर्यवसान

---

1. रस गं० प्र० आ० रस प्र०।
2. वही।

होगा । ये सभी भाव राजप्रभाव के प्रति गौण पड़ जायेंगे । फिर स्वोत्तर गुण विशेष से जायमान नाश तो व्यङ्ग्य होगा नहीं । न वह चमत्कारी ही होगा । इसीलिए भावशबलता का निर्णय यह है कि जिस प्रकार नारियल का जल, सिकता, एवं कदली के मिश्रण से एक विलक्षण स्वाद बनता है उसी प्रकार विभिन्न भावों के सम्मिश्रण से भावशबलता का आस्वाद उत्पन्न होता है—

नारिकेलजलक्षीरसिकताकदलिमिश्रणे ।
विलक्षणो यथा स्वादो भावानां संहतौ तथा ॥[1]

भावध्वनि की व्यञ्जक सामग्री

रस की अभिव्यक्ति के लिए जिस प्रकार विभाव, अनुभाव, व व्यभिचारी भाव तीनों का होना आवश्यक है, उसी प्रकार भावध्वनि के लिए यह समग्र सामग्री आवश्यक नहीं है । "भाव व्यञ्जना" के लिए विभाव व अनुभाव को ही पर्याप्त समझा गया है । व्यभिचारी भावों का पोषक अत्यन्त अपेक्षित नहीं है । विभावों में भी आलम्बन और उद्दीपन की समग्रता कोई आवश्यक नहीं । व्यभिचारी भाव के समुदाय के लिए सामान्यतः कोई भी निमित्त, विभाव का काम कर सकता है जैसे केवल इष्ट प्राप्ति से ही हर्ष भाव उत्पन्न हो जाता है ।

वैसे ही अनुभाव भी आंगिक चेष्टाओं तक ही सीमित नहीं है । कार्यरूप में आकर कोई भाव दूसरे भाव का अनुभाव हो सकता है । जैसे इर्ष्या भाव निर्वेद के प्रति विभाव है, तो असूया के प्रति अनुभाव है । भावों के कार्यभाव को अनुभावों के रूप में स्वीकार करना अनुभावों के प्रति बड़ी व्यापक दृष्टि है ।

किसी एक कार्य के व्यञ्जन में अन्य भाव के व्यभिचारी हो सकने में पण्डितराज सहमत हैं । एक संचारी के व्यञ्जन में दूसरे संचारी का अनिवार्य होना अपेक्षित नहीं है फिर भी एक व्यभिचारी दूसरे की व्यञ्जना में सहायक हो सकता है । जैसे कि अमर्ष की व्यञ्जना में गर्व या गर्व की व्यञ्जना में अमर्ष । यद्यपि ये दोनों परस्पर नान्तरीयक है फिर भी एक व्यभिचारी के अभिव्यञ्जना में दूसरे व्यभिचारी का होना कोई आपत्तिजनक नहीं है ।

यहाँ पर तो केवल पण्डितराज के भाव विवेचन का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है । विशेषकर इसके आगे ग्रन्थ के मूलभाग के विवेचन के अवसर पर किया जायेगा । भावों के स्वरूप निरूपण में पण्डितराज की अपनी कुछ असाधारण विशेषता है, जो अत्यन्त दुर्लभ है । भावों के चित्तवृत्ति पक्ष को सुव्यवस्थित रूप में रखना यह पण्डितराज जैसे मेधावी विद्वान का ही कार्य है । पण्डितराज की

---

1. रस गं० प्र० आ० रस प्र० ।

मौलिक साहित्यिक प्रज्ञा रस की अपेक्षा कहीं भावों के विवेचन में अधिक सक्षम हुई है। यह भाव विवेचन इनका कई दृष्टियों से सूक्ष्म एवं महत्वपूर्ण बना है। काव्य-शास्त्र के अध्येता को अवश्य इसका अनुशीलन करना चाहिए।

गुणों का निरूपण

संस्कृत साहित्य शास्त्र में गुणों के विषय में पर्याप्त विवेचन हुआ है। गुण सम्बन्धी मान्यताओं के प्रसङ्ग में हमारे सामने दो वर्ग उपस्थित होते हैं। एक वर्ग प्राचीन आचार्यों का है, जिसमें दण्डी, वामन आदि प्रमुख हैं। दूसरा परवर्ती आचार्यों का वर्ग है, जिसमें आनन्दवर्धन और मम्मट आदि प्रमुख हैं। इन वर्गों में खास अन्तर यह है कि जहाँ प्राचीन आचार्य दण्डी, वामन आदि गुणों की संख्या बीस मानते हैं (दस शब्द गुण तथा दस अर्थ गुण) वहाँ परवर्ती आचार्य, आनन्दवर्धन व मम्मटादि बीस शब्दार्थ गुणों के स्थान में तीन ही (माधुर्य, ओज व प्रसाद) गुणों को मानते हैं।

इसे गुणत्रयवाद भी कहते हैं। यद्यपि यह गुणत्रयवाद की परम्परा आचार्य भामह से ही प्रारम्भ हो गयी थी परन्तु इसका सम्यक् विवेचन आनन्द-वर्धन के ध्वन्यालोक ग्रंथ में हुआ। पुनः मम्मट ने इसी गुणत्रयवाद को अपनाकर इसकी प्रतिष्ठा की। ध्वनिवाद की तरफ से पण्डितराज ने इसे सिद्धान्त पक्ष में रखकर इसका परिचय इन शब्दों में प्रस्तुत किया—

"रसेषु चैतेषु निगदितेषु माधुर्योजःप्रसादांस्त्रीन् गुणानाहुः"।[1]

इनके विषय में कुछ आवश्यकीय बातों पर विचार करके तदनन्तर प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत बीस शब्दार्थ गुणों का परिचय भी इस प्रकार कराया—

जरत्तरास्तु

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यसुकुमारता।
अर्थव्यक्तिसदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥
इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति।
नामानि तु पुनस्तान्येव, लक्षणन्तु भिन्नम् ॥[2]

वामन के इन पूर्वोक्त बीस गुणों का सोदाहरण परिचय देकर, अनन्तर मम्मट के अनुसार माधुर्य, ओज व प्रसाद इन तीनों गुणों में ही समस्त वामनीय गुणों का अन्तर्भाव दिखलाया है—

"अपरे त्वेषु गुणेषु कतिपयान् प्रागुक्तैस्त्रिभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणदोषाभावा-

---

1. रस गं० प्रक आ० गुण प्र०।
2. वही।

लंकारैश्च गतार्थयन्तः काँश्चिद् वैचित्र्यमात्ररूपतया क्वचिद्दोषतया च मन्यमाना न तावतः स्वीकुर्वन्ति''।[1]

उक्त निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्डितराज का गुणों के विषय में ध्वनिवाद का ही पक्ष है। यद्यपि वामन के ये विंशति गुण पूर्व पक्ष में है, तथापि पण्डितराज ने इनका निरूपण भी बड़ी विशदता के साथ किया है और बड़ी सहानुभूतिपूर्वक इनका परिष्कार भी किया है। अन्य किसी भी आचार्य ने उक्त विंशति गुणवाद पर इतनी सहानुभूति नहीं दिखलाई है। यद्यपि पण्डितराज गुणों की संख्या के विषय में ध्वनिवादी मम्मटादियों के साथ हैं, परन्तु वे गुणों के स्वरूप विवेचन प्रसङ्ग में सर्वात्मना उनके पक्ष में नहीं है। जबकि मम्मटादि सभी आचार्य गुणों को एकमात्र रस का ही धर्म मानते हैं और औपचारिक दृष्टि से उनको शब्दार्थों में भी स्वीकार करते हैं। पर पण्डितराज की धारणा इस विषय में भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रसङ्ग में वे कुछ अंश में आचार्य वामन का अनुसरण करते हैं।

जिस प्रकार मम्मटादि ध्वनिवादियों ने गुणों को काव्य की आत्मा रस का धर्म माना है। ठीक इसीप्रकार वामन ने भी गुणों को काव्य की आत्मा रीति या विशिष्ट पदरचना का धर्म माना है।

पण्डितराज गुणों को रस मात्र का धर्म स्वीकार नहीं करते हैं और न वे शब्दार्थ व रचना के साथ इसका औपचारिक सम्बन्ध ही मानते हैं। आपने तो शब्द, अर्थ व रचना के साथ गुणों का उतना ही सीधा सम्बन्ध माना है जितना कि रसों का शब्दार्थों के साथ।

गुणों का शब्दार्थ के साथ इस प्रकार का अनौपचारिक सम्बन्ध मानने में निश्चित ही पण्डितराज वामनीय परम्परा से यत्किञ्चित् प्रभावित हैं।

गुणों के द्रुत्यादियों में तारतम्य

मम्मट ने गुणों की संख्या तीन मानकर विशिष्ट रसों से उनका सम्बन्ध भी निश्चित किया है। तथा उन विशिष्ट रसों गुणजन्य द्रुत्यादियों का तारतम्य भी माना है। जैसे माधुर्य गुण का सम्बन्ध शृङ्गार, करुण, एवं शान्त आदि रस के साथ है। ओजो गुण का सम्बन्ध वीर, वीभत्स एवं रौद्र रस के साथ है। प्रसाद का समस्त रसों से है।

माधुर्य के तारतम्य के विषय में पण्डितराज ने कुछ विकल्पों की सूचना दी है। वह इस प्रकार है—संयोग शृंङ्गार में जितना माधुर्य रहता है उससे भी

---

1. रस गं० प्र० आ० गुण प्र०।

अधिक करूण रस में और इन दोनों से भी अधिक माधुर्य विप्रलम्भ शृङ्गार में रहता है। इन सबसे अधिक माधुर्य शान्त रस में रहता है। क्योंकि उत्तरोत्तर द्रुति का आधिक्य रहता है ऐसा किन्हीं आचार्यों का कहना है।

कुछ लोगों का कथन है माधुर्य संयोग शृंङ्गार से भी अधिक करुण में व शान्त में रहता है। उन दोनों से भी कहीं अधिक विप्रलम्भ में रहता है। अन्य आचार्यों का कहना है कि माधुर्य संयोग शृंगार से तो करुण, विप्रलम्भ, शान्त रसों में अधिक रहता है। परन्तु इन करुणादि रसों में परस्पर कोई कम तारतम्य नहीं रहता है। इन मतों के विषय में पण्डितराज का कथन है कि प्रथम तथा अन्तिम मत तो प्राचीन आचार्यों मम्मटादियों के लक्षणों के अनुकूल पड़ते है। जैसा कि मम्मट का कथन है **करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्**" इत्यादि। परन्तु मध्यस्थ-द्वितीय मत में जो करुण और शान्त से भी विप्रलम्भ को अतिशय मधुरता बतलाई है उसके विषय में हम कोई खास राय नहीं दे सकते हैं। इस विषय में सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। इन विकल्पों में से अधिकांश विकल्पों का उद्भाव तो काव्यप्रकाश के विभिन्न व्याख्याकारों द्वारा किया गया है। ओज गुण के तारतम्य के विषय में स्वयं मम्मट ने उल्लेख किया है। पण्डितराज ने इन सबका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

> **"वीरवीभत्सरौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयिता याश्चित्तदीप्तेर्जननात्। अद्भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति। अपरे तु प्रसादमात्रम्। प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च साधारणः"।**[1]

इन विकल्पों में भी अधिक सम्भावना यही है कि इनकी उद्भावना भी काव्यप्रकाश के व्याख्याकारों के बीच ही हुई हो।

गुणों की रसधर्मता

वामनादि प्राचीन आचार्य यद्यपि रस के साथ गुणों का सम्बन्ध नहीं जोड़ते थे। क्योंकि रस तो उनके मत में एक अलंकार विशेष ही था तब गुण का सम्बन्ध उनके साथ हो ही कैसे सकता है। अलंकार की अपेक्षा गुण कहीं आभ्यन्तरिक तत्त्व है। हाँ, काव्य की आत्मा के साथ तो उसका सम्बन्ध हो सकता है। तब वह शौर्यादि की तरह उस आत्मा का उत्कर्षाधायक भी बन सकता है। अतः वामन ने गुण का सम्बन्ध रस के साथ न जोड़कर, काव्य की आत्मा 'रीति' के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा, इसी में रीति का उत्कर्ष भी माना, इसीलिए तो वे "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर, फिर "विशेषो गुणात्मा" कहते हैं। अर्थात्

---

1. रस गं० प्र० आ० गुण प्र०।

रीति का वैशिष्ट्य गुणों के द्वारा ही है ।

अब परिष्कृत इनकी काव्यात्मा का लक्षण होगा—गुण विशिष्ट पदरचना विशेष "रीति" । मम्मट रस को काव्य की आत्मा मानते हैं । इसीलिए ये गुणों को रसमात्र का धर्म मानते हैं ।

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादिय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

आत्मन एव यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणाः, न वर्णादीनाम् ।[1]

जैसे शूरता वीरता आदि आत्मा के धर्म हैं न कि शरीर के (किसी विशाल-काय पुरुष को देखकर, उसके आकार मात्र से शूर कहना तो औपचारिक है) इसी प्रकार गुण भी रस के धर्म हैं न कि शब्दार्थ के । शब्द मधुर हैं । यह रचना ओजस्विनी है, यह कथन तो एक प्रकार से व्यावहारिक या औपचारिक है ।

मम्मट की इस मान्यता के आधार स्वयं आनन्दवर्धन हैं । वे गुणों को रसमात्र का ही धर्म प्रतिपादित करते हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥

शब्दार्थधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम् ।[2]

गुणों की शब्दधर्मता को उन्होंने भी औपचारिक ही कहा है । पण्डितराज ने ध्वनिवाद की इस मान्यता को बड़े ही सरल व संक्षिप्त शब्दों में रखा है—

एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवसितेषु "मधुरा रचना" "ओजस्वी बन्धः" इत्यादयो व्यवहारा "आकारोऽस्य शूर" इत्यादि व्यवहारवदौपचारिका इति मम्मटभट्टादयः ।[3]

पण्डितराज का मत

पण्डितराज गुणों को रसमात्र का धर्म नहीं मानते हैं । आपका कहना है कि गुणों को हम रस का धर्म तब मान सकते हैं, जब कि अन्य पदार्थों की तरह धर्म-धर्मिभाव का हमें पृथक् अनुभव हो । जैसे अग्नि का धर्म-गुण है उष्णता, और

---

1. काव्यप्रकाश अ० उल्लास ।
2. ध्वन्यालोक द्वि० उद्योत ।
3. रसगं प्र० आ० गुण प्र०

उसका कार्य है दाहादि--किसी पदार्थ का जलाना आदि, दोनों का अग्नि से पृथक् अनुभव होता है। यह बात रस व गुणों के विषय में नहीं दिखाई देती है। रस का कार्य है—चित्त की द्रुति विस्तार या विकासात्मक अवस्था सम्पादन करना। इससे भिन्न कुछ भी हमें रसगत धर्म के रूप में परिलक्षित नहीं होता है।

येऽमी माधुर्यौजःप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्तास्तेषां रसधर्मत्वे किं मानम् प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न, दाहादेः कार्यादनलगस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयाऽनुभवस्तथा द्रुत्यादि चित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्।[1]

विशिष्टतावाद

यहाँ रसमात्र धर्मवादी यह कह सकते हैं कि विभिन्न द्रुति आदि अवस्थाओं का कारण केवल रसों को न मानकर गुण विशिष्ट रसों को मान लिया जाय तो क्या हानि है ? यह मानने से लाभप भी होगा। और गुण भी कारणतावच्छेद धर्म के रूप में अनुमित हो जाएगा अर्थात् कारण कोटिगत एक धर्म विशेष के रूप में। जैसा कि नैय्यायिकों का सिद्धान्त है। **"या या कारणता सा किञ्चित् धर्मावच्छिन्ना"** आदि, तो पण्डितराज इस विशिष्टतावाद को भी मानने के लिए तैयार नहीं है। क्योंकि इसमें तो लाघव के स्थान में गौरव ही होगा। जैसे शृंङ्गार रस माधुर्य विशिष्ट है। अतः चित्त को द्रवित करता है। इसकी अपेक्षा तो यही मानने में लाघव है कि सीधे रस चित्त द्रुति करने में क्षमता रखता है।

तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात् कारणतावच्छेदकतया गुणानावनुमानमितिचेत्, प्रातिस्विकरूपेणैव रसातां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्।[2]

इतना ही नहीं दार्शनिक दृष्टि से भी गुणों की रस धर्मता इस रूप में स्वीकृत नहीं हो सकती है। "रस" आत्मानन्द है। आनन्द आत्मा का गुण नहीं है, स्वरूप है। आत्मा तो स्वयं निर्गुण है। फिर माधुर्यादि को उसका गुण कहना, और नित्य धर्म मानना कैसे संगत हो सकता है। **"किं चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुयादीनामनुपपन्नम्"**[3]

उपाधि धर्मता

आत्मा के निर्गुण होने से और आत्मस्थानीय रस के होने से गुण रस के धर्म न हो तो कोई बात नहीं है। पर वे उपाधिभूत स्थायियों के धर्म तो कहे जा सकते

---

1. रस गं० प्र० आ० गुण प्र०।
2. वही।
3. वही।

हैं ? यह बात भी पण्डितराज मानने को तत्पर नहीं है । क्योंकि रत्यादि चित्तवृत्तियाँ सुखदुखात्मक चित्तवृत्तियाँ हैं इससे भिन्न कुछ भी नहीं । वे काव्य में सुखरूपा होती हैं । अतः वे तो स्वयं गुणरूप हुई । न्याय दर्शन के अनुसार उन्हें स्पष्टतः गुण वर्ग में गिनाया है । तब माधुर्यादि भी गुण ही हैं, अतः माधुर्यादि को जो स्वयं गुण है, गुण रूप रत्यादि का गुण कैसे माना जा सकता है । क्योंकि यह नियम है कि "गुणे गुणानङ्गीकारात्" गुण स्वयं गुण का धर्म न होकर वह तो किसी द्रव्य का ही धर्म होता है । अतः माधुर्यादि को रत्यादि का धर्म भी नहीं माना जा सकता है ।

इस प्रकार पण्डितराज माधुर्यादि गुणों को रस का धर्म उस रूप में स्वीकार नहीं करते हैं जिस रूप में अन्य मम्मटादि आचार्य स्वीकार करते हैं ।

पण्डितराज की दृष्टि में 'गुणत्व' एक अलग कोई मौलिक चेतना है । आपके अनुसार गुण का स्वरूप है—**"द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकता"** । गुण वह शक्ति है जो चित्त को प्रभावित करके, उसे द्रुत, विस्तृत, या विकसित कर देती है । यह द्रुति आदि चित्तवृत्ति प्रयोजकता जहाँ भी पहुँच जाय माधुर्यादि उन्हीं के गुण कहे जा सकते हैं । चित्त को द्रुति, विस्तृत या विकसित करने की वह शक्ति रस में ही क्यों शब्द, अर्थ और रचना में भी तो रह सकती है । अब यह प्रयोजकत्व रस की तरह शब्द, अर्थ व रचना सभी में पाया जाता है । तो कहना चाहिए कि गुण केवल रस गत ही नहीं अपितु शब्द, अर्थ और रचनागत भी हैं ।

प्रयोजकत्व की शास्त्रीय मीमांसा

गुण को द्रुत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजकत्व के रूप में मानकर पण्डितराज उसका और शास्त्रीय परिमार्जन करते हैं । यह प्रयोजकत्व एक सम्बन्ध है । संसर्गकोटि में प्रविष्ट पदार्थों का भान संसर्गरूप मात्र न होकर "स्वरूपतः" होता है । अतः द्रुत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजकत्व को और भी नपी तुली नैय्यायिकभाषा में इस तरह कहा जायेगा—प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ ही गुण हैं । दूसरी बात यह है कि यह प्रयोजकता सामान्य न होकर विशिष्ट है । क्योंकि अदृष्ट, काल, धर्म, अधर्म इश्वरेच्छा आदि कार्यमात्र के प्रति प्रयोजक हुआ करते हैं । ये सब सामान्य हैं । यदि द्रुत्यादि के प्रयोजकत्व को भी सामान्य माना जायेगा । तब तो अदृष्ट आदि में भी उक्त प्रयोजकत्व के होने से "अदृष्ट मधुर है" ऐसा व्यवहार होने लगेगा । अतः गुणों के सम्बन्ध में ऐसी सामान्य प्रयोजकता न मानकर विशिष्ट प्रयोजकता अपेक्षित है, जो प्रयोजकता केवल शब्द अर्थ रचना व रस में ही रहेगी ।

इस प्रकार पण्डितराज की भाषा में **"द्रुत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजकत्व"** या **"प्रयोजकता सम्बन्धेन द्रुत्यादि चित्तवृत्तित्व"** दोनों का एक ही तात्पर्य है । इस द्रुत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजकता रूप लक्षण से हम यह जान सकते हैं कि गुणों के

आधार क्या क्या हैं। हम उन प्रयोजकों को सरलतया पा सकते हैं जिनके प्रभाव से गुण का स्वरूप उद्भूत होता है।

चित्त दशा एवं रस कार्यता

ये द्रुति, दीप्ति, विकास चित्त की ही अवस्था विशेष हैं। चित्त की अवस्था को ही दर्शन की भाषा में चित्तवृत्ति कहते हैं। शृङ्गार रस की अनुभूति में चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का अनुभव होता है वही माधुर्य है। वीर रस के अनुभव में उससे जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है उसे ही "ओज" कहते हैं। तथा सभी रसों के अनुभव में चित्त में जो व्यापकता, (विकास) आती है वही प्रसाद है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट ये सभी इन चित्तवृत्तियों को रसों का कार्य मानते हैं। क्योंकि ये अवस्थायें रसानुभूति के कारण आती हैं।

रस शब्द, अर्थ व रचना में रहने वाली यह चित्तवृत्ति प्रयोजकता "आनन्दात्मक चेतना—"रस" की प्रयोज्यरूपा होने से कार्य है। परन्तु अत्यन्त तीव्रतावश यहाँ कालक्रम लक्षित नहीं होता है। क्योंकि कारण एवं कार्य में काल भेद अवश्य होता है। परन्तु शब्द अर्थ, रचनागत या भाषागत जो चित्तवृत्ति प्रयोजकता होगी वह साधनरूपा होगी। वह स्वतः आह्लादरूपा न होकर आह्लाद में लीन होने की क्षमता प्रदान करने वाली होगी। अतएव गुण को आह्लादरूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्तवृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।

यह मान्यता डा० नगेन्द्र की है जिसे उन्होंने रीतिकाव्य की भूमिका में लिखा है।

परन्तु पण्डितराज के सिद्धान्त के अनुसार तो डा० नगेन्द्र की यह बात एक प्रकार से गुण का एक पक्ष ही हो सकता है। अर्थात् जब गुण शब्दार्थ व रचनागत माना जायेगा तभी उक्त बात सङ्गत हो सकती है। रस प्रयोज्य द्रुत्यादि के विषय में तो उक्त बात चरितार्थ नहीं हो सकती है। क्योंकि रस प्रयोज्य-द्रुत्यादि को तो सभी आचार्यों ने कार्यरूपा दशा ही माना है। भाषा का परिपाक साधन रूप में अन्वित हो सकता है। परन्तु रसपरिपाक तो साध्य रूप में समझा जायेगा। इस प्रकार पण्डितराज ने गुणों के विषय में अपनी कुछ स्वतन्त्र मान्यतायें भी स्थापित की हैं, जो पूर्वाचार्यों से कुछ बढ़कर भी हैं। निश्चित ही गुण विवेचन पण्डितराज की अपनी तर्क बुद्धि एवं स्वतन्त्र समीक्षा शक्ति की मौलिक कल्पना है जो गुणों के महत्त्व को भी समझाती है। पण्डितराज का समय रीति काव्य का समय था, उस समय हिन्दी साहित्य की ब्रज भाषा व अवधी भाषा अपनी पदरचनात्मक रीति की छटा को प्रदर्शित करने में अपना गौरवपूर्ण योगदान कर रही थी। इस

युग चेतना को भी पहचानते हुए पण्डितराज ने भाषा को भी स्वतन्त्रतया महत्त्व प्रदान कर एक कालिक आवश्यकता की पूर्ति की है ।

काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के साथ पण्डितराज

साहित्यशास्त्र के इतिहास में छः प्रमुख सम्प्रदायों की विशेष चर्चा पायी जाती है । कालक्रम की दृष्टि से इनका पूर्वापर विभाग व्यवस्था इस प्रकार कर सकते हैं । रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, एवं औचित्य । इसमें सबसे प्राचीन सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय है जिसके प्रवर्तक आचार्यों में भरत का नाम सर्व-प्रथम लिया जाता है । उपलब्ध कृतियों में भरत का नाट्यशास्त्र ही सबसे प्राचीन माना जाता है । इस ग्रन्थ में यद्यपि प्रधानतया नाट्याङ्गों का ही विवेचन है आनुषङ्गिकरूप से साहित्य के अन्य अङ्गों का भी विवेचन किया गया है । इसी प्रसङ्ग में इसके छठे व सातवें अध्याय में रस व भाव के विषय में भी बड़ा गम्भीर विमर्श किया गया है । रस के विषय में इससे और प्राचीन ग्रंथ कोई भी सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, जिसको कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में रखा जाय । भरत सबसे प्राचीन व रस के विषय में विशिष्ट विचारक होने से यही रस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं । आगे इनके सूत्रों के विशिष्ट व्याख्याता होने से लोल्लट, शंकुक भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त भी इसी सम्प्रदाय के अनुयायी समझे जाते हैं ।

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों में भामह का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है, यद्यपि इससे पूर्व भी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की प्राथमिकता के विषय का विवाद हमें भामह के ही ग्रन्थ में ही मिलता है । इससे बहुत कुछ अनुमान भी लगाया जा सकता है कि अलंकारों की विशिष्ट चर्चा भामह से भी पूर्व विद्यमान थी । परन्तु सम्प्रति भामह से पूर्व क्रमबद्ध कोई कृति उपलब्ध न होने से भामह को ही इस सम्प्रदाय को व्यवस्थित करने का श्रेय दिया जाता है । भामह के ही अनुयायी उद्भट, दण्डी, रूद्रट आदि ने इस अलंकार सम्प्रदाय के श्री की अभिवृद्धि की ।

रीति सम्प्रदाय के आचार्यों के विषय में आचार्य वामन का ही नाम लिया जाता है । यद्यपि मार्ग शब्द के द्वारा रीति सम्प्रदाय का पूर्वाभास हमें कुछ अस्पष्ट रूप में दण्डी के काव्यादर्श में भी मिलता है परन्तु रीति को काव्यात्मा के रूप में घोषणा करने का श्रेय आचार्य वामन को ही है । आज तक काव्यात्मा केवल अलंकारों की झन्कार में ही मस्त था । वामन ने निश्चित काव्यात्मा के रथ को एक कदम आगे बढ़ाया, गुणों को काव्य का आन्तरिक धर्म माना, गुणविशिष्ट पद रचना--रीति को काव्य की आत्मा माना । पर यह सम्प्रदाय युग सन्धि में स्थिर होने से अपना प्रसार न कर सका, न इस पर स्वतन्त्र रूप से किसी ने विचार ही किया । वामन ज्यों ही अलंकारों के झमेले से गुण तथा रीति की रुपरेखा निश्चित किये ही थे कि एकाएक काव्यक्षेत्र में महान्

क्रान्ति होने लगी जिसके परिणाम स्वरूप काव्यजगत् की कायाकल्प सी हो गई। अब वे प्रदेश या क्षेत्र जिन पर अलंकार गुण व रीति का अधिकार था सब ध्वनि के साम्राज्य में आ गये। ध्वनि की छत्रच्छाया में अब इनको अपने दिन गुजारने पड़े। फलतः अलंकार गुण रीति संघटना को अपना उचित व सीमित अधिकार में काम करना पड़ा। ध्वनिवाद के उद्भावक आचार्य आनन्दवर्धन हैं। काव्य क्षेत्र में आपके ही करकमलों से ध्वनि की स्थापना हुई। बाद में मम्मट, विश्वनाथ, पं० जगन्नाथ आदि आचार्यों ने ध्वनि परम्परा को उचित प्रतिष्ठा के साथ सुरक्षित रक्खा। बीच-बीच में ध्वनि के खिलाफ भी कई आवाजें गूँजी पर वे अनन्त आकाश में टकराकर स्वयं विलीन हो गई। ध्वनि के मुकाबले में अपनी आवाज बुलन्द करने वाले सर्वप्रथम आचार्य कुन्तक हैं। आपने ध्वनि की प्रतिस्पर्धा में "वक्रोक्ति जीवित" नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया। आनन्दवर्धन द्वारा उद्भावित ध्वनि के समस्त भेदों को आपने प्रकारान्तर से वक्रोक्ति में समेटकर रख दिया। और "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" कह कर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना। कुन्तक ने अपनी सारी प्रतिभा का व्यय ध्वनि की प्रतिस्पर्धा में किया। बड़े ही संरम्भ के साथ आपने उक्ति वैचित्र्य को प्रतीयमान अर्थ से भी कहीं बढ़-कर दिखाने का प्रयास किया। काव्य के सभी अङ्गों की वक्रोक्ति की छाया में पुनः मरम्मत की। परन्तु आगे युग ने कुन्तक का साथ नहीं दिया। उनकी प्रतिभा उन्हीं के यशःकाय को प्रकाशित करने में व्यस्त सी हो गई।

इसके बाद काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ने पदार्पण किया, जिसका नाम है "औचित्य सिद्धान्त या सम्प्रदाय"। इसके प्रबल समर्थक हैं आचार्य क्षेमेन्द्र आप औचित्य को ही काव्य का जीवन दर्शन मानते हैं। आपका कथन है कि उचित भाव के बिना तो काव्य का कोई भी अङ्ग वह चाहे अलंकार हो, गुण रीति या रस कोई भी हो एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है। अलंकार तभी अलंकार है, जबकि वह उचित स्थान में हो। कोई सुन्दरी यदि हाथ में पायजेब बाँध ले, और पैर में कंकण आदि पहन ले तो क्या इस अनुचित स्थान विन्यास से उसकी शोभा हो सकती है ? क्षेमेन्द्र का औचित्य काव्य के सभी अङ्गों की चोटी पकड़ा हुआ है। अतः यह काव्य का एक व्यापक तत्त्व है। इस बात को कोई भी काव्यशास्त्रीय निषेध नहीं कर सकता है। वह चाहे किसी सम्प्रदाय का क्यों न हो सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि औचित्य काव्य की परा उपनिषद् है।

रस एवं पण्डितराज

ऐतिहासिक दृष्टि से रस सम्प्रदाय ही सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है, क्योंकि आचार्य भरत का सारा प्रयास इसी रसाभिव्यक्ति के निमित्त था। जैसा कि स्वयं

उन्होंने कहा है—"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" अभिप्राय यह है कि लोक या शास्त्र की समस्त प्रवृत्ति का मूल रस ही है, श्रुति भी इस बात को घोषित करती है कि—"रसो वै सः, रस ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दीभवति" इत्यादि रस के स्वरूप के साक्षात्कार में, या रसानुभूति में ही समस्त मानवों की चरितार्थता है। फिर काव्य में भी इस मूल तत्त्व की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। इसी बात को ध्यान में रखकर भरतमुनि ने नाट्य के द्वारा उक्त तत्त्व का लाभ कराने के लिए समाधिस्थ होकर नाट्यशास्त्र जैसे विपुलकाय ग्रंथ का निर्माण किया। मूल रस के ही उपस्कार के लिए बाद में अलंकार, गुण, रीति आदि सभी तत्त्वों की उद्भावना की गई। इन सब तत्त्वों के द्वारा मूल रस का ही संस्कार तथा उपस्कार होने लगा। जैसे शरीर में आत्मा-चैतन्य रहने पर ही उसका संस्कार उपस्कार व परिष्कार विविध साधनों द्वारा सम्भव है। अन्यथा तो जड़ शव शरीर को भूषित कर देने पर भी उससे कोई लाभ नहीं है। न उससे कोई अभीष्ट आनन्द की ही सम्भावना है। इसी प्रकार काव्य में भी मूल चेतना रस के रहने पर ही सभी उपकरणों की फिर उपयोगिता भी है। इसी रस की अभिव्यक्ति या उपलब्धि के लिए भारतीय काव्यशास्त्रियों ने मध्य में अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि आदि नाना उपकरणों की कल्पना की थी जिनका चरम उद्देश्य था रसानुभूति या रसोऽहम् जैसी भावना का साक्षात्कार।

धीरे-धीरे इस रस को अपने-अपने तरीके से अनेक आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार, गुण-रीति, ध्वनि आदि की परिधि में प्राप्त करने का प्रयास किया। कुछ समय के बाद यह रस ध्वनि सिद्धान्त में ध्वनि का एक प्रमुख अङ्ग माना जाने लगा। मम्मटोत्तर काल में तो स्वतन्त्र रूप से 'रस' को ही काव्य की आत्मा के रूप में मानने का प्रयास होने लगा। आचार्य विश्वनाथ का करीब-करीब यही प्रयास था। इसके आगे फिर इसका अवमूल्यन सा प्रारम्भ हो गया। रस का अर्थ केवल शृंङ्गार समझा जाने लगा, उसमें भी लोग नायक व नायिकाओं के भेद प्रभेदों की गणना में ही अपने को कृतकृत्य समझने लग गये थे। हिन्दी रीतिकाल का यह समन्यूनाधिक प्रभाव संस्कृत साहित्य को भी प्रभावित करने लगा, जिसके फलस्वरूप यह हुआ कि संस्कृत के आचार्य भी अब रस इस एक अंग पर ही काव्यशास्त्र की चर्चा करने लगे। काव्य का वह साङ्गोपाङ्ग व्यवस्थित रूप लुप्त सा होने लगा। विशेषकर रस की रमणीयता का महत्त्व कम होने लगा। इन्हीं सब दुर्बलताओं को दूर करने की कामना से पण्डितराज ने रसगङ्गाधर नामक ग्रन्थरत्न का निर्माण किया जिसमें काव्यशास्त्रीय सभी विधाओं की अपेक्षित आलोचनाओं के साथ-साथ काव्य के मूल तत्त्व 'रस' की व्यापक व्याख्या की गई। अब तक रस केवल मीमांसा, न्याय, सांख्य व शैव दर्शन की ही कक्षा को सुशोभित कर रहा था। पण्डितराज की प्रखर मेधा ने रसराज के उस महत्त्वपूर्ण आसन को

उक्त सीमित कक्षाओं से उठाकर वेदान्त जैसे चरम ज्ञान के मन्दिर में लाकर व्यवस्थित कर दिया। श्रुति के उक्त "रसो वै सः" वाले वाक्य को भी युक्ति-पुरस्सरः सार्थक कर दिया और रस को परमरमणीय कहकर परमपुरुषार्थ की कोटि तक पहुँचाने का स्तुत्य प्रयास किया। काव्य की आत्मा के विषय में भी पण्डितराज का यही निर्णय है—

"एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते"।

अलङ्कार एवं पण्डितराज

अलंकार सम्प्रदाय की प्राचीनता व प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। क्योंकि अलंकारों का वर्णन हमें वेदों में भी यत्र तत्र प्रकीर्ण रूप में उपलब्ध होता है। वेद में जगह-जगह उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति द्वारा अनेक आध्यात्मिक तत्त्वों को समझाया गया है। इसके बाद वेदाङ्गों में भी अलंकारों का प्रचुररूप में प्रयोग हुआ है। उपमा, रूपक आदि की पृथक् पहचान के लिए महावैय्याकरण पाणिनी को **'उपमानानिसामान्यावचनैः'** व **'मयूरव्यंसकादिभ्यः'** इत्यादि पृथक्-पृथक् सूत्रों का निर्माण करना पड़ा। दर्शनशास्त्र तो, यथा गौस्तथा गवयः स्थाणुर्वा, पुरुषो वा, इत्यादि अलंकारों की मूल रूपरेखाओं के रूप में उपमा, सन्देह, दृष्टान्तादि का जगह-जगह निर्देश करता ही है। इस प्रकार वेद से लोक व्यवहार तक यह अलंकार सम्प्रदाय सर्वत्र व्याप्त है। हमारा तो यहाँ तक कहना है क्या लोक में, क्या शास्त्र में उक्त अलंकार शास्त्र के बिना किसी प्रकार का व्यवहार व अर्थज्ञान हो ही नहीं सकता है। क्या बिना सादृश्य, दृष्टान्त, प्रतीक के बिना कोई बुद्धिमान भी किसी अर्थ को निश्चित रूप में समझ सकता है? अतः अलंकार की महत्ता, किसी भी युग में किसी प्रकार के भी व्यवहार में उपेक्षणीय नहीं है।

भामह से आनन्दवर्धन तक अलंकार की सुषमा के साम्राज्य में ही काव्य चर्चा होती रही। इधर आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त का निरुपण कर देने पर अलंकार आदि काव्य के बाह्य उपकरण मात्र रह गये थे। इसमें भी काव्यों को अलंकारों के विषय में यह सुझाव दिया गया कि रसमय काव्य में इनके प्रति जितनी भी उदासीनता दिखलाई जाय अच्छा ही है। नाममात्र का एक स्थान उनका निर्धारित किया गया था—

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। इत्यादि

आगे मम्मट ने जब इस प्रकार की उदासीनता का वातावरण देखा तो इसका उपयोग इन्होंने अपने इन शब्दों में किया **"अनलंकृती पुनः क्वापि"**, इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य के क्षेत्र में जो कुछ बचाखुचा इनका स्थान

था, वह भी हाथों से खिसकने लगा। अलंकार सम्प्रदाय के प्रति मम्मट का यह संकीर्ण भाव पीयूषवर्ष जयदेव को सहन नहीं हो सका और अपने स्वरों में इसका यथाशक्ति विरोध किया। मम्मट के प्रति साफ शब्दों में कहा कि 'शब्दार्थौ' को बिना अलंकारों के काव्य कहना तो वैसा ही है जैसा कि बिना उष्णता के भी किसी पदार्थ को आग कहना है।

जयदेव के बाद भी अलंकारों के विषय में स्वतन्त्र ग्रन्थों की पुनः रचना होती रही। अब टीकाकार भी अलंकार प्रधान ग्रन्थों पर टीका प्रटीकाओं की रचना करने लगे। स्वयं जयदेव के चन्द्रालोक ग्रन्थ के अलंकार प्रकरण को लेकर दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित अप्पय्यदीक्षित जैसे विद्वान् उसकी वृत्ति लिखने में अपने समय का सदुपयोग समझने लगे तथा अपने पाण्डित्य की उपयोगिता समझने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि पण्डितराज तक यह अलंकारवाद भी एक अंग के रूप में अपनी पूर्ण तैयारी के साथ चला आ रहा था। यद्यपि वह स्थान इस सम्प्रदाय को प्राप्त नहीं था, जो कि ध्वनि, रस, आदि को प्राप्त था। न आलंकारिकों का इस ओर प्रयास ही था। पण्डितराज ने बहुचर्चित इस अलंकार प्रसाद का यथेष्ट उपयोग किया और बड़े अभिनिवेश के साथ अलंकारों की उपस्कारकता का प्रौढ़ विवेचन किया। अलंकारों के विवेचन में पण्डितराज ने किसी प्रकार की उदासी-नता नहीं दिखलाई, अपितु आपके व्याख्यान में अलंकारों का विवेचन कहीं अधिक विशद प्रौढ़ व परिष्कृत हुआ है। अलंकार विवेचन की भूमिका प्रारम्भ करते हुए आप लिखते हैं—

अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते[1]—

रस गङ्गाधर के अलंकार विषयक प्रौढ़ व मार्मिक व्याख्यान को देखते हुए कोई भी विद्वान् बड़े विश्वास के साथ यह कह सकता है कि रसगङ्गाधर अलंकारवाद का ही एक प्रौढ़ ग्रन्थ है। ध्वनिवाद के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर अलंकारवाद के आचार्यों को अत्यधिक सहानुभूति प्रदान कर निःसन्देह पण्डितराज ने अलंकार सम्प्रदाय का महान् उपकार किया। अलंकारवाद के पुन-रुद्धरण के युग में पण्डितराज का कार्य सबसे बड़ी घटना है।

रीति एवं पण्डितराज

रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन हैं। इस सम्प्रदाय के आधारभूत तत्त्व दो हैं, गुण और पदरचना। थोड़े से शब्दों के अन्तर के साथ दण्डी के मार्ग तथा वामन की रीति और आनन्दवर्धन की संघटना में कोई फर्क नहीं है।

---

1. रस गं० हि० आ० अलं० प्र०।

यद्यपि गुणों की कहानी यह कोई नयी नहीं है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में तथा भामह ने अपने काव्यालंकार नामक ग्रन्थ में तथा दण्डी ने काव्यादर्श में इनका पर्याप्त विवेचन किया है और रीतियाँ का भी मार्ग के नाम से व्याख्यान किया है। किन्तु दोनों "गुण व रीति" तत्त्वों की सामञ्जस्य योजना का श्रेय सर्वप्रथम श्रेय आचार्य वामन को ही है।

गुणों की विशेषता का पूर्ण प्रदर्शन कर रीति को काव्यात्मा के रूप में मानकर यह सम्प्रदाय ध्वनि के काफी निकट आ चुका था। वामन ने दश शब्द गुण व दश अर्थगुण इस प्रकार सब मिलकर बीस गुणों का वर्णन किया है। इन्हीं गुणों से विशिष्ट पदरचना को वामन रीति कहते हैं। यही रीति काव्य की आत्मा है। ध्वनिवादी आचार्यों में पण्डितराज ने उक्त रीतिवादी आचार्यों के गुण व रीति तत्त्व का विवेचन बड़ी सहानुभूति पूर्वक किया। पण्डितराज गुणों को रसमात्र का धर्म नहीं मानते हैं, अपितु उनका सम्बन्ध शब्द अर्थ, व रचना के साथ भी जोड़ते हैं। रीतिवाद की प्रक्रिया भी बहुत कुछ वही है, जो ध्वनिवादियों की है। रीतिवाद गुणों का सीधा सम्बन्ध अनुभूति से मानता है। जबकि ध्वनिवाद गुणों का सम्बन्ध रसों के माध्यम से मानता है। पण्डितराज ने मध्य के रस के माध्यम को अस्वीकृत कर गुणों का सम्बन्ध सीधे अनुभूति से ही माना है। दूसरी बात यह है कि वामन के बीस गुणों का प्रौढ़ परिष्कृत भाषा में जिस प्रकार पण्डितराज ने किया है, वैसा किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया है। मम्मट व विश्वनाथ ने तो बीस वामनीय गुणों का अपने-अपने ग्रन्थों में परिचयमात्र दिया है। वह भी अपने गुणत्रय में अन्तर्भाव दिखलाने भर के लिए, यद्यपि पण्डितराज ने भी मम्मटादि के अनुसार उक्त बीस गुणों का गुणत्रय में अन्तर्भाव दिखलाया, परन्तु वामन के बीस गुणों का शास्त्रीय लक्षण बनाकर अपने उदाहरणों के साथ उन्हें प्रस्तुत कर वामन के साथ पूर्ण सहानुभूति दिखलाई है।

रीतिकाल के कवित्व का सबसे बड़ा योगदान है रचना की रमणीयता और उसके आचार्यत्व के लिए सबसे बड़ी शोचनीय बात है उसका विवेचन न कर सकना। जैसा कि आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है **"अशक्नुवद्भीमः, व्याकर्तुं रीतयः संप्रवर्तिताः"** इत्यादि।

पण्डितराज ने गुणाभिव्यञ्जक रचना का वैज्ञानिक वर्गीकरण कर एवं विवेचन प्रस्तुत कर रीतिवाद के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग को शास्त्रीय भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया।

ध्वनि एवं पण्डितराज

रीति सम्प्रदाय के सन्दर्भ में जिस प्रकार "रीतिरात्मा काव्यस्य" यह सिद्धान्त वचन बन गया उसी प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय में भी "काव्यस्यात्मा ध्वनि"

यह सिद्धान्त वचन बन गया। अब काव्य की आत्मा ध्वनि मानी गई, और आनन्दवर्धनाचार्य इस ध्वनिवाद के प्रतिष्ठापक हैं। अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ व पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख आचार्य इनके अनुयायी हैं यद्यपि इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में गुण, रीति, अलंकारादि सभी अङ्गों का वर्णन किया है, परन्तु यह सब भी इन्होंने ध्वनि सम्प्रदाय के अनुशासन में ही किया है। ध्वनि के पोषक तत्त्वों के रूप में आगे इन सबका विवेचन हुआ है।

मम्मट के अनुसार जब व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट हो, तो उस अवस्था में वह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि या ध्वनि काव्य कहलाता है—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः"[1]

स्वयं ध्वनिकार की भी ध्वनि की परिभाषा इसी प्रकार की है। उन्होंने ऐसे काव्य विशेष को ध्वनि कहा है, जहाँ शब्द अपने अर्थ को और अर्थ स्वयं अपने को अप्रधान रखकर किसी चमत्कार जनक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रधानीभूत व्यङ्ग्यार्थ को ही ध्वनि कहना चाहिए, उसे ही ध्वनिवाद के अनुसार काव्य की आत्मा कहना चाहिए।

आनन्दवर्धन के शब्दों में ध्वनि का लक्षण इस प्रकार का है—

यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः सः ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥[2]

अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द का व्यवहार पाँच अर्थों में दिखलाया है। व्यञ्जक शब्द व अर्थ में भी ध्वनि शब्द का व्यवहार होता है। व्यङ्ग्य रस भावादि अर्थ में भी ध्वनि शब्द का व्यवहार होता है। व्यञ्जना व्यापार में भी ध्वनि शब्द का व्यवहार होता है, तथा व्यंग्यालोक काव्य में भी ध्वनि शब्द का व्यवहार होता है।

"स इति शब्दो वा अर्थो वा, व्यापारो वा,···। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्"।[3]

यह तो ध्वनिकार की तरफ से काव्यात्मा के विषय की बात हुई। इसमें पण्डितराज की अपनी कैसी मान्यता है इस पर थोड़ा विचार करना चाहिए।

पण्डितराज ने काव्यलक्षण के विवेचन के अवसर पर रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है। इसके विवेचन के प्रसङ्ग में पहिले यह हम

---

1. काव्यप्रकाश प्र० उल्लास।
2. ध्वन्यालोक प्र० उद्योत
3. ध्वन्यालोक लोचन प्र० उद्योत।

बतला चुके हैं कि इसमें तीन अंश है शब्द, उसका प्रतिपादत्वरूप (स्थूल अर्थ) तथा रमणीय अर्थ। यहां पण्डितराज ने शब्द से प्रतिपादकत्वरूप--प्रथम अर्थ के अवान्तर व्यापार द्वारा रमणीय अर्थ को प्रतिपाद्य बतलाया है। यही प्रतिपाद्य रमणीय अर्थ पण्डितराज के अनुसार काव्य की आत्मा है।

रमणीयार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ

ध्वनिकार का व्यङ्ग्यार्थ या प्रतीयमानार्थ ही पण्डितराज का रमणीयार्थ है। इनमें परस्पर कोई खास भेद नहीं है। परन्तु आपाततः सुनने में प्रथम ध्वनिकार का शब्द साहित्यशास्त्रीय जैसा लगता है, और पण्डितराज का शब्द सौन्दर्यशास्त्रीय जैसा लगता है। विचार करने पर दोनों के व्यङ्ग्यार्थ या रमणीयार्थ का एक अर्थ व प्रयोजन है। ध्वनिकार ने अपने व्यङ्ग्यार्थ के लिए जब सहृदयश्लाघ्य वाली शर्त लगा रक्खी है, तो पण्डितराज ने अपने व्यङ्ग्यार्थ के लिए रमणीयता की शर्त लगा रक्खी है, मतलब दोनों का एक सा है।

भाषा के साधारण अर्थ को भी व्यङ्ग्य कहने में तो "पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" जैसी अर्थापत्तियां भी काव्य की कोटि में आ सकती हैं। अतः सौन्दर्यानुभूति से विशिष्ट शब्द व अर्थ को ही काव्य कोटि में गिनाना उचित है। इसके साथ भाषा के समस्त सौन्दर्योपकरण इनके पोषक के रूप में उपस्थित होते हैं। उक्त उपकरणों से परिपुष्ट अर्थों में प्रतीयमान सौन्दर्याप्रतीति ही तो काव्य की आत्मा है।

अभिनवगुप्त भी इस तथ्य का अनुमोदन बड़े ठाट से करते हैं—

काव्यग्रहणाद् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्टपाती ध्वनिलक्षण आत्मेत्युक्तम्, तेनैतन्निरवकाशं (यत्) श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति, यथोक्त- "चारुत्वप्रतीतिर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्" इति तदङ्गीकुर्म एवं नाम्नि खल्वयं विवाद, इति।[1]

सौन्दर्यानुभूति को ही पद काव्य कहा जाएगा तो फिर सौन्दर्यानुभूति तो हमें भौतिक सौन्दर्य के प्रत्यक्ष से भी होती है, तब तो उसे भी काव्य कहना चाहिए ?

इस शंका का निराकरण करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि, जहां शब्दार्थ-मय काव्य की चर्चा चल रही हो, वहां प्रत्यक्ष भौतिक सौन्दर्य का प्रश्न ही कहाँ से आ गया।

---

1. ध्वन्यालोक लोचन प्र० उ०।

"यच्चोक्तम्'''चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यस्यात्मा, प्रत्यक्षादिप्रमाणादपि भवन्ती तथा स्यात्, "इति", तत्र शब्दार्थमयकाव्यस्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्" ।[1]

पण्डितराज भी प्रकारान्तर से इसी ध्वनिवाद के पोषक हैं। अपने जिन-जिन स्थलों में शिथिलता का अनुमान किया, ध्वनिवाद के उन उन स्थलों का पुनः परिष्कार किया। जैसे "उदितं मण्डलं विधोः" तता "गतोऽस्तमर्कः" इत्यादि उदाहरणों में प्राचीन भामहादि तथा कुछ अर्वाचीन भी काफी आक्षेप कर चुके थे। ध्वनिवादियों ने उक्त स्थलों में काव्यत्व स्वीकार किया है, अब प्रश्न यह है कि क्या इन वाक्यों में भी काव्यत्व है ? या कोई सौन्दर्य भावना है ?

आपाततः देखने से तो यही प्रतीत होता है कि इन शुष्क वाक्यों में तो कहां काव्यत्व समा सकता है, यह तो केवल वार्ता मात्र हैं। परन्तु पण्डितराज के कथनानुसार ये वाक्य अकेले तो काव्य नहीं हैं, जब ये उचित प्रकरणानुसार किसी नायक या नायिका के सन्दर्भ में आने से ही काव्य की श्रेणी में आ सकते हैं :—

"उदितं मण्डलं विधोः" इति काव्ये इत्यभिसारिकाविरहिण्यादि-समुदीरितेऽभिसरणविधिनिषेद्यजीवनाभावादिपरे, "गतोऽस्तमर्कः" इत्यादौ चाव्याप्त्या-पत्तेः। न चेदमकाव्यमिति वक्तुं शक्ये, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात्। काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव"[2]

वस्तुतः ये वाक्य अकेले तो काव्य नहीं हैं, अपितु किसी नायक या नायिका के सन्दर्भ में आने से ही इनमें चमत्कार आ सकता है, तभी ये काव्य कहला सकते हैं। चमत्कारसार ही तो काव्य हैं, इसीलिए तो ध्वनिकार ने अर्थ के साथ सहृदय श्लाघ्य की शर्त लगाई है। पण्डितराज ने पूर्वोक्त सम्पूर्ण अभिप्राय को अपने रमणीयार्थ में भरने का स्तुत्य प्रयास किया है। पण्डितराज के इस "रमणीय" विशेषण में व्यंग्यार्थ के सभी प्रकार की शर्तों का समावेश हो जाता है।

ध्वनि काव्य की आत्मा है—यह कहना व्यङ्ग्यार्थ काव्य की आत्मा है कहने की अपेक्षा अधिक पूर्ण होता है, परन्तु ध्वनि शब्द के बहुमुखी प्रयोग ने इस कथन को अस्पष्ट और अव्यवहारिक बना दिया है। सुन्दर या चमत्कारी व्यङ्ग्यार्थ काव्य की आत्मा है, यह कहने की अपेक्षा "रमणीय अर्थ काव्य की आत्मा है" यह कथन कहीं अपने में अधिक संतुलित व परिमार्जित मालूम पड़ता है। अतः पण्डितराज का ध्वनि सिद्धान्त के संरक्षण व परिष्करण में महान योगदान है।

---

1. ध्वन्यालोक लोचन प्र० उ०।
2. रस गं० प्र० आ०।

वक्रोक्ति एवं पण्डितराज

वक्रोक्ति सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य कुन्तक हैं । यद्यपि यह सिद्धान्त कुन्तक से पूर्व भामह के ग्रन्थों में भी किसी न किसी प्रकार अंकुरित हो चुका था, तथापि इस सिद्धान्त को पूर्ण संरम्भ के साथ पल्लवित करने का सौभाग्य आचार्य कुन्तक को ही प्राप्त है । दुर्भाग्यवश इस सिद्धान्त ने एक ऐसे युग में जन्म लिया, जबकि सर्वत्र ध्वनि सिद्धान्त का आलोक व्याप्त था । अभिव्यंजना के उस चकाचौंध में कुन्तक का टिमटिमाता दीपक अधिक प्रकाश न कर सका । ध्वन्यालोक के प्रकृष्ट प्रभा में ही एक तरह से विलीन हो गया । कहने का तात्पर्य यह है कि कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त ध्वनिवाद के प्रकृष्ट प्रभाव में पण्डित मण्डली के मानस पटलों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका । यह सब होते हुए भी काव्यजगत में वक्रोक्तिवाद एक नई क्रान्ति के साथ पदार्पण करता है, प्रस्तुत उस अलंकारवादी चेतना को एक बार फिर जगाता है, वह शब्दार्थों को आलंकारिक के रूप में प्रस्तुत कर विभिन्न भणिति रूप अभिधा व्यापार से उनको अलंकृत करता है और 'सालंकारस्य काव्यता' कह कर अलंकारों की उपादेयता की ओर संकेत करता है । ध्वनि की व्यापक महिमा को वह वक्रोक्ति के उक्ति वैचित्र्य में ही समेट लेना चाहता है ।

काव्य में शब्द व अर्थ की परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण व्यवस्था के लिए, तथा पद पदार्थों के सन्निवेश विशेष के लिए कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त परवर्ती आचार्यों के लिए भी प्रेरणाप्रद रहा है । गुण व रीति के सन्दर्भ में कुन्तक का केवल शब्दान्तर या नाम परिवर्तन मात्र ही नहीं है, अपितु काव्यगुणों व मार्गों के विषय में कुछ अपनी ही अभिनव व्यवस्था भी है जो काव्यशास्त्र के अधिकारी विद्वानों के लिए भी माननीय हैं, शब्दार्थ के सामंजस्य के विषय में इससे अधिक प्रौढ़ विवेचन हमें ध्वनिवादियों के ग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होता है । कुन्तक के शब्दार्थ सामञ्जस्य और उनकी स्वस्पन्द सुन्दरता, मार्ग विषयक मान्यता, तथा कवि-कौशलप्रसूत कल्पना की सुन्दरता का पण्डितराज ने भी प्रकारान्तर से अनुमोदन किया है, यद्यपि उन्होंने इस विषय में स्पष्टतः कुन्तक नाम कहीं नहीं लिया है, फिर भी पण्डितराज की परिकल्पना में कुन्तक की काव्यविषयक प्रौढ़ विवेचन की छाप अवश्य है ।

औचित्य एवं पण्डितराज

रस यदि काव्य का रमणीय तत्त्व है, तो औचित्य उसका भी जीवित है, ऐसी मान्यता औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र की है । औचित्य को ही आप काव्य का सर्वस्व मानते हैं इन्हीं शब्दों के साथ आप औचित्य के विचार की चर्चा करते हैं—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारः क्रियते मया ॥[1]

औचित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । गुण, अलंकार, रीति, रस आदि बिना औचित्य के कोई भी शोभादायक नहीं होते हैं । आनन्दवर्धन व अभिनवगुप्त आदि महान् आचार्य औचित्य के प्रति पूर्ण निष्ठावान हैं । आनन्दवर्धन का तो यहां तक कहना है कि औचित्य ही रस की परा उपनिषद् है ।

पण्डितराज का भी यही कथन है कि आदर्शवादी साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें देश, काल, जाति, वर्ण व आश्रमों आदि का वर्णन सर्वथा औचित्य से अनुप्राणित होना चाहिए । रस निष्पत्ति के प्रसंग में वे स्वयं औचित्य के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं । विभावादि के साधारणीकरण विषयक औचित्य का पण्डितराज की व्याख्या में जो उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है, वह शायद ही कहीं अन्यत्र उपलब्ध हो सकेगा । सरस काव्य का सन्निवेश कितना औचित्यपूर्ण होना चाहिए इसका निर्देश वे रस प्रकरण के प्रारम्भ में ही कर देते हैं—

"समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितौ" इत्यादि

तात्पर्य यह है कि रस निष्पत्ति के लिए केवल आन्तरिक व्यवस्था या प्रक्रिया का ही सर्वथा औचित्यपूर्ण होना आवश्यक नहीं है, अपितु बाह्य परिवेश का विधान भी उतना ही औचित्यपूर्ण होना चाहिए । नैतिकता यथार्थ तथा व्यवहार की दृष्टि से भी पण्डितराज काव्य में औचित्य सिद्धान्त के पूर्ण अनुयायी हैं । रसाभास, भावाभास आदि की समस्याओं को समझाने के लिए भी हमें औचित्य तत्त्व का पूर्ण योगदान अपेक्षित है । यहां तक कि पण्डितराज परम्परापालन के औचित्य का स्वयं अनुसरण करते हुए कहते हैं, कि—**"भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादि व्यवस्थापकत्वेन स्वतन्त्र्यायोगात्", "रसानां नवत्वगणना तु मुनिवचनेन नियन्त्रिता भज्येत, इति यथा शासनमेव ज्याय,"**[2]

यही बात उन्होंने भावों की संख्या के विषय में भी कही है । मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, क्षमा, विनय, संशय आदि कितने ही भाव साहित्य क्षेत्र में बिखरे पड़े हैं । तर्क की दृष्टि से तो इनका भी विवेचन होना ही चाहिए, फिर तैंतीस या चौंतीस भावों का ही परिगणन क्यों किया गया है । इन भावों को भी मान्यता मिलनी चाहिए परन्तु भरतमुनि के अनुसार इन सबका उक्त भावों में ही कहीं अन्तर्भाव कर लेना चाहिए, अन्यथा तो परम्परा पालनरूप औचित्य का तिरस्कार हो जायेगा ।

---

1. औचित्य विचार चर्चा श्लोक 3 ।
2. रस० गं० प्र० आ० ।

इस प्रकार पण्डितराज औचित्य सम्प्रदाय के पूर्ण पक्षपाती हैं ।

रसगङ्गाधर का सिंहावलोकन

रस गङ्गाधर अपने सूक्ष्म विवेचन के लिए साहित्य जगत में सर्वोपरि हैं, इस ग्रन्थमणि के सूक्ष्म विचारों की रमरणीय प्रतिष्ठा के लिये जिस प्रकार की परिमार्जित व प्रौढ़ भाषा की आवश्यकता थी, सौभाग्य से वह पण्डितराज के पास थी । यद्यपि रसगङ्गाधर सामान्य पाठक व काव्यशास्त्र के सामान्य विद्यार्थी के लिए कुछ दुरूह सा हो गया है, क्योंकि इसका अधिकतर विवेचन नव्यन्याय की शब्दक्रीडा से समन्वित है, किन्तु पण्डितराज जिस उद्देश्य को सामने रखकर चले थे, काव्यशास्त्रीय मान्यताओं की सूक्ष्म व्यवस्था का वह उद्देश्य सम्भवतः ऐसी भाषा के बिना पूर्ण नहीं होता ।

रस गङ्गाधर में यद्यपि हमें किसी नवीन सम्प्रदाय या सिद्धान्त की कल्पना या उद्भावना के दर्शन नहीं होते हैं, फिर भी भरत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त व मम्मट के प्राचीन सिद्धान्तों या मान्यताओं का कुछ अभिनव रूप में बड़ी मौलिकता व शालीनता के साथ परिष्कार हुआ है ।

रस गङ्गाधर का काव्यलक्षण दो चिरन्तन सत्यों को साथ लेकर चलता है, वे हैं रमणीयता तथा चमत्कार । मम्मट के काव्यप्रकाश का काव्यलक्षण व्यवहारिक व सरल अवश्य है, पर उसमें शास्त्रीयता की इतनी गम्भीरता नहीं है । विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में स्थित काव्यलक्षण अवश्य काव्य के परिधि को सीमित करता है, परन्तु पण्डितराज के रसगङ्गाधर के काव्यलक्षण की तरह विशेष्यतावच्छेदता तथा तदितरभेदबुद्धिसाधकता का वह गुण कहां ? सामान्य परिष्कृत व फलित इन तीन स्तरों पर काव्यस्वरूप का विवेचन हमें रसगङ्गाधर से अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ? समस्त संस्कृत साहित्य में काव्य का यह विवेचन अपने ढंग का एक निराला ही है । काव्यकारणभूता प्रतिभा का विवेचन रसगङ्गाधर में बड़े ही संरम्भ तथा विचारपूर्वक किया गया है । प्रतिभा के कारण कलापों के विवेचन में तथा उसकी मूल प्रतिष्ठा के लिए पण्डितराज ने मीमांसा, न्याय तथा वेदान्त इन तीनों दर्शनों का सहारा लिया है ।

प्रतिभा का कार्यपक्ष, व्यक्तरूप तथा मूल अव्यक्त रूप के प्रदर्शन में पण्डित-राज ने अपनी अलौकिक मेधा का परिचय दिया है । निःसन्देह कोयल कविता का उल्लासमय यह पक्ष गम्भीर दार्शनिक गरिमा से व्याप्त है ।

रसगङ्गाधर का काव्यभेदों का वर्गीकरण भी अपनी पृथक् मान्यता का एक नया ही मापदण्ड है । उन्हीं पुरानी वस्तुओं की कुछ मरम्मत व पालिश कर देने में उनमें एक नई चमक आ जाती है, ठीक यही बात काव्य के विभाजन के विषय में

भी कही जा सकती है। पण्डितराज उन्हीं पुराने आनन्दवर्धन व मम्मट के द्वारा सुरक्षित काव्यसामग्री को जिसको उन्होंने तीन ही कक्षाओं में भर दिया था। विषय संकीर्णता को दूर करते हुए पण्डितराज ने क्रमबद्ध उन्हें चार कक्षाओं में सजा दिया। अर्थात् काव्य के तीन भेदों की जगह पण्डितराज ने अपने बुद्धि कौशल से चार भेद कर दिये।

रस गङ्गाधर का रस विवेचन अपनी कुछ मौलिकता तथा विलक्षणता को लिए हुए पाठकों के सामने आता है, इस का विश्लेषण बड़े विस्तार से अभिनवगुप्त पहिले से शैव दर्शन की छाया में कर चुके थे। भट्ट नायक साधारणीकरण सिद्धान्त के बल से सामाजिक तक उसकी भावना का प्रसार कर चुके थे, सैद्धान्तिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो रसविवेचन के क्षेत्र में किसी बात की कमी नहीं थी, परन्तु पण्डितराज ने अभिनवगुप्त के रस सिद्धान्त को ज्यों का त्यों लाकर उसकी दार्शनिक आधार भूमि बदल दी। उन्होंने अभिनवगुप्त के सारे सिद्धान्त का वेदान्तीकरण कर दिया। रस के इस वेदान्ती करण से दो बातें सामने आयीं—एक तो यह कि शैव दर्शन की अपेक्षा वेदान्त अधिक परिचित व प्रसिद्ध है। क्योंकि पण्डितराज के समय तक शैव दर्शन की आभा कुछ मन्द हो चुकी थी। सामान्य जनता से भी वह दर्शन दिनों दिन अपरिचित सा हो रहा था। दूसरी बात यह है कि वेदान्त की अपेक्षा वह समझने में दुरुह भी है और साथ ही साथ आभासवादी शैव दर्शन मूल में अद्वैती होते हुए भी विवेचन में वेदान्त की अपेक्षा स्थूल ही है।

भट्टनायक का भावकत्व व्यापार भी पण्डितराज की व्याख्या के बिना अधूरा ही था, पर पण्डितराज ने पूर्ण सहानुभूति के साथ भट्टनायक के इस व्यापार की व्याख्या की। दो नवीन मतों की उद्भावना करके पण्डितराज ने शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से भी रस की व्याख्या की है।

भावध्वनि के प्रसङ्ग में भावों के विवेचन की मौलिकता व विशदता रसगङ्गाधर से अन्यत्र दुर्लभ है। प्रत्येक भाव को लक्षण बनाकर उदाहरण में उसे सङ्गत कर, तथा प्रत्युदाहरण से उसके व्यावर्तन का सुन्दर प्रयास जितना इस ग्रन्थ में हुआ, वैसा किसी आचार्य के अपने ग्रन्थों में नहीं दिखाई देता है।

गुण रसमात्र के धर्म नहीं है, अपितु शब्द, अर्थ, रचना, रस सभी के प्रयोजकता सम्बन्ध से धर्म है। वस्तुतः पण्डितराज गुणों को सीधा रस का धर्म मानने को तैयार नहीं है। क्योंकि वेदान्तदर्शन की दृष्टि इस सम्बन्ध में उन्हें वाध्य करती है, कि आत्मा तो निर्गुण है ? फिर गुण आत्मरूप रस के धर्म कैसे हो सकते हैं ?

इस प्रकार पण्डितराज के गम्भीर शास्त्रीय प्रतिभा के दर्शन हमें रसगङ्गाधर

के अनेक शास्त्रार्थों में होते हैं। इन शास्त्रार्थों में युक्ति प्रमाण व गम्भीरता सर्वत्र अनुस्यूत है। आपका शास्त्रार्थ केवल कोमलमति छात्र के लिए नहीं है। इसमें कोरा बुद्धि विनोद ही नहीं भरा है, अपितु परिष्कार तथा प्रतिष्ठा के उद्देश्य भी इसमें निहित है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रसगङ्गाधर एक काव्यशास्त्रीय परम्परा के विविध उपलब्धियों का जागरूक व उज्वल समालोचनात्मक ग्रन्थ है, और इसके लेखक पण्डितराज एक स्वोपक्ष चिन्तक हैं जिनमें किसी प्रकार की भी साहित्यिक साम्प्रदायिकता नहीं है।

पण्डितराज के सिद्धान्तों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे आज के युग में भी "आउट आफ डेट" नहीं है। उनमें जितनी आधुनिकता है, उतनी किसी संस्कृत के आचार्य में नहीं। उनका प्रतिपाद्य निश्चित एवं असंदिग्ध है। उनके निर्णय उलझे हुए नहीं है। उनका विषय निरुपण गम्भीर होते हुए भी पारदर्शी हैं।

पण्डितराज गम्भीर आचार्यत्व के साथ मनोरम कवित्व का भी पक्ष धारण करते हैं। लक्षग ग्रन्थों का निर्माता यदि स्वयं कवि भी हो तो वह कैसा होगा? इसके आप निदर्शन है। रस गङ्गाधर आपका मनन सागर से समुद्धृत श्रेष्ठ ग्रंथमणी है जिसमें काव्यशास्त्रीय समस्त उपलब्धियों का मनोरम चित्रण हुआ है।

अन्त में हम आपके ही वाक्य पुष्पों के साथ उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

"रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु"

प्रथम आनन

रसगङ्गाधर का प्रतिपाद्य विषय

मङ्गलाचरण

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी,
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥

अभीष्ट ग्रन्थ रसगङ्गाधर की निर्विघ्नता पूर्वक समाप्ति के लिए, शिष्टाचारानुमोदित मङ्गलाचरण करते हुए, पण्डितराज अपने इष्ट देवता भगवान् कृष्ण की घनश्याम मूर्ति का ध्यान करते हैं—

मेघमाला की तरह श्यामला, वह भगवान कृष्ण की मूर्ति स्मरणमात्र से मनुष्यों के आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक त्रिविधताप रूप तीव्र ताप को दयादृष्टि से हर लेती है। मेघमाला में स्फुरित विद्युतच्छटा की तरह, देदीप्यमान शरीरप्रभा से जो मूर्ति वैष्टित है। कलिन्दकन्या यमुना के तट स्थित कदम्बवृक्ष का आश्रय लेकर वर्तमान वह श्यामल भगवान् कृष्ण की मूर्ति मेरी बुद्धि का विषय बने अर्थात् मैं निरन्तर उस घनघटा में अध्यवसित मूर्ति का ध्यान करता रहूँ।

उक्त मङ्गलाचरण के पद्य में पण्डितराज ने रूपकातिशयोक्ति द्वारा मेघमाला के द्वारा भगवान् कृष्ण की मूर्ति का अध्यवसान किया है। अर्थात् उपमानभूत मेघमाला द्वारा उपमेयभूत कृष्णमूर्ति का निगरण किया गया है, अन्य विशेषण उभय साधारण हैं।

प्रसिद्ध भौतिक मेघमाला से उस अनिर्वचनीय घनश्याममूर्ति की विलक्षणता एवं निरतिशयता को प्रदर्शित करते हुए, उसकी लोकोत्तर महिमा का प्रतिपादन करते हैं। प्रसिद्ध कादिम्बिनी तो केवल वर्षण या स्पर्श द्वारा ही किन्हीं मनुष्यों के सन्ताप को शान्त करती है। परन्तु यह अनिर्वचनीय कृष्ण मूर्ति तो स्मरणमात्र से ही जन्म जन्मान्तरों के सन्तापों का शमन कर देती है। भौतिक मेघमाला तो केवल क्षणभंगुर विद्युच्छटा से घिरी रहती है परन्तु यह आध्यात्मिक घनघटा तो शाश्वत उज्ज्वलप्रभा से ही निहित रहती है, अथवा विद्युच्छटा से अध्यवसित जो

गोपाङ्गनाये हैं, उनसे भगवान् की मूर्ति हमेशा घिरी ही रहती है। यहां कादिम्बिनी के 'काऽपि' पदवाच्य व्यतिरेक के तथा अतिशयोक्ति के परस्पर सापेक्ष होने से शब्दालंकार है। परन्तु 'काऽपि' पदवाच्य ध्वनि से भगवान् की अनिर्वचनीयता, निरतिशय सुषमा साम्राज्य, तथा अवाङ्मनसगोचरता की भी अभिव्यक्ति होती है। सम्पूर्ण सन्दर्भ से कविनिष्ठ भगवद्विषयक भाव की अभिव्यक्ति होती है।

सम्प्रदायपूर्वक शास्त्राध्ययन

श्रीमद्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः,
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयम्,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः॥

पण्डितराज के पिता पेरुमह जो सर्व विद्याविशारद थे, उन्होंने "ज्ञानेन्द्र भिक्षु" नामक संन्यासी से समस्त ब्रह्मविद्या वेदान्तशास्त्र का अध्ययन किया। कणाद तथा अक्षपाद गौतम की गम्भीर वाणी को अर्थात् वैशेषिक दर्शन व न्याय दर्शन को "महेन्द्र" नामक गुरु से अध्ययन किया। काशी में खण्डदेवोपाध्याय से मीमांसा शास्त्र का अध्ययन किया। शेष उपाधिधारी वीरेश्वर पण्डित से पतञ्जलि की निर्मल उक्तियां, अर्थात् महाभाष्य का अध्ययन किया। इस प्रकार पण्डितराज के पिता पेरुमह समस्त शास्त्रों के पण्डित थे।

"सर्वविद्या विशारद पिता से ही समस्त विद्याओं का अध्ययन"

पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्॥

जिनकी शिक्षण चेष्टा से, पाषाणतुल्य मन्दगति से भी सरस अमृतकल्प काव्य का स्पन्दन हो सकता है। फ़िर मेरे जैसे सचेतन के विषय में तो कहना ही क्या? उन्हीं लक्ष्मीकान्त (अर्थात् लक्ष्मी नामक माता के पति) पेरुमह नामक परमपूज्य गुरुदेव पिता जी को मैं प्रणाम करता हूँ।

प्रबन्ध प्रणयन का प्रयोजन

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरम्,
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु॥

निरन्तर परिश्रम करते हुए मैंने चिन्तन सागर से इस रसगङ्गाधर नामक श्रेष्ठ मणि को निकाला है। यह ग्रन्थमणि गुणग्राही सज्जनों का हृदङ्गम होता

हुआ, उनके मनस्थित साहित्यविषयक अज्ञान को दूर करेगा। साथ ही साथ अन्य अलंकार ग्रंथों के भी गर्व का गलन करेगा।

अपने परिश्रम की सार्थकता

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये,
तथाऽपि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता।
तिमीन्द्राः सङ्क्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे,
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः॥

सहृदयमूर्धन्य (अपनी ओर से) अर्थों का परिष्कार करें, अर्थात् नवीन नवीन ग्रन्थों का निर्माण कर साहित्यिक पदार्थों का विवेचन करें। परन्तु उन लोगों के ग्रंथ प्रणयन से, मेरा यह (रसगङ्गाधर प्रणयन रूप) परिश्रम कथमपि गतार्थ नहीं हो सकता है। ये बड़ी-बड़ी मछलियाँ तो हमेशा ही समुद्र में इधर-उधर गोता लगाती ही रहती हैं, क्या इससे (चतुर्दश रत्नों के उद्धार स्वरुप) मन्दराचल के मन्थन का क्लेश व्यर्थ समझा जायेगा ?

अन्य ग्रन्थों से स्वग्रन्थ की विशेषता

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं,
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः,
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥

इस रसगङ्गाधर में मैंने उदाहरणों के अनुसार काव्य की रचना स्वयं की है। दूसरे किसी भी कवि के पद्य को उदाहरण के रूप में नहीं रखा है।

जो मृग स्वयं कस्तूरी उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है, वह क्यों फिर अन्य फूलों के गन्ध के लिए लालायित रहेगा।

मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम्॥

स्वाध्याय मनन व चिन्तन रूप तरणि से जिन्होंने विशाल वाङ्मय सागर को पार किया है, वह जगन्नाथ नामक पण्डितेन्द्र बड़े उत्साह के साथ रसगङ्गाधर नामक काव्यमीमांसा को प्रारम्भ करते हैं। (ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ की मौलिकता व उसके उज्ज्वल भविष्य के विषय में पूर्ण आस्वस्त हैं)।

प्रबन्ध के प्रसार की कामना

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु।
किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यञ्चि रञ्जयतु॥

रसगङ्गाधर नामक यह निबन्ध चिरकाल तक विजयी रहे, अपने नैसर्गिक सुषमा से श्रेष्ठ कविकुल का भी अनुरञ्जन करता रहे ।

काव्य का लक्षण

विचारशील विद्वानों की प्रवृत्ति के लिए, कीर्ति, परमाह्लाद, गुरु राजा देवतादि की प्रसन्नता धन लाभादि काव्य के अनेक प्रयोजनों को प्रस्तुत करते हुए यह बतलाते हैं कि काव्य अत्यन्त उपादेय वस्तु है । अतः उसका ज्ञान कवि व सहृदय दोनों के लिए अपेक्षित है । अतः काव्य का लक्षण अवश्य कहना चाहिए । क्योंकि लक्षण के बिना किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है, लक्षण जहां व्यवहार का प्रयोजक है, वहां इतर भेद का भी साधक है। अर्थात् गुणादि विशेषण है, और काव्य विशेष्य है । गुणादिमत् काव्य को शिष्य समझ लें, इसके लिए लक्षण बनाना आवश्यक है । इसी के द्वारा काव्य का व्यवहार व अन्य शास्त्रों से इसका भेद भी मालूम होगा । लक्षण यहां दोनों कार्य करेगा । क्योंकि वह काव्यनिष्ठ विशेष्यता का अवच्छेदक परिचायक भी होगा और अन्य व्याकरणादि शास्त्रों का व्यावर्तक या तदितर भेद बुद्धि का साधन भी होगा ।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए पण्डितराज काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" ।

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है । यह काव्य का सामान्य लक्षण है, आगे परिष्कृत व फलित लक्षणों में इसकी विशेष व्याख्या करेंगे ।

यहां सामान्य रूप से यह समझ लेना आवश्यक है कि पण्डितराज के मतानुसार शब्द काव्य है तो उससे प्रतिपादकत्व रूप व्यापार विशेष से या माध्यम से, रमणीयार्थ प्रतीति ही उसका फल है । परन्तु यह रमणीयार्थ प्रतीति तो अन्यत्र भी सम्भव है, शास्त्रीय वाक्यों से या लौकिक वाक्यों से भी रमणीय अर्थ की प्रतीति होती ही है, जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम्हें प्रचुर धन सम्पत्ति मिलेगी, या तुम्हारा पुत्र हुआ है । इन वाक्यों से भी तो, सुनने वाले को रमणीय अर्थ की प्रतीति हो ही रही है, तब काव्यार्थजन्य रमणीयता और लौकिक वाक्यार्थजन्य रमणीयता की विभाजक रेखा क्या है ? इसी को स्पष्ट करने के लिए पण्डितराज काव्यार्थजन्य रमणीयता की परिभाषा कर रहे हैं—

"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता"

काव्यार्थ जन्या जो रमणीयता होगी, वह तो लोकोत्तर आनन्दजनक ज्ञान का विषय बनेगी । अर्थात् वह लोकोत्तर आनन्द प्रदान करती हुई हमारे ज्ञान में समायेगी ।

यह लोकोत्तर आनन्द एक प्रकार का चमत्कार विशेष है। जो काव्यार्थ भावना के द्वारा उत्पन्न होती है। काव्यार्थ का अनुसन्धान करने से इस प्रकार के एक चमत्कार का साक्षात्कार होता है। इसमें तो केवल सहृदयों का हृदय ही प्रमाण है। जैसा कि विश्वनाथ ने भी कहा है—सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलं,[1] पण्डितराज का भी यही कथन है—

"लोकोत्तरत्वम् चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति-विशेषः"।

इस चमत्कारत्व में विविध प्रकार के चमत्कारों की कल्पना करके पण्डित-राज ने चमत्कारत्व को एक जाति मान लिया। इसमें भी घटत्व-पटत्व की तरह सामान्य जाति नहीं अपितु काव्यार्थ भावनाजन्य चमत्कारत्व रूप जाति विशेष।

इस प्रकार सामान्य लक्षण द्वारा अब यह बात आई कि चमत्कारी आह्लाद के समर्थक जो रमणीय अर्थ, ऐसे अर्थों के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।

उक्त चमत्कार को उत्पन्न करने में काव्यार्थ की भावना, अर्थात् विभावादिकों का बार बार अनुसन्धान ही कारण है। उक्त काव्य लक्षण का परिष्कार इस प्रकार है—

इत्थं चमत्कारजनकभावना विषयार्थप्रतिपादकः शब्दत्वम् (काव्यत्वम्)।[2]

अर्थात् चमत्कार को उत्पन्न करने वाली जो भावना, उस भावना का विषयीभूत जो अर्थ, ऐसे अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। उक्त परिष्कृत लक्षण में चमत्कारजनक ज्ञान को न कहकर उस ज्ञान के स्थान में भावना पद निवेश का प्रयोजन यह है, कभी-कभी काव्य विषयक चर्चा के प्रसंङ्ग में ज्ञातव्य विषयान्तरोद्बोधक सामग्री भी उपस्थित हो जाती है, अतः प्रकृत काव्य व अप्रकृत ज्ञातव्य विषयक वस्तु में भी काव्यत्व प्रसक्ति हो जाएगी "भावना" पद निवेश से भावना के स्मृतिरूप या पुनः पुनः अनुसन्धानरूप होने से एक बार उस अप्रकृत सामग्री के जुट जाने पर भी, बार-बार अनुसन्धान नहीं हो सकेगा। अतः उक्त काव्येतर अप्रकृत वस्तु में काव्य लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

इस प्रकार ज्ञान के स्थान पर भावना पद के निवेश से बात नहीं बन रही है, क्योंकि पुनः पुनः अनुसन्धानरूप भावना तो एक प्रकार से धारावाहिक

---

1. साहित्यदर्पण 3 परि०।
2. चमत्कार जनिका या भावना तादृशभावनाया विषयीभूतो योऽर्थः, तत्प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्, तत्त्वं च काव्यत्वम्। (रस गं० सरला टिप्पणी)

ज्ञान ही है। इस प्रकार धारावाहिक ज्ञान में कुछ चमत्कारजनक पदार्थों की प्रतीति होगी तो उसी समय उन अर्थों के प्रतिपादक शब्दों की भी प्रतीति होगी, अतः अब काव्यलक्षण की अव्याप्ति उस सम्पूर्ण वाक्य में होगी जो धारावाहिक ज्ञान समस्त प्रकृता प्रकृत विषयक ज्ञान करा रहा है। हमे तो ऐसे शब्द या वाक्य अपेक्षित हैं, जो केवल चमत्कारजनक हों। अतः द्वितीय परिष्कृत लक्षण की आवश्यकता हुई, जो इस प्रकार है—

"यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्"।[1]

अर्थात् जिस प्रकार की आनुपूर्वी विशिष्ट शब्द (या शब्द संघटना) से प्रतिपादित अर्थ की भावना चमत्कार जनकता का अवच्छेदक हो (अर्थात् चमत्कार जनन सामर्थ्यरूप धर्म से युक्त हो) ऐसे भावनात्व को या उस भावना विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक शब्दानुपूर्वी को ही काव्य कहते हैं।

इन दोनों परिष्कृत लक्षणों में—प्रथम लक्षण में तो चमत्कार से प्रारम्भ कर शब्द पर्यन्त लक्षण को पहुँचाया है जिसका स्वरूप इस प्रकार है। चमत्कार जनक भावना के विषयीभूत अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।

द्वितीय परिष्कृत लक्षण को शब्द से प्रारम्भ कर चमत्कार तक पहुँचाने की कोशिश की गई है जिसका स्वरूप इस प्रकार है—शब्द से प्रतिपादित अर्थ उस अर्थ की जो भावना, भावना से जनित जो चमत्कार अर्थात् भावनानिष्ठ चमत्कार जनक जो धर्म, वही काव्य है।

द्वितीय परिष्कृत लक्षण भी यत्तद्पद घटित होने से गुरु (लम्बा) हो गया है। और शब्द बोध में विशेषणरूप से इन पदों का भी मान होगा, और 'यत्' 'तत्' पदों का कोई व्यवस्थित अर्थ भी नहीं मालूम पड़ता है। लक्षण को तो अन्यूनातिरिक्त धर्म वाला होना चाहिए अर्थात् लक्षण को लक्ष्य की समनियत होना चाहिए। अतः तृतीय फलित लक्षण को प्रस्तुत करते हैं—

---

1. येन यैर्वा शब्दैरुपस्थापितस्य, (यादृशानुपूर्वीमता शब्देन प्रतिपादितस्या) अर्थस्य भावनया (पुनः पुनः अनुसन्धानेन) चेतसि चमत्कारजननं भवति तादृश-चमत्कारजनकतया अवच्छेदकं तादृशानुपूर्वीमत्वमेव काव्यत्वं भवतीत्याशयः। एवं सति सकलया आनुपूर्व्या यत्र चमत्कारो नोत्पद्यते, किन्तु धारावाहिक-रूपेण अपदपि। अचमत्कारैः प्रतीयते बाध्यस्थलस्य निराशः। (रस गं० सरला टिप्पणी)

"स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्"[1]

"परम्परा सम्बन्ध से चमत्कारत्व वाला जो शब्द हो वही काव्य है" ।

अर्थात् उक्त फलित लक्षण में स्व शब्द से चमत्कारत्व का ग्रहण करना चाहिए, समवाय सम्बन्ध से चमत्कारत्व से विशिष्ट होगा चमत्कार, इस चमत्कार निरुपित जनकता होगी । भावनारूप ज्ञान धारा में, भावना निरूपित विषयता सम्बन्धावच्छिन्ना अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में, अर्थात् विषयता सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः वह काव्यार्थ भी भावनानिष्ठ जनकता का अवच्छेदक होगा । इस तरह के काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द, अतः तादृश प्रतिपादिकता सम्बन्ध से चमत्कारत्व शब्द में आयेगा । अतः चमत्कारत्व विशिष्ट शब्द ही काव्य है । रसगङ्गाधर के सरला टिप्पणीकार पं० मथुरानाथ भट्ट जी ने उक्त लक्षणों का सारांश इस प्रकार उपस्थित किया है—

सर्वस्य लक्षणस्यायं निष्कर्षः—यादृशशब्दानुपूर्व्याः शब्द पुनः पुनः अनुसंधानात्मकेन भावनाविशेषेण चमत्कारापरपर्यायस्य अलौकिकानन्दस्य जननं भवति, तादृशशब्दानुपूर्वीमत्वं काव्यत्वमिति ।

अर्थात् जिस प्रकार के शब्दानुपूर्वी शब्द क्रम संघटना विशेष से प्रतिपादित अर्थानुसन्धानरूप भावना विशेष से चमत्कारोदय होता है, उसी शब्द संघटना विशेष को काव्य कहते हैं ।

शब्दार्थयुगल काव्य नहीं है—

पण्डितराज अपना काव्य लक्षण निरुपणकर, अब प्राचीनों के काव्य लक्षणों का खण्डन करते हैं । इनमें सबसे प्रसिद्ध लक्षण काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का है—वह इस प्रकार है ।

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।"

अर्थात् दोषरहित गुणसहित कहीं कहीं अलंकार से युक्त शब्द और अर्थ

---

1. स्वावच्छिन्नजन्यता निरुपिता वा जनकता तादृशजनकतानिरूपिता वा विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्नाऽवच्छेदकता, तादृशावच्छेदकतावदर्थप्रतिपादकत्व-सम्बान्धेन चमत्कारत्ववत्वं काव्यत्वम् । अर्थात् स्वं सुखत्वव्याप्ता चमत्कारत्व-रूपा जातिः, तदवच्छिन्नश्चमत्कारः, तन्निष्ठा या जन्यता तादृश जन्यता निरुपिता भावनानिष्ठा या जनकता, तादृशजनकता निरुपिता या विषयित्व-सम्बन्धावच्छिन्ना अर्थनिष्ठा अवच्छेदकता तादृशावच्छेदकतावदर्थप्रतिपाद-कत्वसम्बन्धेन चमत्कारत्ववत्वं काव्यत्वम् । (रस गं० मधुसूदनी)

काव्यपद वाच्य हैं, अर्थात् काव्य कहें जाते हैं, इस पर पण्डितराज का कहना है कि काव्य शब्द का अर्थ—शब्दार्थयुगल कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। शब्द शक्ति के ग्राहक कोष व्याकरणादि प्रमाणों में सबसे बलवान प्रमाण व्यवहार है, तव व्यवहार में तो हम यही देखते सुनते हैं कि काव्य ऊंचे स्वर से पढ़ा जाता है, काव्य से अर्थ को जाना जाता है, काव्य तो सुना परन्तु अर्थ नहीं जाना, इस प्रकार के सभी लोगों के नित्यप्रति के व्यवहार से तो यही निश्चित होता है कि शब्द विशेष ही काव्य पद का अर्थ है, अर्थात काव्यत्व शब्दनिष्ठ ही है, न कि शब्दार्थयुगलनिष्ठ।

यदि यह कहा जाय कि प्रधानरूप से काव्य का व्यवहार शब्द में होता है, गौणरूप से या लक्षणावृत्ति से उसका व्यवहार शब्दार्थयुगल में भी किया जा सकता है, तो भी यह बात बन नहीं सकती है, क्योंकि शब्दार्थयुगल में काव्य है इसको पुष्ट करने के लिए विपक्ष के पास कोई दृढ़तर प्रमाण नहीं हैं। बिना किसी प्रमाण के विपक्ष के कथन को कैसे स्वीकार किया जाय।

इस प्रकार जब शब्दार्थ युगल में काव्यपद की शक्ति ग्राहक कोई प्रमाण ही नहीं है, तब शब्द विशेष ही काव्य है या शब्द विशेष में ही काव्यपद की शक्ति है, इसे मानने में तो कोई रूकावट नहीं है। वेद व पुराणादि के लक्षण की तरह केवल शब्द विशेष को ही काव्य कहना चाहिए, न कि स्वकपोलकल्पित शब्दार्थ युगल को। पूर्वपक्ष की ओर से यदि कोई यह तर्क उपस्थित करे कि काव्य वही है जिससे हमें आस्वाद मिले, अर्थात् आस्वाद का उद्बोधक जो हो चाहे वह शब्द हो या अर्थ। इस प्रकार की यदि काव्य के विषय में कोई शर्त रख दी जायेगी, कि जो आस्वाद का उद्बोधक होगा वही काव्य होगा तब तो राग भी रस का उद्बोधक है। प्रायः नाटक में सभी गीत वाद्य नृत्य आदि उपकरण रस के उद्बोधक हैं, तब आपके कथनानुसार तो उन सब में काव्यत्व की प्रसक्ति हो जायेगी, अर्थात् उन सभी रसोद्बोधक अङ्गों के लिए काव्य शब्द का व्यवहार होने लगेगा, पर किसी को भी यह सम्मत नहीं है।

काव्यत्व शब्दार्थ युगल में नहीं है, अर्थात् काव्य शब्द का व्यवहार शब्दार्थ युगल में नहीं हो सकता है, इस बात को पण्डितराज अपने प्रबल तर्क से भी सिद्ध करते हैं। पूर्व पक्षियों से पण्डितराज पूछते हैं कि क्या आप काव्यत्व को शब्दार्थ समूह में रहने वाला व्यासज्यवृत्ति धर्म मानते हैं, या शब्द में अलग काव्य व अर्थ में अलग प्रत्येक पर्याप्ति धर्म मानते हैं।

इस सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि किसी समुदाय में रहने वाले धर्म को व्यासज्यवृत्ति धर्म कहते हैं, जैसे द्वित्व, बहुत्व इत्यादि। एक में ही रहने वाला धर्म कहलाता है प्रत्येक पर्याप्त, जैसे मनुष्यत्व इत्यादि। अब यहाँ यह विचार करना है

कि आपका काव्यपद प्रवृत्ति निमित्त अर्थात् काव्यत्व धर्म किस कोटि का है । शब्दार्थ समूह में रहने वाला व्यासज्यवृत्ति ? अथवा शब्द व अर्थ पृथक्-पृथक् रहने वाला प्रत्येक पर्याप्त ?

यदि आप काव्यत्व को व्यासज्यवृत्ति मानते हैं, अर्थात् शब्दार्थ समुदाय में काव्यत्व मानते हैं, तब तो फिर केवल शब्द जो कि काव्य का एक अवयव है, अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उसे काव्य नहीं कह सकेंगे, क्योंकि आपका काव्य-व्यवहार तो शब्दार्थ समुदाय में ही होगा । इस समुदाय के अवयव भूत केवल श्लोक काव्यादि शब्द में भी नहीं, और न केवल समुदाय के अवयवभूत अर्थ में ही । कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे केवल घट, घटपटोभय नहीं हो सकता है, उसी प्रकार केवल शब्द भी शब्दार्थ युगल नहीं हो सकता है । लोक में भी जिस प्रकार एक दो नहीं हो सकता है, उसी प्रकार यहाँ भी । यद्यपि द्वित्व समुदाय का अवयव प्रत्येक इकाई है, द्वित्व धर्म भी प्रत्येक इकाई में रहेगा, फिर भी लोक में एक को कोई भी दो नहीं कहता है ।

यद्यपि एकत्वादि संख्या गुण होने से, गुण अपने आधारभूत द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहेगा, इसी प्रकार द्वित्वादि संख्या भी गुण हैं, तो अपने आधारभूत प्रत्येक इकाई (घटादि) में समवाय सम्बन्ध से ही रहेगा । समवाय सम्बन्ध के काव्यवृत्ति होने से प्रत्येक इकाई में द्वित्व रहना चाहिए, तब तो फिर एक को भी दो कहने में कोई हानि नहीं होगी, पर लोक व्यवहार में तो एक को कोई दो नहीं कहता है । अतः द्वित्वादि संख्याओं का स्वाश्रय द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध न मानकर व्यासज्यवृत्ति सम्बन्ध ही माना जाता है, फलतः एक-एक के सम्मिलित समुदाय में ही द्वित्व माना जायेगा, न कि केवल एक में ।

इसी आशय के अनुसार पण्डितराज पूछते हैं कि यदि आप शब्दार्थ युगल रूप काव्यत्व को व्यासज्यवृत्ति मानते हैं, तब तो केवल श्लोक वाक्य आपका काव्य कहलाने योग्य नहीं होगा, क्योंकि आपकी मान्यता तो व्यासज्यवृत्ति धर्म के अनुसार शब्दार्थ युगल समुदाय ही काव्यत्व है, किन्तु व्यवहार में यह देखा जाता है कि श्लोक वाक्य को भी काव्य कहते हैं ।

अथवा पर्याप्ति सम्बन्ध के अनुसार शब्द में पृथक् काव्य व अर्थ में पृथक् काव्य मानेंगे, तब फिर जिस काव्य में या श्लोक वाक्य में शब्दार्थ दोनों का ज्ञान हो रहा है, उसमें काव्य द्वय की प्रसक्ति हो जायेगी, शब्दमात्र अलग काव्य और अर्थमात्र अलग काव्य ।

तस्मात् शब्दार्थ युगल आपका न तो व्यासज्यवृत्ति सम्बन्ध से काव्यपद वाच्य है, नाहीं पर्याप्ति वृत्ति सम्बन्ध से ही काव्य व्यवहार के योग्य है । अतः जिस प्रकार वेदादि की शब्दनिष्ठता सुप्रसिद्ध है, इसी प्रकार काव्यपद प्रवृत्ति

निमित्ता भी शब्दनिष्ठा ही उचित है, अर्थात् शब्द में ही काव्य का व्यवहार उचित है।

काव्यलक्षण में गुणालङ्कारादि का निवेश भी अनुचित

आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण में विशेषण के रूप में जो गुणालङ्कारादि का निवेश किया है, वह भी अनुचित है, क्योंकि सर्वसम्मत—"उदितं मण्डलं विधो, गतोऽस्तमर्कः" इत्यादि काव्य वाक्यों में मम्मट का गुणालंकारादि विशिष्ट लक्षण अव्याप्त है। क्योंकि इन वाक्यों में स्पष्टरूप से किसी गुण या अलंकार की स्थिति ही नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि जब यहाँ किसी गुण व अलंकार की स्थिति ही नहीं है तो इसे काव्य माना ही क्यों गया ? इसके उत्तर में यह कहना है कि काव्य का जीवनाधायक चमत्कार तो यहाँ है ही, वही चमत्कार यहाँ प्रकरण के अनुसन्धान से प्राप्त होता है। जब ये ही वाक्य किसी दूती अभिसारिका व विरहिणी आदि से उच्चरित होते हैं तो इनका अर्थ तत्तत् प्रकरणानुसार विधि निषेध, व जीवनाभाव परक होते हैं। इस प्रकार उक्त वाक्यों में काव्यत्त्व का निषेध भी नहीं किया जा सकता है। फिर काव्य के लिए किन्हीं गुणालंकारों की अनिवार्यता भी नहीं है।

"अदोषौ" यह विशेषण भी सर्वथा सार्थक नहीं

लोक व्यवहार में भी जब यह प्रयोग होता ही है कि अमुक काव्य दुष्ट है, अमुक काव्य उत्तम है, फिर एकान्ततः निर्दुष्ट काव्य का निर्माण भी असम्भव ही है।

अतः काव्य के लक्षण के साथ दोषाभाव की शर्त लगाना भी उचित नहीं प्रतीत होता है। सर्वथा निर्दुष्ट काव्य में तो फिर काव्य के वर्गीकरण की ही कोई समस्या नहीं है, खुद आपने भी काव्य को उत्तम, मध्यम, अधम भेदो में विभक्त किया है।

यदि आपका अभिप्राय 'अदोषौ' पद से 'इषद्दोषौ' अर्थात् अंश विशेष में दुष्ट और किसी अंश विशेष में दोषाभावयुक्त होय, तो यह भी तभी सम्भव है, जबकि "काव्यत्व" को "संयोग" की तरह अव्याप्यवृत्ति माना जाय, अर्थात् नैय्यायिकों के मत में जैसे वृक्षः संयोगाभाववान् संयोगी, इस प्रकार से वृक्ष के मूलावच्छेदेन कविसंयोगाभाव, और शाखावच्छेदेन कवि संयोग रहता है। अतः संयोग को एक अव्याप्यवृत्ति गुण माना जाता है। उसी प्रकार यदि 'इदं वाक्यं पूर्वार्धे काव्यम् उत्तरार्धे तु न काव्यम्' ऐसा विश्वजनीन अनुभव होता। तब तो हम काव्यत्व को अव्याप्य वृत्ति मान लेते पर ऐसा किसी भी सहृदय का अनुभव

है नहीं, फिर ये गुणालंकार तो काव्य शरीर के बाह्य शोभाधायक है, स्वरूपाधायक नहीं।

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" भी युक्तियुक्त नहीं

कविराज विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में जो रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना है यह भी कोई उचित बात नहीं है। क्योंकि वस्तु व अलंकार प्रधान काव्य जिसमें कवि की बौद्धिक व काल्पनिक प्रतिभा से समुत्पन्न चमत्कार भी अनुभूति की ही समकक्षता में आता है, उससे साहित्य जगत् वञ्चित रह जायेगा और साहित्य का वह अधिक भाग जिसमें प्रकृति का ही चित्रण किया गया है, वन उपवन सरित् सागरादि का विचित्र वर्णन जिसमें सन्निविष्ट है, और अनेक चराचर जीव जगत् की मुग्ध चेष्टाओं का भी विशद व मुग्ध वर्णन युक्त विशाल संस्कृत साहित्य उपलब्ध है आपके लक्षण के अनुसार तो यह सब रद्दी की टोकरी में आ जाएगा। तस्मात् विश्वनाथ का यह काव्य लक्षण सङ्कीर्ण ही है।

काव्य का कारण

"तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा"।

लक्षण प्रमाण द्वारा निर्दिष्ट उस काव्य के प्रति केवल कवि में रहने वाली प्रतिभा ही कारण है।

काव्य रचना के अनुकूल शब्दार्थोपस्थिति को ही प्रतिभा कहते हैं। अर्थात् कवि जिस प्रकार का काव्य निर्माण करना चाहता है, तदनुकूल शब्द और अर्थ की, जिस बुद्धि में उपस्थिति हो जाय, उसी बुद्धि विशेष का नाम प्रतिभा है।

"कोषकारों ने भी नव नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहा है," **"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता"** इति।

इसी बात को पण्डितराज ने अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है—**"सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः"।**

पण्डितराज ने काव्यरचनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति रूप प्रतिभा को काव्य का कारण माना है और इस प्रतिभा में रहने वाले प्रतिभात्व को "जातिविशेष" कहा है। नैय्यायिक लोग कारण में रहने वाले मूल धर्म को "कारणतावच्छेदक" कहते हैं; तब प्रतिभा काव्य का कारण है, तो उसमें रहने वाला प्रतिभात्व रूप जो धर्म है, वही "कारणतावच्छेदक" कहलायेगा।

अर्थात् काव्यनिष्ठ कार्यता के प्रति समवाय सम्बन्ध से प्रतिभा कारण होगी, वह कारणता इसी प्रतिभा में रहेगी। इसी कारणतानिष्ठ धर्म के बल से

पण्डितराज ने प्रतिभात्व को एक जाति विशेष माना है, अथवा वेदान्तियों की दृष्टि से अखण्ड रूप उपाधि माना है। पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—**तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जाति विशेषः, उपाधिरूपं वाऽखण्डम्।** प्रतिभा में रहने वाली प्रतिभात्व को एक जाति विशेष मानने में नैय्यायिकों का अभिप्राय यह है, कि उनके यहाँ जहाँ कहीं भी यदि कारणता होगी तो, वह अवश्य किसी न किसी मूलधर्म से अवच्छिन्न (युक्त) होगी। यहाँ भी प्रतिभानिष्ठ कारणता का मूल धर्म प्रतिभात्व ही है, नैय्यायिक इसे जाति मानता है, तो वेदान्ती इसे अखण्डोपाधि मानते हैं।

यद्यपि काव्य शब्द रूप है, नैय्यायिकों के मत में शब्द गुण रूप है; अतः गुणभूत शब्द, आकाश द्रव्य के आश्रित रहेगा, और प्रतिभा एक ज्ञान विशेष होने से आत्मा में रहेगी। प्रतिभा व काव्य में तभी कार्यकारण भाव बन सकता है, जबकि वे दोनों समान अधिकरण, अर्थात् एक ही स्थान में विद्यमान हों। यहां तो विरुद्ध अधिकरण में है, क्योंकि शब्दरूप काव्य तो आकाश में है। और उसका कारण प्रतिभा समवाय सम्बन्ध से कवि की आत्मा में है। तब दूर-दूर देश में स्थित इन प्रतिभा और काव्य के कार्यकारण भाव बनाने के लिए परस्पर किसी सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी, वह सम्बन्ध है—"स्वानुकूल कृतिमत्व सम्बन्ध" यहाँ स्व पद का अर्थ है काव्य, तदनुकूल कृति होगी। काव्यनिर्माण विषयक प्रयत्न, यह प्रयत्न रहेगा आत्मा में, अर्थात् प्रयत्नवान् होगा आत्मा, तब प्रतिभा भी आत्मा में है, और काव्यनिर्माणानुकूल कृति भी आत्मा में है। दोनों का एकत्र आत्मा में सामानाधिकरण्य होने से परस्पर कार्यकारण भाव भी हो जायेगा।[1]

प्रतिभा के कारण

काव्य के कारणीभूत प्रतिभा के भी दो कारण हैं। एक अदृष्ट दूसरा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास। प्रथम अदृष्ट एक प्रकार का पुण्यविशेष है जो किसी देवता व महा पुरुष के प्रसादादि से प्राप्त होता है, जैसा कि विद्वानों का कथन भी

---

1. नैय्यायिक के अनुसार काव्यकारणतया प्रतिभात्व जाति की सिद्धि इस प्रकार होगी—स्वानुकूलकृतिमत्वसम्बन्धेन काव्यत्वावच्छिन्ना या काव्यनिष्ठा कार्यता, तादृशकार्यता निरुपिता या समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतिभानिष्ठा कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, या या कारणता सा सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, निरवच्छिन्नायाः कारणताया अभावात्, यथा तन्तुवृत्ति-कारणता तन्तुत्वधर्मावच्छिन्ना तथा प्रतिभावृत्तिकारणताऽपि प्रतिभात्व-धर्मावच्छिन्नायाः इति।

है "मन्त्रानुष्टाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता" इत्यादि। मन्त्र, तन्त्र, यन्त्रों के अनुष्ठान से भी कविराजता प्राप्त हो सकती है। जैसा कि महाकवि श्रीहर्ष ने स्वयं लिखा है "तच्चिन्तामणि मन्त्रचिन्तनफले, काव्ये महाचारूणि" इत्यादि, अर्थात् "नैषधीयचरितमहाकाव्य" उनके चिन्तामणि मन्त्र के अनुष्ठान का ही मधुर फल है। लोकवृत्त शास्त्र व काव्यों के अनुशीलन से उत्पन्न ज्ञान को व्युत्पत्ति कहते हैं और निरन्तर काव्य निर्माण के प्रयत्न को अभ्यास कहते हैं।

अदृष्ट व्युत्पत्ति व अभ्यास ये तीनों सम्मिलित ही प्रतिभा के प्रति कारण नहीं है, क्योंकि देखा जाता है कि केवल महापुरुषों के प्रसाद से भी विलक्षण प्रतिभा का उदय हो जाता है। इस विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि पाँच वर्ष के मूक बालक कर्णपूर के ऊपर दयादृष्टि से श्रीकृष्ण चैतन्य जी ने जब अपनी अंङ्गुली उसे चूसने को दी, तो तत्काल ही बालक के मुखारबिन्द से विलक्षण कविता शक्ति का उदय हो गया।

उक्त घटना या अन्यत्र कहीं देवतादि प्रसादजन्य प्रतिभोदय भी एक प्रकार का अदृष्ट ही समझा जाएगा। इस प्रकार जब केवल अदृष्ट से ही प्रतिभा का उदय हो जाता है, तो व्यर्थ में जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति और अभ्यास की भी उसके साथ कल्पना करना असङ्गत ही है। क्योंकि प्रतिभारूप कार्य की उत्पत्ति के लिए किसी प्रकार का अनुमान करने में एक तो गौरव होगा, दूसरा उसमें कोई प्रमाण भी नहीं है और कार्य की अन्यथा भी उपपत्ति देखी जा रही है।

जन्मान्तरीय पुण्य पाप या व्युत्पत्ति अभ्यासादि, कारणसामग्री की कल्पना तो तब की जाती है जबकि किसी प्रबल प्रमाण के द्वारा निश्चय कर लेने पर भी कोई दोष विशेष उपस्थित हो जाय, तब कहीं उसके समाधान के लिए, जन्मान्तरीय धर्माधर्मादि की कल्पना की जाती है। यदि सभी जगह यह कल्पना होने लगे, तब तो किसी भी कारण में लोगों का संदेह बना ही रहेगा। जैसा कि स्वयं पण्डितराज का कहना है—**"लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये, पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि कल्प्यते। अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते"**।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि प्रतिभा के प्रति केवल अदृष्ट ही कारण है। व्युत्पत्ति और अभ्यास भी प्रतिभा के प्रति स्वतन्त्रतया कारण हैं। क्योंकि यह देखा जाता है कि कुछ समय तक कोई विद्वान् कविता के निर्माण में असमर्थ रहता है। कालान्तर में जबकि व्युत्पन्न हो जाता है, और निरन्तर अभ्यास भी करता रहता है। तब प्रतिभा के द्वारा वही व्यक्ति काव्य निर्माण में समर्थ भी हो जाता है।

यदि इसमें भी किसी प्रकार के अदृष्ट की कल्पना की जाय, तब तो यह प्रश्न हो सकता है कि व्युत्पत्ति अभ्यास के पहिले भी तो यह अदृष्ट था। तब क्यों नहीं कविता का उदय हुआ और न इसमें किसी प्रकार के दूरदृष्ट की ही कल्पना करना ठीक है जिसके प्रतिबन्ध के कारण, तब तक कविता का उदय नहीं हो सका था। इस प्रकार के स्थानों में अदृष्ट व दूरदृष्ट अर्थात् अदृष्टद्वय की कल्पना की अपेक्षा तो निश्चित व्युत्पत्ति व अभ्यास को ही स्वतन्त्ररूप से प्रतिभा के प्रति कारण मानने में लाघव है। हाँ यह बात अवश्य है कि अदृष्टजन्य प्रतिभा कुछ विलक्षण होगी, और व्युत्पत्ति अभ्यासजन्य प्रतिभा कुछ और तरह की होगी। यह प्रतिभागत वैलक्ष्यण्य ही तत्तत् कारणों की कार्यता का परिचायक होगा। अर्थात् अदृष्टनिष्ठ कारणता निरूपित प्रतिभानिष्ठ कार्यता कुछ और होगी, और व्युत्पत्ति-अभ्यासनिष्ठ कारणतानिरुपित प्रतिभानिष्ठ कार्यता कुछ और होगी। प्रतिभागत कार्यता की विलक्षणता ही तत्तत् कारणों के वैलक्षण्य की ज्ञापिका होगी। इस प्रकार सामान्यतः प्रतिभात्व ही कविता का कारणतावच्छेदक मूल धर्म है।

यदि यह कहा जाय कि व्युत्पत्ति अभ्यास के होते हुए भी प्रतिभा का उदय नहीं हुआ, तब तो अन्वय व्यभिचार आ जाएगा। अर्थात् कारण की सत्ता में भी कार्यभाव रूप दोष उपस्थित हो जाएगा। यह दोष भी आप नहीं दे सकते हैं, क्योंकि विलक्षण प्रतिभा के प्रति विलक्षण व्युत्पत्ति व अभ्यास ही कारण माने जायेंगे। यदि उनमें वैलक्षण्य नहीं होगा, तब वे कारणता के अवच्छेदक नहीं माने जायेंगे। अर्थात् कारणता का मूल धर्म उनमें विद्यमान नहीं माना जायेगा।

अथवा पाप विशेष की वहाँ कल्पना कर लेने से भी वह दोष हट जाता है। क्योंकि प्रतिबन्धक भाव की कारणता सर्वसम्मत है। उसे समुदित शक्ति आदि कारणतावादी भी मानते हैं और शक्तिमात्र कारणतावादी भी मानते हैं। प्रतिबन्धक की सत्ता में कार्याभाव की स्थिति को तो सभी मानते ही हैं। लोक में भी यह देखा जाता है कि अनेक काव्य व प्रबन्धों के निर्माताओं की भी जब मन्त्र तन्त्रादिओं से वाक्शक्ति का स्तम्भन किया जाता है, तो वे काव्य निर्माण में असमर्थ हो जाते हैं।

इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि काव्य के प्रति कारण एक मात्र प्रतिभा ही है और प्रतिभा के प्रति कारण कहीं अदृष्ट और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति व अभ्यास कारण हैं। जो लोग शक्ति निपुणता व अभ्यास को दण्डचक्रचीवर न्याय से कविता के प्रति समुदित कारण मानते हैं। पण्डितराज उनके पक्ष में नहीं हैं। वे केवल शक्तिवादी हैं जिसका विस्तार से उन्होंने समर्थन किया है।

काव्य के भेद

काव्य के कारण का निरुपण कर अब पण्डितराज काव्य के वर्गीकरण की ओर प्रवृत्त होते हैं ।

अन्य आलंकारिकों ने जहाँ काव्य के केवल तीन भेद माने हैं वहाँ पण्डितराज काव्यगत चमत्कार के उच्चावच स्थिति के आधार पर काव्य के चार भेद स्वीकार करते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(1) उत्तमोत्तम (2) उत्तम (3) मध्यम (4) अधम

उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ।

जिसमें शब्द और अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) दोनों अपने को अप्रधान बनाकर, किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं । उसे आद्य काव्य अर्थात् उत्तमोत्तम काव्य कहते है ।

उक्त लक्षण प्रविष्ट पदों में "कमपि" इस पद के द्वारा प्राधान्येन चमत्कार-जनक अर्थ अभीष्ट है । इससे गुणीभूत व्यङ्ग्य के अतिगूढ व स्फुट व्यङ्ग्य वाले काव्यों का निरास हो जाता है, यद्यपि अपराङ्ग व्यङ्ग्य व वाच्यसिद्धमङ्ग्य व्यङ्ग्य में भी चमत्कार रहता है, परन्तु "गुणीभावितात्मानौ" इस विशेषण के द्वारा उक्त गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उक्त स्थलों में व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा किसी दूसरे वाक्यार्थ या वाच्यार्थ की ही प्रधानता रहती है ।

उदाहरण

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ।।

अपने प्रियतम के समीप में शयन करने पर भी, कोई नवोढा अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ रही परन्तु कुछ अधखुले नेत्रों से प्रिय के मुखकमल की ओर देखती रही । उक्त पद्य में नायिका के लिए नायक आलम्बन विभाव है । समीपशयन से आक्षिप्त उनका एकान्त स्थानादि उद्दीपन विभाव है । उस प्रकार का निरीक्षण अनुभाव है तथा उत्सुकता आदि संचारी भाव हैं । इन्हीं विभावादि के संयोग से नायिकानिष्ठ नायकविषयक रति अभिव्यक्त हो रही है ।

पण्डितराज उक्त पद्य में अनेक प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों के विकल्पों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं— यदि उक्त पद्य में नायिका की नायक के मुखकमल के

चुम्बन की इच्छा रूप वस्तु को व्यङ्ग्य माना जाय तो क्या हर्ज है ? इसकी रूपरेखा यह है कि "यद्ययं शयितः स्यात् तदास्याननाम्बुजं चुम्बेयमिति" क्योंकि पद्य के अगले पदों से यह बात प्रतीत हो जाती है कि कई मनोरथ इसके हृदय में स्थित हैं। उनमें से एक आननाम्बुज चुम्बन विषयक मनोरथ भी हो सकता है जो पद्य में किसी शब्द के द्वारा वाच्य भी नहीं है। यद्यपि सामान्याकार से मनोरथ शब्द से वह चुम्बनेच्छाविषयक अर्थ भी अभिहित हो जाता है। परन्तु मनोरथ पद से मनोरथत्वाकार से सामान्येच्छा के अभिधान हो जाने पर "चुम्बन करने" यह चुम्बन विषयक विशेष जो विशिष्ट इच्छा है वह तो वाच्य नहीं है ? अतः उक्त पद्य में नायिका के चुम्बनविषयक इच्छा रूप वस्तु की अभिव्यक्ति में कौन सी बाधा है ?

उत्तर में यही कहा जा सकता है कि उक्त व्यङ्ग्य में किसी प्रकार के चमत्कार की प्रतीति सहृदयों को नहीं होगी। क्योंकि कोई वस्तु जो विशेष रूप से व्यङ्ग्य हो, उसका यदि सामान्य रूप से अभिधान कर दिया जाता है, तो वह फिर सहृदयों के आस्वाद का विषय नहीं रह जाता है। क्योंकि यह नियम है— "कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालंकारिकैः स्वीकारात्"। अर्थात् वही व्यङ्ग्य वस्तु सहृदयों के हृदय में चमत्कार को उत्पन्न करती है जो किसी (सामान्य विशेष) प्रकार से भी वाच्यवृत्ति से स्पष्ट नहीं हो।

चुम्बनेच्छा यहाँ रति का कार्य है अर्थात् अनुभाव। रति के अनुभावरूप में ही उसका वर्णन यहाँ उचित है, जिससे कि वह इच्छारूप अनुभाव सुन्दरता के साथ अपने विभावभूत रति की अभिव्यञ्जना कर सके। अन्यथा तो अभिधावृत्ति से समन्वित वह अनुभाव, चमत्कार की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हो सकता है।

सामान्याकारेण वाच्यवृत्ति से आलिङ्गित वस्तु ध्वनि को जाने दीजिए परन्तु "दरमीलन्नयना निरीक्षते" इस वाक्य से नयनों के इषत् निमीलन से अभिव्यक्त होने वाली त्रपा—लज्जा ध्वनि के ध्वनित होने में तो कोई बाधा नहीं है ? इस प्रकार उक्त पद्य में यदि भाव ध्वनि मान ली जाय तो क्या हर्ज है ?

इस पर पण्डितराज का कथन है कि "एवं त्रपाया अपि न प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, अनुवाधतावच्छेदकतया प्रतीतायां तस्यां मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात्"।

उक्त पद्य में प्रधानतया लज्जा की अभिव्यक्ति नहीं है। क्योंकि उस पद्य के वाक्यार्थ में लज्जा अनुवाद्य कोटि में आने के कारण प्रधान नहीं है। क्योंकि वाक्य में दो कोटि होती हैं, उद्देश्य-अनुवाद्य व विधेय। वाक्यार्थ का पर्यवसान विधेय में होने के कारण विधेय कोटि को ही प्रबल माना जाता है।

इस प्रकार उक्त पद्य में दरमीलन्नयनात्व विशिष्ट निरीक्षण का विधान

किया गया है। अतएव नयनगत दरमीलन यद्यपि लज्जा का कार्य है तथापि दरमीलन्नयनात्व विशिष्ट निरीक्षण तो रतिमात्र का कार्य या अनुभाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि उद्देश्यकोटि या अनुवाध कोटि में आया हुआ दरमीलन्नयनात्व पद भले ही लज्जा की अभिव्यक्ति करे, परन्तु वाक्य में प्रधानीभूत या विधेयभूत जो निरीक्षण है उसके प्रति वह वाक्यार्थ और उससे अभिव्यक्त रति के प्रति वह लज्जारूप भाव ये दोनों ही अप्रधान ही माने जायेंगे। फिर यदि लज्जा को ही प्रधान व्यङ्ग्य माना जाये, तो "निरीक्षते" शब्द द्वारा निरीक्षण किया का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा, जो कि वाक्यार्थ में मुख्य है।

इस प्रकार पूर्वोक्त पद्य में अप्रधानरूप से चुम्बनेच्छा वस्तु ध्वनि और दरमीलन्नयनाजन्य भावध्वनि के होते हुए भी नायिकानिष्ठ नायक विषयक रति के अप्रधानतया अभिव्यक्त होने से रसध्वनि ही है।

भावध्वनि का स्वतन्त्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽसीत्॥

कोई व्यक्ति अपने मित्र से अपनी प्रिया के विषय में कुछ कह रहा है—गुरुजनों अर्थात् पूज्यजनों के बीच में बैठी हुई नतमुखी प्रिया को मैंने कमल की कलिका से मारा, तो अपने कानों में स्थित कुण्डलों को हिलाते हुए और नीचे की तरफ भ्रूभङ्गिमा को नचाते हुए, उसने कुछ घूर कर मुझे देखा।

उक्त पद में नायिका के उक्त कुण्डल के ताण्डव व भ्रूभङ्गिमा की नति की दशा से आवेग व विक्षोभों का आवेश परिलक्षित होता है। इनसे संवलित अमर्ष है चर्वणा का विषय, जिसका अर्थ है—असमीक्षकारिन्! यह अनवसर में ही कैसी चेष्टा कर रहे हो? इस प्रकार इस पद्य में उक्त "घूर्णिता" पद के पूर्वोक्त अर्थ, तदनन्तर उक्त अर्थ से प्रधानतया नायकविषयक अमर्षभाव की अभिव्यक्ति हो रही है। उक्त पद्य में "घूर्णिता" शब्द और अर्थ दोनों ही अमर्ष की अपेक्षा गौण हैं। अतः यह उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में भी रसादि ध्वनियाँ होती हैं इसके लिए पण्डितराज उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

तल्पगताऽपि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति॥

पण्डितराज कहते हैं कि यह पद्य मेरे "भामिनीविलास" नामक प्रकरण ग्रन्थ है। अतः यहाँ कुछ इससे सम्बन्धित प्रसङ्ग को भी बता देना उचित है। वह प्रसङ्ग

पण्डितराज के शब्दों में इस प्रकार है—

या नववधूः पल्यङ्कशयिता श्वासस्यासङ्गमात्रेणाऽपि संकुचदङ्गलतिकाऽभूत् सा सम्प्रति प्रस्थानपूर्णरजन्यां प्रवत्स्यत्पतिका प्रियेण सशङ्कं न सर्मापितं हृदि पार्णि नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परन्तु मन्दम् ।

अर्थात् जो नव परिणीता सुन्दरी शय्या में स्थित प्रिय के श्वासासङ्गमात्र को भी सहन नहीं कर सकती है वही प्रस्थान की पूर्व रजनी में हृदय में प्रिय के द्वारा सर्मापित हाथ को हटाती है, परन्तु धीरे से। "यहाँ धीरे धीरे प्रिय के द्वारा सर्मापित हाथ को हृदय से हटाती है" इस कथन से प्रिय विषयक "रति" की अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि पहिले की ही तरह नववधू स्वभाव के कारण प्रिय के हाथ को हटाती है। परन्तु आज धीरे से हटा रही है, इसमें कारण है भविष्यत् प्रवास। यहाँ पहिले प्रकरण के द्वारा विभावादि का शनैः शनैः ज्ञान किया जाता है बाद में तद्विषयक रति की प्रतीति सामाजिक को होती है। प्रकरण के विचार वेद्य होने से और तदनन्तर शनैः शनैः विभावादि ज्ञान पूर्वक रति की अभिव्यञ्जना होने से रसध्वनि का यह उदाहरण संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत आ जाता है। यद्यपि पूर्वाचार्यों ने रसभावादि समस्त ध्वनियों को असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के ही अन्तर्गत माना था, परन्तु इस विषय में आनन्दवर्धन ने कुछ संकेत अवश्य इस प्रकार का किया था कि उक्त रसादि ध्वनियाँ संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य भी हो सकती है। प्राचीन आचार्य काव्य के इस प्रभेद को अर्थात् उत्तमोत्तम काव्य को ही ध्वनि काव्य कहते थे। आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—

यत्रार्थशब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।

आचार्य मम्मट का ध्वनिकाव्य का लक्षण इस प्रकार है—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।।"

अप्पय्यदीक्षित के व्याख्यान की असंगति

चित्रमीमांसा नामक ग्रंथ में अप्पय्यदीक्षित ने ध्वनि के उदाहरण के प्रसङ्ग में "निःशेषच्युत चन्दनम्" इत्यादि पद्य की जो व्याख्या की है, वह ध्वनिसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। ध्वनिकाव्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत सम्पूर्ण पद्य इस प्रकार है—

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडाऽऽगमे ?
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।

किसी विदग्धोत्तमा की अपनी दूति के प्रति यह उक्ति है—जिसे उसने

अपने नायक को बुलाने के लिए भेजा था, परन्तु वह दूती अपने स्नान कार्य के बहाने, उस नायक के सम्पर्क को छिपा रही थी ।

इसी के उत्तर में दूती के स्नान कार्य द्वारा ही उसके रहस्य को इन शब्दों में वह प्रकाशित कर रही है । यहाँ सामान्यतः सारे विशेषण वाच्यार्थ में स्नान परक हैं परन्तु बोधव्या की विशेषता से व्यङ्ग्यार्थ में सभी विशेषण दूती-सम्भोग परक हैं । वाच्यार्थ सीधा यह है कि—हे मिथ्यावादिनि ! अर्थात् मेरे समक्ष नायक को बुला लाऊँगी यह प्रतिज्ञा करके भी, फिर उक्त कार्य को न करने वाली हे दूति ! (तुम दूती थी न कि सखी,) हे बान्धवजन की वेदना को न समझने वाली ! अनभिज्ञ ? स्नान काल के अतिक्रम के भय से तू सीधे वाबली में स्नान करने के लिए चल दी । परन्तु उस (परवेदनानभिज्ञ) अधम के पास नहीं गई । क्योंकि स्नान के सारे चिह्न तुम्हारे शरीर में परिलक्षित हो रहे हैं ।

दीक्षित जी के अनुसार अब उक्त सभी विशेषणों की व्याख्या इस प्रकार है—

उत्तरीय के इधर उधर खिसकने से भी स्तन तट के चन्दन की च्युति हो सकती है । परन्तु इसमें तो कहीं कहीं स्तनतट का चन्दन गिर सकता है । इसकी व्यावृत्ति के लिए 'निःशेष' पद का निवेश किया इसलिए कि सम्पूर्णतया चन्दन का च्यवन तो उत्तरीयाकर्षत्व के द्वारा नहीं हो सकता है । स्नान के द्वारा भी चन्दन का प्रक्षालन हो सकता है, परन्तु स्नान में तो सर्वत्र चन्दन का प्रक्षालन हो सकता है । तुम्हारे तो स्तन के तट प्रदेश में ही यह हो रहा है । अतः यह तो आलिङ्गनजन्य ही होगा । अधर का रङ्ग भी बिलकुल टूट चुका है । देर से ताम्बूल के ग्रहण में भी इस लालिमा में कुछ कमी हो सकती है परन्तु तुम्हारे तो होठों की यह लालिमा बिलकुल ही गायब है । इसमें भी उत्तरोष्ठ के लालिमा के रह जाने पर भी अधर की लालिमा तो बिलकुल ही गायब है, जो चुम्बन के बिना हो नहीं सकती है । इस प्रकार पद्य में जितने भी स्तनतटादि घटित वाक्यार्थ हैं अर्थात् जितने भी स्नान के विशेषण हैं, उन सबकी स्नानकार्य से व्यावृत्ति दिखाकर संभोग के अङ्गभूत आश्लेष चुम्बनादि परक दिखा दिया । बाद में यह कहा कि ये सब विशेषण उक्त सम्भोगाङ्गों के प्रतिपादन से प्रधान व्यङ्ग्य जो दूती और नायक का सम्पर्क है, उसमें सहायक होते हैं । यह सब दीक्षित जी का अलंकार शास्त्र के तत्त्व की अनभिज्ञता प्रकट करता है, और सभी प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों के विरुद्ध भी है, साथ ही साथ युक्ति विरुद्ध भी है ।

काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में महिमभट्ट के मत के खण्डन के अवसर पर स्वयं मम्मट ने कहा है कि **"निःशेषच्युतचन्दनम्"** इत्यादि पद्य में व्यञ्जक या ज्ञापक रूप में जिन चन्दन च्यवनादि को हम ग्रहण कर रहे हैं वे किसी

दूसरे दूसरे कारण से भी हो सकते हैं। जैसे यहीं पर स्नान कार्य से निर्दिष्ट किये गये हैं, उपभोग परक ही इनकी व्याख्या नहीं की गई है। इसलिए उपभोग में ही नियत नहीं होने से अनैकान्तिक हैं। और वहीं पञ्चमोल्लास में ही उन्होंने— **"भ्रम धार्मिक विश्वस्तः सः शुनकोऽद्य मारितस्तेन। गोदानदीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन"।**

इस पद्य का आशय यह है कि गोदा नदी के तट के निकुञ्जों में स्वैर विचरण करने वाले कोई दम्पति अपने स्वच्छन्द सुन्दर प्रणय में अन्तरायस्वरूप किसी पुजारी को कह रहे हैं जो नित्यप्रति वहाँ फूल तोड़ने आया करता था और उनके कुत्ते से बहुत डरता था। यद्यपि आज उनके पास कुत्ता नहीं था, फिर भी पुजारी शङ्कित होते हुये फूल तोड़ने को आ रहा था। भयभीत पुजारी को देखकर उस दम्पति ने कहा हे ! धार्मिक पुजारी जी, अब आप स्वच्छन्द विश्वास पूर्वक भ्रमण कीजिए, क्योंकि उस कुत्ते को तो गोदानदी के तट स्थित उस मदोन्मत्त सिंह ने मार डाला है, जिसके भय से आप शङ्कित रहते थे।

यहाँ यद्यपि दम्पति ने वाच्यार्थ के द्वारा भ्रमण का विधान "भ्रम धार्मिक" इत्यादि द्वारा किया है, परन्तु प्रकरणादि के पर्यालोचन से यह भ्रमण विधि निषेध में परिवर्तित हो जाती है। अर्थात् जब आप कुत्ते से ही इतना भयभीत होते हैं तो उस नदी तट में तो भयानक सिंह ने ही उन निकुञ्जों में डेरा डाल रक्खा है। अतः कदापि उस तट की ओर मत बढ़िए। इस प्रकार वाच्य विधि व्यङ्ग्य निषेध में परिवर्तित हो जाती है।

महिमभट्ट ने इस प्रकार के विधि से निषेधों को अनुमान द्वारा ही गतार्थ करने की चेष्टा की है। उसके मत के खण्डन के अवसर पर काव्यप्रकाशकार मम्मट का कथन है कि आपका यह हेतु सिंह सद्भाव जो कि भय का कारण है, इसके रहते हुए भी भ्रमणाभाव रूप साध्य की सिद्धि न होकर उस साध्याभाव रूप भ्रमण की ही उलटी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि यह व्याप्ति सर्वथा नियत नहीं है कि जहाँ जहाँ भयकारण रहे वहाँ वहाँ भ्रमणाभाव रहे। गुरु या प्रभु के निर्देश से अथवा प्रिया के अनुराग से भय के कारण की सत्ता में भी भ्रमण देखा गया है, अतः आपके हेतु सिंह सत्त्वरूप भयकारण के व्यभिचारी अर्थात् दोषयुक्त होने से या असिद्ध या संदिग्ध होने से, उक्त हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। परन्तु अपने सिद्धान्त में तो संदिग्ध लिङ्गों से भी व्यङ्ग्यार्थ की अवगति हो जाती है।

अतः व्यञ्जना पक्ष में तो सर्वत्र व्यञ्जकों का साधारण्य ही रहना उचित है, परन्तु दीक्षित जी ने तो व्यञ्जकगत असाधारण्य का प्रतिपादन कर प्रामाणिकों के ग्रन्थों के साथ भी स्पष्ट ही विरोध किया है।

फिर वापी स्नान की व्यावृत्ति करके, उक्त व्यञ्जकों की असाधारणता से क्या आप दूतो संभोगरूप व्यङ्ग्य की अभिव्यञ्जना करना चाहते हैं ? परन्तु यह व्यञ्जकगत असाधारणता उक्त व्यङ्ग्य के प्रति उपाय नहीं हो सकती है । इसके विपरीत यह तो अनुमान के ही अनुकूल है । व्यञ्जना के तो बिलकुल ही प्रतिकूल है, क्योंकि व्यञ्जकों में ऐसी असाधारणता तो नियतसहचार रूप व्याप्ति का ही अनुसरण करती है न कि व्यञ्जना का । दूसरी बात यह है कि **"निःशेषच्युतचन्दनम्"** इत्यादि पद्य में आप स्नानव्यावर्तन करके स्तनतटादि परक विशेषणों की व्याख्या करते रहें, फिर भी यह एकान्तिक नहीं माना जा सकता है । क्योंकि स्नान से व्यावर्तन कर देने पर भी "सलिलार्द्रवसन" गीले कपड़े से भी स्तनतटादि के चन्दन का च्यवन सम्भव है, फिर भी नियत सम्भोग परक व्याख्या आपकी शिथिल ही है ।

उक्त पद्य में **"तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि"** इस व्यङ्ग्यार्थ के स्वरूप में भी दो अंश है । एक 'तदन्तिकगमनरूप' और दूसरा 'रमण" ।

अब आपकी व्याख्या के अनुसार तो "तदन्तिकगमनरूप व्यङ्ग्यार्थ" की निष्पत्ति होना कठिन है । क्योंकि आपकी व्याख्या के अनुसार तो उक्त पद्य के विशेषण वाच्यार्थों का प्रतिपाद्य वाच्यार्थ जो वापी स्नान है वह बाधित हो जायेगा । तब वाच्य कक्षागत जो **"तदन्तिकमेव गतासि"** है, वह विपरीत लक्षणा के द्वारा 'न गतासि' में परिणत हो जायेगा । इस प्रकार निषेध से विधि की प्रतीति होगी तब व्यङ्ग्यार्थ स्वरूप का यह प्रथम अंश जो तदन्तिक गमन था वह व्यङ्ग्य न होकर लक्ष्य ही हुआ, अर्थात् विपरीत लक्षणा का विषय बना, अब तदन्तिकगमनरूप जो व्यङ्ग्य है वह भी व्यञ्जनावृत्ति वेद्य नहीं हो सकता है क्योंकि लक्षणा शक्ति से उन्मीलित अर्थ में व्यञ्जना द्वारा बोध्यता उचित नहीं है । जैसे— **"अहो पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः"** इत्यादि लुठन्त इस कर्ता के विशेषण के अन्यथा अनुपपत्ति रूप बाधा से सर-तालाब की पूर्णत्वाभाव में लक्षणा की जाती है न कि व्यञ्जना द्वारा । उसी प्रकार उक्त पद्य में भी तदन्तिकगमन रूप की लक्ष्यता ही है ।

यदि यह कहा जाय कि तदन्तिकगमन का लक्षण वेद्य होने पर भी "रमणरूप फलांश" का तो लक्षणामूला व्यञ्जना द्वारा अभिव्यञ्जन हो ही जायेगा, तब भी उचित नहीं है । क्योंकि आपने स्वयं अपनी व्याख्या में— **"अधमत्वमप्रकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति । तत्र जात्यापकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति"** इत्यादि ग्रंथ के द्वारा कहा है कि नायक भले ही जाति या कर्म से अपकृष्ट हो परन्तु उत्तम नायिका कभी भी अपने नायक को जाति से अधम नहीं कह सकती है । फलतः कर्मणा अधम होने से रमणरूप फल की अर्थापत्ति वेद्यता स्पष्ट हो

हो जाती है। इसमें व्यञ्जनावेद्यता नहीं रह जाती है। यदि यह कहा जाय कि जो लोग अर्थापत्ति प्रमाण को मानते ही नहीं, उनके मत में तो व्यक्तिवेद्यता ही होगी। अथवा किसी तरह भी व्यञ्जना व्यापार के स्वीकार कर लेने पर भी आपकी अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि आपकी व्याख्यानुसार उक्त दूती सम्भोगरूप व्यङ्ग्य उलटा लौट कर नायक के वाच्य अधमत्व की ही सिद्धि करता है। अतः उक्त पद्य ध्वनि का उदाहरण न होकर वाच्यसिद्धचङ्गरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही उदाहरण हुआ। इस प्रकार युक्ति विरोध भी आपके व्याख्यान में स्पष्ट ही लक्षित हो रहा है।

इसलिए पण्डितराज का कहना है कि अतिविदग्ध नायिका के द्वारा प्रतिपादित विशेषण वाक्यार्थों का सामान्य अर्थ करना ही उचित है। वह इस प्रकार होगा—हे बान्धवजनों की वेदना को न जानने वाली स्वार्थपरायणे दूति ! अपने स्नान काल के अतिक्रम के भय से मेरे प्रिय के पास न जाकर, तुम सीधे यहाँ से बावली की ओर चली गई। पर उस परवेदनानभिज्ञ अधम के पास नहीं गयी। क्योंकि स्नान के सभी चिह्न तुम्हारे शरीर में परिलक्षित हो रहे हैं। यह देखो स्तन के तट भाग अर्थात् ऊपर के हिस्से का ही चन्दन च्युत हुआ है, समस्त वक्षस्थल का नहीं। क्योंकि वापी में स्थित बहुत से युवाजनों से लज्जा के कारण तुम उक्त स्थलों में चन्दन का प्रक्षालन अच्छी तरह नहीं कर सकी। जल्दीबाजी में अधरोष्ठ ही कुल्ला आदि के कारण लालिमा से रहित हुआ, उत्तरोष्ठ में जल का सम्पर्क नहीं हो सका। इसी प्रकार शीघ्रतावश नेत्रों के केवल उपर के भाग से ही कज्जल का विगलन हुआ। शीतवशात् तुम्हारी यह तनुलता भी रोमाञ्चित हो रही है। इस विदग्धा नायिका के गूढ तात्पर्य की सुरक्षा उक्त सामान्य अर्थ में ही है। अन्यथा तो उसके वैदग्ध्य का ह्रास ही हो जायेगा।

इस प्रकार इन वाक्यार्थों का सामान्यार्थ के द्वारा सङ्गति हो जाने से, मुख्यार्थ में किसी प्रकार की बाधा के न होने से और तात्पर्यार्थ के जल्दी स्फुरण न होने से उक्त पद्य में लक्षणा के लिए अवकाश ही कहाँ है।

वाच्यार्थ बोध के अनन्तर वक्त्री बोधव्या व नायकादि के वैशिष्ट्य के द्वारा, और अधम पद की सहायता से अर्थात् अधम पद की प्रवृत्ति का प्रयोजक है दुःखदातृत्वरूप धर्म, तभी तो नायिका अपने नायक के लिए अधम पद का उच्चारण कर रही है। यह दुःखदातृत्व रुप धर्म, अर्थात् अनेक अनभिमत कार्य द्वारा नायिका को जो नायक ने दुःख दिया है वह दुःख उक्त पद के वाच्यार्थ दशा में तो अपराधान्तरसामान्य रूप में ग्रहण होगा। वाच्यार्थ द्वारा अधम पद का अर्थ अन्यान्य कालान्तर में विहित अपराध माने जायेंगे। परन्तु व्यञ्जना व्यापार द्वारा तो उस अधम पद का अर्थ दूती सम्भोग निमित्तक दुःखदातृत्वरूप ही होगा, ऐसा आलंकारिकों का सिद्धान्त है।

और यह भी दीक्षित जी का व्याख्यान उचित नहीं मालूम पड़ता है कि नायिका के नायक को जो अधम पद कहना है, वह नायिका सम्बन्धित अपराध भी, इसी सम्भोग रूप कर्म में ही पर्यवसित होता है, अन्यथा नायिका नायक को अधम नहीं कहती। इसके सिवाय और कोई कार्य नहीं है जिससे कि वह वैसा कहे, क्योंकि प्राचीन अपराधों को तो उससे पहिले वह सहन कर ही चुकी थी, अतः अन्य सभी अपराधों की व्यावृत्ति करके उक्त इसी सम्भोग रूप में ही उक्त पद्य का पर्यवसन होता है। यह सब भी अनुचित ही प्रतीत होता है, क्योंकि विदग्धोत्तमा नायिका कभी भी अपनी सखियों के समक्ष अपने नायक के अपराध का उद्घाटन नहीं कर सकती है, यह उसके लिए अत्यन्त अनौचित्य है। सम्प्रति दूती के सामने तो वह अपने नायक को इसीलिए अधम कहती है कि प्राचीन वे अपराध जिनको कि वह सहन कर चुकी थी, आज फिर वे इस घटना के द्वारा स्मृति पटल में आ रहे हैं, और असह्य हो रहे हैं, अतः वाच्यार्थ दशा में उन्हीं का दूती के प्रति प्रतिवादन करना उस नायिका को इष्ट है। परस्पर वक्त्री नायिका व बोधव्या दूती का तो वाच्यार्थ पूर्वक ही सम्वाद होगा, व्यङ्ग्यार्थ तो फिर उन सामाजिक या सखियों का विषय होगा, जो उत्तम सन्दर्भ से सुपरिचित है। हाँ इतनी बात जरूर है कि वक्त्री नायिका के ये वाक्य अभिव्यञ्जनापूर्ण हैं। इन्हीं अभिव्यञ्जकों की छटा से सहृदय चमत्कार का आस्वादन करता है।

उत्तम काव्य का लक्षण

"यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्"

जहाँ व्यङ्ग्य अप्रधान होते हुए भी चमत्कारजनक हो, वहाँ "उत्तम" काव्य होता है, जिसे मम्मट "मध्यम" काव्य कहते हैं, और आनन्दवर्धन "गुणीभूत-व्यङ्ग्य" काव्य कहो हैं।

आनन्दवर्धन ने काव्य के इस भेद की भी बड़ी प्रशंसा की है— **"ये चैते अर्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वयं प्रकारो गुणीभूत-व्यङ्ग्यो नाम योजनीयः।**[1]

वाच्य की अपेक्षा प्रधानीभूत व व्यङ्ग्यान्तर की अपेक्षा गुणीभूतव्यङ्ग्य में कहीं अतिव्याप्ति न हो, इसलिए लक्षण में 'एवकार' का निवेश किया गया है। यह अवधारण इसलिए है कि व्यङ्ग्य को वाच्य की अपेक्षा और व्यङ्ग्यान्तर की अपेक्षा अप्रधान होकर भी चमत्कारजनक होना चाहिए। फलतः उत्तमोत्तम काव्य या ध्वनि काव्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हुई।

---

1. ध्वन्यालोक तृ० उ०

जहां व्यङ्ग्य अत्यन्त अस्पष्ट है और जो काव्य केवल अर्थालंकारों के चमत्कार से ही उपस्कृत हैं, उनमें अति प्रसक्ति के कारण के लिए लक्षण में "चमत्कारकारणे" पद का निवेश किया गया। यह पण्डितराज का उत्तम काव्य का लक्षण करीब करीब मम्मट के **"अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्"** इस मध्यम काव्य से मिलता जुलता है। मम्मट के अनुसार जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारी न हो वहाँ गुणीभूत नामक मध्यम काव्य होता है।

परन्तु मम्मट का यह मध्यम काव्य ऐसे स्थलों का निर्णय उचित रीति से नहीं कर सकता है, कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा तो प्रधान रहे, पर किसी व्यङ्ग्यान्तर की अपेक्षा गौण हो, ऐसे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के लिए कोई स्थान निश्चित नहीं हुआ या तो वे गुणीभूतव्यङ्ग्य में सर्वत्र ही वाच्य की अपेक्षा अन्य गुणीभूत रस भावादि को वाच्यहीन चमत्कार युक्त मानते हों, जिसका प्रभाव हमें नागेश पर स्पष्ट मालूम पड़ता है, उन्होंने इस प्रकार के काव्यों में गुणीभूतरसादि को हीन चमत्कार युक्त बतलाया है। रसगङ्गाधर में वे जब इस उत्तम काव्य के लक्षण की व्याख्या करते हैं, तो उक्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के अपराङ्ग व्यङ्ग्य नामक भेद के प्रसङ्ग में कहते हैं जो इस प्रकार है—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्त्रंसनः करः॥ इति

यहाँ वाच्य की अपेक्षा शृंगार चमत्कारजनक नहीं है, शोकोत्कर्षक होने के कारण व्यङ्ग्य शृंगार की अपेक्षा वाच्य में ही अधिक चमत्कार है।[1] परन्तु पण्डितराज व उनके अनुयायी ऐसे स्थलों में वाच्य की अपेक्षा शृंगार को अधिक चमत्कारी मानते हैं, ऐसे काव्यों को वे उत्तमोत्तम कोटि के काव्यों में सम्मिलित करते हैं। इस विषय में यह मथुरानाथ शास्त्री जी की सरला टिप्पणी रसगङ्गाधर पर इस प्रकार हैं—

अयं भावः- यद्यत्र-"व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सत्" इत्यवधारणं न दीयेत तर्हि "व्यङ्ग्यमप्रधानं सत् चमत्कारकम्" इत्यर्थो भवेत् ततश्च "अयं स रशनोत्कर्षी" इत्याद्यपराङ्गोदाहरणेषु करुणापेक्षया अप्रधानं शृंगारश्चमत्कारकरणमस्तीति ध्वनित्वस्थाने अस्याप्युत्तमकाव्यत्वं[2] प्रसज्येत, एवकार निवेशे तु यदव्यङ्ग्यमप्रधानमेव

---

1. वाच्येति वाच्यार्थतः प्रधानमन्यव्यङ्ग्यादप्रधानं यद्व्यङ्ग्यं तदादायेत्यर्थः। अपराङ्गोदाहरणे, 'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यत्रापि वाच्यापेक्षया शृंगारस्य न प्राधान्यम्, शोकोत्कर्षतया शृंगाररूपव्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारकारित्वात्।
2. पण्डितराजानुसारेणोत्तमकाव्यत्वम्।

सदित्युक्त्या करुणापेक्षया गुणत्वेऽपि वाच्यार्थापेक्षया शृङ्गाररसप्राधान्यमस्तीति ध्वनिकाव्यत्वमस्याऽव्याहतम्"।

मम्मटादि आचार्य जहां गुणीभूतव्यङ्ग्य के समस्त भेदों को मध्यम काव्य की कोटि में सन्निविष्ट कर देते हैं, वहाँ पण्डितराज इस गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य में भी चमत्कार की निम्नोन्नत स्थिति देखते हैं। वे चमत्कार के आधार पर इसका विभाजन करते हैं। इसमें मूल प्रेरणा उन्हें आनन्दवर्धनाचार्य की इस कारिका से प्राप्त है--

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः[1]॥

वस्तुतः इस प्रकार के गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों का सहसा किसी कोटि में निर्धारण कर लेना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। उदाहरण स्वरूप जैसे आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में मध्यम काव्य के उदाहरण के रूप में निम्न पद्य को उपस्थित किया है--

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

इस पद्य में गुणीभूतव्यङ्ग्य इस प्रकार है कि वञ्जुललता निकुञ्ज में संकेत देकर भी स्वयं उपस्थित न हो सकी। इस व्यङ्ग्य की अपेक्षा तो जब जब वह उक्त प्रिय के हाथ में वञ्जुल लता की मञ्जरी देखती है तब तब उसके मुख की कान्ति फीकी पड़ जाती है, इसी वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार मानते हैं।

इस विषय में अनेक टीकाकार सहमत नहीं हैं। काव्यप्रकाश के आदर्श टीकाकार महेश्वराचार्य की आदर्श टीका की टिप्पणी में यह भी निर्देश किया है कि "दत्तसंकेता नागता" इत्यादि वस्तुव्यङ्ग्य की अपेक्षा भले ही वाच्यार्थ मुखमालिन्य में अधिक चमत्कार हो परन्तु उक्त मुखमालिन्यरूप अनुभाव द्वारा व्यज्यमान विषाद की प्रधानता होने से असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की स्थिति में इसकी ध्वनिकाव्यता ही उचित है--

इदमत्रावधेयम्--गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमत्र वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यून-चमत्कारिणं दत्तसङ्केता नागतेत्यर्थमभिप्रेत्यैवोक्तम्, मुखमालिन्येन व्यज्यमानस्य विषादस्य तु पर्य्यवसाने प्रधानतयैवावस्थानादभिप्राये असंलक्ष्यक्रमध्वनित्व-मेवास्य युक्तमिति"

उत्तम काव्य का उदाहरण--

---

1. ध्वन्यालोक तृ० उ० 40।

राघवविरहज्वाला संतापितसह्यशैलशिखरेषु ।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥

वैदेही के विरह से सन्तप्त वनवासी राम के वृत्तान्त का कोई वर्णन कर रहा है—भगवान् राम के विरहज्वाला से सन्तप्त सह्याचल के शिखरों में शीत-ऋतु में भी सुखपूर्वक सोये हुए कपि समुदाय पवनतनय हनुमान जी के लिए कुपित होते हैं ।

उक्त पद्य का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि "जानकी जी की कुशल वार्ता के निवेदन से हनुमान ने (अभी तक विरह ज्वाला में सन्तप्त) रामचन्द्र जी को शीतल कर दिया । सह्याचल पर्वत स्थित रामचन्द्र जी को जब तक हनुमान जी द्वारा कोई समाचार नहीं मिला था, तब तक वे विरहज्वाला से सन्तप्त थे । इतना अधिक उनका तापमान था कि जिससे सर्दी के दिनों में भी उस सह्याचल के शिखरों में सोये हुए कपिगणों को किसी प्रकार की सर्दी का अनुभव नहीं हो रहा था वे बड़े आनन्द से सोते थे मानों उस सम्पूर्ण पर्वत के शिखरों में "हीटर" लगा हो ।

अकस्मात् जब हनुमान जी जगज्जननी जानकी जी का शुभ समाचार ले आये, तो उसी समय भगवान् राम शीतल हो गये । ज्यों ही कुशल के आवेदन से भगवान् शीतल हुए, त्यों ही सर्दी के कारण कपिगणों की निद्रा टूट गई वे सर्दी का अनुभव करने लगे और हनुमान जी के लिए क्रोधपूर्वक गाली गलौज करने लगे ।

यद्यपि इस पद्य का व्यङ्ग्यार्थ "हनुमान ने जानकी जी के कुशलवार्ता के निवेदन से रामचन्द्र जी को शीतल बना दिया" यह वाच्य कपियों के कोप का उपपादक अर्थात् पोषक होने से अप्रधान है, क्योंकि "कुप्यन्ति कपयः पवनतनयाय' इस वाच्य अर्थ की उपपत्ति तभी हो सकती है, जब उक्त व्यङ्ग्यार्थ को समझा जाय और इसी वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार भी है । फिर भी दुर्दैववश दासी का कार्य करने वाली महारानी की तरह उक्त व्यङ्ग्यार्थ में भी कम कमनीयता नहीं है । अर्थात् उक्त उत्तम काव्य का व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत होता हुआ भी जागरूक है । काव्य के इन दोनों भेदों में (उत्तमोत्तम व उत्तम) व्यङ्ग्यार्थ की जागरूकता रहती अवश्य है, परन्तु उत्तमोत्तम काव्य का व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है और उत्तम काव्य का व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान ही रहता है ।[1]

जिस प्रकार उक्त पद्य में कपि विषयक कोप का उपपादक हनुमान द्वारा आवेदित जानकी का कुशल वृत्तान्त है, उसी प्रकार पूर्व पद्य **"तल्पगताऽपि सुतनु"** इत्यादि पद्य में भी "आक्षेपगतमान्ध्य" का जो कि नववधू के प्रकृति के विरुद्ध है,

---

1. अनयोर्भेदयोरनपह्नवीय चमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित् सहृदयवेद्यो विशेषः (रसगङ्गाधर प्र० आ० काव्यप्रभेद प्र०)

उसका उपपादन विप्रलम्भरूप रति के ही होकर उक्त काव्य भी फिर इसी कोटि के काव्य में सम्मिलित करने योग्य हैं, कैसे उसे उत्तमोत्तम काव्य कहा ? यहाँ का समाधान यह है कि उक्त नववधू की प्रकृति के विरुद्ध भी "मान्द्य" अर्थात् धीरे-धीरे हाथ को हटाना रूप मान्द्य चतुर सखियों के उपदेश से भी सम्भव है।

फिर सहृदयों के चवर्णा का विषय तो विप्रलम्भ रति ही हो जाती। प्रथमतः यह मान्द्य स्वतन्त्रतया परमानन्दास्वाद का विषय नहीं बनता है।

यही स्थिति "**निःशेषच्युतचन्दनम्**" इत्यादि पद्य की भी है, वहाँ भी वाच्य "अधम" पद के अधमत्व की सिद्धि व्यङ्ग्यातिरिक्त दुःखदातृत्वादि अर्थों से भी हो जाती है। वहां भी गुणीभूतव्यङ्ग्य की आशङ्का नहीं करनी चाहिए।

अप्पय्यदीक्षित के गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का खण्डन—

अप्पय्यदीक्षित ने मध्यम काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य माना है, उसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

"यत्र व्यङ्ग्यं वाच्यानतिशायि तद् गुणीभूतव्यङ्ग्यम्"।

अर्थात् जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक न हो उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहते हैं। निम्नलिखित पद्य को उन्होंने इसके उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है—

प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेण वा,
किमुत सकले याते वाऽह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो,
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सवाष्पगलज्जलैः॥

कोई व्यक्ति किसी नवपरिणीता के प्रिय के प्रवास से निवृत्ति का वर्णन कर रहा है—

हे प्रिय ! क्या तुम एक प्रहर बाद लौट आओगे अथवा दो प्रहर में ? या उसके बाद, क्या समस्त दिन बीतने पर तो आ जाओगे ना ?

इस प्रकार आंसुओं की धारा बहाती हुई, वह नव परिणीता सुन्दरी दूर देश को जाने वाले अपने प्रिय के प्रस्थान को रुदनमिश्रित आलापों से रोक रही है।

प्रस्तुत पद्य का व्यङ्ग्यार्थ है, "प्रिय की अनुपस्थिति का सारा दिन परम अवधि है, उसके बाद मैं न जी सकूंगी," और वाच्य है "प्रिय के जाने का निवारण" प्रिय का प्रस्थान न करना तभी सम्भव है, जब कि वह यह समझ ले कि उसकी प्रिया एक दिन के बाद न जी सकेगी। अतः पूर्वोक्त व्यङ्ग्यार्थ वाच्य के सिद्धि का अङ्ग होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य हैं।

चित्रमीमांसा में इसकी संस्कृत इस प्रकार है—

अत्र सकलमहः परमावधिस्ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि' इति, व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणस्य वाच्यस्य सिद्धिं करोतीति तदङ्गत्वादवाच्यानतिशायि, अतः इदमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ।[1]

गुणीभूत व्यङ्ग्य के इस उदाहरण पर पण्डितराज जगन्नाथ की यह आपत्ति है कि इस पद्य में उस नवपरिणीता रमणी का साश्रुनयनपूर्वक यह कथन ही— "क्या तुम एक पहर बाद नहीं लौट आओगे ?" प्रिय प्रस्थान के निषेध के लिए पर्याप्त हैं, फिर व्यङ्ग्य के गौण होकर उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है । "आंसू बहाती हुई वार्तालाप से जाने निवारण कर रही है" इस कथन में "आलापों से" यह तृतीया करण अर्थ में है, अतः यह स्पष्ट है कि ये आलाप प्रस्थान-निषेध के साधक हैं ।

यदि यह कहा जाय कि व्यङ्ग्य भी तो वाच्य को सिद्ध कर सकता है, तब तो फिर "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि में भी दूती संभोग आदि व्यङ्ग्य भी नायक की अधमता को सिद्ध कर सकते हैं, तब वहाँ भी गुणीभूतव्यङ्ग्य मान लेने में क्या आपत्ति है ?

अथवा 'तुष्यतु दुर्जन न्याय' से "दिनान्त के बाद तो मैं किसी तरह भी नहीं जी सकूंगी" यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्य सिद्धि का अङ्ग मानकर गौण मान लिया जाय, परन्तु नायक आदि विभाव, साश्रुनयन व रुदनपूर्वक वार्तालाप रूप अनुभाव, व चित्त के आवेगादि संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त होने वाले विप्रलम्भ शृंगार को कौन रोक सकता है अर्थात् इसके असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनित्व का निवारण कौन कर सकता है ।[2] प्रस्तुत पद्य में भी हमें यही प्रतीत होता है कि अप्पय्यदीक्षित व

---

1. चित्रमीमांसा ग्रन्थारम्भ प्र० ।
2. बाष्पगलज्जलानां प्रहरविरतावित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूप-वाच्यसिद्धयङ्गतया व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात् । आलापैरिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्य हरणालियाकरणतायाः स्फुटं प्रतिपत्तेः । न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्य-सिद्धयङ्गतया न संभवतीति तथोक्तमिति वाच्यम् । निःशेषच्युत. चन्दनत्मियादाविवाधमत्वरूप वाच्यसिद्धयङ्गताया दूती संभोगादौ संभवाद् गुणीभावापत्तेः । अस्तु वा ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यासिद्धयङ्गतया गुणीभावस्तथापि नायकादेर्विभावस्य वाष्पादेरनुभावस्य चित्तावेगादेश्च संचारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत् ।

(रसगङ्गाधर प्र० आ० का० मे० प्र०)

नागेश आदि विद्वान मम्मट के ही मार्ग का अवलम्बन कर आन्तरालिक व्यङ्ग्य को लेकर भी ध्वनि व गुणीभूतव्यङ्ग्य का व्यवहार करते रहे जैसा कि हमने पूर्व उदाहरण के व्याख्या के प्रसङ्ग में भी इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की है। परन्तु पण्डितराज कुछ अपने ही सिद्धान्त से पार्यन्तिक अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हैं और पण्डितराज ने अपने वर्गीकरण की रेखायें भी यथाशक्ति अधिक स्वच्छ रखी हैं।

मध्यम काव्य(तृतीय काव्य)

"यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्ततृतीयम्"।

जहाँ वाच्य चमत्कार से व्यङ्ग्य चमत्कारहीन होता है, वहाँ तृतीय काव्य अर्थात् मध्यम काव्य होता है। काव्य का यह वह भेद है जहां अजागरूक व्यङ्ग्यवाले चित्रों—अर्थालंकारों की ही स्थिति होती है, अर्थात् जहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य जागरूक न हो।

मध्यम काव्य का उदाहरण

"यथा यमुना वर्णने" "तनय मैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्ट-हिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी इति"। जैसे यमुना के वर्णन के प्रसङ्ग में—पुत्र मैनाक के खोजने के लिए समुद्र के भीतर फैलाये हुए हिमालय के भुजा के समान मालूम पड़ने वाली भगवती भागीरथी जिसकी यमुना सखी है।

इस गद्यांश में उत्प्रेक्षालंकार ही चमत्कार का निधान है। यह "हिमगिरि-भुजायमानाया" पद में है, "हिमगिरेः, भुजा इव आचरतीति तस्या," आचारार्थ में व्यङ्ग्य होने से क्यङ् प्रत्यय सदृश आचार में है, अतः उपमोत्क्रमोत्प्रेक्षा है अर्थात् उपमा से निष्पन्न हुई यह उत्प्रेक्षा है, क्योंकि पर्यन्त में सम्भावना की ही प्रधानता है। भागीरथी की स्वच्छ व धवल धारा की सम्भावना हिमालय के भुजा में की गयी है मानो यह गंगा हिमालय की भुजा ही हो।

यद्यपि गंगागतश्वेत्य व पातालतल चुम्बित्वादि चमत्कारों की भी कुछ अंशों में सम्भावना की जा सकती है परन्तु वह सारा चमत्कारांश उत्प्रेक्षा के उदर में ही लीन हो जाता है। जैसे किसी ग्राम्य वनिता द्वारा सम्पादित प्रसाधन सम्भार उसके स्वाभाविक सौन्दर्य को ही दबा देता है, उसी प्रकार यहाँ भी उत्प्रेक्षा चमत्कार ही प्रबल है। व्यङ्ग्यार्थ तो उसकी अपेक्षा मन्द है। वैसे किसी न किसी रूप में सर्वत्र ही व्यङ्ग्यार्थ का सम्पर्क रहता ही है, जिसके प्रभाव से वाच्यार्थ भी रमणीय हो जाता है। काव्य के इन्हीं उत्तम व मध्यम प्रभेदों में, (जिनमें कि गुणीभूतव्यङ्ग्य जागरूक तथा अजागरूक रहता है) समस्त अलंकारप्रधान काव्य प्रविष्ट है।

अधम काव्य (चतुर्थ काव्य)

"यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्"।

जहाँ अर्थ चमत्कार से उपस्कृत शब्द चमत्कृति ही प्रधान होती है वहाँ शब्द चित्र प्रधान "अधम" काव्य अर्थात् चतुर्थ काव्य होता है। तात्पर्य यह है कि इस काव्य में अर्थालंकारों में इतना चमत्कार नहीं रहता है जितना कि शब्दालंकारों में।

उदाहरण

मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीशात्रवशत्रवे।
गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः॥

सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं, जो दैत्यों का शत्रु है। जो इन्द्र व उसके वंशज देवों की रक्षा करता है, उस पृथ्वी पालक विष्णु या गोपालक शिव को बार बार नमस्कार है।

यहां त्र नामक अक्षर बार-बार आया है, अतः यह वृत्यनुप्रास है। इस वृत्यनुप्रास के चमत्कार में अर्थ चमत्कारलीन हो गया है। अतः यह अधम चतुर्थ श्रेणी का काव्य है।

यद्यपि एकाक्षरी वृत्त, अर्धावृत्तियमक, पद्यबन्ध आदि में पञ्चम प्रकार का भी काव्य हो सकता है और महाकवियों ने इस प्रकार का प्रयास किया भी है परन्तु वस्तुस्थिति इस प्रकार के काव्य को मान्यता नहीं देती है। क्योंकि ऐसे काव्य रमणीयार्थ की परिधि से परे हैं।

जहाँ अर्थचमत्कार व शब्द चमत्कार समान हो वहाँ मध्यम काव्य ही मानना चाहिए। अर्थात् तृतीय श्रेणी का ही काव्य मानना चाहिए। जैसे—

उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां,
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम्।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः,
संघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत्॥

कवि इस पद्य में उदयाचलावलम्बी प्रातःकालिक सूर्य का वर्णन कर रहा है—उदयाचल पर्वत की सीमा में यह कोई विलक्षण तेजों का संघात उदित हो रहा है जो खिले हुए कमलों के उपर गिरने वाले मत्त भ्रमरों का उल्लास है। और शोकरूपी दावाग्नि से विकल हृदय वाली चक्रवाकियों के दुःख का निस्तार है, प्रकाश को आच्छादित करने वाले अन्धकार का उत्पात है, और प्राणियों के आखों का पक्षपात अर्थात् सहारा है। यहाँ प्रत्येक पाद में उल्लास फुल्ल इत्यादि में वृत्यनुप्रास है और ओज गुण का प्रकाश होने से शब्द का चमत्कार है।

प्रसाद गुण के बाद प्राप्त होने वाले रूपक[1] या हेत्वलंकार के कारण अर्थालंकारों का भी चमत्कार है।

इन चमत्कारों में समानता होने से यह काव्य समप्राधान्य है। अतः मध्यम काव्य का ही यह उदाहरण समझा जायेगा। रस गङ्गाधर की चन्द्रिका हिन्दी टीकाकार पण्डित मदनमोहन झा जी ने प्रस्तुत पद्य को मयूर भट्ट का पद्य बतलाया है, आपने इस पद्य के हिन्दी अनुवाद के प्रारम्भ में लिखा है कि—"मयूर भट्ट अपने सूर्यशतक नामक ग्रन्थ से उदयाचलावलम्बी प्रातःकालिक सूर्य का वर्णन करते हैं"। परन्तु पण्डितराज सम्भवतः केवल एक उदाहरण के लिए किसी के काव्य की तस्करी नहीं करेंगे, जबकि उन्होंने स्वयं ग्रन्थारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा की है—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
इत्यादि।

पण्डितराज अपने ग्रन्थ में तभी परकीय पद्यों को उद्धृत करते हैं, जबकि उन्हें उस पद्य पर किसी प्रकार की असहमति या कोई आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत करना होता है। अथवा प्रत्युदाहरण के रूप में पाठकों को कुछ उससे समझाना होता है। अन्यथा तो वे परकीय पद्य के ग्रन्थ का भी सन्निवेश नहीं करते हैं।

झा जी को यह भ्रम सम्भवतः नागेश के उस प्रसङ्ग से हुआ होगा, जहाँ उन्होंने उक्त पद्य के प्रसङ्ग को दिखलाते हुए "उल्लास इति" यह प्रतीक देकर "रविवर्णनम्" ऐसा लिखा है। झा जी ने रविवर्णन का सीधा अर्थ सूर्यशतक ही समझ लिया, जो मयूर भट्ट द्वारा रचित है।

रसस्वरूप विवेचन

रस स्वरूप के विवेचन के लिए संक्षेप में ध्वनि के प्रभेदों का निर्देश करते हुये ध्वनिभेदों की अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं—

"तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासंख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते—द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च। तत्राद्यस्त्रिविधः रसवस्त्वलंकारध्वनिभेदात्। रसध्वनिरित्यसंलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रसभावतदाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानां ग्रहणम्। द्वितीयश्च द्विविधः। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्त-

---

1. रस गङ्गाधर के द्वितीय आनन के रूपक प्रकरण में स्वयं पण्डितराज ने उक्त पद्य में रूपक का निषेध किया है—"अत्र उपमेय उपमानस्य नारोपः, अपितु कारणे कार्यस्येति रूपकं न भवतीति प्राञ्चः"।

तिरस्कृतवाच्यश्च। एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते"।

उन काव्य के चार भेदों में उत्तमोत्तम काव्य जो ध्वनिकाव्य है, यद्यपि उसके अनन्त भेद हैं, फिर भी सामान्यतः किन्हीं भेदों का निरूपण किया जाता है--

प्रथमतः ध्वनि दो प्रकार की है—अभिधामूला ध्वनि एवं लक्षणामूलाध्वनि। इनमें पहली अभिधामूला जो ध्वनि है, उसके तीन भेद होते हैं—रसध्वनि, वस्तुध्वनि, और अलंकारध्वनि। यहाँ रसध्वनि शब्द असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का उपलक्षण है। अतः रस शब्द से रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि व भावशबलता, इन सभी का ग्रहण होता है। द्वितीय—लक्षणामूलाध्वनि भी दो प्रकार की होती है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि। इस प्रकार इन पाँच प्रकार की ध्वनियों में सबसे रमणीय रसध्वनि ही है। अतः रसध्वनि का स्वरूप जो रस है उसी का यहाँ विवेचन करेंगे—

पण्डितराज के शब्दों में रस का स्वरूप

"समुचितललितसन्निवेशचारुणा, काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः चंद्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च सम्भूय, प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सहगोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः"।

अर्थात् गुणालंकारों के औचित्य व लालित्यपूर्ण रचना से सुशोभित काव्य के द्वारा समर्पित किये गये सहृदय के हृदय में प्रविष्ट हुए, उस सहृदय के सहृदयता के बल से काव्य वासना विशेष की महिमा के द्वारा जब (रङ्गमञ्च में) दुष्यन्तत्व व शकुन्तलात्वादि विशेष अर्थ का विगलन हो जाता है। अर्थात् साधारणीकरण द्वारा जब तत्तत् विशेष व्यक्ति भी सामान्य नायक नायिकात्वादिरूप में ही उपस्थित हो जाता है अर्थात् लौकिक शकुन्तलादि जो कारण कार्य व सहकारी सम्पत्ति है वही काव्य में वर्णित होकर जब अलौकिक विभाव अनुभाव व व्यभिचारी भावादि संज्ञा को प्राप्त कर लेती है, तब शकुन्तलादि जो आलम्बन कारण है और चन्द्रिकादि जो उद्दीपन कारण है, अश्रुपातादि जो कार्य है, और चिन्तादि जो सहकारी कारण है यही सब सामग्री जब व्यञ्जना व्यापार के द्वारा अलौकिक परिवेश को प्राप्त कर लेती है, तो इन्हीं का नाम विभाव, अनुभाव, व सञ्चारीभाव हो जाता है। इन्हीं के संयोग से

प्रादुर्भूत जो व्यञ्जना व्यापार उसके द्वारा प्रमाता (सहृदय) के अन्तःकरण के आनन्दांश के आवरण का जब भङ्ग हो जाता है। अर्थात् सहृदय के अन्तःकरण में विद्यमान जो अज्ञानावरण है, जिसने आनन्दांश को आच्छादित कर रक्खा है। इस अलौकिक व्यञ्जनाव्यापार के द्वारा उसका विगलन हो जाता है। तब प्रमाता सहृदय के परिमित प्रमातृत्वादि भाव अर्थात् अज्ञानावरण के कारण अब तक प्रमाता-परिच्छिन्न पदार्थों तक ही सीमित था। परन्तु उस अज्ञानावरण के भङ्ग हो जाने के बाद प्रमाता में वह अपरिमित भाव आ जाता है। तब प्रमाता उस स्वप्रकाशानन्द चैतन्य के साथ वासनारूप में विद्यमान रत्यादि की चर्वणा करता है। इस प्रकार के चर्वणा के विषयीभूत रत्यादि ही रस हैं।

अपने इस वक्तव्य में मम्मट की भी सम्मति दिखला रहे हैं—

"तथा चाहुः—व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" इति।

विभावादि से अभिव्यक्त हुआ वह स्थायीभाव रत्यादि ही रस है। मम्मट की कारिका घटक "व्यक्तः" पद की व्याख्या पण्डितराज स्वयं कर रहे हैं—

व्यक्तो व्यक्ति विषयीकृतः, व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।

व्यक्तः का अर्थ है व्यक्ति का विषयीभूत, अर्थात् ऐसा चैतन्य जिसका आवरण भङ्ग हो चुका हो। दृष्टान्त द्वारा इसका उपपादन भी करते हैं—यथा शरावादिना इत्यादि से। अर्थात् जैसे कशोरे आदि से आच्छादित दीपक सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता है, और न स्वयं ही प्रकाशित होता है। उस आच्छादन या आवरण (कशोरे आदि) को हटा देने से समीपस्थ पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, और स्वयं भी प्रकाशित होता है। इसी प्रकार आत्मचैतन्य की अज्ञान रूप आवरण के हट जाने पर, अन्तःकरण वृत्तिरूप रत्यादि स्थायी-भाव को (जो कि विभावादि से संवलित है) प्रकाशित करता है। अर्थात् आस्वाद का विषय बनता है। और स्वयं (आत्मचैतन्य) भी प्रकाशित होता है।

रत्यादि स्थायीभाव तो वृत्तिरूप होने से अन्तःकरण के ही धर्म हैं। अतः इनका आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाशित होना उचित ही है। क्योंकि वेदान्त दर्शन का यह सिद्धान्त है कि "अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः"। अन्तःकरण के धर्म जो सुख दुःखादि वृत्तिरूप हैं उनका साक्षी आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाशित होना सम्मत ही है। परन्तु बाह्य पदार्थ जो घट घटादि हैं। उनका प्रकाशन तो अन्तः-करण द्वारा ही होगा, न कि साक्षात् आत्मचैतन्य द्वारा। इसी प्रकार बाह्य घट पट के समान जो विभावादि पदार्थ अर्थात् शकुन्तला दुष्यन्तादि बाह्य पदार्थ हैं, उनका तो अन्तःकरण द्वारा ही प्रकाशित होना उचित है, न कि साक्षात् आत्मचैतन्य द्वारा, तब ये साक्षिभास्य कैसे कहलायेंगे ?

दृष्टान्त सहित पण्डितराज इसका समाधान करते हैं—विभावादिनामपि स्वप्नतुरंगादीनामिव, रङ्गरजतादीनामिव, साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्"

अर्थात् स्वप्न में देखे गये घोड़े आदि और जाग्रत अवस्था में रङ्ग (राँगे) में देखा गया रजत, जैसे केवल साक्षिभास्य माने जाते हैं। क्योंकि उस अवस्था में वे चीजें वस्तुतः विद्यमान नहीं रहती हैं, तब अन्तःकरण आदि इन्द्रियों का तो उनसे सम्पर्क ही नहीं है, वे सब वस्तुयें तो उस दशा में काल्पनिक हैं। अथवा किन्हीं के मत से उन्हें अविद्या का परिणाम भी मान लिया जाय तब भी एक प्रकार से कल्पित ही है। उस दशा में इन पदार्थों का भान जैसे केवल आत्मचैतन्य द्वारा होता है। उसी प्रकार कल्पनारुढ दुष्यन्त व शकुन्तला आदि विभावादिकों को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं है। अनिर्वचनीय रजत की तरह कल्पित ये विभावादि भी आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित होते हैं।[1]

विभावादि के चर्वणा तक ही आवरणभङ्ग रहेगा, जब चर्वणा निवृत्त हो जाएगी तब आत्मचैतन्य के आच्छादित हो जाने से विद्यमान भी स्थायी रत्यादि प्रकाशित नहीं होंगे, अर्थात् विभावादि चर्वणा रूप जो व्यक्ति है, या अज्ञानावरण भङ्ग रूप वृत्ति विशेष अथवा व्यञ्जनाव्यापार, इसी के उत्पत्ति व समाप्ति का व्यवहार रस में भी आरोपित होता है, वैसे रस तो स्वयं प्रकाश व नित्य है, उसमें उत्पत्ति विनाश जैसी क्रियायें कहाँ ?

व्यक्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न विचार हैं। स्वयं काव्य-प्रकाशकार व्यक्ति को चर्वणा मानते हैं। इस चर्वणा को वे व्यञ्जना व्यापार व (व्यापारी) ज्ञान भी स्वीकार करते हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकार काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर भी व्यक्ति को चर्वणा ही मानते हैं। ये व्यक्तिविषयक चर्वणारूप सारे व्यापार विभावादि अर्थों के हैं। इन्हीं के अन्तर्गत साधारणीकरण, विभावानु-भावनसञ्चारण, व्यञ्जन आदि क्रियायें होती हैं। लोचनकार अभिनवगुप्त ने भी चर्वणा व व्यञ्जना को समानार्थक माना है। परन्तु पण्डितराज व्यक्ति का अर्थ भग्नावरणाचित् कहते हैं। ये व्यञ्जना व चर्वणा को वृत्तिरूप में एक ज्ञान विशेष ही मानते हैं। जैसा कि वेदान्त में वृत्ति को एक ज्ञान विशेष ही माना गया है। जिसके

---

1. "यथा स्वप्नदशायां प्रत्यक्षीक्रियमाणास्तुरगादयो बाह्यपदार्थाः काल्पनिकाः, इन्द्रियव्यापारोपरमात् साक्षादात्मनैव भास्याः यथा वा जाग्रद्दशायां चाक-चिक्यदोषाद् रङ्गे रजतस्य भ्रान्तौ जायमानायां रजतं बाह्यं प्रातिभासिक-मितीन्द्रियसंयोगशून्यं साक्षादात्मभास्यं, तथैव नायिकादयोऽपि बाह्या अपि भावनावलम्बिताः साक्षादात्मभास्या इतीह न कोऽपि विरोध इति तात्पर्यम्" (रसगङ्गाधर चन्द्रिकाटीका रस० प्र०)

दो कार्य हैं, एक तो विषयगत अज्ञानावरण को दूर करना, साथ ही साथ विषय को प्रकाशित करना, परन्तु यहाँ तो वृत्ति का कार्य केवल आवरणभङ्गमात्र है। अन्तः-करणावच्छिन्नसाक्षिचैतन्य के आवरण के हट जाने से वह स्वयं प्रकाशमान होता है, और स्वसन्निहित पदार्थों का प्रकाशन करता है।

जिस प्रकार दीपक से प्रकाशित घटादि का और स्फोट से अभिव्यञ्जित अर्थ को लोग उपयोग करते हैं। इसी प्रकार विभावादि से व्यञ्जित रत्यादि का भी सहृदय आस्वादन करते हैं।[1]

इस प्रकार मम्मट भट्ट के अनुसार व्यक्ति-चर्वणा की व्याख्या करके अब अभिनवगुप्त के मतानुसार उसी चर्वणा की (जिसे अभिनव "तन्मयीभवनम्" कहते हैं") व्याख्या करते हैं—**"यद्वा भावनाविशेषमहिम्ना"** इत्यादि ग्रन्थ द्वारा अथवा सहृदय के अपने सहृदयता के द्वारा उन्मिषित काव्य विषयक भावना विशेष की महिमा से उस समय प्रमाता सहृदय की चित्तवृत्ति, विभावादि संवलित तत्तत् स्थायियों से उपहित स्वरूपानन्दाकारा हो जाती है। निर्विकल्पक समाधि में जिस प्रकार साधक की चित्तवृत्ति ज्ञेयाकारा अर्थात् निरवच्छिन्न आनन्दाकारा हो जाती है। उसी प्रकार यहाँ प्रमाता सहृदय की भी चित्तवृत्ति विभावादि संवलितरत्याद्यु-पहित आनन्दाकारा हो जाती है। इसी को "तन्मयीभवन" कहते हैं। अर्थात् पण्डितराज के अनुसार चित्तवृत्ति की आनन्दाकारता। जबकि अभिनवगुप्त के अनुसार यह "तन्मयीभवन्" शैव दर्शन के अनुसार है, जिसमें सहृदय या प्रमाता की चित्तवृत्ति या चेतना शेषाकारा परिणति के स्थान पर विषय की ही चेतनारूपता हो जाती है। अर्थात् विभावादि संवलित स्थायियों का चेतनारूप में परिणाम ही अभिनव के अनुसार "तन्मयीभवन" है। अर्थात् बाह्य विषय जो घटादि हो या विभावादि वे मनःपटल में जब अङ्कित होते

---

1. अत्र "व्यक्तिः चर्वणा" इति काव्यप्रदीपकाराः, व्यञ्जितश्चर्वणीय इति व्यक्तिचर्वणयो व्यापारत्वं व्यापारित्वं च काव्यप्रकाशकाराः,..... इमे सर्वे व्यापारा साधारणीकरणं विभावानुभावनसञ्चारणम्, व्यञ्जनम् व्यञ्जनापरपर्याय चर्वणारूपाः विभावादिष्वेव।..... चर्वणा व्यञ्जनयोः पर्यायत्वं स्वीकुर्वद्भिर्लोचनकारैरेवमभ्यधायि—"अलौकिक-चमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादि चर्वणाप्राणः" "चर्वणामभिव्य-ञ्जनमेव, ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मत्वात्। ययेदं प्रतिभाति-व्यञ्जन चर्वणयोर्ज्ञानविशेषतया ऐक्यमभिप्रयद्भिः आचार्यैरुदलेखि तथा। परन्तु दीपेन प्रकाशितो घटादिः, स्फोटेन अभिव्यञ्जितोऽर्थः, लोकेनोपभुज्यते एवं विभावादिभिर्व्यञ्जितो सहृदयैश्चर्व्यतेऽतश्चर्वणाव्यापारः सहृदयनिष्ठः।
(रस गं० मधुसूदनी टीका)

हैं तो उस प्रकाशमय विमर्श के ही अपने स्पन्दितरूप है, या एक अंश हैं। इस प्रकार बाह्य विषय हमारी प्रकाशमयी सत्ता का ही एक अङ्ग बन जाता है। विषय की यह चेतनारूपता या आत्माकारा परिणति ही "तन्मयीभवन" है। तन्मयीभवन के द्वारा फिर विषय व चेतना में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता है, अतः इस स्थिति की उपमा तो निर्विकल्पक समाधि से ही दी जा सकती है, न कि सविकल्पक समाधि से परन्तु रसगङ्गाधर के प्रसिद्ध टीकाकारों ने चंद्रिका आदि टीकाओं में सविकल्पक समाधि का ही निर्देश किया है। इसमें कारण है नागेश की धारणा, नागेश ने पण्डितराज के इस मत को वेदान्तपरक मानकर, फिर उक्त सहृदय की चित्तवृति को विभावादि संवलित मानकर उसे सविकल्पक समाधि की ही स्थिति मानी है, "मर्मप्रकाश" में उनका उल्लेख इस प्रकार है—**"समाधेः सविकल्पात्, विषयेति, सा च विषयासंवलितशुद्धब्रह्मालम्बनेति भावः"**।

जबकि पण्डितराज स्वयं लिख रहे हैं, **"आनन्दो ह्ययं न लौकिक-सुखान्तरसाधारणः, अन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्"**। यह चर्वणा का या तन्मयीभवन का जो आनन्द या चमत्कार है वह लौकिक सुख की तरह नहीं है, क्योंकि अन्तः-करण वृत्तिरूप न होने से। इसी अभिप्राय की भट्ट मथुरानाथ जी की सरला टिप्पणी इस प्रसङ्ग में अवलोकनीय है।

> **अन्यानि सुखानि अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नचैतन्यरूपाणि, रसस्तु अन्तःकरण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यात्मको न, अपि तु शुद्धचैतन्यात्मकः। अस्यानुभवे हि चित्तवृत्तिरानन्दमयी भवति, अयं चानन्दोऽनवच्छिन्नः, अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छेदराहित्यात्।**

विषयानन्द व रसानन्द में वही तो अन्तर है, विषयानन्द में जहाँ चित्तवृत्ति विशुद्ध सत्त्व समनुस्यूत न होती हुई रज व तम के लेश से भी अनुविद्ध रहती है, ऐसे सविषयक चित्तवृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य को तो हम सविकल्प समाधि कह सकते हैं, परन्तु जहाँ चित्तवृत्तियों का आमूलचूल संशोधन हो चुका है, और उन चित्तवृत्तियों में तन्मयीभवन् की योग्यता आ चुकी है, अर्थात् वेदान्त की दृष्टि से उस आत्मचैतन्य में ही समा जाने की योग्यता, और शैव दर्शन के अनुसार स्वयं वृत्तियों का चैतन्या-कार में परिणाम हो जाने की क्षमता, जब आ जाती है, तभी उनमें रसादि का व्यवहार होता है, यद्यपि वेदान्त में उस अवस्था "ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय" इस त्रिपुटी का भी विलय हो जाता है, वह केवल शेयाकारावस्थिति है, परन्तु यहां विभावादि संवलित रति से विशिष्ट आनन्दाकारा स्थिति होने किञ्चित् वैलक्षण्य अवश्य है, व्यवहार में जिसे सविकल्प व निर्विकल्प समाधि के मध्य की स्थिति कह सकते हैं, जैसा कि आगे इस मत के निष्कर्ष के निरूपण के प्रसंङ्ग में स्वयं पण्डितराज ने कहा है **"इयं व परब्रह्मास्वादात्समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलित चिदानन्दा-लम्बनत्वात्"** इत्यादि।

अर्थात् वह चरम समाधि जिसमें परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, उससे यह रसास्वाद रूप समाधि कुछ भिन्न हैं, क्योंकि यहां विभावादि का भी किञ्चित् संश्लेष रहता है, अन्यथा यदि समाधि से सविकल्प समाधि अभीष्ट होती, तब तो उससे विलक्षणा कहने की क्या आवश्यकता थी ?

रस विवेचन का "यद्वा" वाला यह सन्दर्भ निश्चित ही पण्डितराज का अभिनव के द्वारा शैव दर्शन की छाया में व्याख्यात "तन्मयीभवन" का ही वेदान्तीकरण है ।

इस पक्ष को न समझने से ही विभिन्न टीकाकारों की इस विषय में अनेक भ्रान्तियाँ बनी हुई हैं, कोई टीकाकार पूर्व मम्मट वाले पक्ष में, भावकत्व व्यापार की असत् कल्पना करके, उसके विकल्प में फिर उक्त सन्दर्भ को व्यञ्जना व्यापारपरक पक्ष स्वीकार कर लेते हैं, वे पण्डितराज के द्वारा उपस्थापित रस स्वरूप में "अलौकिकेन व्यापारेण" का अर्थ, उक्त मम्मट वाले पक्ष में अरुचि दिखलाने के लिए "भावकत्व व्यापारेण" अर्थात् भट्ट नायक के द्वारा अपनाया हुआ भावकत्व व्यापार कर लेते हैं । अन्य टीकाकार इस रस के "यज्ञ" वाले पक्ष को भक्तिरसायनकार आचार्य मधुसूदन सरस्वती का मत बतलाते हुए उक्त सन्दर्भ की व्याख्या सांख्यदर्शनानुकूल कर लेते हैं । परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से तथ्य कुछ और ही मालूम पड़ता है, जिज्ञासु तथा अनुसन्धित्सु पाठकों को इस पर गम्भीर चिन्तन करना चाहिए ।

पण्डितराज स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि अभिनवगुप्त तथा मम्मट भट्टादि के ग्रन्थों के अनुसार तो भावावरण चिद्विशिष्ट स्थायी रत्यादि ही रस है । वस्तुतस्तु श्रुति व वेदान्त दर्शन के अनुसार तो "रत्यादि विशिष्ट भावावरण चित् ही रस है ।

अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार चित् विशेषण था तथा रत्यादि विशेष्य अब पण्डितराज के अनुसार रत्यादि विशेषण है, और चित् विशेष्य है, क्यों सभी प्रकार के आनन्दों का अधिष्ठान आधार चित्त ही है ।

परन्तु चित्त को चाहे विशेषण बनाया जाय या विशेष्य, उसके नित्यत्व व स्वप्रकाशत्व में किसी प्रकार की आंच नहीं आती है । उक्त रसास्वादविषयक भावना, काव्यव्यापार मात्र से प्रतीत होती है, अन्य किसी साधनों से नहीं, अतएव इसे शाब्दी भावना भी कहेंगे, यह भावना आनन्दात्मक है, इसमें श्रुति तथा सहृदय हृदयरूप अनुभव ये सभी प्रमाण हैं, जैसा कि श्रुति में लिखा है "रसो वै सः" "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति" इति श्रुतिः" । यद्यपि शब्दज ज्ञान परोक्ष माना जाता है, तथापि वेदान्तदर्शनानुसार "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों की तरह, यह आनन्दाकारा चितवृत्यात्मिका चर्वणा भी अपरोक्ष सुख का आलम्बन होने के कारण

अपरोक्षात्मिका है, अर्थात् उक्त चर्वणा का अनुभव सहृदय को साक्षात् होता है, और साथ ही साथ शब्द व्यापार से जन्म होने के कारण यह भावना शाब्दी भी है, यह सब अभिनवगुप्तपादाचार्य के काव्यानुसार है ।

भट्ट नायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक न तो रस की उत्पत्ति मानते हैं, न प्रतीति-अनुमिति, और न अभिव्यक्ति ही मानते हैं, अपितु भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादिको का भोजकत्व व्यापार से भुक्ति अर्थात् रस का भोग होता है ।

उक्त रस की प्रतीति न तो अपने (सामाजिक) से भिन्न दुष्यन्तादि अनुकार्य में होती है, और न अनुकर्ता नट में ही रस की प्रतीति होती है, क्योंकि ये दोनों ही तटस्थ हैं, यदि अनुकार्यगत अर्थात् जिसका अनुकरण किया जा रहा है ऐसे दुष्यन्तादि-गत रस माना जाय अथवा अनुकार्यगत अर्थात् अनुकरण करने वाले नटादि जो पात्र हैं, उनमें रस की प्रतीति मानी जाय, तब तो उदासीन भाव से सामाजिक का रङ्गमञ्च में उपस्थित होना ही व्यर्थ है, क्योंकि यह स्वभाव सिद्ध नियम है कि "सर्वं खलु आत्मनः कामाय प्रियं भवति" संसार के कोई भी पदार्थ तभी प्रिय लगते हैं, जबकि उनका अपने में प्रेम हो, इस सिद्धान्त के अनुसार अपने में प्रतीयमान किसी के प्रेम में ही चमत्कार हो सकता है ।

सामाजिक यदि अपने में यह कल्पना भी कर ले कि मैं शकुन्तलादि विषयक रतिवाला हूँ । "शकुन्तलाविषयक रतिमानहम्" इस प्रकार शकुन्तलादि सामाजिक के प्रति विभाव बन जायेंगे, तदनंतर विभावादि संयोग से सामाजिकगत रस निष्पत्ति में कोई बाधा नहीं होगी, परन्तु तटस्थ-उदासीन शकुन्तलादि जिनसे सामाजिक का कोई सम्बन्ध ही नहीं कैसे विभाव बन जायेंगे, इसके विपरीत (शकुन्तला मातृवन्मम पूज्येति ज्ञाने जागरूके) शकुन्तला मातृवत् पूजनीया है, इस प्रकार के ज्ञान के रहते रहते (अहं शकुन्तला विषयक रतिमान) मैं शकुन्तलाविषयक रतिवाला हूं।" यह प्रतीति हो ही नहीं सकती है, क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति प्रतिबन्धक "शकुन्तला मातृवत् पूज्या" यह ज्ञान विद्यमान है, तब सामाजिक के प्रति शकुन्तलादि विभाव तो बन नहीं सकेंगे, फिर बिना विभाव अर्थात् आलम्बन के रत्यादि की प्रतीति ही कैसे होगी, यदि शकुन्तलादि को कान्तात्व सामान्य दृष्टि से ही विभावतावच्छेदक कोटि में रख दिया जाए, अर्थात् शकुन्तलादि का विभाव का धर्म या स्वरूप सामान्य कान्तात्व होना ही निश्चित कर दिया जाय, तब तो सामान्य कान्तात्व अर्थात् विभावता का धर्म कहीं भी उपलब्ध हो सकता है, वह जैसे शकुन्तलादि में उसी प्रकार अन्यत्र भगिन्यादि में भी तो है, कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक शकुन्तलादि में सामाजिक की यह बुद्धि रहेगी कि "इयं शकुन्तला मम अगम्या" तब

तक लाख प्रयत्न करने पर भी शकुन्तलादि के विभावतावच्छेक श्रेणी में आने योग्य सामान्य कान्तात्व आ ही नहीं सकता है ।

तस्मात् शकुन्तलादि को विभावतावच्छेक कोटि में आने के लिए, उनको सामान्य कान्तात्व ही पर्याप्त नहीं है, जब तक कि उसके साथ साथ "इयं" मम अगम्या न" इस प्रकार का प्रमात्मक ज्ञान अर्थात् अप्रामाण्य ज्ञानानास्कन्दित अगम्यात्व प्रकार ज्ञानाभाव न हो ।

पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यता सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता कस्य विभावतावच्छेदक कोटावश्यं निवेश्यत्वात् ।[1]

अर्थात्—शकुन्तलादियों को जो सामान्य कान्तात्व है वह तभी विभावतावच्छेक कोटि में (विभावत्व श्रेणी में) आ सकता है, जबकि उनमें का शकुन्तलादि विशेष्य या जो धर्मी हैं, उनमें अगम्यात्व प्रकारक ज्ञान का अभाव, सामाजिक के चित्त में अवश्य हो, यदि "**इयं शकुन्तला अगम्या, पुरुषधौरेयस्य दुष्यन्तस्य पत्नीत्वात् अथवा मातृबुद्धिविषयत्वात्,**" इस प्रकार की धारणा जब तक सामाजिक के हृदय में रहेगी तब तक कभी भी उसके लिए शकुन्तलादि विभाव नहीं हो सकते हैं । यहाँ नैय्यायिक पदावली का गूढ़ तात्पर्य यह है कि "इयमगम्या" यह अगम्या है, इसमें "इयम्" पद से शकुन्तला विवक्षित है, जो कि विशेष्य है, विशेष्यता सम्बन्ध से रहेगी (इदमर्थ) शकुन्तला में, अतः इस ज्ञान को विशेष्यता सम्बन्ध से अवच्छिन्न (मुक्त) जायेगा ।

इस ज्ञान में "अगम्यात्व" प्रकार अर्थात् विशेषण है, यह अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान समवाय सम्बन्ध से व्यक्ति (सामाजिक) में रहेगा, प्रकारता सम्बन्ध से अगम्यात्व में, और विशेष्यता सम्बन्ध से इदमर्थ शकुन्तला में, प्रकृत में शकुन्तलादियों को विभावतावच्छेदक कोटि में लाने के लिए यह अपेक्षित है कि यहाँ पूर्वोक्त शकुन्तलादि विशेष्यों में अगम्यात्व प्रकारक ज्ञान का प्रमात्मक रूप से अभाव का निश्चय हो । अर्थात् विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न शकुन्तलादिकों में, प्रमात्मकरूप से अगम्यात्व

---

1. शृंगारे कान्तादेर्विभावतावच्छेदककोटौ । अर्थात् विभावात्वनिर्धारणे । समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता यस्य ईदृशस्य, अप्राभाण्यनिश्चयेनाऽस्पृष्टस्य "इयमगम्याऽस्ति" इत्याकारकज्ञानस्य अभावोऽवश्यं निवेश्यः, अयंभावः—कान्तायाः शृंगाररसे विभावत्वे तदैव भवेत्, यदा "इयमगम्या नास्ति' इति प्रामाणिको निश्चयः स्यात् ।

(रस गं० सरला टिप्पणी र० प्र०)

प्रकार ज्ञान का जब अभाव रहेगा तभी वे विभावतावच्छेदक कोटि में प्रविष्ट हो सकते हैं ।

इसी प्रकार करुणादि रसों में भी अशोच्यत्व, कापुरुषत्वादि ज्ञान का अभाव अपेक्षित है, तभी वह शोच्यत्व व पुरुषोत्तमत्वादि करुण व वीरादि के विभाव बन सकते हैं । प्रतिबन्धकाभाव की कारणता तो सर्ववादि सम्मत ही है, अर्थात् पत्नी व भगिनी आदि में सभी सत्पुरुषों की मातृबुद्धि व भगिनी बुद्धि की धारणा होना स्वाभाविक है । अतः प्रतिबन्धक के निर्वचन के बिना सहृदय को तत्तत् पदार्थों में विभावता बुद्धि का होना ही दुष्कर है । फिर अनुकार्य के साथ सामाजिक अपनी अभेद बुद्धि भी नहीं बना सकता है, क्योंकि अभेद बुद्धि भी किन्हीं समान धर्मों के कारण होती है, राम युधिष्ठिर दुष्यन्तादि अतीत युगों के युगपुरुष हैं, जब कि सामाजिक अपने को उनकी अपेक्षा आधुनिक व का पुरुषत्व का अनुभव करता है । काव्य-श्रवण तथा नाटकादि के प्रेक्षण से सामाजिकों के हृदय में होने वाली यह रसादि प्रतीति क्या है ? अर्थात् इसका स्वरूप कैसा है ?, क्या प्रमाणान्तर अनुपस्थित यह प्रतीति केवल शास्त्र के काव्य में निहित शब्दों से उन्मीलित होने से यह है ।

रसास्वादरूपा यह प्रतीति शाब्दी नहीं कही जा सकती है, यदि इसको काव्य-श्रवणजन्य होने के कारण अन्य लौकिक शाब्दी प्रतीतियों की तरह मान लिया जाय तब तो लोक में जिस प्रकार रात दिन के व्यवहार में आने वाले अहृद् वृत्तान्त मन को अत्यन्त उद्विग्न कर देते हैं, उसी प्रकार काव्यजन्य रसादि प्रतीति भी सामाजिक के चित्त को उद्विग्न कर देगी, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, काव्यास्वाद तो सहृदयों को निरन्तर आह्लादित करता ही रहता है । और यह रसात्मक प्रतीति मानसी प्रतीति भी नहीं कही जा सकती है, क्योंकि चिन्तन के द्वारा प्राप्त शकुन्तलादि पदार्थों के प्रतीति से यह विलक्षण है । अर्थात् "सुरभि चन्दनम्" इत्यादि स्थलों में ज्ञान लक्षणा रूप अलौकिक सम्बन्ध से होने वाले सौरभांश-ज्ञान में कोई खास चमत्कार अनुभूत नहीं होता है ।

नहीं इसको स्मृति ही कह सकते हैं, क्योंकि स्मृति हमेशा पूर्वानुभव-सापेक्ष्य है । अतः रसात्मक यह प्रतीति, न तो मानस प्रतीति या अनुमान आदि का विषय है, न स्मृति, उत्पत्ति, अभिव्यक्ति आदि का ही विषय बन सकती है ।

यह नाटक के अनुसार रस निष्पत्ति का स्वरूप इस प्रकार है—भट्ट नायक का मत है कि सामान्य शब्दों से काव्य के शब्दों में कुछ विलक्षणता अवश्य प्रतीत होती है । काव्य में अथवा नाट्य में उन शब्दों का प्रयोग होता है जो दोषाभाव व गुणालंकारादि सर्वथा सुसंस्कृत हों । काव्य या नाट्य में प्रयुक्त इन शब्दों का व्यापार भी तीन प्रकार का है, अभिधा (तत्पुच्छभूता लक्षणा को कुछ लोग अभिधा ही में अन्तर्भावित करते हैं) । भावकत्व व भोजकत्व ।

अभिधा के द्वारा सर्वप्रथम काव्यीय पद पदार्थों का जब सामान्यतः बोध हो जाता है, तदनंतर भावकत्व व्यापार द्वारा "अगम्यात्वादि" रस विरोधी ज्ञान के प्रतिबन्धपूर्वक कान्तात्वादि सामान्य रसानुकूली प्रतीति की उपस्थिति होती है, उक्त भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादियों का स्थायी रत्यादियों का साधारणीकरण हो जाता है। उक्त व्यापार द्वारा साधारणीकृत दुष्यन्त शकुन्तलादि देश काल अवस्थादि में भोजकत्व नायक तृतीय व्यापार से रजोगुण और तमोगुण के अभिभव किये जाने पर और सत्वगुण के समुद्रेक से सामाजिक का चित्त जब निर्मल हो जाता है, तब वेद्यान्तरस्पर्शशून्य चैतन्याकार आनन्द का साक्षात्कार होता है। तब इस प्रकार के आत्मानन्द को अनुभव का विषय बना हुआ वह रत्यादि भाव ही रस कहलाता है।

प्रकाशस्वरूप सत्त्व के उद्रेक अर्थात् आधिक्य में आनन्द का उद्भास होता है, बस इसी आनन्दमयी संवित् या प्रतीति में जो सहृदय की विश्रान्ति है, स्थिति है, इसी का नाम साक्षात्कार या भोग[1] है। यहां रत्यादि का भोग या भोग किये जा रहे रत्यादि दोनों को ही रस कहते हैं। जैसा कि पण्डितराज ने लिखा है—

तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादि भोगो वेत्युभयमेवरसः सोऽयं भोगो विषय संवलनाद् ब्रह्मास्वादसविधवर्ती इत्युच्यते" एवं च त्रयोदशाः काव्यस्य, अभिधा भावना चैव व तद् भोगी कृतिरेव च "इत्याहुः।"

यह साक्षात्कार विभावादि विषयों से संवलित रहता है, अतएव इसे ब्रह्मास्वादसहोदर कहते हैं।[2]

इस प्रकार काव्य के तीन अंश हैं—अर्थात् व्यापार हैं—अभिधा, भावकत्व व भोजकत्व।

मम्मट भट्टादि के मतों से भट्ट नायक के मत की विशेषता यह है कि इसमें भावकत्व व्यापार की कल्पना अधिक है, और व्यञ्जना व्यापार के स्थान में भट्ट नायक का भोजकत्व व्यापार आता है।

भट्ट नायक के रस सिद्धान्त को आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में भी

---

1. "आनन्दांशावरणाज्ञाननिवृत्तिद्वारेण वासनारुपतया स्थितस्य स्थायिनः स्वरूपभूतानन्दचैतन्येन यद् विषयीकरणं स एव भोगो भट्टनायकस्याभिमतः (काव्यतत्त्वसमीक्षा चतु० उल्लास)
2. तथा चोक्तं तेनैव—"निजचित् स्वभाव निवृत्ति विश्रान्तिलक्षणः, परब्रह्मास्वाद-सविधः, इति विस्तर विकासात्मा भोगः"—अस्यार्थः—निजास्वाभाविकी या चित्स्वभावा निवृत्तिः सुखम् तथैव विश्रान्तिलक्षणं स्वरूपे यस्य स भोग इति विश्रान्तिश्च वेद्यान्तरनिराकाङ्क्षायोः स्वरूपभूतानन्दालम्बनायाः संविद् एव स्वरूपावस्थितिः" (काव्यतत्त्व समीक्षा चतु० उल्लास)।

उद्धृत किया है, टीकाकारों व परम्परागत पण्डितों में यह प्रसिद्धि है कि भट्ट नायक का रस सिद्धान्त सांख्यदर्शनानुयायी है, इस प्रसङ्ग में स्वयं काव्यप्रकाश के प्रदीप-टीका के वाक्य इस प्रकार हैं—"सत्त्वरजस्तमसां गुणानामुद्रेकणे क्रमात् सुखदुःख-माद्ये; प्रकाशन्ते, उद्रेकश्च स्वेतराभिभूयावस्थानम्, इति सांख्यसिद्धान्तानुसारेण विवृणुते"

अधिकतर टीकाकारों की यही धारणा है कि यह मत सांख्य दर्शन से ही अनुप्राणित है, परन्तु आधुनिक विद्वानों का जिनमें डा० प्रेमस्वरूप गुप्त व नरेन्द्रनाथ शर्मा चौधरी आदि प्रमुख हैं। इन लोगों का मत है कि यह मत सांख्यदर्शनानुसारी नहीं है। भट्ट नायक के भावकत्व व्यापार की कल्पना का आधार मीमांसादर्शन है ऐसा डा० प्रेम स्वरूप गुप्ता जी का कहना है, इसका विस्तार से प्रतिपादन इन्होंने अपने रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन नामक निबन्ध में किया है। नरेन्द्रनाथ चौधरी जी ने अपने 'काव्यतत्त्व समीक्षा' नामक निबन्ध के चतुर्थ उल्लास में इस विषय का प्रतिपादन किया है। आपका कथन है कि चित्त की त्रिगुणात्मकता वेदान्त को भी मान्य है, और प्रत्यमिज्ञा दर्शन भी चित्त की त्रिगुणात्मकता को स्वीकार करता ही है। परन्तु केवल चित्त की त्रिगुणता के आधार पर जो टीकाकारों ने या अन्य विद्वानों ने उक्त भट्टनायक के मत को सांख्यदर्शनानुसारी माना है, यह सब उनकी भ्रान्ति ही है। इस भ्रान्ति का भूल वे प्रदीपकार का उक्त व्याख्यान ही समझते हैं। इनके मत में भट्ट नायक का रसविषयक व्याख्यान भी वेदान्त दर्शनानु-कूल ही है। क्योंकि रस को उन्होंने परब्रह्मास्वाद सविधवर्ती बतलाया है। और चित्स्वभाव को आनन्दात्मक बतलाया है। जबकि सांख्यदर्शन चित् को केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही मानता है।

सांख्यदर्शन के अनुसार स्थायी रत्यादि की रसनिष्पत्ति किस तरह हो सकती है, इसके उदाहरणरूप में इन्होंने अपने 'काव्यतत्त्व समीक्षा' में आचार्य मधुसूदन सरस्वती जी का मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका सर्वकार्योदुपादानभूता अतस्तदुपादेयानां सर्वेषां वस्तूनां त्रिगुणात्मकत्वेन सुखदुःख मोहात्मकत्वं सिध्यति। न च सुख दुःख मोहानामान्तराणां बाह्य घटपटादितादात्म्यं नोपपद्यते, उपपत्तौ वा सर्वं वस्तु सर्व प्रभातार प्रति आकारतया प्रतीयते इति वाच्यम्, न तावत् बाह्याभ्यन्तरयो-स्तादात्म्यासम्भवः, बाह्यानामेव मनः प्रतिबिम्बितत्वेन आन्तरत्वात् नापि सर्वान् प्रति तुल्यमान प्रसङ्गः, तत्तद्वास नारुपसहकारिभेदाद् भेदप्रतिपत्तेः, तथा हि एकैव कामिनी भर्तुः प्रिया भवति, तं प्रति सत्वांसस्य उद्रेकात्। सपत्नास्तु अप्रिया, ताँ रजोद्यस्य आविर्भावात्। तो कामयमानमन्यं च तामविन्दन्तं प्रति तस्यास्तमोयऽस्यं उद्रेकात् विषादहेतुत्वम्, अतः एकस्या एव कामिन्याः सुखदुःखविषादहेतुत्वं वासना भेदेनैव तत्तदंशस्य प्राहुर्भावात् व्यवतिष्ठते इति सांख्यानां राद्धान्तः।

एवं सति सुखाकार एव रत्यादिभावनां यदा मनसि प्रतिबिम्बितो भवति, तदा तेषां वासनारूपतया स्थितानां स्थायिभावत्वमुपपद्यते, स च स्थायी भावः, अनुकूलविभावादिसम्बन्धवशात्, यदा उद्बुद्धो भवति तदा सुखरूपतयैव आविर्भवेत्, एवं सुखाकारत्वेन स्थायिभावस्य सामाजिकचेतसि समुद्बोध एव रसः।

तात्पर्य यह है कि सांख्य दर्शन के अनुसार सत्त्व रज व तमोगुणात्मिका प्रकृति ही इस समस्त प्रपञ्च का कारण है। अतः कारण गुणों के क्रम से जितने भी जागतिक पदार्थ हैं वे सब त्रिगुणात्मक हैं, क्योंकि यह नियम है—**"कारणगुणाः कार्य गुणानारभन्ते"** सभी पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने से वे सब सुखदुःख मोहस्वरूपा ही होंगे, क्योंकि सत्त्व का स्वरूप सुखात्पक है, तो रजोगुण का स्वरूप दुःखात्मक है, और तमो गुण का स्वरूप मोहात्मक है, अर्थात् ये गुण सुख दुःख मोहलक्षण वाले हैं। और प्रमाताओं (जीवों) का यह अन्तःकरण भी त्रिगुणात्मक ही है, तब सभी वस्तु सभी प्रमाताओं के प्रति त्रिगुणात्मक ही प्रतीत होगी, परन्तु तत्तत् वासनारूप सहकारी के भेद से कोई वस्तु किसी के प्रति सुखात्मक है तो कोई वस्तु दुःखात्मक होगी और कोई मोहात्मक होगी,—जैसे एक ही कामिनी अपने पति के प्रति सुखात्मक है, क्योंकि उसके प्रति उसमें सत्वांश की अधिकता है, और अपने सपत्नी के प्रति दुःखात्मक है, क्योंकि उसके प्रति उसमें रज अंश की अधिकता है, अन्य किसी व्यक्ति के प्रति जो उसे चाहता है, पर प्राप्त नहीं कर सकता, उसके प्रति उसका मोहात्मक रूप है, क्योंकि उसके प्रति तम अंश की अधिकता है। इस प्रकार एक ही कामिनी पदार्थ में सुखदुःख मोहात्मक ये तीनों धर्म विद्यमान हैं। वासना भेद के कारण तत्तत् अंशों के न्यूनाधिकमात्रा में उन्मेष से एक ही वस्तु सुखदुःखमोहात्मक हो जाती है। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु के त्रिगुणात्मक होने का यही रहस्य है।

इसी प्रकार वासनारूप में स्थित रत्यादि भाव जब अनुकूल विभावादि के द्वारा उद्बुद्ध हो जाते हैं तब वे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में सुखरूप में ही प्रतिबिम्बित होते हैं, सामाजिक के चेतना या चिदाभास में सुखाकारत्वेन रत्यादिभावों का प्रतिबिम्ब या समुद्बोध ही रस है।

नवीनों का अनिर्वचनीयतावादी मत—(१)

कोई नवीन आचार्य तो काव्य तथा नाट्य में कवि के द्वारा रमणीय—गुणालंकारों से संस्कृत शब्दों द्वारा, तथा नाट्य में नट के द्वारा कमनीय कला के द्वारा प्रकाशित किये गये विभावादि सामग्री समुदाय के परिस्थिति में व्यञ्जना व्यापार द्वारा दुष्यन्तादि में शकुन्तला विषयक रति के ग्रहण किये जाने पर, सहृदय अपनी सहृदयतावश या दुष्यन्त विषयक पुनः पुनः अनुसंधान रूप भावना के कारण

सहृदय अपने को दुष्यन्त से अभिन्न समझने लग जाता है । जिस भावनारूप दोष की महिमा से सहृदय की अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से अच्छादित हो जाती है। जब हम अपने को दुष्यन्त से अभिन्न समझते हैं, तब शकुन्तला विषयक रतिमान् भी अपने को समझ लेते हैं । उक्त भावनारूप दोष के ही कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित आत्मा में, कल्पित शकुन्तलाविषय रति भी भासित हो जाती है, जैसे दूरस्थ शुक्तिका शकल में चाकचिक्यादि दोष से रजत का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् दूर स्थित सीप के टुकड़ों में चमचमाहट आदि दोषों के कारण, या शुक्ति विषयक अज्ञान के कारण, अज्ञान शुक्ति शकलों को ढककर जैसे उनमें अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न कर देता है, इसी प्रकार भावना विशेष दोष की महिमा से सामाजिक या सहृदय का अन्तरात्मा भी कल्पित दुष्यन्तत्व से जब ढक जाता है तब उसमें अनिर्वचनीय कल्पित शकुन्तला विषयक रति उत्पन्न हो जाती है ।

शुक्तिका शकल में प्रतीयमान वह रजत जैसे—प्रतीत होने से असत् भी नहीं है । और उत्तरकाल में बाध हो जाने से सत् भी नहीं है । अतः सत् व असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय होता है, उसी प्रकार कल्पित दुष्यन्त तत्व अवच्छादित सामाजिक के अन्तरात्मा में प्रतीत कल्पित शकुन्तलाविषयक रति भी प्रतीत होने के कारण सत् है, पर कल्पित होने से असत् है । अतः यह रति भी सत् व असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय कही जाती है ।

इस प्रकार उक्त भावनारूप दोष विशेष की महिमा से "मैं दुष्यन्त हूं" इस प्रकार के भ्रम में पड़े हुए सामाजिकों के हृदय में उत्पन्न होनेवाली शकुन्तलाविषयक अनिर्वचनीय 'रति स्थायीभाव ही साक्षिभास्य होता हुआ रस कहलाता है । यह सारा कार्य उस भावनारूप दोष विशेष का ही है, अर्थात् उक्त दोष के कारण ही यह अनिर्वचनीय साक्षिभास्य शकुन्तलाविषयक रति की प्रतीति ही रस है । और उस भावनारूप दोष के हट जाने पर, यह भी गायब हो जाता है ।

पूर्वोक्त दुष्यन्तनिष्ठ जो शकुन्तलाविषयक रति का उत्तरकाल में प्रतीत हुई अनिर्वचनीय रतिरूप जो लोकोत्तराह्लाद है, इनमें परस्पर भेद की प्रतीति के न होने से रति में सुखरूपता व आनन्दमयता का भान हो जाता है, जिस प्रकार दूरस्थ शुक्तिशकल में रजतबुद्धि हो जाने से परस्पर भेदाग्रह के कारण रजतार्थी रजत प्राप्ति से होने वाले आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए । काव्य नाटक में पूर्वोक्त रति का उत्तरकालिक अनिर्वचनीय रति के साथ एकत्व का अध्यवसान हो जाता है, जैसे शुक्तिका का रजत खण्ड के साथ एकत्वाध्यवसान होता है ।

रति जैसे अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार **"दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्"** इस बोध में अर्थात् रत्यादि विशिष्ट बोध में विशेष्यतावच्छेदक जो दुष्यन्तत्व

है । वह भी सामाजिक की अन्तरात्मा में अवच्छादित होने के कारण अनिर्वचनीय है ।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों के मतों में जो दुष्यन्तनिष्ठ रति है उसका सामाजिक कैसे आस्वादन करेगा ? या शकुन्तला आदि से सामाजिक का तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है, तब वह कैसे उक्त रति का आस्वादन करेगा ? सामाजिक किसी प्रकार भी दुष्यन्त की समता भी नहीं कर सकता अभिन्नता तो दूर रही । इत्यादि जो दोष आते थे वे सब इस मत में भावना विशेष रूप दोष के स्वीकार कर लेने से निरस्त हो जाते हैं ।

प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारणीकरण करके अर्थात् उपाय जो विभावादि हैं, उनका साधारणीकरण हो जाने से उसमें रत्यादिकों का भी साधारण्य सर्वसुलभ है, इस प्रकार साधारणीकरण सिद्धान्त के चरितार्थ हो जाने पर भी, बिना दोष की कल्पना किये न तो शकुन्तलादिकों का सामान्य कान्तात्व सरलतया उपस्थित हो सकता है । और न दुष्यन्तादि से सामाजिक की अभेद बुद्धि ही हो सकती है । क्योंकि साधारण्य सिद्धान्त की दशा में भी काव्य शब्दों के द्वारा शकुन्तलादि का जब ज्ञान होगा तो वह शकुन्तलात्वादि प्रकार पूर्वक ही होगा, न कि सामान्य कान्तात्वादि ज्ञान पूर्वक, अतः भावना विशेष रूप दोष की कल्पना के बिना उनका साधारण्य सम्भव नहीं है । उक्त मत वेदान्त सिद्धान्त की दृष्टि से तो अनिर्वचनीय ख्यातिवादी मत मालूम पड़ता है, और न्याय दर्शन के अनुसार यहाँ रस प्रतीति एक भ्रम ज्ञान विशेष ही है, जो भेदाग्रह के कारण है ।

करुणरस प्रधान काव्यों की सुखरुपता

शृंगाररस प्रधान काव्यों के स्थायी रत्यादि के रहने से उन रसों की सुख-मयता या आनन्दरूपता में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि रति (प्रेम) एक ऐसी वस्तु है, कि जो स्वभावतः मधुर है, फिर काव्य भावना से परिपक्व रति के विषय में तो कहना ही क्या है ।

परन्तु जहाँ शोकादि स्थाायी भाव हैं । ऐसे करुण रस प्रधान काव्यों की सुखमयता कैसे मानी जाएगी । शृङ्गार प्रधान काव्य में तो दुष्यन्तादि की तरह सहृदय भी आनन्दस्वरूपा रति विशेष का आस्वादन करेगा इसमें किसी की आपत्ति नहीं है, पर करुण रसादियों में तो स्थायी शोक के दुःखजनक होने से, वह कैसे सहृदयों के आह्लाद का हेतु बनेगा, प्रत्युत वह नायक की तरह सहृदय के लिए भी दुःखजनक ही होगा ।

यदि यह कहा जाय कि सत्य जो लौकिक शोक है वही दुःख के कारण हैं, न कि नाटकादि में कल्पित शोकादि, अतः सत्य अनुकार्य जो रामयुधिष्ठिरादि हैं, उन्हीं की दुःखरूपता होगी, न कि कल्पित नायकादि की, तो यह बात भी ठीक मालूम

नहीं पड़ती, क्योंकि व्यवहार में देखा जाता है कि कल्पितवस्तु भी भय कम्पादि को उत्पन्न करती है। जैसे अंधेरे में पड़ी हुई रज्जु में जब सर्प की कल्पना की जाती है तो उससे भी भय कम्पादि देखे जाते हैं। फिर शृङ्गारादि रसों में भी तो रत्यादि कल्पित ही हैं, न कि सत्य, परन्तु उनसे तो केवल आह्लाद की ही अनुभूति होती है। उत्तर में कहते हैं कि—शृङ्गार प्रधान काव्यों की तरह करुण-रस प्रधान काव्यों में भी यदि सहृदयों को सुख ही मिलता है, यह सहृदयहृदयरूप प्रमाण से सिद्ध है। अर्थात् ऐसा यदि सहृदयों का अनुभव है तो फिर कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना करना उचित है। लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि-कर्म जिस प्रकार सुख का प्रयोजक है, उसी प्रकार दुःखों का प्रतिबन्धक भी है, यदि यह बात हो कि कविकर्म लोकोत्तराह्लाद की तरह दुःखरूप भी है, और यह सब प्रमाण सिद्ध हो तब तो प्रतिबन्धक की कल्पना करना भी व्यर्थ है। क्योंकि अपने अपने कारण के द्वारा अर्थात् रति व शोक के द्वारा दोनों आनन्द व विषाद दोनों होंगे।

एक बात यहाँ यह है कि यदि करुण रस प्रधान काव्यों की दुःखरूपता ही स्वीकृत की जाएगी तो उन काव्यों के निर्माण के लिए कविजनों की प्रवृत्ति कैसे होगी, सहृदयों को भी उसे सुनने व पढ़ने की प्रवृत्ति कैसे होगी, फलतः अनिष्ट का साधन समझकर उससे दूर रहने की ही इच्छा होगी।

इसके उत्तर में कहते हैं कि चन्दनलेपन की तरह अर्थात् जैसे चन्दन के घिसने आदि में कुछ दुःख अवश्य होता है, परन्तु लेपन करने पर अधिक सुखदायी होता है, उसी प्रकार काव्य से भी सुख अधिक मिलता है, और दुःख कम मिलता है, इसीलिए कवियों एवं सहृदयों की इस ओर प्रवृत्ति होती है। "काव्य से केवल आह्लाद ही मिलता है," इस प्रकार के सिद्धान्त वालों की बात भी निःसन्देह उचित ही है।[1] क्योंकि भगवद्गुणश्रवण से भगवद्-भक्तों के नयनकमलों से जो अश्रुपात होते हैं, वे दुःख से नहीं, लेशमात्र भी वहाँ दुःख का संसर्ग नहीं रहता है।

यदि कोई इस प्रकार की आशंका करे कि जिस प्रकार हम काव्य या नाटक में राम के विरह में शोकयुक्त दशरथ से तादात्म्य कर आनन्द का अनुभव करते हैं।

---

1. केवल आह्लादवादियों की उक्ति—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः।। (?)
अलौकिक विभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्।
सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः।

(साहित्यदर्पण तृ० परिच्छेद)

पर यही बात जब स्वप्न व सन्निपात दशा में होती है। तब वहाँ तो केवल दुःख का ही अनुभव होता है। स्वप्न या सन्निपात की ही तरह असत्य या कल्पित या दोषविशेषजन्य काव्य व्यापारानुभूति है। तब इसमें भी दुःख ही होना चाहिए, क्योंकि यहाँ सुख को कल्पना की जाती है।

इसके समाधान में कहते हैं कि यह तो लोकोत्तर काव्यव्यापार की ही महिमा है, जिसमें अरमणीय शोकादि पदार्थ भी परिष्कृत होकर अलौकिक आनन्द प्रदान करते हैं।

अन्य अन्य शास्त्रीय प्रमाणों से यह लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म कुछ विलक्षण ही है, जो अलौकिक आनन्द प्रदान करता है।

रसों की अलौकिकता के साथ साथ ही उनकी सुख दुःखरूपता का प्रश्न भी भारतीय साहित्यशास्त्रियों के लिए एक विवेचनीय विषय रहा है। इस विषय में प्रायः तीन प्रकार के मत हैं, अभिनवगुप्त के मत में शृङ्गारादि रस आंशिकरुप से सुखदुःखात्मक हैं, केवल शान्त रस ही पूर्ण सुखात्मक है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र व गुणचन्द्र का मत विभाज्यवादी हैं, उन्होंने शृगार, हास्य, वीर, अद्भूत और शान्त रस को सर्वथा सुखात्मक माना है। और शेष वीभत्स, रौद्र, भयानक व करूण को दुःखात्मक माना है। धनिक, धनञ्जय, मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी रसों को नितान्त सुखरुप ही मानते हैं।[1]

नवीनों का अन्यथाख्यातिवादी मत

कुछ आचार्य रस की व्याख्या न्याय दर्शन के आधार पर करते हैं। ये लोग रस निष्पत्ति या रसास्वाद के लिए न तो व्यञ्जना व्यापार ही मानते हैं, और न अनिर्वचनीय ख्याति को ही आवश्यक समझते हैं। केवल भावना विशेष रूप दोष की ही महिमा से अपने में दुष्यन्त के साथ तादात्म्य मान लेने पर, काव्यार्थ भावना से उत्पन्न विभिन्न विषयताशाली अर्थात् विलक्षण प्रकार का जो मानस बोध है वही रस है।

तात्पर्य यह है कि काव्यार्थ भावना के द्वारा सहृदय के हृदय में एक प्रकार की कल्पना शक्ति का उदय हो जाता है, इसी दोषरूप काव्यार्थ भावना के बल पर प्रमाता या सहृदय दुष्यन्तादि के साथ तादात्म्य अर्थात् अभेद हो जाता है। प्रमाता को इस तादात्म्य की अनुभूति में यह ज्ञान होता है कि मैं शकुन्तलादि-विषयक रति आदि भावों को अनुभव करने वाले व्यक्ति (दुष्यन्तादि) से अभिन्न

---

1. बलदेवोपाध्याय द्वारा रचित "संस्कृत आलोचना" चतु० परिच्छेद रस-सिद्धान्त।

हूँ । प्रमाता का यह दुष्यन्तादि के साथ जो तादात्म्य का अनुभव है । यह उसकी मानसिक कल्पना है । जिस मानस बोध को प्रकृतमतावलम्बी आचार्य ने रस माना है । यह दुष्यन्त के साथ अभेद युक्त अर्थात् अभिन्न प्रमाता का शकुन्तलाविषयक रत्यादि का जो मानस बोध है । वह अयथार्थ ज्ञान होने से एक प्रकार का भ्रम ही है । संस्कृत में जिसका स्वरूप है—**"दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादि विषयक-रत्यादि मदभेदबोधो मानसः"** ।[1]

इस मत के अनुसार रस एक मानस बोध है । यह काव्यार्थ की भावना से जन्य है, अयथार्थ ज्ञान होने से इस मत में रस एक प्रकार का भ्रम ही है । परन्तु अन्य अयथार्थ ज्ञान जैसे स्वप्नादिभान है, उनसे यह विलक्षण है, क्योंकि यह काव्यार्थभावना जन्य है । अतएव आनन्ददायी है । अन्य अयथार्थ ज्ञान काव्यार्थ भावना जन्य नहीं है । **"स्वप्नादिस्सु तादृश बोधो न काव्यार्थ चिन्तनजन्येति न रसः, तेन न तत्र तादृशाह्लादापत्तिः"** ।

प्रश्न यह है कि जब शकुन्तलाविषयकरति प्रमाता में विद्यमान ही नहीं है । तो फिर अविद्यमान वस्तु अर्थात् कल्पित रति का आस्वादन कैसे होगा ?

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यहाँ प्रमाता ने अपने में दुष्यन्त के साथ अभिन्नता मानकर फिर जो शकुन्तला विषयक रति के आस्वादन का अपने में आरोप कर लिया है । यह उस पूर्वोक्त काव्यार्थ भावना रूप दोष के ही बल पर है । अर्थात् चाकचिक्यादि दोष विशेष से शुक्ति में जो रजत की कल्पना या आरोप किया जाता है । उसके लिए जैसे विषय के सद्भाव की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी यह शकुन्तलाविषयक रति तो कल्पित है, उसका मानसबोधरूप जो आस्वाद है, वह तो भ्रम है, तब भ्रम के लिए किसी वास्तविक वस्तु की आवश्यकता तो नहीं होती है, फिर यह तो रत्यादि का अलौकिक साक्षात्कार है, जिसके लिए निश्चित रूप से विषय की सत्ता अपेक्षित भी नहीं है । इसी अलौकिक साक्षात्कार को ही यहाँ भ्रम कहा है—

> **"नह्ययं लौकिक साक्षात्कारो रत्यादेः, येनावश्यं विषयसद् भावोऽपेक्षणीयः स्यात् अपि तु भ्रम : "**[2]

इसी अविद्यमान शकुन्तलादिविषयक रति के अनुभव को ध्यान में रखकर रस का आस्वादन या अनुभव कहा जाता है ।

इस मत में प्रमाता का दुष्यन्तादि के साथ जो तादात्म्य का स्वरूप वह

---

1. रसगङ्गाधर प्र० आ० रस प्र० ।
2. रसगङ्गाधर प्र० आ० रस प्र० ।

इस प्रकार है। जिसे भावनारूप दोष से कल्पित मानते हैं, कल्पित या असत्य, उक्त दोष से भ्रम रूप में उपस्थित हुई शकुन्तलादि विषयक जो रति है, वही भ्रमज्ञान रस है, ग्रन्थकार ने उक्तप्रकार के रसबोध को तीन तरह से दिखलाया है—

(1) दुष्यन्तादि में रहने वाली जो शकुन्तलाविषयक रत्यादि है उस रति से मुक्त मैं हूं।

(2) शकुन्तला विषयक रति युक्त दुष्यन्त से मैं अभिन्न हूं।

(3) मैं दुष्यन्तत्व से और शकुन्तला विषयक रति से भी युक्त हूं।

इस प्रकार के इन तीनों ज्ञानों को रस मानना पड़ता है। यद्यपि इन तीनों ज्ञानों में विषय एक सा है, तथापि उद्देश्य विधेय भाव के भेद से ये ज्ञान परस्पर भिन्न हैं। प्रथम ज्ञान में "मैं" उद्देश्य है, और दुष्यन्त में रहने वाली रति विधेय है, द्वितीय ज्ञान में उद्देश्य रति है, परन्तु विधेय है शकुन्तला विषययक रति युक्त दुष्यन्त का अभेद। और तृतीय ज्ञान में उद्देश्य "मैं" ही है, किन्तु विधेय दो हैं, एक दुष्यन्तत्व, दूसरा शकुन्तला विषयक रति, इसीलिए यह तृतीय ज्ञान समुच्चायक है।[1]

इन तीनों ज्ञानों में रति विशेषण रूप से प्रविष्ट है। अतः सर्वप्रथम रति का ज्ञान आवश्यक है, परन्तु उस रति का ज्ञान होगा कैसे ? क्योंकि वह काव्य के किसी शब्द से वाच्य तो है नहीं अर्थात् रति स्वशब्द वाच्य नहीं है, और व्यञ्जना

---

1. सहृदयस्य निजात्मनि—दुष्यन्तत्वं धर्मितावच्छेदकं यस्मिन् (अर्थात् यस्मिन् रतिवैशिष्ट्ये दुष्यन्तो धर्मी भवति,) इदृशं यत् शकुन्तला विषयक रतिं वैशिष्टयं तत्प्रतिपादकः, अर्थात् शकुन्तलादि विषयिका या रतिस्तद्युक्तः अहं इष्यन्तोऽस्मि दूतिमानसं प्रथमो बोधः। (स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मितावच्छेदक शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्ट दुष्यन्त तादात्म्भावगाही इत्यस्य) स्वात्मत्व विशिष्टे (स्वात्मनि) शकुन्तलादि विषयिका या रतिस्तद्विशिष्टो यो दुष्यन्तः तस्य तादात्म्यावगाही (अभेद बोधकः) अर्थात् शकुन्तलादि-विषयकरतिविशिष्टो दुष्यन्तः अहमस्मि, इति द्वितीयः (स्वात्मात्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्टदुष्यन्ततादात्म्यावगाही इत्यस्य)
स्वात्मनि दुष्यन्तत्वस्य शकुन्तलादिविषयकरतेश्च वैशिष्ट्यप्रतिपादकः, अर्थात्-अहं दुष्यन्तत्वेन शकुन्तलाविषयकरत्या च विशिष्टः अस्मि, इति तृतीयः। (स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वशकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्या वगाहि, इत्यस्य) त्रिष्वपि तात्पर्यमेकमेव, किन्तु प्रथमे "अहं दुष्यन्त" इति अहमुद्दिश्य दुष्यन्तत्वं विधीयते, द्वितीये—"दुष्यन्तः अहमस्मि" दुष्यन्तत्व-माधारीकृत्य अहत्व विधीयते, तृतीये आत्मनि दुष्यन्तत्वं रतिश्च विशेष्यते।"
(रसगङ्गाधर की सरला टिप्पणी रस प्रकरण)

व्यापार को इस मत में माना नहीं गया है, जिससे कि उक्त रति की अभिव्यक्ति हो सके, अगत्या यहां विशेषणीभूत उस रति के ज्ञान के लिए अनुमान की ही शरण लेनी पड़ेगी।

अर्थात्—उक्त रत्यादि ज्ञानों से पहिले नट आदि की चेष्टा को हेतु मानकर **"दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयक रतिमान्"** यह दुष्यन्त शकुन्तला विषयक रति वाला है, **"तद्विषयकचेष्टादित्वात्"** क्यों वह तद्विषयक चेष्टावाला है, ऐसा अनुमान करना पड़ेगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार नटादि की चेष्टादि के आधार पर अनुमान कर सामाजिक को शकुन्तलादि विषयक रति का दुष्यन्तादि में ज्ञान होता है, तत्पश्चात् उसकी भावना या कल्पनारूप दोष के द्वारा सहृदय की उस कल्पित दुष्यन्त से अपनी भेद प्रतीति समाप्त हो जाती है, तब सहृदय शकुन्तलादि विषयक रति से विशिष्ट दुष्यन्त के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस रङ्गमञ्च में उपस्थित रतिमान् दुष्यन्त के साथ अभेद भावना के आते ही अविद्यमान रति का भी सम्बन्ध जुड़ जाता है, यही कल्पित या अयथार्थ रतिमद भेद मानस बोध ही रस है जो शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से एक प्रकार का भ्रम है, नैय्यायिक लोग इस भ्रमज्ञान को अन्यथा-ख्याति कहते हैं, दुष्यन्तनिष्ठ शकुन्तलाविषयकरति की प्रमाता में कल्पना करने से उक्त कल्पित रति अयथार्थ होने के कारण भ्रमज्ञान विशेष ही है यद्यपि मानसबोध भी अनुभवात्मक होने से विषय की सद्भाव की अपेक्षा रखता है, परन्तु वह भ्रमरूप होने से विषय की वहाँ उतनी अनिवार्यता नहीं है क्योंकि "शुक्ति में रजत-ज्ञान की तरह" जिस किसी भी स्थान में स्थित विषय का भ्रमज्ञान में साक्षात्कार हो जाता है, ऐसा अन्यथाख्यातिवादी नैय्यायिकों का सिद्धान्त है।

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवादी मत

मीमांसा दर्शन के अनुसार भट्टलोल्लट ने रस की उत्पत्ति मानी है, आपका कथन है कि वस्तुतः साक्षात् सम्बन्ध से शकुन्तलाविषयक दुष्यन्तादि निष्ठ अनुकार्य में रहने वाली रत्यादि ही रस हैं, उन रत्यादियों का "नाटक में" सुन्दर विभावादि के प्रदर्शन में निपुण अनुकार्य दुष्यन्त आदि का अनुकरण करने वाले नट (पात्र) पर आरोपित करके, और काव्य में उसके पाठकों पर आरोपित कर, सहृदय उसका साक्षात्कार करता है। पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

मुख्यतया दुष्यन्तादिमत एव रसो रत्यादि, कमनीय—विभावाद्यभिनय प्रदर्शनकोविदे, दुष्यन्ताद्यनुकर्त्तरि नटे समारोप्य, साक्षात्क्रियते"

अर्थात् विभाव से उत्पन्न हुआ अनुभावों के द्वारा प्रकाशित या पल्लवित व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट हुआ यह शकुन्तलादि विषयक दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि

स्थायी भाव वास्तविक रूप से अनुकार्य दुष्यन्तादि में ही विद्यमान है, परन्तु विभावादि के अनुकरण करने में कुशल जो नट है, सामाजिक पूर्वोक्त भावनारूप दोष से या अनुमान से, उस नट में (जिसमें अनुकार्य दुष्यन्तादि का तादात्म्याध्यास है) रत्यादि का साक्षात्कार करता है, यही अलौकिक संन्निकर्ष के द्वारा साक्षात्क्रियमाण रत्यादि ही रस है, यह रस अनुकार्य दुष्यन्तादि में तो लौकिक संन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है, इसीलिए पण्डितराज ने "धर्म्यंशे लौकिकः" ऐसा लिखा है, और आरोप्यांशे त्वलौकिकः" परन्तु आरोप्य नटादि में उक्त शकुन्तला विषयक दुष्यन्तादिनिष्ठ रति साक्षात्कार अलौकिक संन्निकर्ष द्वारा होता है।

पण्डितराज की इस पंक्ति "धर्म्यंशे लौकिकः, आरोप्यांशे त्वलौकिकः" की व्याख्या अनेक टीकाकारों ने अपने अपने अभिप्राय से की है। रसगङ्गाधर के सरला टीकाकार पं० मथुरानाथ शास्त्री जी की व्याख्या इस प्रकार है—"अयं तत्र धर्म्यंशे अर्थात् "अयम्" इति नटविषये धर्मिणः प्रत्यक्षोपस्थितत्वात् सोऽयं साक्षात्कार लौकिकः, आरोप्यांशे (दुष्यन्तपक्षे) अतथात्वादलौकिकः" धर्मी नट के प्रत्यक्ष उपस्थित होने से उसमें यह सामाजिक का रत्यादि साक्षात्कार लौकिक है, और आरोप के योग्य दुष्यन्तादि के प्रत्यक्ष न होने से (यह रत्यादि का साक्षात्कार) अलौकिक है।

चन्द्रिका टीकाकार पं० बदरीनाथ कवि शेखर जी की व्याख्या भी करीब करीब इन्हीं का अनुसरण करती है—"धर्मी इदन्वेन गृह्यमाणो नटः, तस्य चक्षुसन्निकृष्टत्वात् साक्षात्कारो लौकिकः। आरोप्यं दुष्यन्तत्वादि, तस्य चासन्निकृष्टत्वाद लौकिकः साक्षात्कारो भवतीति शेषः"

वस्तुतः यहां सामाजिक के द्वारा गृह्यमाण है दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादि विषयक रत्यादि भाव, जिसका अभिनय कर रहा है नट, और आरोप का विषय भी यहां नट ही है न कि दुष्यन्त, वह तो अनुकार्य है, अतः सामाजिक के द्वारा गृह्यमाण यह दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादि विषयक जो रति वह दुष्यन्तादि तक ही लौकिक हो सकती है, काव्यार्थ द्वारा नट में आते आते तो वह लौकिक रहेगी ही कैसे, फिर नट में किसी प्रकार लौकिक मान भी लिया जाए तो, सामाजिक यहां आते आते अर्थात् इस तृतीय कक्षा में समारूढ़ होने वाली रत्यादि भावों का लौकिकत्व कैसे सुस्थिर रहेगा ?

अतः हमारी सम्मति में तो पं० मधुसूदन मिश्र जी की "मधुसूदनी" टीका की यह व्याख्या ही ग्रन्थकार के आशयानुसार मालूम पड़ती है, जो इस प्रकार है—

अस्मिन् भट्टलोल्लट मते "दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमानित्यादिः साक्षात्कारः प्राग्वत् (लोकवत्) धर्मिणि दुष्यन्ते अंशे लौकिकेन सन्निकर्षेण नायकयोः परस्परमवलोकन स्थले संभोगेन, तयोः परस्परं कटाक्षनिक्षेपणे संयुक्तसमवायेन

जन्यत्वात्, लौकिकः साक्षात्कारः। आरोप्ये नटादौ अंशे अलौकिकं सन्निकर्षो ज्ञानं तेन जन्योऽतएव अलौकिको शास्त्रीयानुभवमात्रकल्प्य इत्युच्यते।"

भट्ट लोल्लट का यह उत्पत्तिवाद वस्तुत उपचयवाद है, पहिले विभावों से स्थायी का उद्‌बुद्ध होना, फिर अनुभावों से विकसित होना, तदनन्तर व्यभिचारियों से परिपुष्ट होते हुए, चरमावस्था पर पहुंचना, अपने में एक क्रमिक विकास की सम्भावना लिए हुए हैं, शंकुक तथा परवर्ती आचार्यों ने लोल्लट के इस क्रमिक विकास पर बहुत आक्षेप किये, समूहावलम्बन रूप में ही इन लोगों ने रस के अनुभव को माना है।

शंकुक का अनुमितिवादी मत

शंकुक का रससिद्धान्त न्याय दर्शन के आधार पर है। इनके मतानुसार पक्ष-भूत नट में, तत्तद्‌विषयक चेष्टा आदि के द्वारा सामाजिक रत्यादि सामग्रीरूप साध्य का अनुमान करता है। पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

"दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते विभावादिभिः कृत्रिमैरपि अकृत्रिमतया गृहीतैर्भिन्ने विषयेऽनुमिति सामग्रया बलवत्वादनुमीयमानो रस इत्यपरे"।

अर्थात् दुष्यन्तादि में रहने वाले रत्यादि भाव का, दुष्यन्तत्वेन गृहीत पक्षभूत नट में जो ग्रहण किया गया है। वह सब बनावटी (कृत्रिम) होते हुए भी अभिनय के माहात्म्य से स्वाभाविक सा लगता है। अर्थात् जब रङ्गमञ्च में नट दुष्यन्त का अभिनय करता है, तब उसके विभावादि जितनी भी चेष्टायें हैं, वे सब अवास्त-विक (कृत्रिम) होते हुए भी अभिनय की कुशलता के कारण कृत्रिम नहीं मालूम पड़ती हैं। तब सामाजिक उन विभावादि लिङ्गों के द्वारा दुष्यन्तत्वेन गृहीत पक्षभूत उस नट में साध्यभूत उस शकुन्तला विषयक रत्यादि भावों का अनुमान कर लेता है। जिसका आकार इस प्रकार है—**"दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयक रतिमान्। तद्विषयक-कटाक्षादि चेष्टावत्वात्"** अर्थात् प्रत्यक्ष रङ्गमञ्च में उपस्थित यह दुष्यन्तरूप नट शकुन्तला विषयक रति वाला है। क्योंकि उस प्रकार की चेष्टावाला होने से।

इस पक्ष में सामाजिक के द्वारा अनुमीयमाना यह रति काव्यार्थभावनाजन्य विलक्षण सौन्दर्यशाली होने के कारण अन्य लौकिक अनुमान से विलक्षण हैं। मृदादि घट से कनक घट की विलक्षणता की तरह, यद्यपि सामाजिक नट की उन उन चेष्टाओं को प्रत्यक्ष कर रहा है, तब प्रत्यक्षप्रभारूपा इस रति की अनुमिति कैसे होगी? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि यहाँ पक्ष नट व हेतुभूत चेष्टायें आदि प्रत्यक्ष हैं। परन्तु साध्य जो रत्यादि है वे तो प्रत्यक्ष नहीं हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष सामग्री नट व चेष्टायें, और अनुमान सामग्री रत्यादि ये सब भिन्न-भिन्न ही

हैं। यद्यपि समान विषय में प्रत्यक्ष ही सभी प्रमाणों से ज्येष्ठ व श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि सारा व्यवहार ही प्रत्यक्षमूलक होता है। परन्तु विषय के भिन्न होने पर तो अनुमान ही बलवान होता है। नैय्यायिकों के विषय में एक किंवदन्ती यह भी है कि वे प्रत्यक्ष परिकलित पदार्थ को भी अनुमान के द्वारा जानने में किसी अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

तात्पर्य यह है शंकुक के मतानुसार नट द्वारा अनुकार्यगत स्थायी आदि का अनुकरण किया जाता है। नट में रस की वास्तविक सत्ता नहीं होती है। सामाजिक उसे चित्रतुरंग न्याय से दुष्यन्त समझकर उसके सुखदुःखादिकों से उस नट को व्याप्त मानता है, सामाजिक की दृष्टि में यह नटगत दुष्यन्तत्वादि की प्रतीति संशय मिथ्या आदि प्रतीतियों से विलक्षण होती है। यद्यपि विचार करने पर यह नटगत दुष्यन्तत्वादि की दृष्टि भी मिथ्यावर्ग में ही आती है। परन्तु चित्र में अङ्कित घोड़े को जितना सत्य माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ की भी स्थिति है। यद्यपि वह असली घोड़ा नहीं है, पर कभी कभी बालकों को समझाने या मनाने के लिए यह "चित्रतुरग" असली घोड़े का सा कार्य कर देता है। इसी प्रकार सामाजिक के द्वारा भी अनुमीयमाना यह रति विलक्षण आनन्द प्रदान करती है। एक प्रकार के मिथ्याज्ञान से भी अर्थक्रिया कारिता कैसे हो सकती है, इसका उपपादन शंकुक ने बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध चित्रतुरग न्याय को दृष्टान्त में रखकर बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। जिस प्रकार वेदान्त दर्शन शुक्तिरजत व रज्जुसर्प आदि दृष्टान्तों के द्वारा इस संसार की भ्रमरूपता सिद्ध करते हैं। भ्रम या अज्ञान के लिए इन्हीं दृष्टान्तों को उपस्थित करते हैं। उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में चित्रन्याय को उपस्थित किया जाता है। अर्थात् विज्ञानवाद के अनुसार ये सब ज्ञान की उपाधिमात्र ही होते हैं। चित्र की रूपरेखायें सब मिलकर अश्व से अनन्य ही हो जाती हैं। अतः इनका अलग से ज्ञान करना मुश्किल है। पदार्थ के विषय में विवेचनकुशल विवेकी ही इनकी पहचान कर सकता है। दश घट व्यक्तियों में परस्पर रङ्गरूप व आकार में सूक्ष्मभेद होते हुए भी, विकल्पिकाबुद्धि उनमें भेद नहीं देखती है। व्यवहार में तो सभी घटों से आहरण धारणादि एक जैसे कार्य होते हैं। अतः व्यवहार क्षेत्र में सूक्ष्म भेदों की तरह ध्यान नहीं दिया जाता है। शंकुक का सामाजिक भी एक व्यवहारी पुरुष है, यह न तो चित्र के अश्व को वास्तविक अश्व से पृथक् देखता है, न पृथक् देखने की आवश्यकता ही समझता है। इसी प्रकार दुष्यन्तत्वेन गृहीत नट में ही यह उक्त रति का अनुमान कर लेता है।

विभावादि समुदितवादी का मत

कुछ लोगों का कहना है कि विभाव अनुभाव व सञ्चारी भाव इन तीनों के सम्मिलित होने पर ही "रस" होता है। अर्थात् ये तीनों समवाय रूप से जब एकत्र

उपस्थित होते हैं, तभी रस रूप में प्रकाशित होते हैं ।

इसी मत की छाया कविराज विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में रस स्वरूप विवेचन के प्रसङ्ग में उपलब्ध होती है—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते,
ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ।
प्रमाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ।।

सर्वप्रथम प्रतीयमान विभावादि प्रत्येक अनुभावादि का हेतु माना जाता है, तदनन्तर सम्मिलित विभावानुभाव सञ्चारी भाव सहृदयों के हृदय में प्रपाणकरस न्याय से आस्वादित होता हुआ रस कहलाता है ।

एला लवंग खण्डमरिचादि द्रव्यों के संयोग से बने हुए प्रपाणकरस में जैसे कोई अपूर्व आस्वाद मिलता है, उसी प्रकार विभावानुभावसञ्चारी भाव के सम्मिलन से समास्वादित स्थायीभाव भी किसी विलक्षण आनन्दानुभूति को प्रदान करता है । इसी के लिए पण्डितराज ने लिखा है—**"विभावादयस्त्रयः समुद्रिताः रसा इति कतिपये"** ।

चत्मकारवादी मत

कुछ लोगों का कहना है कि विभाव अनुभाव व सञ्चारी भाव इनमें से जो चमत्कारी है, वही "रस" है । चमत्कार शून्य रस नहीं है, क्योंकि लोकोत्तर चमत्कार में ही "रस" का व्यवहार होता है । कविराज विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण के रस प्रकरण में नारायण नामक विद्वान को चमत्कारवादी माना है, नारायण का मत है कि काव्य का सार ही चमत्कार है, जिसकी सर्वत्र अनुभूति होती है । अधिकतर यह चमत्कार विस्मय स्थायिक अद्भुत में ही परिपुष्ट देखा जाता है, अतः आचार्य नारायण के मत में अद्भुत ही एक रस है ।

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते । तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः । तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् । इति ।

पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

"त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः, अन्यथा तु त्रयोऽपि न" ।

केवल विभाववादी मत

कुछ लोगों का मत है कि पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावना का विषय बनता हुआ विभाव ही रस है । अन्य अनुभाव व सञ्चारीभाव रस नहीं है, क्योंकि विभाव ही सर्वप्रथम भावना का विषय बनता है । पण्डितराज के शब्दों में—**"भाव्यमानो विभाव एव रसः इत्यन्ते"** है ।

केवल अनुभाववादी मत

कुछ पण्डितों का मत है कि अनुभव विषयीक्रियमाण अनुभाव ही "रस" है, विभाव व सञ्चारी भाव नहीं, क्योंकि साक्षात् अनुभव पक्ष में तो अनुभाव ही आते हैं। और इन्हीं का अनुभावन भी होता है रत्यादि सूक्ष्म व अनुद्बुद्ध होने के कारण न तो विभाव दशा में उनका अनुभावन हो सकता है। और अस्थिरता के कारण सञ्चरण दशा में भी उनका अनुभावन नहीं हो सकता है। इसीलिए उक्त मत को प्रदर्शित करते हुए पण्डितराज ने कहा है—**"अनुभावस्तथा इतीतरे"**।

केवल सञ्चारीवादी मत

किन्हीं विद्वानों का कहना है कि भावना का विषय बना हुआ सञ्चारी भाव ही रस है, यद्यपि प्राधान्येन अभिव्यक्त सञ्चारी भाव भावध्वनि पद व्यपदेश्य होता है। परन्तु कहीं कहीं यदि वही सञ्चारी भावना का विषयीभूत हो, सञ्चरणशील होता हुआ भी किन्हीं उत्कर्षों से स्थिर चमत्काराधायक हो तो यही सञ्चारी "रस" कहलाता है।

पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

"व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति इति केचित्"।

इस प्रकार पण्डितराज ने रस स्वरूप के विषय में ग्यारह मतों का प्रदर्शन करके अब **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः"** इस भरतमुनि के सूत्र की तत्तत् मतों के अनुसार व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। अर्थात् रस के प्रसङ्ग में भरतमुनि का यह सूत्र ही सभी आचार्यों का तथा सभी मतों का उपजीव्य है। इसी सूत्र को आधार मानकर सभी आचार्यों ने अपने अपने मत की मीमांसा की है।

(1) विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगात् "व्यञ्जनात्" रसस्य चिदानन्द-विशिष्टस्यात्मनः, स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः "स्वरूपेण प्रकाशनम्" इत्याद्ये।

विभाव अनुभाव व व्यभिचारी भावों के संयोग अर्थात् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव से "रस" अर्थात् चिदानन्द विशिष्ट स्थायी का अथवा स्थायी से उपहित चिदानन्द, का स्वरूपतः प्रकाशन होता है। यह प्रथम मत की व्याख्या है, अर्थात् अभिनवगुप्त व मम्मटादि के पक्ष से ऐसी व्याख्या है।

(2) "विभावानुभावव्यभिचारिणां सम्य धारणात्मतया योगात् भावकत्वव्यापारेण भावनाद्, रसस्य स्थाय्युपहितसत्वोद्रेकप्रकाशितस्वात्मानन्द-रूपस्य, निष्पत्तिभोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः" इति द्वितीये ।।

विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (सं+योग) अर्थात् सम्यक्तया

साधारणीकरण रूप योग से भावकत्व व्यापार के द्वारा (विभावादि स्थायी आदियों का सामान्य रूप प्रस्तुत कर) भावना करके स्थायीभावरूप उपाधि के सहित सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित निजानन्दस्वरूप रस का साक्षात्कार अर्थात् भोग होता है।

यह भट्टनायक के अनुसार उक्त सूत्र की व्याख्या है।

(3) **"विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद् भावना विशेष रूपाद् दोषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः"** इति तृतीये।

विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग अर्थात् सहृदयतामूलक काव्यार्थभावनारूप दोष की महिमा से, दुष्यन्तनिष्ठ शकुन्तलाविषयक अनिर्वचनीय रत्यादिरूप रस कीं उत्पत्ति होती है, (शुक्तिका शकल में रजतखण्ड की तरह) यह प्रतिभासिकोत्पत्ति ही यहाँ निष्पत्ति है।

यह अनिर्वचनीयवादी नव्यों के मत के अनुसार उक्त सूत्र की व्याख्या है।

(4) **"विभावादीनां संयोगाद् ज्ञानाद् रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्ति-रुत्पत्तिः"** इति चतुर्थे।

विभावादियों के संयोग अर्थात् काव्यार्थ भावनात्मक दोष विशेष से, सामाजिक द्वारा अपने में कल्पित दुष्यन्तत्व से अभेदाध्यवसान कर लेने पर कल्पित=अविद्यमान रत्यादि का अपने में आरोप करना ही रस निष्पत्ति है, अर्थात् अयथार्थ रसरूप भ्रम विशेष का अपने में ज्ञान करना, (शुक्तिका शकल में रजत खण्ड के आरोप की तरह) यह मत अन्यथाख्यातिवादी नवीनों का है।

(5) **"विभावादीनां सम्बन्धात् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः"** "इति पञ्चमे।

विभावादियों के संयोग अर्थात् सम्बन्ध से या उत्पाद्य-उत्पादक भाव से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् नट में आरोप, (या उत्पत्ति होती है) यह मत उत्पत्तिवादी भट्टलोल्लट का है।

(6) **"विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः संयोगादनुमानाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादौ पक्षे"** इति शेषः इति षष्ठे।

विभावादि के कृत्रिम होने पर भी, स्वाभाविकतया ग्रहण किये जाने पर, उनके संयोग अर्थात् गम्यगमकरूप अनुमान से नट रूप पक्ष में सामाजिक द्वारा रत्यादि की निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति की जाती है। यह मत अनुमितिवादी शंकुक का है।

(7) **"विभावादीनां त्रयाणां संयोगात् समुदयाद् रसनिष्पत्तिः, रसपद-व्यवहारः"**। इति सप्तमे।

विभावादि तीनों के सम्मिलन से रस पद का व्यवहार होता है, ऐसा समुदितवादियों का कहना है ।

(8) "विभावादिषु सम्यक् योगाच्चमत्कारात्" इत्यष्टमे ।

विभावादि में से जो भी चमत्कारिक हो वही रस है ऐसा चमत्कारवादियों का आठवाँ मत है । अवशिष्ट तीन मतों में सूत्र का समन्वय नहीं होता है, क्योंकि सूत्र में विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों के सम्मिलन से ही रस निष्पत्ति बतलाई है, न कि केवल विभाव या अनुभावादि से । जब उक्त विभावादिकों का सम्मिलित रूप ही भरतसूत्र प्रामाणिक है, तो फिर केवल विभाव या अनुभाव से ही रस निष्पत्ति की कल्पना कर लेना अनुचित है, अपिच उक्त स्थलों में जहां केवलतया उक्त विभावादिकों की स्थिति है, अन्य दो का भी आक्षेप कर लेना चाहिए ।

इस प्रकार अनेक मनीषियों के द्वारा की गई यह रस के विषय में नाना प्रकार की परिकल्पना अत्यन्त आह्लाद का हेतु होने से सहृदयों के लिए परम-रमणीयता को प्रदान करती है ।

रसों की संख्या

रस के स्वरूप का अनेक दृष्टियों से विवेचन कर अब रस की संख्या के विषय में विचार करते हैं ।

पण्डितराज के मतानुसार रसों की संख्या (या रसों के भेद) नौ हैं । इस विषय में पण्डितराज भरत के अनुयायी हैं, मुनिवचन के अनुसार उन्होंने अपनी कारिका में नौ ही रसों की गणना की है, वह इस प्रकार है—

शृंङ्गार : करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।
हास्यो भयानकश्चैव वीभत्सश्चेति ते नव ।।

शृंगार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, ये नौ रस हैं । इन नौ रसों के विषय में स्वकपोलकल्पनाजन्य अप्रामाण्य शंका के निरास के लिए उन्होंने "मुनिवचनं चात्र प्रमाणम्" भी लिख दिया, अर्थात् भरतमुनि का वचन ही इसमें प्रमाण है, क्योंकि कुछ प्राचीन आचार्य धनञ्जय व धनिक आदि ने शान्त का नाट्य में निषेध किया है, और कुछ परवर्ती आचार्यों ने रसों की संख्या नौ से भी अधिक मानी है, जैसे विश्वनाथ कविराज जी ने लिखा है मुनीन्द्रसम्मत एक वत्सल नाम का भी दशवां रस है, और गौणीय वैष्णव सम्प्रदाय वालों ने श्रीकृष्ण विषयक "मधुर" रस की भी कल्पना की है, और मधुसूदन सरस्वती आदि ने एक भक्तिरस की भी स्थापना की है । स्वयं मम्मट नाट्य में केवल आठ रसों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, फिर संकोच के साथ काव्य में नवम रस शान्त की स्वीकृति देते हैं । इन सब वादविवाद व मतमतान्तरों के मेले में पण्डितराज के लिए

भी एक समस्या थी कि किस पक्ष की स्वीकृति दी जाय, या किस पक्ष में अपना मत प्रदान किया जाय, यह सब विचार कर उन्होंने साहित्यशास्त्र के आद्य व आर्ष मनीषी भरतमुनि के अनुसार ही अपना रस संख्या विषयक विवेचन उचित समझा।

रसो की संख्या के विषय में भरत की कारिका इस प्रकार है—

शृंङ्गार हास्यकरुणा रौद्रवीर भयानकाः।
वीभत्साद्भुत्शान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः॥

(ना० शा० 6-15)

नाट्य में शान्तरसविषयक ववाद

इन शृंगारादि नव रसों का प्रतिपादन काव्य में विना किसीं सन्देह के किया जाता है, न इसमें किसी आचार्य की विप्रतिपत्ति ही है, परन्तु नाट्य में शान्त रस के विषय में सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं।

यद्यपि भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में सभी रसों के अभिनय की चर्चा समान रूप से की है, जैसा कि पूर्वोक्त भरतनाट्य सूत्र के श्लोक का वचन है—"नव नाट्य-रसाः स्मृताः" इत्यादि नाट्य शास्त्र के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने भी इसकी पुष्टि की है, यह सब होते हुए भी धनञ्जय ने अपने "दशरूपक" नामक ग्रन्थ में इसका विरोध किया है, जिसका प्रभाव परवर्ती आचार्य मम्मट आदि पर भी लक्षित होता है। धनञ्जय का कहना है कि—"**रत्याद्युसाहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः शममपि नाट्ये केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य**"।

रत्यादि आठ जो स्थायी भाव है, नाट्य में उनका तो भलीभाँति अभिनय हो सकता है, परन्तु कुछ लोग शम-स्थायिक शान्त रस को भी नाट्य में सम्मिलित करने का प्रयास करते हैं, यह बात हमें पसन्द नहीं है, क्योंकि शान्त रस की तो नाट्य में पुष्टि हो ही नहीं सकती हैं। धनञ्जय के टीकाकार धनिक तो उससे भी एक कदम आगे हैं, आप तो शान्त को रस ही नही मानते हैं, नाट्य में सम्मिलित करने की तो बात ही दूर रही, आपका कथन है कि—"अनादिकाल से धारा प्रवाह की तरह प्रवाहित होने वाले इस संसार चक्र में सर्वप्रथम तो राग द्वेषादि का समूलोच्छेदन होना ही असम्भव है, जब कि उन्हीं भावों को लेकर अभिनय का स्वरूप बनाया जाता है, इस प्रकार निरीहावस्थाविशेष शम का अभिनय होना असम्भव ही है।

"**अनादिकाल प्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेतुमशक्यत्वात्...तस्य समस्त-व्यापारप्रलयरूपस्याभिनययोगात्**" इत्यादि।

इस प्रकार पण्डितराज के समय तक "नाट्य में शान्त रस का अभिनय हो सकता है या नहीं" यह विवाद उग्ररूप धारण कर चुका था, मान्य आचार्य भी

इसके प्रभाव में अपना मत प्रदान करने में विवश थे, यद्यपि शान्तरस प्रधान रूपक बन चुके थे, सम्भवतः उनका अभिनय भी किया जा चुका होगा, परन्तु प्रतिपक्षी अपने पक्ष की प्रतिज्ञा में दृढ़ थे, शान्त रस के इस विवादमय संघर्ष में पण्डितराज का भी भाग लेना स्वाभाविक ही था, केचित्तु कहकर उन्होंने पूर्वपक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

शान्तस्य शमसाध्यत्वन्नटे च तदसम्भवात् ।
अष्टावेव रसा नाट्ये, न शान्तस्तत्र युज्यते ॥ इत्याहुः ।

पूर्वपक्षियों का कहना है कि शम स्थायिक शान्त तो रागद्वेषादि विशेष चित्तवृत्ति से शून्य है, अतः वह तो निरीहावस्था विशेष शम के द्वारा ही साध्य है, जब कि अभिनय के लिए नटों की चित्तवृत्ति को तो रागद्वेषादि भावों से समन्वित तथा अहंकारयुक्त होना आवश्यक है, तब शान्तरस तो नाट्य में उपयुक्त नहीं हो सकता है, अतः नाट्य में आठ ही रसों को मानना चाहिए ।

"तच्चापरे न क्षमन्ते" से उत्तर पक्ष को प्रारम्भ किया—नाटक में शान्त रस के न मानने में आपने जो यह हेतु दिया है कि नट में शान्ति की सम्भावना नहीं की जा सकती है, "नटे च तदसम्भवात्" इत्यादि, वह ठीक नहीं है, क्योंकि हम लोग नट में रस की अभिव्यक्ति मानते ही कहां हैं ? रस की अभिव्यक्ति तो सामाजिक में होती है, जब नाटक में शान्तिस्वभाव वाले सामाजिक होंगे, तो रसोद्बोध होने में कोई बाधा ही नहीं है ।

यदि आप यह कहें कि शान्ति विहीन नट शान्त रस के अनुभाव व विभावों का अभिनय कैसे करेगा ? तब हम आपसे पूछते हैं कि नट जब भयानक, रौद्र व शृंगारादि रसों का अभिनय करता है, तब क्या वास्तविक रूप से तत्तत् रसों के स्थायी रत्यादि नट में रहते हैं, जब नट में वास्तविक क्रोधादि नहीं रहते हैं, तब भी वह उक्त रसों का अभिनय कर लेता है, उसी प्रकार वास्तविक शम के न रहने पर भी वह अभिनयन की निपुणता अभ्यास आदि द्वारा शान्त का भी अभिनय कर लेगा ।

यदि यह कहा जाय कि नाटक में गीत पाद्य व संगीतादि शान्त रस के विरुद्ध हैं, और नाटक में जिनका होना आवश्यक है, तो विरोधी कारणों के रहते हुए शान्त रस का उदय कैसे होगा ?

उत्तर यह है कि शान्त रस प्रधान नाटक के दर्शन से सहृदयों में शान्त रस की अभिव्यक्ति देखी गई है, अतः जो लोग शान्त रस को स्वीकार करते हैं, वे उसमें गीत वाद्य संगीतादि को उसके प्रतिकूल नहीं मानते हैं, अर्थात् प्रत्येक रस के अनुकूल ही जब सब सहायक सामग्री कल्पित की जाती है, तब शान्त रस के अनुकूल गीत वाद्यादि सामग्री भी उक्त रस में बाधक कैसे होगी ?

यदि आप विषयसामान्य चिन्तन का निषेध करेंगे, तब तो शान्त रस के विषय अर्थात् विभावादीरूप में समुपस्थित संसार की अनित्यता, पुराणों का श्रवण सत्सङ्ग व तपोवनादि विशेषण, तीर्थों का सेवन आदि जो कि उक्त रस के अनुकूल हैं, वे सब विषय सामान्य की परिधि में आ जाने से विपरीत हो जायेंगे ? परन्तु ये सब तो शान्त रस की अभिव्यञ्जक सामग्री ही हैं ।

उक्त व्याख्यान में प्राचीनों की सम्मति भी प्रदर्शित करते हैं—संगीत-रत्नाकर के अन्तिम अध्याय में लिखा भी है—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।
तदचारु, यतः क्वचिन्न रसं स्वदते नटः ॥

इत्यादि श्लोक द्वारा यह सिद्ध किया कि नाट्य में भी शान्त रस है । जो लोग अपनी हठवादिता के कारण या गतानुगतिकता के कारण नाट्य में शान्त रस को नहीं मानते हैं, उन्हें भी काव्य में तो अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि महाभारतादि ग्रन्थों के शान्त-रसप्रधान होने में तो किसी को भी आपत्ति नहीं है । काव्य में शान्त रस को स्वीकार करते हुए स्वयं मम्मट ने भी कहा है "शान्तोऽपि नवमो रसः"

नाट्यशास्त्र के कर्ता भरतमुनि ने शान्त रस की अभिनेयता स्वयं स्वीकार की है, नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में वे लिखते हैं कि शम-स्थायिक शान्त रस मोक्ष में प्रवृत्त करने वाला है, वह तत्त्वज्ञान वैराग्यादि एवं चित्तशुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है ।

इसका अभिनय यम नियम एवं आत्मविषयक ध्यान, धारण और उपासन तथा सब भूतों पर दया, व्रत या संन्यास आदि चिह्नों का ग्रहण कर, स्तब्धता एवं रोमान्च आदि अनुभावों से करना चाहिए । निर्वेद स्मृति धृति सर्वाश्रमसुलभ शौचादि इसके सञ्चारी भाव हैं ।

"अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः स तु तत्त्वज्ञान-वैराग्याशमशुद्धयादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासन-सर्वभूतदयालिङ्ग-ग्रहणस्तम्भरोमाञ्चादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारि-णश्चास्य निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचोदयः ।[1]

इन नौ रसों के स्थायीभाव भी नौ हैं ।

रतिः शोकश्च निर्वेदकोधोत्साहश्च विस्मयः ।
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी ॥

1.—भरत ना० शास्त्र षष्ठ अ० ।

रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय, जुगुप्सा, ये क्रमशः नौ स्थायी भाव हैं। शृंगार रस का स्थायीभाव रति है, करुण रस का स्थायी भाव शोक है शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है, रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है, अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है, हास्य, का स्थायी भाव हास है, भयानक रस का स्थायी भाव भय है, और वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है।

रसों से स्थायी भावों का भेद

प्रथम व द्वितीय मत में अर्थात् अभिनवगुप्त मम्मट व भट्टनायक के मत में रस व स्थायी भावों में उतना ही भेद है, जितना कि घट व घटावच्छिन्न आकाश में। अर्थात् व्यापक आकाश जिस प्रकार घट रूप उपाधि से परिच्छिन्न हो जाता है। इसी प्रकार व्यापक रसरूप चैतन्य भी रति आदि स्थायी भाव रूप उपाधि से उपहित होकर सीमित सा हो जाता है। तृतीय नव्य मत में अर्थात् अनिर्वचनीयवादी मत में—रस व स्थायी भाव में उतना ही भेद है जितना सत्य रजत व काल्पनिक रजत में है। अर्थात् रस काल्पनिक या प्रातिभासिक रजत स्थानीय है। स्थायी भाव सत्य रजत स्थानीय है। इस मत में रस को अनिर्वचनीय माना है, जैसा कि वेदान्ती लोग प्रातिभासिक रजत को अनिर्वचनीय मानते हैं।

चतुर्थ नव्य मत में अर्थात् अन्यथाख्यातिवादी मत में रस व स्थायी भाव में उतना ही भेद है, जितना कि ज्ञान व उसके विषय में भेद होता है। अर्थात् रस ज्ञान रूप है, और स्थायी भाव विषय रूप, परन्तु इस मत में अयथार्थरूप रस, भ्रमात्मक ज्ञान होने से यथार्थ ज्ञान से अन्यथारूप है, न्याय दर्शन में जिसे अन्यथा-ख्याति कहते हैं।

पाँचवें व छठे मत में तो रस व स्थायीभाव का अभेद ही है। सातवें व आठवें मत में रत्यादि की चर्चा ही नहीं है। इस प्रकार खासकर चार ही मतों में रत्यादियों का रसों से भेदों का वर्णन किया है।

काव्य में इन रत्यादिभावों का स्थायित्व क्या है? क्योंकि वास्तविक स्थायित्व तो ब्रह्म के सिवाय और किसी पदार्थ में है ही नहीं, तब रत्यादि भावों का स्थायित्व कैसा है?

उत्तर विभावादिरूप काव्यार्थ की भावना से आरम्भ करके होने वाली आनन्दानुभूति के समय तक उक्त भावों का अनुभवगम्य होना ही रत्यादि भावों का स्थायित्व है। अर्थात् ये रत्यादि भाव यद्यपि कूटस्थ ब्रह्म की तरह स्थिर नहीं हैं, तथापि सञ्चारी भावों की अपेक्षा प्रबन्धों में रसानुभव पर्यन्त व्याप्त रहने के कारण इन्हें स्थायी कहते हैं। जैसा कि पण्डितराज लिखते हैं—

"तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां स्थायित्वम्" ।

यदि यह कहा जाय कि चित्त तो अत्यन्त चञ्चल है, ये रत्यादिभाव भी चित्त के ही प्रकार हैं, अर्थात् चित्तवृत्तिस्वरूप है या चित्त के ही परिणाम विशेष होने से, ये तो चित्त की ही तरह चञ्चल अर्थात् आशुविनाशी होंगे, तब आप इन चित्तवृत्ति विशेषरूप रत्यादियों को स्थायी कैसे कहते हैं ? यदि वासनारूप से इनको स्थायी कहा जाय तब तो वासनारूप से चित्त में सञ्चारी भावों का भी उसी तरह है, क्योंकि संस्कार रूप से वे भी अन्तःकरण में विद्यमान रहते हैं, तब केवल संस्कार रूप से स्थिर रहने के कारण तो इन्हें भी स्थायी भाव कहने में क्या हानि है ! बात आपकी ठीक है, परन्तु इनमें परस्पर कुछ सूक्ष्म भेद है, वैसे रत्यादि स्थायी व सञ्चारी भाव ये सभी वासनारूप हैं, अर्थात् संस्कार रूप से अन्तःकरण में विद्यमान हैं, परन्तु रसभावात्मक प्रबन्ध में, वासना रूप में विद्यमान इन रत्यादियों की बार बार अभिव्यक्ति होना ही इनका स्थायित्व है । व्यभिचारी भाव या सञ्चारी भावों की तो प्रबन्ध में उस तरह से बार बार अभिव्यक्ति नहीं होती है । अर्थात् इनकी कोई नियत या निरन्तर अभिव्यक्ति न होकर कदाचित् अभिव्यक्ति है, जैसे घनघटा में विद्युच्छटा की अभिव्यक्ति, अतएव इनको व्यभिचारी या सञ्चारी भाव कहा है ।[1]

उक्त व्याख्यान में प्राचीनों की भी सम्मति प्रस्तुत करते हैं—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः ।।
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ।।
तथा-सजातीयविजातीयैरतिरस्कृत मूर्तिमान् ।
यावद्रसं वर्तमानः स्थायीभाव उदाहृतः ।। इति

विरुद्ध विजातीय एवं अविरुद्ध सजातीय भावों से जो विच्छिन्न नहीं होता है । किन्तु उन भावों को अपने में समा लेता है, वह स्थायी कहलाता है । समुद्र की तरह, क्षार समुद्र में जिस प्रकार नदियों का चाहे मधुर प्रवाह हो चाहे क्षार प्रवाह हो, वह समुद्र को अभिभूत न करके स्वयं उसमें समा जाता है । अथवा समुद्र की वे हिलोरें ज्वार भाटा जिन्हें कहते हैं, वे समुद्र के प्रतिकूल दिशा में बहें

1, न च चित्तवृत्तिविशेषरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्वं दुर्लभम्, वासना-रूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्वतिप्रसक्तमिति वाच्यम् । वासनारूपाणा-ममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तरेव स्थिरपदार्थत्वात् । व्यभिचारिणां तु नैव, तदभिव्यक्तेर्विद्युद्द्योत प्रायत्वात् । (रसगङ्गाधर प्र० आ० रस प्रकरण)

चाहे अनुकूल दिशा में बहें समुद्र की गम्भीरता व स्थिरता में किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालती हैं। अपितु टकराकर उल्टे समुद्र में ही समा जाती हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध में उन सजातीय व विजातीत हर्षादि सञ्चारी भावों से जो भाव विचलित नहीं होता है, अपितु अपने में ही उनको समा लेता है, वही भाव स्थायी भाव है।

जो भाव चिर काल तक चित्त के द्वारा आस्वादित होते हों, और अनुबन्धी विभावादियों से सम्बन्धित भी होते हैं, साथ ही साथ रसत्व को भी प्राप्त करते हैं, वे ही प्रसिद्ध स्थायी भाव हैं।

सजातीय अनुकूल व विजातीय प्रतिकूल भावों से अर्थात् हर्षादि सञ्चारी भावों से जिसका अभिभव नहीं होता है, और प्रबन्ध रस पर्यन्त जो भाव व्याप्त रहता है, उसे ही स्थायी भाव कहते हैं।

"केचित्तु रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमाहुः ।तत्र रत्यादीनामेकस्मिन् प्ररूढेऽन्यस्याप्ररूढस्य व्यभिचारित्वायोगात्। प्ररूढत्वाप्ररूढत्वे बह्वल्पविभावजत्वे"।

कुछ लोग रत्यादि अन्यतम को ही स्थायी कहते हैं। पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि इन रत्यादियों में से किसी एक के पुष्ट होने पर इन्हीं में से किसी दूसरे के पुष्ट नहीं होने पर, वह अपुष्ट रत्यादि भाव भी व्यभिचारी माना गया है। इन रत्यादियों के पुष्ट व अपुष्ट होने में कारण है विभावादियों का बहुत्व व अल्पत्व। अर्थात् बहुत से विभावों से जिसकी उत्पत्ति हो, उसे पुष्ट कहते हैं, और थोड़े विभाव से जो उत्पन्न हो उसे अपुष्ट कहते हैं।

इसी कथन को रत्नाकर के वाक्य से प्रमाणित करते हैं—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः॥ इति

प्रभूत विभावादिकों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं। और वे ही रत्यादि यदि अल्प विभावादि से उत्पन्न होते हैं। तब व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

"एवं च वीररसे प्रधाने क्रोधः, रौद्रे चोत्साहः, शृङ्गारे हासः, व्यभिचारी भवति तान्तरीयकश्च"।

इस प्रकार स्वीकार करने पर वीर रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र रस के प्रधान होने पर उत्साह शृंगार रस के प्रधान होने पर हास, व्यभिचारी हो जाते हैं। और उक्त रसों की अभिव्यञ्जना में उन क्रोध, उत्साह व हासादिकों वहाँ रहना भी अनिवार्य है। अर्थात् क्रोध के बिना वीर, उत्साह के बिना रौद्र, और हास के बिना शृङ्गारादि रस हो ही नहीं सकते हैं। क्योंकि वे ही उन उन रसों के पोषक हैं।

"यदा तु प्रधानपरिपोषार्थं सोऽपि बहुविभावजः क्रियते तदा तु रसालंकार इत्यादि बोध्यम्"।

जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिए, उन अङ्गभूत क्रोधादिकों को भी बहुविभावजन्य किया जाता है, उस स्थिति में वे व्यभिचारी भाव न कहलाकर "रसवत् अलंकार" कहलाते हैं, रत्यादि समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि विभावादि सामग्री के सहयोग से जब उक्त अङ्गभूत स्थायी भाव क्रोधादि भी उपचित होता हुआ रसत्व को प्राप्त कर लेता है, तब यदि वह किसी प्रधानीभूत रस या किसी वाक्यार्थ के प्रति अङ्गभाव को प्राप्त करता है तो वह रसवदलंकार कहलाता है। जैसा कि ध्वनिकार ने भी कहा है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥

स्थायी भावों के स्वरूप का निरूपण

(1) "स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः"।

गुरु-देवता-पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी

स्त्री पुरुष की एक दूसरे के विषय में प्रेमरूप जो चित्तवृत्ति होती है, उसको रति नामक स्थायी भाव कहते हैं। वही प्रेम यदि गुरु देवता या पुत्रादि के विषय में किया जाय, तब वह भाव या व्यभिचारी भाव कहा जाएगा।

(2) "पुत्रादिवियोग-मरणादिजन्या वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः"।

पुत्र प्रभृति इष्टजनों के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नामक जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति होती है, उसको शोक कहते हैं।

"इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्"।

इत्यादि प्राचीनोक्ति के अनुसार विद्वानों का कहना है कि जिस प्रकार इष्ट के नाश से व्याकुलता उत्पन्न होती है। उसी प्रकार अनिष्ट की प्राप्ति से भी व्याकुलता उत्पन्न होती है। यह इष्ट या अनिष्ट कोई मनुष्य ही हो यह जरूरी नहीं है, यह मनुष्य भी हो सकता है, मनुष्य से भिन्न कोई प्राणी या वस्तु भी हो सकती है। इस प्रकार पर्यवसित यह है कि किसी भी इष्ट पदार्थ के विनाश से या किसी भी अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति से जो चित्त में व्याकुलता होती है वही शोक है।

स्त्री पुरुष के परस्पर वियोग से जो व्याकुलता उत्पन्न होती है वह शोक तो अवश्य है, परन्तु यह शोक करुण रस का स्थायी भाव तभी हो सकता है, जबकि इसके साथ साथ उस प्रेम पात्र के मरण का भी ज्ञान हो। अन्यथा तो वह प्रेमपात्र

कहीं जीता है, इस प्रकार का ज्ञान होने पर तो वह शोक स्थायी भाव न होकर व्यभिचारी मात्र होगा, क्योंकि उस अवस्था में शोक से पुष्ट हुई रति की ही प्रधानता रहेगी, अतः विप्रलम्भ शृङ्गार रस ही होगा।

"स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैक्लव्यपोषिताया रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रसः, वैक्लव्यं तु सञ्चारिमात्रम्"।

"मृतत्वज्ञानदशायान्तु रतिपोषितस्य वैक्लव्येति करुण एव"।

प्रेमपात्र के मर जाने के ज्ञान होने पर भी, यदि देवता आदि की प्रसन्नता आदि से किसी तरह, उसके पुनः जीवन की सम्भावना हो जाय, तब आलम्बन प्रेमपात्र के सर्वदा के लिए विनष्ट न हो जाने के कारण "चिरकालिक प्रवास की तरह" विप्रलम्भ ही होता है, करुण नहीं। ऐसा विप्रलम्भ है कादम्बरी में चन्द्रापीड के प्रति महाश्वेता के वाक्यों में—

"यदा तु सत्यपि मृतत्वज्ञाने देवताप्रसादादिना पुनरुज्जीवनं ज्ञानं कथञ्चित् स्यात्, तदालम्बनस्यात्यन्तिकनिराशाभावाच्चिरप्रवास इव विप्रलम्भ एव, न स करुणः। यथा चन्द्रापीडं प्रति महाश्वेतावाक्येषु। केचित्तु रसान्तरमेवात्र करुण-विप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति"।

प्रेमपात्र के मरणोत्तर काल में जहाँ पुनर्जीवन की आशा हो जाती है, ऐसी स्थिति में कुछ लोग (विश्वनाथ कविराज आदि) करुण व शृङ्गार से भिन्न "करुण विप्रलम्भ नामक" रस को मानते हैं।

(3) नित्यानित्यवस्तु विचारजन्या विषयविरागाख्यो निर्वेदः।

वेदान्तादि के चिन्तन द्वारा नित्य (ब्रह्म) अनित्य (संसार) वस्तुओं के विचार से उत्पन्न हुआ विषय विरति नामक अर्थात् अनित्य वस्तुओं में वितृष्णा नामक जो चित्तवृत्ति विशेष है, वही निर्वेद है। घरेलू झगड़े आदि से उत्पन्न निर्वेद तो व्यभिचारी मात्र है, न कि स्थायी भाव।

(4) गुरुबन्धुवधादि परमापराधजन्या विषय विरागाख्यो निर्वेदः।

गुरु, बन्धु, एवं मित्रादि के बधादि रूप परमापराध से उत्पन्न होनेवाला प्रज्वलनाख्य चित्तवृत्ति विशेष ही क्रोध है।

यह क्रोध पर के विनाश का हेतु है, क्षुद्र अपराधों से जन्य क्रोध, अर्थात् परुष वचनों का प्रयोग करना, व दूसरे के साथ न बोलना आदि अमर्ष कहलायेगा। अर्थात् क्रोध की अपरिपक्वावस्था ही अमर्ष है।

(5) परपराक्रमदानादि स्मृतिजन्या औन्नत्याख्य उत्साहः।

दूसरे के पराक्रम व दानादि की स्मृति से उत्पन्न हुई उन्नतता नामक जो चित्तवृत्ति है, उसी को उत्साह कहते हैं।

(6) अलौकिकवस्तु दर्शनादिजन्या विकासाख्यो विस्मयः ।

लोकोत्तर किसी वस्तु के दर्शन अथवा स्मरण आदि से उत्पन्न होने वाली विकास (आश्चर्य) नामक जो चित्तवृत्ति है, उसी को विस्मय कहते हैं ।

(7) वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः ।

दूसरे की वाणी, अङ्ग विकार (वेषभूषादि) आदि के दर्शन से उत्पन्न हुई विकास नामक चित्तवृत्ति को ही हास कहते हैं ।

(8) व्याघ्रदर्शनादिजन्या परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम् ।

व्याघ्रादि के दर्शन से उत्पन्न हुई विह्वलता नामक चित्तवृत्ति ही भय है ।

यदि वह विह्वलता परम अनर्थ का विषय न हो तो त्रास कहलाती है । इस स्थिति में वह स्थायी भाव न होकर व्यभिचारी भाव ही होगा ।

कुछ लोगों का कहना है कि अपने अपराध से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति भय है, और उत्पात से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति त्रास है । यही भय और त्रास में भेद है ।

परमानर्थविषकत्वाभावे तु स एव त्रासो व्यभिचारी । अपरे तु औत्पातिक-प्रभवस्त्रासः, स्वापराधद्वारोत्थं भयमिति भयत्रासयोर्भेदमाहुः ।

(9) कदर्यवस्तुविलोकनजन्या विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा ।

कदर्य अर्थात् कुत्सित वस्तु के देखने से चित्त में पैदा होने वाली विचिकित्सा (घृणा) नामक चित्तवृत्ति को "जुगुप्सा" कहते हैं ।

स्थायी भावों के विभावादि का निरूपण

लोक में तत्तत् नायक व नायिकाओं में रहने वाले तत्तत् स्थायी भावों के जो आलम्बन व उद्दीपन आदि कारणरूप से प्रसिद्ध हैं । काव्य व नाटकों में उन्हीं रत्यादि भावों के अभिव्यञ्जकों को विभाव शब्द से कहते हैं । व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ होता है । रत्यादि भावों को विशेषरूप से जो भावन करे, अर्थात् आस्वाद के योग्य बनाये उन्हें विभाव शब्द से कहते हैं ।

"विभावयन्तीति व्युत्पत्ते" (विभावयन्ति रत्यादीन् विशेषेणास्वादाङ्कुर-योग्यतामानयन्तीति विभावा उच्यन्ते इत्यर्थः)

लोक में रति आदि भावों के जो कार्यरूप में प्रसिद्ध हैं, उन्हें काव्य व नाटक में अनुभाव शब्द से कहते हैं । रोमाञ्च कटाक्षादि—

"यानि च कार्यतया, तान्यनुभावशब्देन" ।

(अनु पश्चाद् भाव उत्पत्ति येषाम्, अनुभावयन्तीति वा व्युत्पत्तेः, अथवा अनुभावयन्ति अनुभवगोचरचरतां नयन्ति इति ये ते अनुभावा इति व्युत्पत्तिः")।

रति आदि स्थायी भावों के साथ अनियत रूप से रहने वाली चित्तवृत्तियों (हर्षादियों) को व्यभिचारी शब्द से कहते हैं, (लोक में जिन्हें सहकारी कारण कहते हैं)।

"यानि व्यभिचरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन"।

(यानि हर्षादीनि स्थायिभावेन सह चरन्ति फेनबुद्बुद्न्यायेन सम्मिलन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्ते, इति। तदुक्तम् विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः)।

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः" इस भरत सूत्र के निर्देशानुसार विभाव, अनुभाव, व सञ्चारी भावों की अभिव्यञ्जना से रत्यादि स्थाय्युपहित चिदानन्द रूप रस की निष्पत्ति होती है। अतः तत्तत् रसों के विभाव, अनुभाव, व सञ्चारी भावों का निरूपण करते हैं—

(1) शृङ्गार रस में—स्त्री पुरुष परस्पर आलम्बन होते हैं, चन्द्र, चाँदनी वसन्तोद्यानादि उद्दीपन विभाव हैं। प्रेमपात्र का मुखावलोकन, तद्गुणश्रवण, व कीर्तन आदि, और सात्विक भाव रोमाञ्चादि अनुभाव हैं। स्मृति, चिन्ता, हर्षादि व्यभिचारी भाव होते हैं।

(2) करुण रस में—इष्टजनों के विनाशादि आलम्बन विभाव हैं, तत्सम्बन्धि वस्तुओं का दर्शन आदि तथा उसके सम्बन्ध में कही गयी बातें उद्दीपन विभाव हैं। आक्रन्दन रुदन अश्रुपातादि अनुभाव हैं। ग्लानि, विषाद, चिन्ता, जड़ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

(3) शान्त रस में—अनित्यरूप से ज्ञात यह संसार आलम्बन विभाव है, वेदान्त श्रवण, तपोवन व तापस दर्शन सत्सङ्ग इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। विषयवासनाओं में अरुचि, शत्रु व मित्रों में तटस्थभाव, एकाग्रता आदि अनुभाव हैं। हर्ष, स्मृति, मति, धृति, प्रबोधादि व्यभिचारी भाव हैं।

(4) रौद्र रस में—अपराध करने वाला पुरुष आदि आलम्बन विभाव है, उसके द्वारा किए गये अपराधादि का दर्शन व श्रवण उद्दीपन विभाव हैं। आँखों का लाल होना, दाँतों का कटकटाना, कठोर भाषण, वध बन्धादि अनुभाव है, अमर्ष वेग, उग्रता, चञ्चलता आदि व्यभिचारी भाव हैं।

(5) वीर रस में—शत्रु या परपक्षादि आलम्बन विभाव हैं उसके पराक्रम दर्शनादि उद्दीपन विभाव है। परस्पर आक्षेप प्रतिक्षेप व प्रहार प्रतिप्रहारादि अनुभाव हैं। हर्ष, आवेग, उग्रतादि व्यभिचारी भाव हैं।

(6) अद्भुत रस में—अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाली वस्तु आलम्बन विभाव है, उसका दर्शन व श्रवणादि उद्दीपन विभाव है। नेत्र विकास, स्तम्भ रोमाञ्चादि अनुभाव है। वितर्कादि व्यभिचारी भाव है।

(7) हास्य रस में--विकृत वेषभूषादि वाला पुरुष आलम्बन विभाव है। उसके विकारों का दर्शन या श्रवणादि उद्दीपन विभाव है, मुख विकास दन्त-प्रकाशानादि अनुभाव है। श्रम, उद्वेगादि व्यभिचारी भाव हैं।

(8) भयानक रस में—भयावह वस्तु आलम्बन विभाव है, उसकी विकराल चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। मुख का सूख जाना, भागने का प्रयास आदि अनुभाव है। जड़ता कम्प इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं।

(9) बीभत्स रस में—जुगुप्सित वस्तु आलम्बन विभाव है। उसकी गन्धादि उद्दीपन विभाव है। निष्ठवनादि अर्थात् थूकना आदि अनुभाव है। ग्लानि अदि व्यभिचारी भाव है।

शृङ्गार रस के भेद

शृङ्गार रस दो प्रकार का है--संयोग शृंगार और विप्रलम्भ शृङ्गार। दम्पति के संयोगकालीन रति को संयोग शृङ्गार कहते हैं। और उनके वियोग-कालीन रति को विप्रलम्भ शृङ्गार कहते हैं।

संयोग का अर्थ यहाँ दम्पति समानाधिकरण्य विवक्षित नहीं है। अर्थात् संयोग का मतलब दम्पति का एक स्थान में रहना आवश्यक नहीं है। एक ही शय्या में रहने पर भी इर्ष्या आदि की विद्यमानता में विप्रलम्भ शृङ्गार का ही वर्णन देखा जाता है। तस्मात् संयोग शब्द से स्थान की समानता या सन्निकटता विवक्षित नहीं है। अपितु उनकी बुद्धि वृत्ति जब इस प्रकार की हो कि हम (मैं) संयुक्त है। इसी प्रकार विप्रलम्भ या वियोग का मतलब भी स्थान की दूरी नहीं है, या परस्पर वैयधिकरण्य विवक्षित नहीं है, अपितु जब दम्पति की बुद्धिवृत्ति 'हम वियुक्त हैं' इस प्रकार की हो, तभी विप्रलम्भ शृङ्गार माना जाता है।

क्योंकि ये रत्यादि चित्तवृत्ति विशेष है, अतः इनका सीधा सम्बन्ध अन्तःकरण के साथ है, न कि बाह्य स्थान व शरीरादि के साथ, अतः शरीर का सन्निकृष्टत्व या दूरत्व यहाँ अपेक्षित नहीं है।

पण्डितराज के शब्दों में इसका विवेचन इस प्रकार है—"संयोगश्च न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकतल्पशयनेऽपि, ईर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्, एवं वियोगोऽपि न वैय्यधिकरण्यम्। दोषस्योक्तत्वात् तस्माद् द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यावन्तः करणवृत्तिविशेषौ। यत् संयुक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः"।

संयोग शृङ्गार का उदाहरण

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥

यहाँ नायिकानिष्ठ रति का आलम्बन विभाव नायक है। एकान्त स्थान इत्यादि उद्दीपन विभाव है। नायिका द्वारा नायक के मुखकमल का निरीक्षण अनुभाव है। लज्जा उत्सुकता आदि के द्वारा संयोगकालावच्छिन्न शृङ्गार की अभिव्यक्ति हो रही है।

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ" इत्यादि पद्य में अप्पय्यदीक्षित द्वारा निर्दिष्ट शृंगार-ध्वनि का खण्डन—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

शब्द और अर्थ की तरह नित्य मिले हुये, संसार के माता पिता, पार्वती व परमेश्वर को "मैं कालिदास" शब्द और अर्थ के सम्यक् ज्ञान के लिए, नमस्कार करता हूँ। चित्रमीमांसा में अप्पय्यदीक्षित ने उक्त (रघुवंश के मङ्गलाचरण के रूप में उपस्थित) पद्य में, रसध्वनि का निर्देश किया है। दीक्षित जी का कहना है कि इस पद्य में पार्वती व शिवजी के निरतिशय प्रेम की अभिव्यञ्जना हो रही है।

पण्डितराज कहते हैं यह सब दीक्षित जी के ध्वनि सिद्धान्त की अज्ञानता के कारण है, क्योंकि उक्त पद्य में कविनिष्ठ उमामहेश्वर विषयक रति अर्थात् भावध्वनि की प्रधानता में, निरतिशय प्रेम का गुणीभाव ही उचित है। तब फिर उक्त पार्वतीपरमेश्वर विषयक निरतिशय प्रेम की गौण दशा में, अर्थात् कविनिष्ठ रति के प्रति अङ्गभाव वाली स्थिति में रसध्वनि का व्यवहार तो सुतरां अनुचित है। क्योंकि प्राचीनों का यह सिद्धान्त है कि—**"भिन्नौ रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः, इति सिद्धान्तात्"**।

चित्रमीमांसा में दीक्षित जी ने उक्त कालिदास के पद्य को पूर्णोपमा के धर्म की अनुगामिता के प्रसङ्ग में उदाहरण के रुप में उपस्थित किया है। पूर्णोपमा में साधारण धर्म की अनुगामिता दिखलाते हुए आपने मीमांसा दर्शन के अनुसार शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध को सूचित करते हुए, लिखा है कि जिस प्रकार उपमानभूत शब्द व अर्थ का नित्य सम्बन्धित्व रूप प्रसिद्ध है, उसी प्रकार उपमेयभूत पार्वती व परमेश्वर का भी (चन्द्र व चन्द्रिका की तरह) अपृथक् भाव अर्थात् नित्य सम्बन्धित्व प्रसिद्ध है।

अतः यहाँ नित्यसम्बन्धित्वरूप साधारण धर्म अनुगामित से निर्दिष्ट है, अर्थात् एक ही साधारण धर्म उपमान व उपमेय दोनों का अनुगमन कर रहा है।

बस, दीक्षित जी के उक्त पद्य का यहां इतना ही उपयोग था, परन्तु ये कुछ बातें आगे और कह गये, सम्भवत वे उक्त पद्य की सर्वाङ्गीण सुषमा उन्मीलन कर देना चाहते थे, पर जल्दीबाजी में आन्तरालिक व्यङ्ग्य विशेष पर ही उनकी दृष्टि गई, पार्यन्तिक ध्वनि की उन्हें स्मृति नहीं रही, पण्डितराज की पैनी दृष्टि से वह कभी खटक गई।

चित्रमीमांसा में यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

तत्र पूर्णायां धर्मस्यानुगामिता यथा—

वागर्थाविव संपृक्तौ...इत्यादि।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सह संबन्ध इति वागर्थयोर्नित्यसम्बन्धित्वं प्रसिद्धम्। उमामहेश्वरयोरप्यनयोर्न पृथग्भावः चन्द्रचन्द्रिकयोरिवेति, तत्प्रसिद्धम्। तथा च नित्यसम्बन्धित्वरूपोऽत्र साधारणधर्मोऽनुगामितया निर्दिष्टः।

यद्यप्युमामहेश्वरयोर्वागर्थवन्नित्यसम्बन्धित्ववर्णनेन तयोर्निरतिशयपरस्पर प्रेमशालित्वं महामहिमशालित्वमित्यादि व्यज्यते, तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्य-व्यवहारः।

न खलु व्यङ्ग्य संस्पर्शप्रतिभासादेवात्र चारुता प्रतीतिः, किन्तु वाच्यवैचित्र्य प्रतिभासादपीति प्रायस्तत्र सम्भवद् रसादिरूपं व्यङ्ग्यमलङ्कारान्तरं चागणयित्वैव तत्तदलंकारां उदाह्रियन्ते''

विप्रलम्भ श्रृंगार का उदाहरण—

वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने,
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा।
निश्वासग्लपिताधरोपरिपतद् वाष्पार्द्रवक्षोरुहा,
बाला लोलविलोचना शिव-शिवं ! प्राणेशमालोकते ॥

जब पतिदेव प्रवास के लिए प्रस्थान कर रहे थे, तो उनके शुभ चिन्तक लोग जोर जोर से मङ्गलाचरण कर रहे थे, इस दृश्य को केलिभवन के वातायन से नव परिणीता बाला देख रही थी, उस समय उसके अधर सूख गये, और वक्षस्थल आँसू की धारा से भीग रहा था, समीपस्थ सखियाँ उस मुग्धा की इस दयनीय दशा को शिव ? शिव ? इन शब्दों द्वारा प्रकट कर रहे हैं।

उक्त पद्य में उस बाला के लिए नायक आलम्बन विभाव है, उसके प्रस्थान-कालिक कार्यकलाप उद्दीपन विभाव हैं, निश्वास अश्रुपातादि अनुभाव हैं, विषाद, चिन्ता, आवेग आदि सञ्चारी भाव हैं, इन सब से अभिव्यज्यमान वियोगकाला-वच्छिन्न विप्रलम्भ रति, रस पद से व्यवहृत है।

प्राचीन आचार्यों ने इस विप्रलम्भ श्रृंगार को प्रवास आदि उपाधियों से पाँच प्रकार का माना है, परन्तु प्रवास, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, और शापरूप पाँच

उपाधियों के कारण जो वियोग होता है, उनमें किसी वैलक्षण्य की उपलब्धि न होने से हमने विस्तारपूर्वक उनका वर्णन नहीं किया

करुण रस का उदाहरण

अपहाय सकलबान्धव चिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम् ।
हा तनय ? विनयशालिन् ? कथमिव परलोकपथिकोऽभूः ॥

हाय, अति 'विनीत पुत्र ?' तू सब बन्धुओं की चिन्ता को त्यागकर और गुरुकुल के प्रेम को भी त्यागकर कैसे परलोक का पथिक हो गया ?

यहाँ मृतपुत्र आलम्बन है, उस समय बान्धवों का दर्शनादि उद्दीपन है, रोदन अनुभाव है, दीनता चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त शोक-स्थायिक करुण रस है ।

शान्त रस का उदाहरण

मलयानिलकालकूटयो-रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः ।
श्वपचात्मभुवो निरन्तरा, मम जाता परमात्मनि स्थितिः ॥

किसी आत्मज्ञानी की यह उक्ति है—

मयल पर्वत की पवन व विष में, कामिनियों के केश-कलाप व काले साँप में, और श्वपच चाण्डाल व ब्रह्मा में भेदभाव रहित केवल परमात्मा में मेरी स्थिति है । यहां प्रपञ्चरूप विद्यमान सम्पूर्ण संसार ही आलम्बन है, सर्वत्र समानता की बुद्धि अनुभाव है । मति प्रबोधादि सञ्चारी भाव है, इनसे अभिव्यक्त शम स्थायिक शान्त रस है ।

यद्यपि यहाँ उत्तमाधम का क्रम भङ्ग नामक दोष है, परन्तु वक्ता की स्थिति ब्रह्मात्मभाव की होने से उक्त क्रम भङ्ग यहाँ गुण ही है ।

रौद्र रस का उदाहरण

नवोच्छलितयौवन-स्फुरदखर्वगर्वज्वरे,
मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति ।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गलत्,
स्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्व धो भैरवः ॥

शिवजी के धनुर्भङ्ग से प्रकुपित परशुराम की यह उक्ति है —

नवीन उछलती हुई युवावस्था के कारण बड़े हुए अत्यधिक अभिमानरूपज्वर से युक्त किसी ने निर्भय होकर मेरे गुरूजी (शिवजी) के धनुष को तोड़ डाला है । अच्छा अब युद्ध में काटे गये गर्वीले भूपतियों के गले से चूते हुए शोणित को पीने वाला यह मेरा भयंकर फरसा उसके उपर निर्दयतापूर्वक गिरे ।

यहाँ गुरु (शिवजी) के धनुष को तोड़ने वाला राम आलम्बन है, (जिसका परशुराम को विशेष ज्ञान नहीं था इसीलिए उसका नाम पद्य में नहीं लिया गया है।)

निर्दयतापूर्वक धनुष को तोड़ देना, उद्दीपन विभाव है। कटुवचन अनुभाव हैं। गर्व व उग्रता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन्हीं से अभिव्यक्त क्रोध स्थायिक रौद्र रस है इस श्लोक में वृत्ति संघटना भी रौद्र रस के अनुकूल है।

युद्धवीर रस का उदाहरण

रणे दीनान् देवान् दशवदन ? निद्राप्य वहति,
प्रभाव-प्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः।
ललाटोद्यज्ज्वालाकवलितजगज्जालविभवो,
भवो मे कोदण्डच्युतविशिखनेमं कलयतु॥

रावण के प्रति राम की यह उक्ति है—

हे दशमुख रावण ? पराक्रम हीन दीन देवताओं को युद्ध में भगाकर, महासामर्थ्यशाली बनने वाले तेरे विषय में तो मेरी तैय्यारी ही क्या हो सकती है, हाँ जिनके ललाट से निकलती हुई ज्वालायें समग्र सृष्टि के वैभव को कवलित कर लेती है, वे देवाधिदेव महादेव मेरे धनुष से निकले हुए बाणों के वेग को सम्हालें। यहाँ शिव आलम्बन है, युद्ध दर्शन उद्दीपन है, रावण का तिरस्कार अनुभाव है। उक्त वीरतापूर्ण उक्ति से व्यङ्ग्य होने वाला राम का गर्व सन्चारीभाव है, इनसे अभिव्यक्त उत्साह स्थायिक वीर रस है। वृत्ति भी यहां वीर रस के अनुकूल प्रकृष्ट तथा उद्धत हैं।

यह वीर रस प्राचीन आचार्यों के अनुसार चार प्रकार का है—दानवीर, दयावीर, युद्धवीर, एवं धर्मवीर। दानवीर के उदाहरण में पण्डितराज ने कर्ण को उपस्थित किया है। विप्रवेशधारी इन्द्र के लिए वे अपना सर्वस्वरूप कवच व कुण्डल को भी अर्पण कर देते हैं, दयावीर का उदाहरण हैं राजा शिवि, जो बाज से भयभीत कपोत के लिए अपना कलेवर अर्पण कर देते हैं। युद्धवीर के उदाहरण में भगवान् राम हैं, पूर्वोक्त श्लोक में रावण के प्रति जिनका वक्तव्य है। धर्मवीर के उदाहरण महाराज युधिष्ठिर हैं, जिनका सिद्धान्त है **न "जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः"**।

यद्यपि शृंगार की ही तरह वीर रस के भी अनेक भेद प्रभेद हो सकते हैं, जैसे पाण्डित्यवीर, क्षमावीर, बलवीर इत्यादि परन्तु प्राचीनों के अनुसार वीर रस के चार ही भेद हैं, वस्तुतः पण्डितराज को तो वीर रस का भी अन्य रसों की तरह एक ही भेद अभीष्ट है।

अद्भुत रस का उदाहरण

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव।
गलद्गमनगाम्भीर्यं वीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥

किसी समय भगवान् वासुदेव के वदन को देखने वाली यशोदा की यह उक्ति है—चराचर जगत् के आश्रयभूत तुम्हारे मुख को देखकर तो मुझे मूर्च्छा आ रही है, जिसके सामने इस गगन की भी गम्भीरता कुछ नहीं हैं।

यहां वासुदेव का वदन आलम्बन है, अन्तर्गत चराचरजगत्-जाल का दर्शन उद्दीपन विभाव है, हृतचेतनत्व और उससे गम्य रोमाञ्च व नेत्रविस्फारणादि अनुभाव हैं। त्रासादि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त विस्मय स्थायिक अद्भुत रस है। यद्यपि भगवान् यशोदा के पुत्र हैं, तब पुत्रगत प्रीति की ही प्रतीति होनी चाहिए थी, परन्तु पुत्रगत प्रीति के व्यञ्जक उक्त पद्य में कोई शब्द नहीं हैं, फलतः विद्यमान भी पुत्रगत प्रेम प्रतीत नहीं होता है।

अथवा पुत्रगत प्रेम के विद्यमान होने पर भी विस्मय का यहाँ गुणीभाव उचित नहीं है, उसी प्रकार कोई महापुरुष है, यह इस प्रकार उत्पन्न होने वाली महापुरुष विषयक भक्ति भी प्रधान नहीं हो सकती है। क्योंकि "यह बालक मेरा पुत्र है" इस प्रकार का निश्चय ही भक्ति का प्रतिबन्धक है, अतः किसी भी स्थिति में विस्मयस्थायी-अद्भुत का अप्राधान्य यहां नहीं हो सकता है।

भक्ति की प्रधानता तो "पश्यामि देवांस्तव देव देहे" इत्यादि गीता में विश्व-रूप को देखने वाले अर्जुन द्वारा की गई स्तुति में है, और काव्यप्रकाशकार ने जो अद्भुत रस का उदाहरण प्रस्तुत किया है, **"चित्रं महानेवं नवावतारः"** इत्यादि में चित्रादि पदों से विस्मय तो वाच्य ही है, न कि प्रतीयमान, अन्य विशेषणों से यदि किसी तरह अद्भुत की प्रतीति हो भी जाय, तब भी वह प्रतिपाद्य महापुरुष विषयक स्तोतृगत भक्ति के प्रति गुणीभूत ही होगा, अतः अद्भुत यहां रसध्वनि न होकर रसालंकार ही है।

हास्य रस का उदाहरण

श्रीतातपादैर्विहिते प्रबन्धे निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा।
अङ्गं गवां पृष्ठमहो पवित्रं न वा कथं रासभ-धर्मपत्न्याः ॥

किसी मूर्ख तार्किक पुत्र की यह उक्ति है—

श्रीतात चरणों ने एक प्रबन्ध बनाया है, उसमें एक नवीन युक्ति यह दिखलाई है कि जैसे गाय आदि का पृष्ठभाग पवित्र माना जाता है, वैसे रासभ...गधे की धर्म पत्नी का पृष्ठभाग पवित्र क्यों नहीं माना जाता है।

यहां मूर्ख तार्किक पुत्र आलम्बन विभाव है, उसकी निःशंक यह उक्ति

उद्दीपन विभाव है, दन्तप्रकाशनपूर्वक हंसना अनुभाव है, उद्वेगादि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त हुआ हास स्थायिक हास्य रस है ।

हास्य रस के विषय में विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं—

हास्य रस के दो भेद होते हैं । एक आत्मस्थ, दूसरा परसंस्थ । जहाँ विकृत आकार, वेशभूषादि युक्त पुरुष को देखकर, अर्थात् ऐसे विभाव से द्रष्टा को स्वयं में हास स्थायी भाव उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ, था आत्मसंस्थ हास्य है । और जहां कोई हंसने वाला पुरुष ही विभाव बने वहां हास्य रस के वेत्ताओं ने हास को परस्थ हास्य रस कहा है ।

यह हास्य रस उत्तम, मध्यम, एवं अधम तीन प्रकार के व्यक्तियों में रहता है, अतः यह हास्य भी तीन प्रकार का होता है, तीनों प्रकार का हास्य आत्मस्थ और परस्थ के भेद से फिर छः प्रकार का हो जाता है ।

1. उत्तम पुरुषों के हास्य का स्वरूप स्मित और हसित है ।
2. मध्यम पुरुषों के हास्य का स्वरूप विहसित और उपहसित है ।
3. अधम या नीच पुरुषों के हास्य का स्वरूप अपहसित और अतिहसित है ।

इनमें प्रत्येक के लक्षण इस प्रकार हैं ।

(1) जहाँ कपोल कुछ विकसित होवें, और कटाक्ष भी कुछ उत्कट होवें । दाँत न दिखाई दें, ऐसे मधुर हास्य को स्मित कहते हैं ।

(2) जहाँ मुख, नेत्र, एवं कपोल खिले हुए दिखाई पड़ें और कुछ कुछ दांत भी दिखाई पड़े उस हास्य को हसित कहते हैं ।

(3) जिस हास्य में मधुर एवं मन्द शब्द भी सुनाई दे, मुंह लाल हो जाय, आंखें आकुञ्चित हो जायें, नासिका फूल जाय उसे उपहसित कहते हैं ।

(4) जो हास्य बिना कारण के उत्पन्न हो जाय, और जिसमें आँखों में आंसू आ जायें, कन्धे व सिर हिलने लगें, शार्ङ्गदेव ने उसे उपहसित कहा है ।

(5) जिसमें कन्धे व मस्तक झुक जायें, आँखें देखने में टेढ़ी हो जायें, और नासिका फूल जाय, उस हास को उपहसित माना है ।

(6) जहां ऐसी ऊंची ध्वनि हो, जो कानों को कटु लगे, और आंखों से आँसुओं की धारा बहने लगे, तथा जिसमें हास की तीव्रता के कारण पार्श्वभाग को पकड़ना पड़े, उस हास को अतिहासित माना है ।

हास्य के विषय में प्राचीन आचार्यों की उक्तियां इस प्रकार हैं ।

आत्मसंस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम् ।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः ।।

हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः ।।
उत्तमानां मध्यमानां नीचानामप्यसौ भवेत् ।
व्यवस्थः कथितस्तस्य षड्भेदाः सन्ति चापरे ।।
स्मितं च हसितं प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
भवेद् विहसितं चोपहसितं मध्यमे नरे ।।
नीचेऽपहसितं चातिहसितं परिकीर्तितम् ।
ईषत् फुल्लकपोलाभ्यां कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ।।
अदृश्यदशनो हासो मधुरः स्मितमुच्यते ।
वक्त्रनेत्रकपोलैश्चेदुत्फुल्लैरुपलक्षितः ।।
किञ्चिल्लक्षितदन्तश्च, तदा हसितमिष्यते ।
सशब्दं मधुरं कामगतं वदनरागवत् ।।
आकुञ्चिताक्षि मन्दं च विदुर्विहसितं बुधाः ।
निकुञ्चितांसशीर्षश्च जिह्मदृष्टिविलोकनः ।।
उत्फुल्लनासिको हासो नात्युपहसितं मतम् ।
अस्थानजः साश्रुदृष्टिराकम्पस्कन्धमूर्धजः ।।
शार्ङ्गदेवेन गदितो हासोऽपहासिताह्वयः ।
स्थूलकर्णकटुध्वानो वाष्पपूरप्लुतेक्षणः ।।
करोपगूढपार्श्वश्च हासोऽतिहसितं मतम् ।। इति

भयानक रस का उदाहरण

श्येनमम्बरतलादुपागतं शुष्यदाननविलो विलोकयन् ।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः स्पन्दितुं नहि शशाक लावकः ।।

आकाश से झपट कर पास में आये हुए बाज को देखकर लावक नामक पक्षी का मुख सूख गया, शरीर कांपने लगा, नेत्र व्याकुल हो गये, इस प्रकार वह भय से स्तब्ध हो गया ।

यहां आकाश से आता हुआ श्येन आलम्बन विभाव है, वेगपूर्वक उस श्येन का समीप में पतन उद्दीपन विभाव है । गले का सूखना अनुभाव है, दैन्यादि सञ्चारी भाव है, इनसे अभिव्यक्त हुआ भय स्थायिक भयानक रस है ।

वीभत्स रस का उदाहरण

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम् ।
आननेष्वनुलिम्पन्ति दृष्टा वेतालयोषितः ।।

हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियां, नखों से विदारित आँतों वाले शवों के

अतिदुर्गन्धयुक्त शोणित का अपने मुंह पर लेप कर रही हैं। (यह किसी श्मशान का वर्णन है)।

यहाँ शव आलम्बन विभाव है, उसके आँतों का विदीर्ण करना उद्दीपन विभाव है, रोमाञ्च एवं नेत्रसंकोचादि अनुभाव हैं, आवेगादि व्यभिचारी भाव है। इन सब से अभिव्यक्त हुआ जुगुप्सा स्थायिक बीभत्स रस है।

हास्य व बीभत्स रस का आश्रय

जिस प्रकार रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायी भावों में, आलम्बन व आश्रय दोनों की प्रतीति होती है, उस तरह "हास्य व बीभत्स" में दोनों की प्रतीत नहीं होती है, अर्थात् हास्य व बीभत्स रस में केवल आलम्बनमात्र की प्रतीति होती है, उसके आश्रयभूत किसी पात्र की प्रतीति नहीं होती है।

शृंगार रस में जिस प्रकार उसके आलम्बन व आश्रय नल व दमयन्ती के परस्पर प्रेम (रति) का एक आलम्बन है दूसरा आश्रय है, यदि दमयन्ती उक्त रति (प्रेम) का आलम्बन है, तो नल उस रति का आश्रय है, इस प्रकार हास्य व बीभत्स रसों में उन दोनों की प्रतीति नहीं होती है, वहाँ केवल आलम्बन की ही प्रतीति होती है।

यदि यह कहा जाय कि उक्तस्थल में उन दोनों स्थायी भावों के श्रोता को ही आश्रय मान लिया जाय, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रोता तो वहाँ रसास्वाद के आश्रय हैं, अर्थात् उक्त रसों के पद्यों के श्रोता तो अलौकिक रसास्वाद की चर्वणा करते हैं, वे लौकिक हास व जुगुप्सा के आश्रय कैसे होंगे ?

अतः उक्त स्थलों में किसी दर्शक पुरुष विशेष का आक्षेप कर लेना चाहिए, अर्थात् उपर ऐसे किसी एक पुरुष को समझ लेना चाहिए। अथवा उस पद्य के श्रोता को ही वहां आश्रय समझ लेना चाहिए, जैसे स्वकान्ता विषयक पद्यों के वर्णन से उत्पन्न होने वाले आनन्द का आश्रय वह पति होता है, उसी प्रकार यहां भी उक्त पद्यों के श्रोताओं को ही लौकिक व अलौकिक भावों का आश्रय मान लेना चाहिए।

इस प्रकार संक्षेप में रसों का निरूपण कर दिया। जहां वे रस प्रधानतया व्यङ्ग्य होते हैं, वहां रसध्वनि होती है। और जहां ये रस अङ्गरूप से अर्थात् अप्रधानतया व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ रसालंकार, या रसवदलंकार अथवा गुणीभूत-व्यङ्ग्य होते हैं, वहां ध्वनि व्यपदेश के हेतु नहीं होते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि इन रसादियों के प्राधान्य में ही रसत्व व्यवहार होता है, अन्यथा तो उपस्कारक होने से इन्हें अलंकार ही कहना चाहिए,

फिर इन्हें रसालंकार या रसवदलंकार क्यों कहा जाता है । यह रसालंकार व्यवहार तो अलंकारध्वनि के व्यवहार की तरह हो जाता है, जैसे उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकार अपनी प्रधानतया धवन्यमान दशा में अलंकारध्वनि के व्यवहार के कारण बनते हैं, क्योंकि वे पहिले अलंकार थे, अब प्रधानतया अभिव्यज्यमान स्थिति में अलंकारध्वनि व्यवहार के योग्य है, इसी प्रकार रसालंकार की स्थिति भी है, रस अपनी पूर्ण स्थिति में अलंकाररूप में होता है, परन्तु कहीं कहीं किसी रस या वाक्यार्थ के अङ्गरूप में, वह पहिले रस था सम्प्रति उपस्कारक है, इस कारण से रसालंकार या रसवदलंकार के व्यवहार का विषय बनता है । यह सब ब्राह्मण श्रमण न्याय के सिद्धान्त के अनुसार होता है । कोई ब्राह्मण था, वह वृद्धावस्था में बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया, बाद में सभी लोग उसको ब्राह्मण श्रमण कहने लगे, यद्यपि दीक्षा ग्रहण के बाद अब उस भिक्षु में ब्राह्मणत्व तो नहीं हैं, परन्तु भूतपूर्व व्यपदेश के कारण लोग उसे ब्राह्मण श्रमण कहते हैं, ठीक यही स्थिति रसालंकार या रसवदलंकार की भी है, उपस्कारकत्व की दशा में तो उसको अलंकार कहना ही उचित है, परन्तु भूतपूर्व व्यपदेश के कारण उसको रसालंकार या रसवदलंकार ही कहते हैं ।

ये सब रस भावादि ध्वनियाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के ही अन्तर्गत रहती हैं, वस्तु अलंकारादि ध्वनियां संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत है । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत विभावादि का विमर्श इतना शीघ्र होता है कि वहां विद्यमान भी क्रम लक्षित नहीं होता है, सर्वथा क्रम का अभाव उनमें नहीं है, क्योंकि विभावादि में और रसाभिव्यक्ति में परस्पर हेतु साध्यभाव माना है । तभी यह हेतु हेतुमद्भाव सङ्गत हो सकता है, जब कि विभावादि व रस का परस्पर कोई क्रम माना जाय ।

अतिरिक्त रसों की आशंका

रसों की संख्या नौ तक ही सीमित रखना उचित नहीं है, जबकि भगवान् स्वयं जिसके आलम्बन विभाव हैं, अश्रुपातादि अनुभाव है, हर्षादि सञ्चारीभाव हैं ।

श्रीमद्भागवतादिपुराणश्रवण के अवसर पर भगवद्भक्तों के द्वारा अनुभूयमान भक्ति रस का अपलाप नहीं किया जा सकता है, अतः भक्ति रस की भी पृथक् गणना करनी चाहिए, भगवद्-अनुरागरुपा भक्ति ही इस रस का स्थायी भाव है ।

शान्त रस में भी भक्ति का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि अनुराग वैराग्य के विरुद्ध है । भगवद्भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद्-विषया रति है, जबकि

शान्त रस का स्थायीभाव निरीहावस्थारूप वैराग्य है, तब भक्ति का शान्त रस में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है, अतः भक्ति को दशम रस मान लेने में क्या हानि है ?

समाधान यह है कि भगवद् भक्ति एक प्रकार से देवादि विषयक रति है, प्राचीन आचार्यों ने देवादि विषयक रति को भाव कहा है, अतः भक्ति का भी उस भाव में ही अन्तर्भाव होना उचित है ।

"उच्यते-भक्तेर्देवादिविषयकरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः"

काव्यप्रकाशकारादि प्राचीन आचार्यों की इस विषय में यही सम्मति है—

रतिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः ॥

अर्थात् देवादि विषयक जो रति (प्रेम-भक्ति) है, और प्रधानतया अभिव्यक्त सञ्चारी भावादि ये सब "भाव" के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

यदि कामिनी विषयक रति को ही भाव मान लिया जाय, और भगवद्-विषयक रति को स्थायित्व अर्थात् रस कह दिया जाय, क्योंकि दोनों में रतित्व तो समान रूप से कारण है ही, इसमें कोई विनिगमन अर्थात् एकता पक्षपातिनी युक्ति तो कोई है नहीं ।

ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि रसभावादि की व्यवस्था के विधान में तो भरतादि मुनिवचनों की ही प्रामाणिकता मानी जाती है, स्वतन्त्रतया स्वकल्पित तर्क से कोई सिद्धान्त निर्धारण करना ठीक नहीं है, क्योंकि तर्क की तो कोई सीमा नहीं है, और स्वयं में अकेला तर्क प्रतिष्ठित भी नहीं है, अतः सम्प्रदायानुसार भरतादि मुनियों की परम्परा का अनुगमन करना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा तो केवल तर्क के बल पर तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि पुत्रादि विषयक रति को ही स्थायी भाव क्यों न मान लिया जाय और जुगुप्सादि स्थायी भावों को ही हर्षादि की तरह क्यों न शुद्ध सञ्चारी भाव मान लिया जाय, इनमें कोई खास अन्तर तो है नहीं । इस प्रकार स्वतन्त्र दुस्तर्कों से तो सारे साहित्य सम्प्रदाय में खलबली मच जाएगी । दूसरी बात यह है कि भरतमुनि द्वारा प्रदर्शित रसों की संख्या के विषय में नवत्व गणना है, उसकी प्रामाणिकता तथा परम्परा विच्छिन्न हो जाएगी ।

अतः सम्प्रदाय व शास्त्रानुमोदित वाक्य ही प्रामाणिक समझना चाहिए ।

"न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेः भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात्, अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादि-रतीनां च भावत्वम् । विनिगमनाभावादिति वाच्यम् ।

भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादि व्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात् अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात् ? न स्याद् वा

कुतः शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनाम् ? इत्यखिलदर्शनवैयाकुलीस्यात् ।

रसानां नवत्वगणना च मुनिनियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः''।

रसों का परस्पर विरोधाविरोध

उक्त रसों का परस्पर किसी रस किसी के साथ विरोध है, और किसी के साथ अविरोध है, इसी को ग्रन्थकार दिखलाते हैं—

वीर का शृंगार के साथ, शृंगार का हास्य के साथ, वीर का अद्‌भुत के साथ, शृंगार का अद्‌भुत के साथ अविरोध है ।

शृङ्गार का वीभत्स के साथ, शृङ्गार का करुण के साथ, वीर का भयानक के साथ, शान्त का रौद्र के साथ, शान्त का शृंगार के साथ विरोध है ।[1]

ऐसे परस्पर विरोध की स्थिति में प्रकृत रस की पुष्टि चाहने वाले कवि को चाहिए कि वह प्रकृत रस के अभिव्यञ्जक काव्य में विरुद्ध रसों के अङ्गों का उपनिबन्धन न करे, क्योंकि विरोधी रसों के अङ्गों की अभिव्यक्ति की प्रधानता में विरुद्ध रस प्रकृत का बाधक होगा । अथवा समानरूप से अभिव्यक्ति में भी सुन्दोपसुन्दन्याय से परस्पर दोनों रसों का विघात हो जायेगा ।

तिलोत्तमा नामक एक अप्सरा के लिए सुन्द व उपसुन्द नाम के दो राक्षस परस्पर लड़ने लगे, परिणाम यह हुआ कि ये दोनों ही आपस में लड़कर मर गये, इसी को सुन्दोपसुन्दन्याय कहते हैं ।

इसी प्रकार विरुद्ध रसों की रूपप्रबलता में भी एक दूसरे का विधान ही करेगा, तात्पर्य यह है कि निर्विघ्न रसानुभूति किसी रस विशेष की नहीं हो सकेगी ।

यदि कवि को विरुद्ध रसों का भी किसी एक काव्य में समावेश इष्ट हो तो परस्पर इन रसों के विरोध का परिहार कर लेना चाहिए ।

---

1. साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में रसों का परस्पर विरोध इस प्रकार है ।

आद्यः करुण-वीभत्स-रौद्र-वीर-भयानकैः ।
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोध भाक् ॥
करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः ।
रौद्रस्तु हास्यशृङ्गारभयानकरसैरपि ॥
भयानकेन शान्तिन तथा वीररसः स्मृतः ।
शृंगारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः ॥
शान्तस्तु वीरशृंगार-रौद्र-हास्य-भयानकैः ।
शृंगारेण तु वीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ॥

रसों का परस्पर यह विरोध दो प्रकार का होता है—एक स्थिति विरोध, दूसरा ज्ञान विरोध ।

प्रथम स्थिति विरोध—अर्थात् एकाधिकरण में अवृत्तिता रूप, किसी एक आश्रय (नायकादि) में परस्पर विरुद्ध दोनों रसों का न रहना ।[1]

द्वितीय ज्ञान विरोध—एक रस के ज्ञान से दूसरे रस के ज्ञान का बोध हो जाना, यही तद्ज्ञानप्रतिवध्यज्ञानकत्व लक्षण है, अर्थात् जहां एक के ज्ञान हो जाने पर दूसरे का ज्ञान यदि हो ही न सके, तब यह ज्ञान विरोध कहलाता है ।[2]

प्रथम स्थिति विरोध का परिहार—

जिस आश्रय या नायक में वीर रस का वर्णन किया गया है उसी आश्रय में विरुद्ध भयानक का वर्णन न करके प्रतिपक्षिभूत नायक में भयानक के वर्णन करने से उक्त विरोध का परिहार हो जाता है ।

"यहां विरोध प्रकरण में" "रसपद" से "स्थायी रत्यादियों' का ही ग्रहण करना चाहिए" क्योंकि अखण्ड सच्चिदानन्द अपरिच्छिन्न रसों का किसी अधिकरण विशेष में समावेश व विरोध तो हो नहीं सकता है, और न रस नायकादि वृत्ति ही हैं, अर्थात् रस तो सामाजिकनिष्ठ है, तब नायकादि न रहने वाले रसों का परस्पर विरोध ही कैसा ? इसीलिए इस विरोध प्रकरण में रसपद से रस की उपाधि रत्यादि स्थायी भावों का ही ग्रहण करना उचित है । अद्वितीय आनन्दमय अखण्ड रस का तो किसी से विरोध ही सम्भव नहीं है ।

"रसपदेनात्र प्रकरणे तदुपाधिः स्थायिभावो गृह्यते, रसस्य सामाजिक-वृत्तित्वेन, नायकाद्यवृत्तित्वात् अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोधासम्भवाच्च ।

---

1. आद्य स्थिति विरोध इति—द्वयोर्विरुद्धयोः रसयोः एकस्मिन्नधिकरणे देवदत्तरूपे (नायके आश्रये वा) नास्तिवृत्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता, अर्थात् यथा एकस्मिन् देवदत्ते सिंहाद् भयमपि, अथ च तथैव देवदत्ते तस्य हननार्थमुत्साहोऽपि कथमिदं सम्याव्येवातो नैवास्ति भयोत्साहयोरेकत्र समावेशः । अयमेव तदधिकरणावृत्तिरिति नाम्ना व्यवह्रियते ।
(रस गं० मधुसूदनी टीका)

2. द्वितीयो ज्ञानविरोध इति—तस्य ज्ञानेन प्रतिवध्यं ज्ञानं यस्य सः, तज्-ज्ञान प्रतिवध्यज्ञानकः, तस्य भावस्तत्त्वम्, तदेव लक्षणं यस्य विरोधस्य स विरोध-स्तल्लक्षणः, अयं-भावः । चित्तवृत्तिरूपस्थायिनां रसत्वम्, ते च इच्छारूपतया ज्ञानरूपतया वा गुणा एव, ततश्च योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्त्तिगुण-नाश्यत्वनियमात्, तज्ज्ञानप्रतिषध्यज्ञानकत्वलक्षणो द्वितीयो विरोधः सङ्गच्छते, इति । (रस गं० मधुसूदनी टीका)

स्थिति विरोध के परिहार का उदाहरण—

कुण्डलीकृतकोदण्ड-दोर्दण्डस्य पुरात्तव ।
मृगारातेरिव मृगाः परे नैवावतस्थिरे ॥

कोई चाटूकार कवि किसी राजा की स्तुति कर रहा है—कि हे राजन् ! युद्ध में जब आपने कान तक खींचकर कुण्डल के समान गोल किये हुए धनुष को हाथ में ले लिया, तब आपके सामने शत्रु उसी तरह नहीं ठहर सकते, जिस प्रकार सिंह के सामने मृग नहीं ठहर सकते ।

उक्त पद्य में नायक में वीर और प्रतिनायक में भयानक का वर्णन किया गया है जो भिन्न अधिकरण में स्थित होने से दोषाधायक नहीं है ।

द्वितीय "ज्ञान विरोध" भी तब निवृत्त हो जाता है जब उन परस्पर विरुद्ध रसों के मध्य में किसी सन्धिकर्ता की तरह अविरुद्ध रस का निवेश किया जाय ।

द्वितीय ज्ञान विरोध के परिहार का उदाहरण पण्डितराज के द्वारा निर्मित आख्यायिका में, कण्वाश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु के शान्तरस प्रधान वर्णन के प्रसङ्ग में "यह कैसा अनुभूत रूप है, यह कैसी अवर्णनीय वचन परम्परा की मधुरिमा है," इस प्रकार "अद्भुत" को मध्य में निवेश कर देने से, आगे वरवर्णिनी के अनुराग का वर्णन किया गया है ।

यथा मन्निर्मितायामाख्यायिकायां कण्वाश्रमगतस्य श्वेतकेतोर्महर्षेः शान्त-रसप्रधाने वर्णने प्रस्तुते—"किमिदमनाकलितपूर्वरूपम् ? कोऽयमनिर्वचनीय-वचनरचनाया मधुरिमा ? इत्यद्भुतस्यान्तरेवस्थापनेन वरवर्णिनीं प्रत्यनुराग-वर्णने" ।

यहाँ शान्त और शृङ्गार जो कि परस्पर विरुद्ध थे, उनके मध्य में अद्भुत के निवेश से उन दोनों का भी विरोध दूर हो गया । यह विरोध निरन्तर रहने से होता है, परन्तु मध्य में किसी अविरुद्ध के निवेश कर देने से, वह प्रकृत रस विषयक ज्ञान का प्रतिबन्ध हो जाता है, तदनन्तर किसी अन्य रस के वर्णन की सुविधा हो जाती है ।

रसास्वाद के प्रतिबन्धक दोषों का निर्वचन

रसों के परस्पर विरोध का परिहार कर देने पर भी, देश, काल व वर्णन व कथनजन्य बहुत से ऐसे अनौचित्य प्रकार हैं, जिनसे निर्विघ्नतापूर्वक पूर्णघनानन्दस्वरूप रस की प्रतीति नहीं हो पाती है ।

जैसे सामान्यतया रस को रस शब्द या शृङ्गारादि शब्द से अभिहित कर

देने से वह सब चमत्कार उसका फीका पड़ जाता है, जो उक्त काव्य में निहित है। अतः रसास्वाद की विशुद्ध प्रतीति के लिए यह आवश्यक है कि उसको स्वशब्द वाच्यता से अलग रख कर केवल व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति की जाय। विभावादि से अभिव्यक्त रस को यदि रस शब्द या शृङ्गारादि शब्द से कह दिया जाता है, तो पण्डितराज इस व्यङ्ग्य के वाच्यीकरण को "वमन" नामक दोष कहते हैं, अर्थात् अपच के कारण जैसे "उल्टी" इत्यादि में अन्नादि का अपना कोई स्वरस नहीं होता है उसी प्रकार यहाँ भी विभावादि का कोई आस्वादात्मक परिपाक नहीं होता है, इसीलिए इसे 'वमनाख्य' दोष कहा है।

जिस व्यापार या सम्बन्ध से रस की आस्वादता है, उसके रसादि की प्रतीति न कराना, उसे अभिधावृत्ति द्वारा वाच्य बना देना तो एक प्रकार की कपिचेष्टा ही है न कि कविचेष्टा, इसी प्रकार रस के स्थायी भाव और व्यभिचारी भावों का स्वशब्दवाच्यत्व भी रस प्रतीति का प्रतिबन्धक ही है। इसी प्रकार प्रकृतरस के विभावादि का सम्यक् परिपोष व उक्त रस की प्रबन्ध में निरन्तर आस्वाद्यता का अवधान रखना भी कवि का मुख्य कर्म है। देश काल व परिस्थिति की अनुकूलता व प्रतिकूलता का उचित विचार कर किसी देश विशेष व काल विशेष में तत्तत् कार्यों का समारम्भ करना, काव्य की स्वाभाविकता और मनोहरता की अभिवृद्धि में सहायक है।

काव्य में वर्णित किसी महापुरुष की प्रकृति के अनुकूल ही उसके अङ्गों व वर्णनीय विषयों की योजना करना भी काव्य की उत्कृष्टता का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। देशकाल, परिस्थिति, विद्या, वय व उत्तम-मध्यमादि श्रेणी का विचार करके ही काव्य व नाटकों में तदुचित सम्मानद्योतक व्यवहार का निबन्धन तथा उनके आराध्यत्वादिज्ञानपूर्वक ही तदुचित काव्यास्वादानुकूल साधारण्य का सम्पादन करना महाकवि के लिए महनीय कर्म है अन्यथा अनौचित्य के लेश के क्लेश से कविता कामिनी का कलेवर शिथिल ही रह जाएगा। इस प्रकार के औचित्य का अनुकरण ही काव्य की परम उपादेयता में प्रमाण है क्योंकि आनन्दवर्धनाचार्य आदि सभी का यही कथन है कि अनौचित्य का सर्वथा परिहार किया जाय। यही औचित्य रसभङ्ग का कारण है और औचित्य का उपनिबन्धक ही रस की परा उपनिषद् है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौ चित्यबन्धस्तु, रसस्योपनिषद् परा॥

कहीं कहीं तो प्रकृत प्रबन्ध के वर्ण्य वृत्तान्त व नायक की प्रकृति के अनुसार कुछ अनौचित्य की चर्चा भी, व्यवहार में जिसे "असभ्यता" कहा जाता है पर कवि जब उक्त किसी कुनायक के उस दुष्प्रवृत्ति का अनुवाद करता है, तो वह अनुचित नहीं कहा जाता है।

जैसे रावण के दरबार में समुपस्थित ब्रह्मा, वृहस्पति, नारदादियों को किस तरह द्वारपाल फटकारता है—

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैव समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयताम्,
स्वल्पं जल्प वृहस्पते जडमते! नैषा सभा वज्रिणः।
वीणां संहर नारद! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो!,
सीतारल्लकभल्ल-मित्रहृदये स्वस्थो न लङ्केश्वरः॥

हे ब्राह्मण, यह वेद पाठ का समय नहीं है, अतः आप चुपचाप बाहर बैठ जायें ? अरे मूर्ख जडमति बृहस्पति ! जरा धीरे-धीरे बोलो, यह इन्द्र की सभा थोड़ी है कि जब मन हो बकवास कर लो। अरे नारद ! अपनी बीणा को बन्द कर दो। हे तुम्बुरू, तुम अपनी स्तुतिकथा बन्द कर दो यह चापलूसी का समय नहीं है। क्योंकि सीता की सीमन्त सिन्दूर की लेखा के भाले से महाराज लंकेश्वर का हृदय घायल हो गया है अतएव वे अस्वस्थ हैं। उक्त पद्य में ब्रह्मादि के लिए बोले गए द्वारपाल के ये वचन अनौचित्य दोष से दूषित नहीं है। क्योंकि तिरस्कारपूर्ण इन वचनों से रावण का परम ऐश्वर्य व्यक्त होता है जिनसे वीर रस का आक्षेप होता है, जो वीर रस उक्त विप्रलम्भाभास का अङ्ग है।

गुणों का निरूपण

पूर्वोक्त शृङ्गारादि नौ रसों में माधुर्य, ओज व प्रसाद ये तीन गुण रहते हैं, अर्थात् प्राचीन आचार्यों ने इन तीन गुणों को नौ रसों का धर्म माना है।

इसमें शृङ्गार हास्य करुण व शान्त रसों में माधुर्य गुण रहता है और वीर बीभत्सरौद्रादि में ओज गुण माना है, भयानक व अद्भुत आदि में प्रसाद गुण माना जाता है। वैसे प्रसाद गुण सभी रचनाओं व सभी रसों में सामान्यरूप से रहता है।

संयोग शृङ्गार से अधिक माधुर्य करुण में रहता है, इन दोनों से भी अधिक विप्रलम्भ शृंगार में, एवं इन सबसे अधिक शान्त रस में रहता है, क्योंकि पूर्व रस की अपेक्षा उत्तरोत्तर रस में चित्त अधिक द्रुत होता है, ऐसा किन्हीं विद्वानों का कहना है।

अन्य विद्वानों का मत है कि—सम्भोग शृंगार से अधिक माधुर्य करुण व शान्त रसों में रहता है, इन दोनों से भी अधिक माधुर्य विप्रलम्भ शृङ्गार में रहता है।

अन्य विद्वानों का कहना है कि—संयोग शृंगार से करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त इन तीनों रसों में अधिक माधुर्य रहता है। फिर इन तीनों में किसी प्रकार का तारतम्य नहीं है अर्थात् ये तीनों समान ही मधुर होते हैं।

इसमें प्रथम मत में व अन्तिम मत में तो "करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्" इत्यादि मम्मट का सूत्र अनुकूल हो सकता है, क्योंकि उत्तरसूत्र स्थित[1] "क्रमेण" का अन्वय मान लेने पर, प्रथम मतानुकूल व्याख्या हो जाती है, और उक्त "क्रमेण" पद का सम्बन्ध न मानने पर अन्तिम मत के अनुकूल व्याख्या हो जाती है।

परन्तु मध्यम मत में उक्त सूत्र किसी भी तरह प्रमाण नहीं हो सकता है, यदि सहृदयों का ऐसा अनुभव हो कि करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ-शृंगार में अधिक माधुर्य होता है। तब इस सहृदयानुभव को ही प्रमाण मानकर मध्यम मत भी उचित ही है, अन्यथा तो अप्रामाणिक होने के कारण यह मत अग्राह्य ही है।

ओजो गुण वीर रस में सामान्यरूप से रहता है। क्रमशः वीभत्स और रौद्र अधिक रहता है। क्योंकि ये तीनों रस क्रमशः हृदय में उत्तरोत्तर अधिक दीप्ति के जनक होते हैं। अद्भुत, हास्य व भयानक रसों में ओज व प्रसाद समान-रूप से रहते हैं ऐसा किन्हीं विद्वानों का मत है। अद्भुत, हास्य व भयानक रसों में प्रसाद गुण ही रहता है ऐसा अन्य विद्वानों का मत है। वैसे प्रसाद गुण सभी रसों में व सभी प्रकार की रचनाओं में रहता है।

इन गुणों में माधुर्य द्रुति का, ओज दीप्ति का, और प्रसाद विकास का प्रयोजक है, जनक नहीं। इन द्रुति दीप्ति तथा विकास के जनक तो तत्तत् गुणों से युक्त तत्तत् रसों के आस्वाद होते हैं। अर्थात् द्रुति दीप्ति और विकास ये चित्तवृत्तियाँ साक्षात् उन गुणों से उत्पन्न नहीं होती हैं अपितु उन गुणों से विशिष्ट रसों के आस्वाद से ही साक्षात् उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि शृङ्गार करुण व शान्त आदि मधुर रसों के आस्वाद से चित्त पिघल सा जाता है और वीर वीभत्स व रौद्र रसों से एक प्रकार से चित्त दीप्त सा हो जाता है और हास्य भयानक व अद्भुत रसों से चित्त विकसित सा हो जाता है। इन रसों के क्रमशः माधुर्य ओज व प्रसाद गुण धर्म हैं।

इस प्रकार इन गुणों के अर्थात् माधुर्य ओज व प्रसाद के रसमात्र धर्म सिद्ध होने पर, लोगों का जो यह व्यवहार है कि "यह रचना मधुर है" और "यह बन्ध

---

1. काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में उक्त कारिकायें इस प्रकार हैं—

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥
दीप्त्यात्मविस्तृते हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥

ओजस्वी है" यह सब व्यवहार तो "इसका आकार शूर है" इत्यादि व्यवहार के समान औपचारिक ही है न कि मुख्य। अर्थात् शौर्य तो आत्मा में रहने वाला धर्म है, न कि अवयवों के गठन में रहने वाला। या अवयव के संगठनरूप आकार में रहने वाला धर्म नहीं है। तब 'इसका आकार शूर है' यह व्यवहार जैसे लाक्षणिक है उसी प्रकार रसों के धर्म इन गुणों का भी पद व रचना में होने वाला जो व्यवहार है, वह भी लाक्षणिक ही है। अर्थात् साक्षात् गुण रसनिष्ठ है, परम्परया वे शब्द अर्थ व रचना में भी रहते हैं। जैसा कि स्वयं मम्मट ने कहा है **"गुणवृत्त्या पुनस्तेषां स्थितिः शब्दार्थयोर्मता"**। गुणों के विषय में यह सब व्याख्यान पण्डितराज ने मम्मट भट्टादि प्राचीन आचार्यों के पक्ष से प्रस्तुत किया है।

गुण रसमात्र के धर्म नहीं हैं—

प्राचीनों ने जो गुणों को केवल रस का धर्म माना है, पण्डितराज उनसे पूछते हैं कि इसमें प्रमाण क्या है, यदि यह कहा जाय कि इसमें तो प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, क्योंकि तत्तत् रसों के आस्वाद से हम उन उन चित्तद्रुति-दीप्ति व विकास का अनुभव करते हैं। तब तो हम कहते हैं कि जिस प्रकार अग्नि के कार्य दाह से उसका उष्णस्पर्श का पृथक्तया अनुभव होता है, उस प्रकार रसों से पृथक् द्रुत्यादियों का अनुभव तो नहीं होता है। अर्थात् द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ जो कि रसों के कार्य है, उन कार्यभूत चित्तवृत्ति स्वरूप द्रुत्यादियाँ का और गुणों का कारणीभूत रसों से पृथक् तथा अनुभव तो नहीं होता है।[1]

यदि आप यह कहें कि गुणों का रसों से पृथक् या भिन्नतया अनुभव तो होता नहीं है। अतः उनका प्रत्यक्ष न हो तो न सही, परन्तु माधुर्यादि गुणों से युक्त होकर ही रस द्रुति आदि के कारण होते हैं, अर्थात् गुण रहित रसों से द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति हो नहीं सकती है, अतः कारणता के अवच्छेदक अर्थात् कारण में रहने वाले धर्म विशेष के रूप में गुणों का अनुमान हो सकता है। क्योंकि सभी कारणतायें किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न रहती हैं। इस प्रकार द्रुति आदि कार्य में रहने वाली कार्यता से निरूपित रस में रहने वाली कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न होगी क्योंकि वह भी कारणता है। इस प्रकार रसरूप कारण में रहने वाली जो कारणता है उस कारणता का अवच्छेदक धर्म माधुर्यादि गुण ही होंगे क्योंकि रस के एक मात्र धर्म वे ही हैं, इस प्रकार कारणतावच्छेदकतया गुणों का अनुमान हो

---

1. अग्निजन्यकार्यदाहो यथा अग्नौ उष्णस्पर्शाद् गुणात् पृथगनुभूयते, तथा रसेषु (शृङ्गारवीरादिषु) रसकार्याविद्रुत्यादय एव केवलमनुभूयन्ते, न ततः पृथक् माधुर्यादयः केचिद्गुणाः प्रतीयन्ते, ततश्च माधुर्यादयो रसस्य गुणा इति कथं प्रतीयतामित्याशयः। (रस० सरला टीका)

सकता है । गुण रस के समनियत धर्म होने से, उक्त अनुमान के द्वारा गुणों की सिद्धि हो जायेगी, इस प्रकार जिस प्रमाण से गुणों की सिद्धि हुई है, उसी प्रमाण से उनकी रसधर्मता भी सिद्ध हो जाएगी । ऐसा कथन भी प्राचीनों का उचित नहीं है, आपके कार्य कारणभाव में गौरव है । क्योंकि गुणविशिष्ट रसों को द्रुत्यादि के प्रति कारण मानना पड़ता है । इससे तो कहीं अच्छा यह है कि प्रातिस्विकरूप से ही रसों को द्रुत्यादि के प्रति कारण क्यों न मान लिया जाय, अर्थात् क्लृप्त (निश्चित) शृङ्गारत्व वीरत्व ही जब द्रुत्यादि के कारण हो सकते है, तब अतिरिक्त माधुर्यादि विशिष्ट रसों को कारण मानने से क्या लाभ । अर्थात् लाघव इसी में है कि नियत शृंगारत्व वीरत्वादि को ही कारण माना जाय ।

यदि आप यह कहें कि कार्य कारण भाव में गुणों के निवेश के बिना तो लाघव भी सम्भव नहीं है । क्योंकि शृङ्गार द्रुति का कारण है, करुण द्रुति का कारण है और शान्त द्रुति का कारण है, यह कहने की अपेक्षा तो माधुर्यवत्वेन शृङ्गार, करुण, शान्त, द्रुति के प्रति कारण है यह कहने में कहीं लाघव है ।

परन्तु किन्हीं आचार्यों ने इन रसों में माधुर्य का तारतम्य भी माना है । अर्थात् इन मधुर रसों को उत्तरोत्तर, मधुर मधुरतर व मधुरतम भी माना है । अतः तत्कार्यभूत द्रुति में भी वही तारतम्य आयेगा, इसी प्रकार अन्य रसों में भी तारतम्य माना जाएगा ।

अब एक ही माधुर्य गुणयुक्त रस में प्रत्येक में तारतम्य के हिसाब से नौ-नौ कार्य-कारण भाव मानने पड़ेंगे, जिसमें कि अति गौरव होगा । साथ ही साथ द्रुतितरत्वादि कार्यों के प्रति माधुर्यवत्वादि को तारतम्य की प्रयोजकता में लक्षण भी उद्भूत होगा । अतः प्रातिस्विक अर्थात् अपने असाधारणधर्म "प्रति स्व", में रहने वाला धर्म शृङ्गारत्व वीरत्वादि रूप से ही कारणता मानना उचित है । दूसरी बात यह है कि रस तो आत्मरूप में माना है । तब आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध-नित्य मुक्तस्वभाव वाला है । उसमें गुणरूप धर्म की सम्भावना ही कहाँ हो सकती है । यदि यह कहा जाय कि आप रस को भले ही निर्गुण मानें, पर रस की उपाधि जो रत्यादि है, उन्हें सगुण मानने में क्या हानि है । इसके उत्तर में पण्डितराज का कहना है कि रत्यादि चित्तवृत्ति विशेष होने से ज्ञान स्वरूप हुए ज्ञान तो आपके मत में गुण, और माधुर्यादि भी गुण हैं । "गुणे गुणाऽनङ्गीकारात्" के सिद्धान्त से रत्यादि गुणों में माधुर्यादि गुण कैसे रहेंगे ?

जब ये माधुर्यादि गुण न रस में रहेंगे और न रस के उपाधिभूत रत्यादि में, तब फिर यह रचना मधुर है, या यह बन्ध ओजस्वी है—इत्यादि व्यवहार कैसे होगा ? तो इसके समाधान के लिए पण्डितराज कहते हैं कि ये माधुर्यादि तो द्रुत्यादि के प्रयोजक है, अथवा प्रयोजकता सम्बन्ध से अभेद मानकर द्रुत्यादि को

ही माधुर्यादि कहना चाहिए, यह इन गुणों का प्रयोजकत्व जिस प्रकार द्रुत्यादि में है। उसी प्रकार परम्परा से शब्द अर्थ व रचना में भी हो सकता है। और "शृङ्गारो मधुर" इत्यादि प्रयोग भी प्रयोजकता सम्बन्ध से या "संसर्गकुक्षिप्रविष्ट पदार्थों का स्वरूपतः भान होता है" इस नियम से प्रयोजकता सम्बन्ध वाले माधुर्यादियों का द्रुत्यादिस्वरूपेण भान होना, तब "शृङ्गारो मधुरः" इत्यादि प्रयोगों की भी उपपत्ति हो जायेगी अथवा यह व्यवहार "वाजिगन्धोष्णा" की तरह हो सकता है, जैसे असगन्ध उष्ण न होते हुए भी उष्णता का प्रयोजक है, इसी प्रकार द्रुत्यादि भी प्रयोजकता सम्बन्ध से मधुर हो सकते हैं।

यदि यह कहा जाय कि अदृष्ट ईश्वरेच्छा काल, आकाश, ये सब कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण माने गये हैं, तब वह प्रयोजकत्व सम्बन्ध तो इनमें भी आ जायेगा क्योंकि सामान्यतया जैसे माधुर्यादि के प्रयोजकत्व सम्बन्ध से द्रुत्यादि में रहते हैं। उसी प्रकार इन अदृष्टादि में भी तो वह माधुर्यादि प्रयोजकत्व सम्बन्ध से रह सकता है अतः "अदृष्टो मधुर" इत्यादि व्यवहार होने लगेगा। तस्मात् यह प्रयोजकत्व सम्बन्ध यहाँ अदृष्टादि विलक्षण शब्दार्थ रस रचनागत ही मानना पड़ेगा। अतः मधुरो शृङ्गार की तरह "मधुरा रचना, ओजस्वी गुम्फः।" इत्यादि व्यवहार में भी कोई बाधा नहीं आयेगी, और प्रयोजकत्व सम्बन्ध ये माधुर्यादि गुण शब्दार्थ में साक्षात् रहेंगे, न कि मम्मट भट्टादि की तरह परम्परया या गौण रूप से।

जरत्तर (अति प्राचीन) वामनादियों के मत

प्राचीन अतिवृद्ध आचार्य वामनादि के मत में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, और समाधि ये दश शब्द गुण हैं और दश ही अर्थ गुण भी हैं, अर्थ गुणों के भी नाम तो यही हैं। परन्तु लक्षण उनके भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार वामनादि आचार्य दश शब्द गुण व दश अर्थ गुण सब मिलाकर गुणों की संख्या बीस मानते हैं।

जरत्तरास्तु प्रतीक से पण्डितराज का कथन इस प्रकार है—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः-कान्ति-समाधयः॥

इति दश शब्द गुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति। नामानि पुनस्तान्येव, लक्षणं तु भिन्नम्।

तथाहि इन गुणों के लक्षण व उदाहरण उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

शब्द-गुण

(1) "शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्ण-विन्यासविशेषो गाढत्वपरपर्यायः श्लेषः"।

वस्तुतः शब्दों के भिन्न होते हुए भी, जिसके कारण उनमें एकता की प्रतीति होती है, वह समीपस्थ एकजातीय वर्णों का विन्यास-विशेष ही श्लेष कहलाता है जिसका दूसरा नाम गाढ़ता है ।

परवर्ती आचार्यों ने श्लेष को शब्दार्थ का गुण नहीं माना है, उन्होंने माधुर्य ओज व प्रसाद इन तीन ही गुणों में बीस गुणों का अन्तर्भाव कर दिया, परन्तु जिस प्रकार वामनादि आचार्यों ने यहाँ श्लेष गुण का लक्षण किया है । इसी प्रकार उन लोगों ने श्लेषालंकार का लक्षण किया है, और श्लेषालंकार की गणना शब्दालंकारों में की जाय या अर्थालंकारों में इस पर बहुत विचार भी किया है । कुछ लोगों का कहना है कि श्लेषस्थल में शब्द तो एक ही रहता है, परन्तु अर्थों में भेद रहता है, यह है "एकवृन्तगतफलद्वयन्याय" से अर्थात् एक ही टहनी में जैसे दो फल लटकते हैं उसी प्रकार एक शब्द रूप टहनी में दो अर्थरूप फल दिखलाई देते हैं, अतः श्लेष को अर्थ-भेद की दृष्टि से अर्थालंकारों में गिना जाय । जो लोग श्लेष की शब्दालंकारों में गणना करते हैं, उनका कहना है कि श्लेष स्थल में जिस अर्थों में भिन्नता रहती है, उसी प्रकार शब्दों में भी वहाँ भेद है, क्योंकि "अर्थभेदेन शब्दभेदः" अर्थ के भेद से शब्दों में भी भिन्नता रहती है, दूसरी बात यह है कि "प्रत्युच्चारणं शब्दा भिद्यन्ते" के सिद्धान्त से भी यहाँ शब्दों में भेद रहता है, परन्तु वे शब्द "जतुकाष्ठन्यायेन" अर्थात् लाह द्वारा चिपकाये दो काष्ठ फलक, जैसे एक से मालूम पड़ते हैं उसी प्रकार यहाँ भी भिन्न होते हुए भी शब्द एक से प्रतीत होते हैं । यही बात यहाँ इस श्लेष गुणों में भी है, जैसा कि पण्डितराज ने प्रदर्शित किया है, कि 'भिन्नानामपि एकत्वप्रतिभानम्' इत्यादि, अर्थात् शब्दों के भिन्न भिन्न होने पर भी उनमें जो एकत्व का प्रतिभास होता है उसमें कारण है समीपस्थ उन वर्णों में एकजातीयतमा विन्यास-विशेष । परन्तु उक्त श्लेषालंकार से यहाँ के श्लेष गुण में अन्तर यह है कि वहाँ अर्थभेद के बल पर शब्दों की भिन्नता दिखाई जाती है परन्तु यहाँ सन्धि व समास के बल पर शब्दों की परस्पर गाढ़ता को दिखलाते हुए उनके एकत्वप्रतिभास का सा प्रयास किया जाता है ।

श्लेष गुण का उदाहरण

अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दाममदपौघविद्रावणप्रौढ़पञ्चाननः ।
इति

कोई कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है कि—हे राजन् ! तुम विद्वत्समाज रूप वृक्षों के लिए, सर्वदा द्रोह करने वाले दारिद्र्यरूप मदमत्त हाथी के उत्कट गर्व समूह को नष्ट करने में महान् सिंह हो, अर्थात् तुम्हारे दर्शन से विद्वानों की दरिद्रता उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार सिंह के दर्शन से मत्त गजेन्द्रों का मद सूख जाता है ।

यहाँ यद्यपि भिन्न भिन्न पद हैं, परन्तु सन्धि व समास के द्वारा एक पद की ही तरह मालूम पड़ रहा है, अतः यह उदाहरण भिन्न पदों की भी एक पद प्रतीति रूप श्लेष गुण का है, जैसा कि अन्यत्र भी श्लेष गुण के विषय में कहा है, "भिन्न पदानामपि, एकपदभासनात्मा श्लेषः" ।

(2) "गाढत्व-शैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमणे मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः" ।

जहाँ गाढ़ता और शिथिलता का "व्युत्क्रम" अर्थात् उलटे क्रम से (पहिले शिथिलता पीछे गाढता) मिश्रण हो, उस बन्ध या रचना को प्रसाद गुण कहते हैं ।

भिन्न भिन्न पदों का अभिन्नत्वेन भान होना गाढ़त्व है, और इन्हीं पदों का भिन्न-भिन्न रूप से भान होना शैथिल्य है । इस प्रकार पहिले शिथिलतापूर्वक बाद में गाढ़ता से जिस रचना का बन्धन होता है, उसको प्रसादगुणपूर्ण रचना कहते हैं ।

प्रसाद गुण का उदाहरण

किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन् धराखण्डल ।
क्रीडाकुण्डलितभ्रु शोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति ॥
माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासद्वृक्षोत्करैः ।
विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः ॥

कोई कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है—

हे धराखण्डल ! हे पृथ्वीन्द्र ! आपकी वीरता के विषय में हम क्या कहें ? जिस समय क्रीडा करते हुए भी आप अपनी भ्रुकुटियों को टेढ़ा करते हैं, और अपने नेत्रों को लाल करते हुए भुजमण्डल की ओर ताकते हैं तो उसी समय विन्ध्य पर्वत की गुहारूपी गृहों के वृक्षादि माणिक्यावलि की कान्ति से चमक उठते हैं, ऐसा मालूम होता है कि मानो वे वृक्ष हजारों भूषणों से भूषित हैं ।

तात्पर्य यह है कि केवल लीला में भी आपके संरम्भ को देखकर आपके शत्रु विन्ध्यारण्य की गुहाओं की शरण लेते हैं, ऐसे ओजस्वी के विषय में फिर हम क्या कहें । उक्त पद्य में "यस्मिन्" पद तक रचना में शिथिलता है, फिर "भ्रु" शब्द पर्यन्त गाढ़ता है, पुनः "नयने" पद पर्यन्त शिथिलता है, पुनः अन्त तक गाढता है । इस प्रकार यह प्रसाद गुण का उदाहरण है ।

(3) उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता ।

जहाँ आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त रीति या मार्ग, अथवा रचना का अभेद हो, उसे समता कहते हैं । आरम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार की रचना होने से इसे समता कहते हैं । रचना के प्रकार को ही रीति कहते हैं, ये रीतियाँ तीन होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला, जिन्हें क्रमशः वैदर्भी, गौडी व पाञ्चाली भी कहते हैं, इस समता नामक गुण की रचना में पदबन्ध उपनागरिका (वैदर्भी)

रीति से ही प्रारम्भ होते हैं, और उसी से उस रचना का उपसंहार भी होता है।

प्रायः माधुर्य गुण के उदाहरण इसके भी उदाहरण होते हैं, क्योंकि इन दोनों गुणों में वैदर्भी रीति का पूर्ण परिपाक रहता है। जैसे—**"नितरां परुषा सरोजमाला"** इत्यादि।

(4) "संयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम्"

संयोग है परे जिनसे ऐसे ह्रस्व वर्णों से अतिरिक्त वर्णों से घटित होकर, जिसमें पद पृथक्-पृथक् हो, अर्थात् समास नहीं हो, उसे माधुर्य गुण कहते हैं। "संयोगपरह्रस्ववर्णः" का अर्थ है, संयोगः परो येभ्यः, इदृशा ये ह्रस्व वर्णाः अर्थात् ऐसे संयोगपरक ह्रस्ववर्ण न हो जिनकी गुरु संज्ञा होती हो, क्योंकि यह नियम है "संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात्" "संयोगे गुरुः"[1] इस पाणिनीय सूत्र के निर्देश से संयुक्ताक्षर यदि पर में हो तो ह्रस्व की भी गुरु संज्ञा हो जाती है, माधुर्य गुण में ऐसे गुरुसंज्ञक ह्रस्व नहीं आने चाहिए जिनके आगे संयुक्ताक्षर हो। "संयोगपद" पर टिप्पणी करते हुए नागेश ने लिखा है कि संयोग पद से यहां पर सवर्ण निष्पन्न हल् घटित संयोग ही ग्रहण करना चाहिए। अतएव "पल्लवानाम्" इत्यादि स्थल में लद्वय संयोग परसवर्ण घटित न होने से कोई दोष नहीं है।[2]

माधुर्य गुण का उदाहरण

नितरां परुषा सरोजमाला, न मृणालानि विचारपेशलानि।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथाऽपि पल्लवानाम् ।।

कोई नायक अपनी नायिका से कहता है—

हे प्रिये ! जब मैं तुम्हारे इन कोमल अङ्गों के विषय में सोचता हूं तो मुझे कमल पुष्पों की माला भी कठोर मालूम पड़ती है, मृणाल तो फिर कोमलता की परिधि में आने योग्य ही नहीं हैं, पल्लवों की तो फिर कथा ही क्या ?

उक्त पद्य की पदावली परसवर्णघटितसंयोगनिमित्तक गुरु अक्षरों से घटित नहीं है अर्थात् संयुक्ताक्षरजन्यगुरु वर्णों से आघटित है, और पद असमस्त होने से पृथक् पृथक् हैं। यद्यपि "पल्लवानाम्" पद में लकारद्वय संयोग है, परन्तु वह परसवर्ण घटित नहीं है।

(5) "अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता"।

अपरुष अर्थात् कोमल वर्णों से युक्त रचना का नाम सुकुमारता है, (ऐसी

---

1. पाणिनीय अष्टाध्यायी 1।4।11।।
2. संयोगपरेति। संयोगश्चात्र परसवर्णनिष्पन्नहल्घटित एव ग्राह्यः"
(रसगङ्गाधर गुरुमर्मप्रकाश टीका)

उदारता गुण का उदाहरण

प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली,
विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि ।
ललाटतटविस्फुटन्नवकृपीटयोनिच्छटो,
हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति ॥

आनन्दातिरेक से जिनका पेट भर गया है, अतएव तुन्दिल जो प्रमथगण, उनके द्वारा करतल ध्वनि कर लेने पर और जब गणेश जी खुश होकर डमरू बजा रहे थे, तब अपने ललाट तट से अग्नि के विस्फुलिङ्गों को बिखेरते हुए, उद्भट जटाओं को इधर उधर बिखेरते हुए, दिगम्बर भगवान् शिव नाचने लगे ।

उक्त पद्य में नटराज शिव के ताण्डव नृत्य का उद्धत वर्णन है, अतः उक्त रचना भी टवर्गादि कठोर वर्णों से घटित है, रचना भी उद्धत अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए विकट वर्ण घटित होने से उदारता गुण के अनुकूल है ।

(8) संयोगपरह्रस्वप्राचुर्यरूपं गाढत्वमोजः ।

संयोग परक ह्रस्ववर्णों की प्रचुरता रूप गाढत्व ही ओज है । अर्थात् ओजो-गुण वहाँ होता है, जहाँ संयुक्ताक्षरों के पूर्व ह्रस्व वर्णों की प्रचुरता हो, इन्हीं ह्रस्ववर्णों के निमित्त जहाँ पदों में गाढ़ता आई हो, उसे ओजो गुण कहते हैं ।

ओजो गुण का उदाहरण

साहंकारसुरासुराबलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर,
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वंकषाः ।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता,
भूमीभूषण भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्तयः ॥

हे भूमीभूषण, अहंकार से भरे हुए देवता व दानवों की श्रेणी के हाथों से खींचे गए, अतएव घूमने वाले मन्दराचल से क्षुब्ध क्षीरसागर की सुन्दर तरङ्गों की शोभा के गर्व को अपहरण करने वाली, और प्यासे व्याकुल हुये तापसकुल से सानन्द देखी गई आपकी कीर्ति चौदह भुवनों को भूषित कर रही है ।

उक्त पद्य में "कृष्टभ्रमन्मन्दरक्षुभ्यत्श्री" तथा "गर्वसर्वङ्क" इत्यादि में संयोगपरक ह्रस्वों की प्रचुरता है । अतः रचना में गाढत्व होने से, संयुक्ताक्षर व परुष वर्णों की प्रचुरता होने से यहाँ ओजो गुण है ।

(9) अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण—प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वयं कान्तिः अविदग्धा ।

वैदिका दिकों के द्वारा जिनका प्रयोग होता हो । उन पदों को छोड़कर प्रयुज्य-मान पदों में जहाँ लोकोत्तर शोभारूप उज्ज्वलता रहती है, उसे कान्ति नामक गुण कहते हैं ।

रचना में सुकुमारता नामक गुण होता है) ।

सुकुमारता गुण का उदाहरण

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि—
दोलायितश्रवणकुण्डल वन्दनीया ।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन कापि,
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥

कोई नायक अपने मित्र से कहता है—

पसीने के जल के सान्द्र कणों से शोभायमान कपोल के एक देश में झूलते हुए कर्णभूषण से आकर्षक बनी हुई मदिरेक्षणा की रमणीय अवस्था, याद करने पर भी आनन्द को अङ्कुरित करती है ।

उक्त पद्य के पूर्वार्ध में (प्रथम व द्वितीय चरणों में) कोमल वर्णों की रचना होने से सुकुमारता नामक गुण है । पद्य के उत्तरार्ध में अर्थात् तृतीय व चतुर्थ चरणों में माधुर्य व सुकुमारता दोनों का मिश्रण है ।

यद्यपि अन्तिम में परुष वर्ण सकार भी है, परन्तु वह एकाकी होने से उतना दोषावह नहीं है । "श्रवणकुण्डल' पद में कुण्डल तो श्रवण का ही भूषण है, पुनः श्रवण पद का निवेश इस बात का सूचक है कि वह कुण्डल उस समय श्रवण में स्थित है, जैसा कि प्राचीनों का सिद्धान्त भी है— **"स्थितेष्वेतत् समर्थनम्"** इत्यादि ।

(6) "झटिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः"

जहां पदार्थों का अन्वय शीघ्र ही प्रतीत हो जाये उसे "अर्थव्यक्ति" गुण कहते हैं ।

पदार्थों के परस्पर अन्वय बोध में अर्थात् पदपदार्थ के सम्बन्ध में जहां कोई कठिनाई महसूस न हो, अर्थ की स्पष्टतया अभिव्यक्ति हो जाय उसे अर्थव्यक्ति नामक गुण कहते हैं ।

अर्थव्यक्ति गुण का उदाहरण

"नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि" इत्यादि पूर्वोक्त पद्य ही है, इसमें पदार्थों के परस्पर अन्वयबोध में कोई कठिनाई नहीं है, सरलतया वाक्यार्थ ज्ञान हो जाता है, अतः यह अर्थव्यक्ति नामक गुण का उदाहरण है ।

(7) "कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता" ।

कठोर वर्णों की रचनारूप विकटता का नाम ही उदारता है । इस रचना में प्रायः कठोर वर्ण टवर्ग रेफ ठकारादि प्रचुर होते हैं, समास सन्धि आदि से पदों की गाढ़ता भी यहाँ रहती है ।

कान्ति गुण का उदाहरण

"नितरां परुषा सरोजमाला" इत्यादि पद्य है उक्त पद्य में लोकोत्तर शोभाधायक पदों का प्रयोग है, अतएव तत्तत् पदों में उज्ज्वलता के रहने से कान्ति नामक गुण है।

(10) "बन्धगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थानं समाधिः"।

जिस रचना में गाढत्व व शिथिलत्व क्रम से अवस्थित हो उसे समाधि कहते हैं। इसी गाढता व शिथिलता को प्राचीनों ने आरोह व अवरोह नाम दिया है। यह गाढत्व व शिथिलत्व रूप क्रम ही समाधि से प्रसाद का व्यावर्तन करता है।

समाधि गुण का उदाहरण

स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गातुङ्गभङ्गुरतरङ्गसखानाम् ।
केवलामृतमुचां वचनानां यस्य लास्यगृहमास्ये सरोजम् ॥

जिसका मुख कमल स्वर्ग से निरर्गल अर्थात् विना रोक टोक निकलने वाली गंगा के ऊँचे तथा भङ्गुर तरङ्गों के सदृश और केवल अमृत को बहाने वाले वचनों का लास्यगृह है। यहाँ पूर्वार्ध में आरोह है, और तृतीय चरण में अवरोह है, गंगा में "तुङ्गभङ्गुर तरङ्ग" में यद्यपि माधुर्य है तथापि वे दीर्घसमास के अन्तर्गत हैं, अतः उनमें माधुर्य का प्ररोह नहीं हुआ है। किन्तु उत्तरार्ध में माधुर्य भी है अर्थात् उक्त रचना गाढत्वापरपर्यायरूप आरोह से प्रारम्भ होती है और शिथिलत्वरूप अवरोह में इस रचना का अवसान होता है। ये ही प्राचीनोक्त दश शब्द गुण हैं।

प्राचीनोक्त दश अर्थगुण

प्राचीनोक्त दश शब्द गुणों के लक्षणोदाहरणों का उल्लेख कर, अब दश अर्थ-गुणों के भी लक्षण व उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(1) एवं क्रियापरम्परया विदग्धचेष्टितस्य, तदस्फुटत्वस्य, तदुपपादकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः संसर्गः श्लेषः।

इस प्रकार की (क्रिया परम्परा से) चतुरतापूर्ण चेष्टा से उस (चेष्टादि को) प्रकट न होने देना, और उसके उपपादक युक्तियों का क्रिया-परम्परा अर्थात् एक के बाद दूसरी क्रिया का एक ही स्थान में वर्णन करना, जिसमें सम्बन्ध का भी विच्छेद न हो, उसे श्लेष कहते हैं।

उदाहरण

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।

ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोपरां चुम्बति ॥

यह पद्य अमरुक कवि का है । यहाँ एक ऐसे नायक का वर्णन है, जो युगपत् एक ही स्थान पर दोनों नायिकाओं को प्रसन्न कर रहा है, परन्तु वे वे चेष्टायें परस्पर अवगत नहीं हैं । कवि ने यहाँ नायक के इस प्रकार की चतुरतापूर्ण क्रियाकलापों का सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है । यह पद्य इस अर्थश्लेष का उदाहरण इस प्रकार है कि समान अधिकरण अर्थात् एक ही स्थान में स्थित उन दोनों नायिकाओं में एक का नयनपिधान करना तथा अपर उसी काल में चुम्बन करना, यह चतुरतापूर्ण क्रिया परम्परा है, इनमें नयनपिधान से उक्त चुम्बनादिक्रिया का भी ज्ञान नहीं है, तथा अन्यत्र चुम्बन से नयनपिधान का ज्ञान नहीं है ।

इस प्रकार एक ही स्थान में, एक ही समय में, चतुरतापूर्ण चेष्टाओं का सम्पादन, जो कि क्रियायें क्रमशः है, उनका गोपन तत्साधक युक्तियों का प्रदर्शन, इन सब कार्यकलापों का अविच्छिन्नसम्बन्धपूर्वक वर्णन ही श्लेष है ।

(2) "यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः" ।

जितना विवक्षित अर्थ हो तदनुसार ही पदों के प्रयोग रूप अर्थ की विमलता को प्रसाद कहते हैं । (अर्थात् जहाँ अर्थ व शब्द नपे तुले हों) ।

प्रसाद गुण का उदाहरण

"कमलानुकारी वदनं किल तस्याः" इत्यादि ।

उसका मुख निश्चित ही कमल का अनुकरण करता है । यहाँ विवक्षित अर्थ है मुख में कमल का सादृश्य, तदनुकूल शब्दों का ही प्रयोग हुआ है । न उससे अधिक पदों का और न उससे कम पदों का । "किल" यह पद निश्चय-वाचक है ।

यदि "कमलकान्त्यनुकारि वदनम्" इत्यादि कहा जाय तब ये पद उक्त गुण के उदाहरण न होकर प्रत्युदाहरण ही होंगे । क्योंकि यहाँ "कान्ति" पद विवक्षित अर्थ से अधिक है, जो निरर्थक है ।

(3) "प्रक्रमाभङ्गेनार्थघटनात्मकमवैषम्यं समता" ।

जिस प्रकार प्रारम्भ किया है, उसी प्रकार या क्रम के बिना विच्छिन्न किये पदार्थों की रचना करना, अवैषम्य-रूप समता है ।

समता गुण का उदाहरण

हरिः पिता हरिर्माता हरिर्भ्राता हरिः सुहृत् ।
हरिं सर्वत्र पश्यामि हरेरन्यन्न भाति मे ॥

उक्त पद्य को कवि ने हरि से प्रारम्भ किया है और उसी शब्द से समाप्त

भी किया है, यहाँ बीच में या अन्त में हरि के स्थान पर "विष्णु" इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया, अतः अवैषम्यरूप समता का इस पद्य में अच्छी तरह निर्वाह हो जाता है ।

(4) "एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुनः कथनात्मकयुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्" ।

एक ही अर्थ का प्रकारान्तर से बार बार अभिधानरूप जो उक्ति वैचित्र्य-है, उसे माधुर्य कहते हैं । तात्पर्य यह है कि वर्णनीय अर्थ के उत्कर्ष का उपपादन करने के लिए एक ही कथन का पुनः पुनः शैली विशेष के द्वारा जो प्रतिपादन है, उसे माधुर्य कहते हैं ।

माधुर्य गुण का उदाहरण

विधत्तां निश्शंकं निरवधिसमाधिं विधिरहो,
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः ।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः,
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती ॥

पण्डितराज, भगवती भागीरथी से प्रार्थना कर रहे हैं कि—ब्रह्मा जी निःशंक होकर निरवधि समय तक समाधि लगावें । हरि-विष्णु भी शेषनाग पर सुखपूर्वक शयन करें, भगवान् शिव भी निरन्तर नृत्य करें । प्रायश्चित्तों की भी कोई आवश्यकता नहीं, तपस्या दान पूजनादि से भी क्या हो सकता है ।

हे मातः ! सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली यदि तू संसार में भक्तों की रक्षा करने में सावधान है तो, उक्त पद्य में "ब्रह्मा आदि से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, यह एक ही अर्थ, "समाधि में बने रहें" "सुखपूर्वक सोयें" "नाचते रहें" इत्यादि अनेक भङ्गियों द्वारा कहा गया है । यह उक्ति वैचित्र्यरूप कथन-विशेष ही माधुर्य है, अन्यथा तो 'अनवीकृतरूप' दोष आ जाता है ।

(5) अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्यं सुकुमारता ।

अनवसर में शोकदायित्वाभावरूप जो पारुष्य उसे सुकुमारता कहते हैं अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के अमंगल शोकदायी, आदि अर्थों के वर्णन न करने से रचना में जो अपारुष्य है, उसे ही सुकुमारता कहते हैं ।

सुकुमारता का उदाहरण

"त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः" ।

यह पथिक प्रिया के विरह से भयभीत है, अतः शीघ्र ही स्वदेश को लौट रहा है ।

उक्त पद्य के अंश में किसी तरह का अमङ्गलजन्य पारुष्य नहीं है, अतः यहाँ सुकुमारता नामक गुण है। यदि यहाँ "प्रियामरणकातरः" यह कह दिया जाय तब तो शोकदायी "मरण" शब्द से पारुष्य आ जायेगा। साथ ही साथ यह अमङ्गल-रूप अश्लील दोष से भी व्याप्त हो जाएगा।

(6) वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारणक्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः"।

वर्णनीय वस्तु की असाधारण क्रिया एवं स्वरूप के वर्णन का नाम अर्थव्यक्ति है। (इसी अर्थ व्यक्ति को आधुनिक लोग स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं)।

अर्थव्यक्ति का उदाहरण

गुरुमध्ये कमलाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम्।
रदयन्त्रितरसनाग्रं तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे॥

गुरुजनों के मध्य बैठी हुई कमल के समान नेत्रों वाली को जब मैंने कमल के बीज से उस पर प्रहार करने की इच्छा की तो, उसने दाँतों से अपनी जीभ को दबाते हुए तथा तरलित नेत्रों से मुझे रोक दिया।

यहाँ नायिका के कमलवत् दीर्घ नेत्राञ्चलों से, तथा दाँतों से जीभ के दबाने से, नायक के अनुचिताचरण को निवारण करना यह ललनामात्र के असाधारण स्वभाव का वर्णन होने से, अर्थव्यक्ति नामक गुण है।

(7) "चुम्बनं देहि मे भार्ये! कामचाण्डालतृप्तये" इत्यादि ग्राम्यार्थ-परिहार उदारता।

अश्लीलादि ग्राम्य अर्थ के परिहार को उदारता कहते हैं। शब्द तीन प्रकार के होते हैं, नागरिक, उपनागरिक तथा ग्राम्य। काव्य में जहां तक हो सके नागरिक शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए, ग्राम्य शब्दों का तो प्रयोग कथमपि नहीं होना चाहिए। ग्राम्य शब्दों के परिहार से काव्य में उदारता नामक गुण का उदय होता है अन्यथा तो काव्य ग्राम्य दोष से दूषित ही हो जाता है।

(8) एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहूनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणानां साभिप्रायत्वं चेति पञ्चविधमोजः।

(1) एक पदार्थ को बहुत पदों से कहना, (2) बहुत अर्थों को एक पद से कहना (3) एक वाक्यार्थ को बहुत वाक्यों से कहना (4) बहुत वाक्यार्थों को एक वाक्य से कहना। (5) और विशेषणों का साभिप्रायत्व, यह पाँच प्रकार का ओज है। जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने कहा है—

पदार्थे वाक्यरचना, वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

पदार्थ के विषय में वाक्यार्थ की रचना, वाक्यार्थ के विषय में पद की रचना, व्यास, समास, और अर्थ का साभिप्रायत्व यह पाँच प्रकार की प्रौढि है। प्रौढि का अर्थ है प्रतिपादन की विचित्रता, यह पाँच प्रकार की प्रौढि ओजोगुण में रहती है।

ओजो गुण का उदाहरण

सरसिजवनबन्धु-श्रीसमारम्भकाले,
रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्रादुद्गतानां नराणां,
मधुमधुरगिरां च प्रादुरासीद् विनोदः॥

कमल वन के बन्धु सूर्य की शोभा के समारम्भ काल में रजनिरमण चन्द्र का राज्य जब शीघ्र ही अस्त हो रहा था, उस समय अर्थात् उषा काल में परमपुरुष परमात्मा के मुख से प्रादुर्भूत नर अर्थात् ब्राह्मणों की मधु के समान मीठी वाणी का विनोद प्रारम्भ हुआ।

इस पद्य में "उषः काल" कहने के लिए अर्थात् केवल एक पद के लिए, पद्य के प्रथम तथा द्वितीय चरणरूप वाक्यार्थ की रचना करनी पड़ी है। "ब्राह्मणों की" इस एक पद के तृतीय चरण की रचना हुई है, और "वेदवाणी" के लिए चतुर्थचरण की रचना की गई है। इत्यादि वाक्यार्थ के लिए पदार्थादि की उक्ति "खण्डिता" इत्यादि पदों में देख लेनी चाहिए अर्थात् जिसका पति प्रातः पराङ्गना गृह से अपने घर को लौटता है, इतने वाक्यार्थ के लिए केवल एक "खण्डिता" पद का ही अभिधान किया जाता है।

साभिप्रायत्व का अर्थ है, प्रकृतार्थ को पुष्ट करने वाला अर्थ। जैसे—

गणिकाजामिलमुख्यानवता भवता वताहमपि।
सीदन् भवमरुगर्ते करुणमूर्ते न सर्वथोपेक्ष्यः॥

हे करुणामूर्ते! गणिका एवं अजामिल प्रभृतियों की रक्षा करने वाले आप संसार रूपी मरुगर्त में नष्ट होते हुए मेरी उपेक्षा कभी नहीं करना।

यहाँ उपेक्षा नहीं करने में करुणामूर्तित्व पोषक है। घोर पापी होने के कारण शायद करुणा न भी हो, तो प्रकृत में उक्त करुणा का सम्पादन करने के लिए "गणिका" "अजामिल" एवं "सीदन्" इन पदों का उपपादन किया।

(9) **"दीप्तरसत्वं कान्तिः"**।

जहाँ रस दीप्त हो उसे कान्ति नामक गुण कहते हैं, दीप्तत्व का अर्थ है, रसों का स्पष्ट रूप से प्रतीत होना।

"तच्च स्फुटप्रतीयमान रसत्वम्"

कान्ति गुण के उदाहरण रस प्रकरण में कहे गए हैं।

(10) अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः, पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः ।

वह अर्थ जो पहिले कभी किसी के द्वारा वर्णित नहीं है । या वह अर्थ जो कभी पहिले किसी के द्वारा वर्णित है । उसका सादृश्य इसमें हो, इस प्रकार के अर्थ के विषय में, कवि के आलोचन को समाधि कहते हैं ।

आलोचन का अर्थ है ज्ञान, वह कवि में रहता है, न कि अर्थ में, तब ज्ञानरूप समाधि अर्थ का गुण कैसे? उत्तर में कहते हैं कि ज्ञान विषयता सम्बन्ध से अर्थ में रहता है, अतः समाधि भी अर्थगुण है ।

ज्ञानस्य विषयतासम्बन्धेनार्थनिष्ठत्वादर्थनिष्ठता ।

आद्यः अवर्णितपूर्वार्ध समाधि का उदाहरण

"तनयमैनाकगवेषण" इत्यादि ।

यहाँ श्वेत गंगा जी में पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिए समुद्र में समाया हुआ हिमालय का हाथ है । हाथ की गंगाजी में की गई यह उत्प्रेक्षा नवीन है । इसीलिए यह अवर्णित होने से समाधि नामक गुण है ।

द्वितीय पूर्ववर्णितच्छाय, अर्थात् पूर्वकवियों के वर्णनों की छाया जिस कविता में गृहीत हो यह भी समाधि गुण ही है । इस द्वितीय समाधि गुण के उदाहरण प्रायः सर्वत्र ही हैं ।

गुणत्रयवाद

प्राचीन वामनादि आचार्यों के द्वारा वर्णित दश शब्द गुण तथा दश अर्थ गुण, इन बीस गुणों का अन्तर्भाव ध्वनिवादी आचार्य मम्मटादि तीन ही गुणों में कर लेते हैं । ये लोग माधुर्य, ओज, प्रसाद, इन तीन ही गुणों को मानते हैं । इन्हीं में वामन-सम्मत बीस गुणों का अन्तर्भाव कर लेते हैं । यद्यपि सभी गुणों का अन्तर्भाव उक्त तीन ही गुणों में नहीं होता है, फिर भी कुछ गुण इन तीन गुणों में आ जाते हैं, कुछ गुण ऐसे माने गये हैं कि जो केवल दोषाभावमात्र हैं, अन्य कुछ गुण ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्य व अलंकारों के स्वरूपों में गतार्थ हो जाते हैं । किन्हीं गुणों को केवल वैचित्र्यमात्र कहा जा सकता है, जिनमें गुणत्व क्षमता नही है वे अवशिष्ट दोष के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

श्लेष, उदारता, प्रसाद व समाधि का नवीनों के ओजो गुण को अभिव्यक्त करने वाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है । श्लेष व उदारता में रचना की गाढ़ता के कारण, ओजो गुण में समा जाने की क्षमता है ही परन्तु प्रसाद व समाधि में तो गाढ व शिथिल दोनों ही प्रकार की घटना रहती है, अतः इनका आँशिक रूप से ओजो गुण में अन्तर्भाव होने पर भी आंशिकरूप से माधुर्यादि में अन्तर्भाव हो सकता है ।

वामन का माधुर्य गुण नवीन मम्मटादि के माधुर्य गुण से मिलता जुलता ही है। अतः नवीनों द्वारा स्वीकृत माधुर्य में प्राचीनों के माधुर्य को गतार्थ करने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार वामनादि सम्मत ओजो गुण को नवीनों के द्वारा सम्मत ओज में साक्षात् गतार्थ किया जा सकता है। क्योंकि दोनों जगह गाढत्व का रहना अनिवार्य है।

मार्गाभेदरूपिणी समता या अवैषम्यरूपा समता में तो वर्ण्यविषय व वक्ता के अनुसार कहीं कहीं दोष भी है, क्योंकि वर्ण्यविषय के आरोहावरोह के ही अनुसार रचना का विन्यास करना सिद्धान्त-सङ्गत है।

एक ही पद्य में भी प्रतिपाद्य के उद्भट व अनुद्भट होने से समान रचना नहीं हो सकती है। जैसे पण्डितराज के निम्न पद्य में—

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-
न्मृद्वीका मधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां,
नो चेत् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः॥

पण्डितराज किसी ऐसे कवि से कविता सुनने की कामना कर रहे हैं, जो अपने कवित्व के मद से मस्त है—वे कहते हैं हे मित्र! यदि तुम परिपक्व द्राक्षा (अंगूर) व मिठास में शहद को भी मात कर देने वाली ललितपदरचनापूर्ण कविता को सुनाने में समर्थ हो, तब तो बड़े आनन्द से अपनी कविता सुनाओ अन्यथा तो अपने किये गये पापों की तरह अपनी कविता को भी अपने अन्तःकरण में संभाले रखो। उक्त पद्य में प्रथम व द्वितीय चरण की रचना, कवि लोकोत्तर कविता के निर्माणजन्य गर्व की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल ही है। निर्माण की मार्मिकता के विषय में फिर तृतीय चरण में जो "बन्ध" की शिथिलता है वह भी उस प्रकार की कविता के समर्थ के अनुकूल ही है। पुनः चतुर्थ चरण में जो कि कदर्य काव्य का प्रतिपादक अर्थ है, उसमें रचना का भी पारुष्य सर्वथा अनुकूल ही है। इस प्रकार वर्ण्य विषय वक्ता व वाच्य के अनुसार एक ही पद्य में भी मार्गाभेदरूप समता तो दोष ही समझा जाता है, जब उक्त पद्य में समताभाव गुण ही है।

ग्राम्यता और कष्टता नामक दोषों के त्याग से कान्ति और सुकुमारता नामक शब्दगुण गतार्थ हो जाते हैं, अर्थव्यक्ति नामक गुण नवीनों के द्वारा स्वीकृत प्रसाद गुण से ही गतार्थ है।

अर्थ गुणों में भी श्लेष व ओजो गुण के आदि चार भेद, अर्थात् पदार्थ की जगह वाक्यार्थ की रचना कर देना, वाक्यार्थ की जगह पदार्थ की रचना, और व्यास की जगह समास, समास की जगह व्यास, इत्यादि ये सब वैचित्र्यमात्र हैं, अतः

ये गुण होने के योग्य नहीं है । यदि ऐसा न माना जाय, तब तो प्रत्येक पद्य में किसी न किसी अर्थों की विचित्रता से विलक्षणता का होना तो स्वाभाविक ही है, तब उन विचित्रताओं के अनुसार तो अनन्त गुण मानने पड़ेंगे ।

अनधिकपदत्व रूप प्रसाद गुण, उक्तिवैचित्र्यरूप माधुर्य, अपारुष्यरूप सौकुमार्य, अग्राम्यत्वरूपा उदारता, वैषम्याभावलक्षण समता, साभिप्रायत्वरूप ओजो-गुण का पाँचवा भेद, स्वभाव की स्फुटता रूप अर्थव्यक्ति, और स्फुटरसत्वरूप कान्ति, ये सब प्राचीनोक्त गुण क्रमशः अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व, भग्नप्रक्रमत्व, अपुष्टार्थत्वरूप दोषों के निराकरण से गतार्थ हो जाते हैं। (अर्थात् ये दोषों के अभाव मात्र हैं न कि गुण हैं) । और स्वभाव की स्फुटता रूप जो अर्थव्यक्ति नामक गुण है, वह स्वभावोक्ति अलंकार से ही गतार्थ हो जाता है, अतः उसे भी पृथक् गुण मानने की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार रसध्वनि व रसवदलंकार के स्वीकार कर लेने से "कान्ति" नामक गुण भी गतार्थ हो जाता है अर्थात् प्राचीनों ने जो स्फुटरसत्वरूपा कान्ति को गुण माना है, वह ऐसा काव्य या वाक्यार्थ है । जिसमें रसाभिव्यक्ति स्पष्टरूप में हो रही हो । वह सब नवीन ध्वनिवादियों के सिद्धान्तानुसार तो रसध्वनि आदि में ही गतार्थ हो जायेगा, और जो प्राचीन आलंकारिक ध्वनि सिद्धान्त नहीं मानते हैं, उनके मतानुसार रसवद् अलंकार में ही उक्त गुण को गतार्थ किया जा सकता है ।

अब अर्थ गुणों में प्राचीनोक्त केवल समाधि गुण बचा है वह तो कवि-निष्ठ काव्य का कारण है । अर्थात् समाहित मन में ही तो अर्थों का अनुसंधान हो सकता है । यह अर्थानुसन्धान रूप ज्ञान तो आत्मा या कवि के अन्तःकरण का गुण है, न कि काव्य का, जो कि कविता का उत्पादक हेतु है । इस प्रकार की समाधि को भी यदि काव्य का गुण माना जायेगा, तब तो काव्य के कारणीभूत प्रतिभा को भी, काव्य का गुण मानना पड़ेगा । "समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारणं न तु गुणः, प्रतिभाया अपि काव्यगुणत्वोपपत्तेश्च", अतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः । अतः मम्मटभट्टादि आचार्यों के सिद्धान्तानुसार गुण बीस नहीं है, बल्कि तीन ही हैं ।

ये तीन गुण हैं—माधुर्य, ओज व प्रसाद । माधुर्यगुणव्यञ्जक वर्णों का निरूपण—

तत्र टवर्गवर्जितानां वर्गाणां प्रथम-तृतीयैः, शर्मिरन्तस्थैश्च घटिता, नैकट्येन प्रयुक्तैरनुस्वारः परसवर्ण-शुद्धानुनासिकैश्च शोभिता । वक्ष्यमाणैः सामान्यतो विशेषतश्च निषिद्धैः संयोगाद्यैरचुम्बिता, अवृत्तिर्मृदुवृत्ति र्वारच नाऽऽनुपूर्व्यात्मिका माधुर्यस्य व्यञ्जिका ।

वह रचना माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करती है, जो टवर्ग से रहित हो, तथा वर्गों के प्रथम व तृतीय अक्षरों से युक्त हो और शर वर्ण व अन्तःस्थ-संज्ञक

वर्णों से भी युक्त हो, जिसमें अनुस्वार, परसवर्ण व शुद्ध अनुनासिक वर्ण अत्यन्त निकट हों। विशेषकर संयुक्त वर्ण व रेफादि से रहित हो। असमासा या अल्प समासवाली यह रचना हो।

माधुर्य गुण के व्यञ्जक रचना का स्वरूप

तां तमालतरुकान्तिलङ्घनीं, किङ्करीकृतनवाम्बुदत्विषम्।
स्वान्तमे ! कलय शान्तये चिरं, नैचिकीनयनचुम्बितां श्रियम्॥

कोई भक्त अपने हृदय से कह रहा है कि—हे स्वान्त! तू चिरकालिक अर्थात् स्थायी शान्ति के लिए तमालतरु की कान्ति से भी मनोहर, और नवीन मेघ की घटा को भी मात करने वाली, गायें जिन्हें निरन्तर एक टकटकी नजर से देखती रहती हैं, ऐसे श्यामल भगवान् बाल गोपाल को स्मरण कर।

उक्त पद्य में वर्ग के प्रथम व तृतीय वर्णों का जैसे 'त ल' इत्यादि का अधिक प्रयोग हुआ है। अनुस्वार परसवर्ण व अनुनासिक वर्णों से यह रचना समन्वित होती हुई माधुर्य गुण की अभिव्यञ्जिका है। अतिशयोक्ति और ध्वन्यमान भगवद्भक्ति-विषयकरति का भी शान्त में ही पर्यवसान हो रहा है, उक्त अलंकार व ध्वनियों से भी माधुर्य की ही अभिव्यक्ति हो रही है।

ओजो गुण के व्यञ्जक वर्ण

"नैकट्येन द्वितीय-चतुर्थवर्गवर्ण-टवर्गजिह्वामूलीयोपाध्मानीय-विसर्ग सकार-बहुलैर्वर्णै घटितो झथरेफान्यतरघटितसंयोगपरह्रस्वैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैरालिङ्गितो दीर्घवृत्त्यात्मा गुम्फ ओजसः"।

जिस रचना में अत्यन्त सन्निकट में वर्ग के द्वितीय व चतुर्थ वर्ण प्रयुक्त हों, और टवर्ग, जिह्वामूलीय उपध्मानीय व विसर्ग, सकारादि वर्णों का प्रचुर प्रयोग हो झय या रेफ से युक्त संयोगपरक ह्रस्व वर्णों का जिसमें प्रयोग हो और दीर्घ समास वाली पदावली हो, ऐसी रचना ओजो गुण की अभिव्यञ्जिका होती है।

ओजो गुण व्यञ्जक रचना

"अयं पततु निर्दयं दलित दृप्तभूभृदगलस्खलद्रुधिरघस्मरो" इत्यादि

रौद्र रस के उदाहरण में यह पद्य आ चुका है। वक्ता परशुराम व वाच्य के अनुरूप ही यहाँ उद्धत रचना है। और वर्ग के द्वितीय व चतुर्थ वर्णों का बाहुल्य है। यह गुम्फ झयसंयोगादि घटित रेफादि समन्वित होने से ओजो गुण का अभिव्यञ्जक है।

प्रसाद गुण

"श्रुतमात्रा वाक्यार्थं करतलबदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रसादस्य"।

जिस रचना के सुनते ही अर्थ करतल बदर की तरह सामने दीखने लगे,

अर्थात् जिन पदों के श्रवणमात्र से ही अर्थ समझ में आ जाय, उसको प्रसाद गुण वाली रचना कहते हैं । यह प्रसाद गुण सभी रसों में व सभी प्रकार की रचनाओं में समानरूप से रहता है । प्रायः पण्डितराज के सभी पद्य इस गुण के उदाहरण हैं। जैसे निम्न पद्य—

वाचा निर्मलया सुधामधुरया ! नाथ शिक्षामदा-
स्तां स्वनेऽपि न संस्पृशाम्यहमहम्भावोवृतो निस्त्रयः ।
इत्यागशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां विभ्रत-
स्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तः परः ।

भक्त भगवान् से कह रहा है कि हे नाथ! आपने अमृत तुल्य मधुर व निर्मल वाणी के द्वारा, जो शिक्षा मुझे दी है, उसे तो अहंकार से आच्छादित, एवं निर्लज्ज मैंने स्वप्न में भी स्मरण नहीं किया, हे यदुपते! इस प्रकार सैकड़ों अपराधों से युक्त होने पर भी आप मुझे आत्मीय अर्थात् अपने भक्त जनों में मेरी गणना करते हैं, इसीलिए आपसे बढ़कर कोई दयानिधि नहीं है । और मुझसे बढ़कर कोई मत्त (पागल) नहीं है ।

उक्त पद्य में अन्य गुणों से अमिश्रित प्रसाद गुण है । अतः पाठक को श्रवणमात्र से ही वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाता है ।

भावध्वनि का निरूपण

रस स्वरूप के निरूपण के साथ साथ ही प्रसङ्ग प्राप्त गुणों की भी चर्चा हो गई । रस स्वरूप निरूपण के प्रसङ्ग में कहा गया था कि रस शब्द से रसाभास, भाव, भावाभास आदि सभी का ग्रहण हो जाता है । रस के अनौचित्य प्रवृत्तिपूर्वक रसाभास का भी स्वरूप दिखला दिया । अब जिज्ञासा होती है कि भाव क्या है ? "अथ किं भावत्वम्?"[1] भाव किसे कहते हैं, उनका क्या लक्षण है । विद्वानों ने अपने अपने मता-

---

1. विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वमितिचेत् रसकाव्यवाक्येऽतिव्याप्त्या-पत्तेः, अर्थद्वारा शब्दस्याऽपि व्यञ्जकत्वात्, द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत । भावस्यापि भावनाद्वारैव व्यञ्जकत्वात् । भावनायामतिव्याप्त्यापत्तेश्च, अतएव च विभावानुभावभिन्नत्वस्येव शब्द-भिन्नत्वस्याऽपि, तद्विशेषणत्वे न विस्तारः । प्रधानध्वन्यमानभावे रस-व्यञ्जकताभावादव्याप्त्यापत्तेश्च, न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोपप्रसङ्गात् भावचमत्कार प्रकर्षात्भाव-ध्वनि-त्वम् रसस्तु तत्र व्यज्यमानोऽप्यचमत्कारित्वान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुरित्यपि न शक्यं वदितुम्, चमत्काररहितरसव्यक्तौ मानाभावात्, रसे हि धर्मिग्राहक-मानेनानन्दांशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात् । अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमान-

क्रमशः पेज नं० 247

नुसार भाव के विभिन्न अर्थ दिखलाये हैं। कोषकार के अनुसार किसी कथित अभिप्राय विशेष को ही भाव कहते हैं, "भावोऽभिप्राय आशयः" इत्यादि, अन्य किसी विद्वान् के मतानुसार प्रशान्त महासागर की तरह निर्विकारात्मक चित्त में तरङ्ग की तरह प्रथम विक्रय ही भाव है। इसमें यह सूचित होता है कि भाव चित्तवृत्ति की ही एक दशा या परिणाम है। धनञ्जय के अनुसार सुखदुःखादिक भावों से सहृदय के हृदय या चित्तवृत्ति का भावित होना ही भाव है। (सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्) अर्थात् अनुकार्य राम व सीतादि को आश्रय बनाकर काव्य में उपनिबध्यमान सुख या दुःखादि मनोवृत्तियों के द्वारा सहृदय की चित्तवृत्ति को जो उस वासना से वासित कर देना है, वही भाव है।

इतने भाव के व्याख्यान से यही निष्कर्ष निकला कि भाव एक प्रकार की चित्तवृत्ति विशेष ही है जो काव्य व नाटकादि में प्रदर्शित तत्तत् विभावादियों की विशेषताओं से वासित होकर सहृदय को कोई अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। रस की ही तरह यह भी विभावादि से अभिव्यक्त होकर सहृदय के चर्वणा का विषय बनती है।

इसी ध्वन्यमान भाव की परिभाषा पण्डितराज प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रथम पूर्व पक्ष के रूप में भाव के दो लक्षण प्रस्तुत करेंगे, बाद में "हर्षादन्यतमत्वम्" इत्यादि से सिद्धान्त पक्ष स्थापित करेंगे।

तब क्या "विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वमिति" यह भाव का लक्षण किया जाय। अर्थात् जो विभाव व अनुभाव से भिन्न हो और रस का व्यञ्जक हो, उसे भाव कहा जाय ?

यदि ऐसा लक्षण किया जायेगा, तब तो रस को अभिव्यक्त करने वाले काव्य वाक्य में यह लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा, अर्थात् लक्ष्य भाव को छोड़कर अलक्ष्य वाक्य में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी क्योंकि काव्य वाक्य अर्थात् शब्द भी अर्थ के द्वारा रसादि का व्यञ्जक होता ही है। इसीलिए जब विभावादि से भिन्न शब्द भी अर्थ के द्वारा रस का व्यञ्जक है ही तब अलक्ष्य उस शब्द में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी।

यदि लक्षण में द्वारान्तर निरपेक्ष वाली शर्त लगा दी जाय, तब शब्द तो

स्यापि भावस्य प्रान्ते रसाभिव्यञ्जकत्वम्, तथापि देशकालवयोवस्थादिनानापदार्थघटिते पद्यवाक्यार्थे तथाप्यतिव्याप्तिः। तस्य विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वात्। नापि "रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्," भावादि चर्वणायामतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयतेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम्। (रसगङ्गाधर प्र० आ० भाव प्रकरण)

अर्थ के द्वारा ही रस का व्यञ्जक है, अतः उक्त भाव का लक्षण शब्द में तो नहीं जायेगा, परन्तु यहाँ एक दूसरा असम्भवत्व नामक दोष उपस्थित हो जायेगा, क्योंकि भाव भी स्वयं भावना द्वारा ही रस का व्यञ्जक होता है, क्योंकि यह बात तो असम्भव सी है कि ध्वन्यमान भाव बिना किसी भावना के रस का व्यञ्जक बने, दूसरी बात यह है कि भावना में अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि किसी द्वारान्तर की अपेक्षा न रखते हुए, विभावादि से भिन्न साक्षात् रस की व्यञ्जिका तो भावना ही है, अतः उक्त ध्वन्यमान भाव का लक्षण भावना में चला जायेगा जोकि अलक्ष्य है। यदि उक्त लक्षण में "विभावानुभावभिन्नत्वे सति शब्दभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वम्, भावत्वम्" ऐसा भाव का लक्षण किया जाय, अर्थात् विभाव अनुभाव से जो भिन्न हो, और शब्द से भी जो भिन्न हो पर रस का अभिव्यञ्जक हो उसे भाव कहते हैं, ऐसा लक्षण बनाने पर भी प्रधान ध्वन्यमान भाव में अव्याप्ति हो जायेगी जो कि लक्ष्य का एक देश है क्योंकि वह फिर रस का व्यञ्जक नहीं है। यदि भाव-ध्वनि में भी प्रान्त में रस की अभिव्यञ्जकता किसी प्रकार स्वीकार भी कर ली जाय, तब तो फिर स्वयं व्यञ्जक भी हो और व्यङ्ग्य भी हो, ऐसा हो नहीं सकता है, फिर पर्यन्त में उसके रस व्यञ्जकत्व मान लेने से भावध्वनि का महत्त्व ही क्या हुआ, ये तो सब रसध्वनि के ही अङ्ग बन जायेंगे, अर्थात् भावध्वनि का तो लोप ही हो जायेगा। भाव के चमत्कार के प्रकर्ष से ही तो भावध्वनि का अपना महत्त्व है, उसमें व्यज्यमान रस तो उतना चमत्कारी नहीं होता है, अतः वह ध्वनि व्यपदेश का कारण नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि पर्यन्त भले ही रस की अभिव्यक्ति हो, परन्तु चमत्कार तो भावध्वनि में ही रहता है, परन्तु रसाभिव्यक्ति हो, और वह अचमत्कारी हो ऐसी किसी भी सहृदय की मान्यता नहीं है। जिस धर्मिग्राहक-मान से रस की सिद्धि होती है, उसी से उसके चमत्कारात्मक या आनन्दात्मक आस्वाद की भी सिद्धि होती है, धर्मी का अर्थ है रस उस रसाभिव्यक्ति में प्रमाण या उसकी निष्पत्ति का ग्राहक या प्रमापक प्रमाणस्वरूप जिस व्यञ्जना व्यापार द्वारा आवरणभङ्ग से आनन्दांश की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रमाण से उसके आनन्दात्मक या अतिशय चमत्कारात्मक आस्वादन की भी प्रतीति होती है, अतः यह कहना कि पर्यन्त में अभिव्यज्यमान रस चमत्कारहीन होता है, यह सरासर गलत है।

'तुष्यतु दुर्जन न्याय', से प्रान्त में रसाभिव्यञ्जक ध्वन्यमान भाव में ही चमत्कार की प्रधानता मान लेने पर भी, अर्थात् व्यक्तिविषयीभूत रस की तो सर्वत्र ही प्रधानता रहती ही है, परन्तु "राजानुगत—विवाह प्रवृत्त भृत्यवत्" इस न्याय से अर्थात् राजा की तो प्रधानता सभी जगह है ही, परन्तु जिस दिन राजा के नौकर का विवाह होगा, उस दिन सर्वमान्य व सर्वप्रधान होते हुए भी, राजा अपने नौकर (जिसका कि विवाह हो रहा है) के पीछे पीछे ही चलेगा, यही बात यहां भी है, व्यक्तिविषयीभूत रत्यादि प्रधान होते हुए भी भावध्वनि की

सावकाशता के लिए, भावध्वनि को ही प्रधान मान लिया जाता है, यह सब मान लेने पर भी "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' के अनुसार देशकाल वयोऽवस्था घटित नाना पदार्थों से समन्वित पद्य वाक्यार्थ में फिर वह अतिव्याप्ति वैसे ही रह जाती है, क्योंकि ऐसा वाक्य भी विभावानुभाव से भिन्न होते हुए भी रस का अभिव्यञ्जक है ।

तस्मात् भाव का कोई दूसरा ही कोई लक्षण बनाना चाहिए । वह इस प्रकार है—

"रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्" ।

अर्थात् उस प्रकार की चित्तवृत्ति को भाव कहते हैं, जो रस की अभिव्यक्त करने वाली चर्वणा का विषय हो । यदि रसाभिव्यञ्जक चित्तवृत्ति ही भाव है ऐसा लक्षण करेंगे तो, यह लक्षण भाव की चर्वणा में अतिव्याप्त हो जाएगा क्योंकि वह भी रसाभिव्यञ्जक है और चित्तवृत्ति रूप भी है, अतः चित्तवृत्ति का विशेषण "चर्वणा विषय" यह लगाया, अब उक्त अतिव्याप्ति दूर हो जाएगी, क्योंकि चर्वणा स्वयं चर्वणा का विषय नहीं हो सकती हैं, यह सब निवेश करने पर भी यह लक्षण समीचीन नहीं है, यह लक्षण विप्रलम्भ शृंगार के अनुभावों में अतिव्याप्त है । जैसे निम्न पद्य में—

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद् विजानती नितराम् ।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुते ॥

कोई विरहिणी विरह की अधिकता में कृष्ण अगरु द्रव को हालाहल समझती है, तथा नीलकमलों की माला को सर्पिणी समझती है, यह उसका भ्रमात्मक ज्ञान है, जो विरह के कारण उत्पन्न हुआ है, अतः कार्यरूप होने से अनुभाव है । अनुभाव होने से रसाभिव्यञ्जक चर्वणा का विषय भी है । दूसरी बात यह है कि ज्ञान विशेष होने से चित्तवृत्तिरूप भी है, अतः "रसाभिव्यञ्जक चर्वणा विषय चित्तवृत्तित्वं भावत्वम्" यह भाव का लक्षण अनुभावों में अतिव्याप्त हो जाता है ।

यदि यह कहा जाय कि भावत्व को एक अखण्डोपाधि ही क्यों न मान लिया जाय । किसी धर्म या शब्दों द्वारा जिसका (भान) निर्वचन न हो सके उसको अखण्डोपाधि कहते हैं, तब उसके लक्षण करने की भी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, परन्तु भावत्व के अखण्ड उपाधि होने में कोई प्रमाण नहीं है । ऐसी स्थिति में भाव का कोई निर्दुष्ट लक्षण अवश्य करना चाहिए । तब भाव का फलित सिद्धान्तभूत लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

"विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम्"

अर्थात् विभाव एवं अनुभाव से व्यज्यमान हर्षादि अन्यतम को भाव कहते

हैं । जैसा कि काव्यप्रकाशकार का भी कथन है **"व्यभिचार्यञ्जितो भाव"** इति ।

सामाजिकों में रहने वाले इन हर्षादि भावों की अभिव्यक्ति स्थायी भावों की तरह होती है, ऐसा किन्हीं का कहना है, कोई कहते हैं कि रसाभिव्यक्ति की तरह इनकी अभिव्यक्ति होती है, अन्य लोगों का कहना है कि व्यङ्ग्य वस्तु व अलंकारों की तरह इनकी अभिव्यक्ति होती है ।

भावों की अभिव्यक्ति के विषय में तीन प्रकार की धारणायें हैं जिनमें प्रथम पक्ष में स्थायी न्याय से इन भावों की अभिव्यक्ति मानी गई है, यही सिद्धान्त पक्ष है—

इस पक्ष वालों का कथन है कि जिस प्रकार काव्य व नाटक में वासना रूप से सामाजिकों के अन्तःकरणों में विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव विभावादि सामग्री से उद्बुद्ध होकर विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से तिरस्कृत न होते हुए जैसे स्थिर अभिव्यक्ति को प्राप्त कर रस कहे जाते हैं, उसी प्रकार ये हर्षादि भी उचित विभावादि से अभिव्यक्त होकर स्थायित्व को प्राप्त कर चर्वणा के विषय होते हुए भाव पदवी को प्राप्त करते हैं । दूसरे पक्ष वालों का कहना है कि हर्षादि भाव भी रस की ही तरह अभिव्यक्त होते हैं ।

वासनारूप से यद्यपि ये पहिले से ही सामाजिकों के अन्तःकरण में वर्तमान रहते हैं, परन्तु काव्य व नाटक में विभावादि सामग्री की सहायता से सत्त्व के उद्रेक के द्वारा जब आनन्दांश के आवरण का भङ्ग होता है, तब भग्नावरण चिद्विशिष्ट ये भाव भी सामाजिकों के आस्वाद के विषय बनते हैं, पूर्वपथ में इन भावों की स्थिरता पूर्ण चर्वणा का उल्लेख है । दूसरे पक्ष में रस की चर्वणा व भाव की चर्वणा में कोई अन्तर नहीं माना है ।

तीसरे पक्ष में जिस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में वस्तु व अलंकार की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार इन भावों की भी अभिव्यक्ति होती है ।

काव्य व नाटक में अभिधा व लक्षणा आदि से जब सामान्य पद, पदार्थ का बोध हो जाता है, तत्पश्चात् वक्ता व बोधव्यादि की सहायता से संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के द्वारा सामाजिकों के हृदय में वस्तु व अलंकारों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विभावादि वाचक तत्तत् शब्दार्थों के बोध के बाद संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य न्याय से सामाजिकों के हृदय में विद्यमान इन भावों की भी अभिव्यक्ति होती है ।[1]

---

1. (i) मतत्रयमेवम्—वासनारूपेण सामाजिकानां हृदि स्थिताः स्थायिभावा नाटककाव्यादिषूपस्थितैर्विरुद्धाऽविरुद्धभावैरनभिभूततया तत्तत्व्यक्तिसाम-

क्रमशः पेज नं० 251

भावाभिव्यक्ति के कारण

किसी भी भाव अर्थात् व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति में विभाव व अनुभाव ही व्यञ्जक होते हैं। व्यभिचारी भाव को व्यक्त करने में अन्य किसी व्यभिचारी भाव की आवश्यकता नहीं होती है, अन्यथा तो व्यञ्जक रूप में स्वीकृत किये गये उसी व्यभिचारी भाव की कभी कभी प्रधानता की आशंका हो जाती है।

प्रकरणादि के कारण जब कोई भाव प्राधान्येन अभिव्यक्त हो रहा हो, और उसी प्रधान भाव की सामग्री से "नान्तरीयकतया" अर्थात् उसके बिना स्थिति न होने वाले भाव की भी यदि अभिव्यक्ति होती है, किन्तु वह साथ में अभिव्यक्त होने वाला भाव उतना पुष्ट न हो तो वह उस प्रधान भाव का अङ्ग व्यञ्जक ही माना जायेगा। जैसे गर्वादि ध्वनि में अमर्षादियों की नान्तरीयकतया स्थिति है, अर्थात् गर्वादि से भिन्न अमर्षादि की स्थिति ही नहीं रहती हैं।

ऐसी स्थिति में जहाँ एक ध्वन्यमान भाव अंगी हो और दूसरा ध्वन्यमान भाव अङ्ग हो तो गुणीभूतव्यङ्ग्य की भी आशंका नहीं करनी चाहिए, गुणीभूतव्यङ्ग्य तो तब हो सकते हैं जबकि पृथक् पृथक् विभावानुभावों से अभिव्यक्त हुए भावों में अङ्गाङ्गि-भाव हो, यहाँ तो उसी प्रधान ध्वन्यमानभाव की ही विभावादि सामग्री से अन्य भाव की अभिव्यक्ति हो रही है, ऐसी दशा में गुणीभूतव्यङ्ग्य की आशंका ही नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यहां तो नान्तरीयक भाव का ही ध्वनन होता है, यदि ऐसी स्थिति

ग्चा यथा स्थिरामभिव्यक्ति लभन्ते तथा इमे हर्षादयोऽपीति सिद्धान्तभूतः प्रथमः पक्षः।

(ii) सामाजिकानां हृदि निसर्गेण वर्तमानोऽपि विभावानुभावाभिव्यक्ति-सामग्र्या सत्त्वोद्रेकेण पिधाननिवृत्तौ स्थायिभावोपहितो भग्नावरणश्चिदा-नन्द एव यथा रसत्वेनाभिव्यज्यते, तथा विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या उद्रिक्तसत्त्वतया भग्नावरणाश्चिद्विशिष्टा भावा अपि सामाजिकानां हृद्यभिव्यज्यन्ते, इति केचित् पदसंदृब्धो द्वितीयः कल्पः।

(iii) वाचकलक्षकादिशब्दद्वारा वाच्यलक्ष्याद्यर्थोपस्थितावपि वक्तृबोधव्यादि-वैशिष्ट्ये सत्यनुरणनन्यायेन वस्वलंकारात्मको व्यङ्ग्यो यथा श्रोतृणां हृद्यभिव्यज्यते, तथा विभावादिवाचकतत्तच्छब्दप्रत्ययानन्तरमनुरणन-न्यायेन भावा अपीमे सामाजिकानां हृद्यभिव्यज्यन्ते इत्यपरे पदघटितं तृतीयं मतम्।

(रसगङ्गाधर सरलाटीका प्र० आ० भाव प्रकरण),

में भी गुणीभूतव्यङ्ग्य की सम्भावना की जाएगी, तब तो गर्वादि-ध्वनियों का उच्छेद ही हो जायेगा ।

भावध्वनि में रसध्वनि की तरह विभाव के आलम्बन व उद्दीपन पक्ष अनिवार्यतया अपेक्षित नहीं हैं, यहां तो सामान्यतया विभाव ही अपेक्षित है, जो कि अभिव्यक्त व्यभिचारी का सामान्येन निमित्त कारण है ।

चौंतीस भावों का नाम निर्देश

हर्ष-स्मृति-व्रीडा-मोह-धृति-शङ्का-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-श्रम-गर्व-निद्रा-मति-व्याधि-त्रास-सुप्त-विबोध-अमर्ष-अवहित्था-उग्रता-उन्माद-मरण-वितर्क-विषाद-औत्सुक्य-आवेग-जडता-आलस्य-असूया-अपस्मार-चपलता—"प्रतिपक्षकृतधिक्कारादिजन्य निर्वेद, और गुरु-देव-नृप-पुत्रादि विषयक रति ।

(1) हर्षः—इष्टप्राप्त्यादिजन्या सुख विशेषो हर्षः

अभीष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर, जिस सुख विशेष की प्रतीति होती है, उसी का नाम हर्ष है ।

उदाहरण

अवधौ दिवसावसानकाले, भवनद्वारि विलोचने दधाना ।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ।।

कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है—

जब दिन का अवसान हो रहा था, तो उसी समय घर के दरवाजे से झाँकती हुई (रामा) प्रियतमा ने जब आते हुए मुझे देखा तो वह मुस्कुराने लगी । उक्त पद्य में प्रिय का आगमन विभाव है, तथा रामा के मुख का विकास अनुभाव है इनके द्वारा हर्ष भाव की अभिव्यक्ति हो रही है ।

(2) स्मृतिः—संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः

किन्हीं वस्तुओं के दर्शनात्मक या श्रवणात्मक आदि ज्ञान से हृदय में जो संस्कार उत्पन्न होता है, और उस संस्कार से जो ज्ञान होता है, उसका नाम स्मृति है ।

उदाहरण

तन्मञ्जुमन्दहसितं श्वसितानि तानि,
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराऽऽननश्रीः ।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त,
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ।।

कोई नायक अपने मित्र से कहता है या अपने ही मन में विचार करता है—

सायंकालिक कमलों के समान, अधखिले नेत्रों वाली, प्रेयसी का वह सुन्दर मन्द हास, वे निश्वास व वह निष्कलङ्क और मधुर मुख की शोभा, हाय ! आज भी मेरे हृदय को उन्मत्त कर रही है ।

उक्त पद्य में तात्कालिक उस प्रेयसी के चेष्टा विशेषों का चिन्तनात्मक चिन्ता विभाव है, आक्षेपगम्य भ्रूलता का उन्नयन व गात्रनिश्चलत्वादि अनुभाव हैं, इनसे प्रेयसी की तात्कालिक संस्कार-समुद्भूत-स्मृति की अभिव्यक्ति है ।

यद्यपि यहां नायिकारूप आलम्बन विभाव और हन्त पद गम्य हृदय की विकलतारूप अनुभाव, स्मृतिरूप सञ्चारी भाव द्वारा विप्रलम्भ रस की अभिव्यक्ति होती है, अतः यहाँ रसध्वनि है ऐसा कहा जा सकता हैं, परन्तु सर्वप्रथम स्मृति की ही प्रतीति होने से और स्मृति में ही अतिशय चमत्कार होने से, यह भावध्वनि का ही उदाहरण माना जा सकता है । बाद में विप्रलम्भ रति की प्रतीति होने पर भी, उसमें उतना चमत्कार नहीं है ।

उक्त पद्य में एक शङ्का और होती है कि—"तन्मञ्जुमन्दहसितम्" इत्यादि वाक्यों में जो तदादि पदों से प्रतिपादित स्वसंवेद्य अनिर्वचनीय और अनन्त सुषमा-सम्भृत सौन्दर्यादि पदार्थ प्रतिपादित होते हैं, उन्हीं की यहाँ स्मृति है । वह स्मृति भी यहाँ तत्पद वाच्य ही होगी, फिर भावध्वनि कैसे कहते हो ? क्योंकि यह नियम है कि "तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिः" अर्थात् तदादि पदों की बुद्धिस्थ प्रकारावच्छिन्न में शक्ति है, जैसे तत्पद से यदि घट का ग्रहण किया जाएगा, तो बुद्धिस्थ घट माना जायेगा । उस बुद्धिस्थ घट में प्रकार होगा घटत्व, उस घटत्व रूप प्रकार से अवच्छिन्न होगा घट, अतः तत् पद का वाच्य घट ही होगा । इसी प्रकार "तन्मञ्जु" इत्यादि पद्य में भी तत्पदवाच्य बुद्धि विषयीभूत अर्थ, जो स्मृति है, वह भी एक प्रकार से ज्ञान होने के कारण बुद्धि ही है, और शक्यता-वच्छेदकों के नाना होने से भी, उनकी उपलक्षक बुद्धि तो एक ही है, उपलक्षक बुद्धि के वाच्य होने से यहाँ स्मृति भी वाच्य ही है । क्योंकि सामान्यरूप से बुद्धित्वेन संग्रहीत हुई बुद्धि विशेषभूता स्मृति भी शक्यतावच्छेदकतांश में प्रविष्ट है, अतः स्मृति भी वाच्य ही हुई फिर भावध्वनि कैसे होगी ?

उत्तर में यही कहना है कि तदादि स्थलों में बुद्धि तो अनुगमक अर्थात् शक्यावच्छेदकों की उपलक्षक है, विशेषक नहीं । केवल विशेषणीभूत पदार्थ का ही शाब्दबोध में भान होता है, उपलक्षणीभूत पदार्थ का नहीं, इस नियम के अनुसार बुद्धि शक्यतावच्छेदकांश में प्रविष्ट नहीं है । बुद्धि का ही विशेषभूत, स्मृति का भी शाब्दबोध में भान नहीं होगा, अतएव स्मृति वाच्य न होकर ध्वनित ही होगी ।

जो लोग बुद्धिस्थत्व को शक्यतावच्छेदक मानते हैं उनके मत में भी बुद्धि विशिष्ट में रहने वाला विषय होगा बुद्धिस्थत्व, इसमें विशेषणीभूत है बुद्धि । यहाँ

बुद्धि शक्यतावच्छेदकों की उपलक्षिका नहीं अपितु विशेषण होने से शक्यतावच्छेदिका ही है, अर्थात् बुद्धिस्थ शक्यार्थ में विशेषणीभूता है। इस सिद्धान्त में भी बुद्धिस्थत्व-रूप से बुद्धि ही शाब्दबोध में प्रविष्ट होगी बुद्धि विशेषभूता स्मृति तो फिर भी शाब्द-बोध में प्रविष्ट नहीं होगी, अतः 'घटः कलशः' की तरह बुद्धि और स्मृति एकरूप नहीं हैं। फलतः स्मृतित्वेन स्मृति वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही है।

यद्यपि उक्त पद्य में अनेक पदों के समूह द्वारा स्मृति का ध्वनन हो रहा है, इसलिए यहां वाक्य को ही स्मृति का व्यञ्जक माना जाय, तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ तत् पद में ही कुर्वद्रूपता है, अर्थात् तत् पद में ही अतिशय चमत्काराधान का सामर्थ्य है। वही एक पद इस स्मृति को ध्वनित करने में अग्रसर है। अतः इसे पदध्वनि ही माना जायेगा, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पद भी भावध्वनि के व्यञ्जक होते हैं।

(3) व्रीडा—"स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः चुंसां च प्रतिज्ञाभङ्गपराभवा-देरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा"।

स्त्रियों को पुरुष के मुख को देखने से, और अपने रहस्य के प्रकाशित होने से, पुरुषों को अपनी प्रतिज्ञा के भंग होने से या पर पराभव से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति का नाम व्रीडा है।

उदाहरण

कुचकलशयुगान्तर्मामकीनं नखाङ्कं,
सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना।
विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे,
चकितनतनताङ्गी सद्म सद्यो विवेश॥

उक्त पद्य में उस अवस्था में प्रिया का प्रिय को देखना विभाव है, (प्रिया की वह विलक्षण अवस्था का स्वरूप वह है कि वह प्रियकर्तृक कुचस्थनखक्षत का अवलोकन कर रही थी) सद्यः सद्म भवन में प्रवेश अनुभाव है, इनसे व्रीडा अभि-व्यक्त हो रही है।

(4) मोहः—भय वियोगादिप्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः "अवस्थान्तरशबलिता सा तथा" इति नव्याः।

भय या वियोगादि के कारण वस्तु के तत्त्व-यथार्थ को निश्चय न कर सकने वाली चित्तवृत्ति का नाम मोह है। चिन्ता आदि विभिन्न अवस्थाओं से समन्वित चित्तवृत्ति का नाम मोह है ऐसा नवीनों का कहना है।

उदाहरण

विरहेण विकलहृदया विलपन्ती दयित! दयितेति।
आगतमपि तं सविधे परिचयहीनेव वीक्षते बाला॥

कोई मुग्धा नायिका विरह से विह्वल हुई प्रिय ! प्रिय ! इस प्रकार की रट लगाती हुई, समीप में आये हुए भी प्रिय को नहीं पहचानती है।

यहाँ प्रिय का विरह विभाव है, इन्द्रियों की विकलतादि अनुभाव है, इनसे मोह की अभिव्यक्ति हो रही है।

(5) "धृतिः—लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्ति-विशेषो धृतिः"।

लोभ, शोक भयादि से उत्पन्न उपद्रव को निवारण करने में कारणीभूत जो चित्तवृत्ति, उसी का नाम धृति है।

उदाहरण

संतापयामि हृदयं धावं धावं धरातले किमहम्।
अस्ति मम शिरसि सततं नन्दकुमारः प्रभुः परमः॥

किसी धैर्यशाली पुरुष का यह विचार है कि—क्यों मैं व्यर्थ इस संसार में इधर उधर भटककर अपने हृदय को संतप्त कर रहा हूँ। जबकि मेरे शिर पर प्रभुवर नन्द कुमार निरन्तर विद्यमान हैं। अर्थात् जब मेरी सारी जिम्मेदारी मेरे प्रभु नन्द कुमार के उपर है, तो मैं क्यों व्यर्थ में इधर उधर भटक रहा हूँ।

इस पद्य में विवेक व शास्त्रज्ञानादि विभाव हैं। चञ्चलतादि का अभाव अनुभाव है, उक्त विभाव व अनुभावों से धृति भाव की अभिव्यक्ति हो रही है। "ननु चोत्तरार्धे चिन्ता नास्तीति वस्तुनोऽभिव्यक्तेः कथमस्य धृतिभावध्वनित्वमिति चेत्, तस्य धृत्युपयोगितयैवाभिव्यक्तेः" इस पद्य में उत्तरार्ध से, अर्थात् अन्तिम दो चरणों से मेरे ऊपर नन्द कुमार हैं, अतः मेरी सारी जिम्मेदारी उन्हीं के ऊपर है फिर मुझे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रकार "चिन्ता नहीं है" इत्यादि वस्तु की अभिव्यक्ति हो रही है। तब कैसे आप कह रहे हैं कि यहाँ भावध्वनि है। यद्यपि यहाँ वस्तुध्वनि भी उत्तरार्ध से अभिव्यक्त हो रही है। परन्तु वह "चिन्ता नहीं है" इत्याकारक वस्तु भी धृत्ति की अभिव्यक्ति में सहायक ही है। अर्थात् धृति के अङ्गरूप में उपस्थित होकर धृति को पुष्ट ही कर रही है।

(6) "शङ्का—किमनिष्ट मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का"

मेरा क्या अनिष्ट होगा, इस प्रकार की चित्तवृत्ति विशेष का नाम शङ्का है अर्थात् शङ्का में हमेशा अनिष्ट की आशङ्का बनी रहती है।

उदाहरण

विधिवञ्चितया मया न यातं सखि संकेतनिकेतनं प्रियस्य।
अधुना बत किं विधातुकामो मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने॥

कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि—हे सखि, विधि से वञ्चित हुई

मैं (अर्थात् अपने ही दुरदृष्टवश) प्रिय के संकेत निकेतन में न जा सकी, अब न जाने यह काम नृपति मेरे उपर क्या क्या आफत करेगा। यहाँ कामानुशासन का उल्लंघनजन्य अपराध विभाव है, आक्षेप गम्य मुखवैवर्ण्यादि अनुभाव है। इनसे शङ्का अभिव्यक्त हो रही है। (प्रकृत शङ्का में भय से कम्पन भी होता है किन्तु चिन्ता में कम्पन नहीं होता है।)

(7) ग्लानिः—आधिव्याधिजन्यबलहानिप्रभवो, वैवर्ण्यशिथिलाङ्गत्वदृग् भ्रमणादिहेतुर्दुःखविशेषो ग्लानिः।

आधि—मानसी व्यथा, व व्याधि—शारीरिक व्यथा से होने वाली जो निर्बलता उससे जन्य विवर्णता, शिथिलाङ्गता व दृक्-भ्रमणादि का हेतुभूत जो दुःख-विशेष है उसी का नाम ग्लानि है।

उदाहरण

शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुरविक्षणैरेव॥

एक सखी दूसरी सखी से किसी वियोगिनी के वृत्तान्त का वर्णन कर रही है—

दूज के चाँद की तरह, जिसमें अब सुषमा मात्र अवशिष्ट है। शेवार की सेज पर सोई हुई, वह सुन्दरी समीप में आये हुए प्रिय का केवल मधुर चितवनों से ही स्वागत कर रही है।

उक्त पद्य में प्रिय का विरह विभाव है, "मधुर वीक्षणादि" के द्वारा अवगत हुए, प्रणामादि शिष्टाचार की निवृत्ति अनुभाव है। इनसे ग्लानि अभिव्यक्त हो रही है।

(8) "दैन्यम्—दुःखदारिद्र्यापराधादिजनितः, स्वापकर्षभाषणादिहेतु-श्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यम्।"

दुःख दरिद्रता, या अपराधादि से होने वाली, जो अपने आप में अपकर्ष भाषण में कारणीभूत चित्तवृत्ति है। उसी का नाम दैन्य है।

उदाहरण

हतकेन मया वनान्तरे वनजाक्षी सहसा विवासिता।
अधुना मम कुत्र सा सती, पतितस्येव परा सरस्वती॥

सीता को वन में निर्वासित कर देने के बाद भगवान् रामचन्द्र की यह अनुतापोक्ति है—

हतभाग्य मैंने बिना विचारे ही कमलनयना सीता को जंगल में छोड़ दिया, पतित ब्राह्मणाधम को परा सरस्वती अर्थात् वेदविद्या की तरह, अब मुझे वह

पतिव्रता सीता कहाँ मिलेगी ?

उक्त पद्य में सीता का परित्यागरूप अपराध या अपराधजन्य दुःख विभाव है, पतित के समान अपना अपकर्ष कहना अनुभाव है, इनसे दैन्यभाव की अभिव्यक्ति हो रही है ।

(9) चिन्ता—"इष्टाप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनिता ध्यानापरपर्याया वैवर्ण्य-भूलेखनाधोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता" ।

इष्ट के न मिलने से या अनिष्टादि के मिल जाने से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति का नाम चिन्ता है । जिसका दूसरा नाम ध्यान भी है । यह विवर्णता, भूलेखन मुखनमन आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली होती है ।

उदाहरण

अधरद्युतिरस्तपल्लवा मुखशोभा शशिकान्तिलङ्घिनी ।
अकृतप्रतिमा तनुः कृता विधिना कस्य कृते मृगीदृशः ।।

किसी सुन्दरी को देखकर कोई विचार कर रहा है—"जिसके अधरों के सामने पल्लवों की शोभा फीकी पड़ जाती है । जिसके मनोहर मुख के सामने चाँद भी फीका पड़ जाता है । जिसके शरीर की उपमा ढूंढने पर भी नहीं मिल सकती है । ऐसी अनुपम सुषमासम्पन्न इस सुन्दरी का निर्माण न जाने विधाता ने किसके लिए किया है ।"

उक्त पद्य में इस प्रकार की नायिका की अप्राप्ति विभाव है । आक्षेपगम्य अनुताप अनुभाव है । इनसे चिन्ता भाव यहाँ अभिव्यक्त हो रहा है । इस पद्य के वक्ता के लिए यह सुन्दरी दुर्लभ है अतः उसके प्राप्ति के विषय में होने वाली उत्कट इच्छारूप औत्सुक्य भाव को ही यहां प्रधान क्यों न माना जाय ? उत्तर में कहते हैं कि "विधिना कस्य कृते" इत्यादि निर्देश के द्वारा उक्त सुन्दरी को किसी पुरुष विशेष के लिए निर्धारित नहीं किया गया है, अतः अनिर्धारित धर्मी विशेष को आलम्बन करके उत्पन्न होने वाली चिन्ता ही यहाँ प्रधान रूप से प्रतीत होती है । औत्सुक्य का उक्त पद्य में प्राधान्य नहीं है । औत्सुक्य के किसी प्रकार अभिव्यक्त होने पर भी उसका अपना कोई खास महत्त्व यहाँ प्रतीत नहीं होता है ।

"न चात्रौत्सुक्यध्वनिरिति वाच्यम्, कस्य कृत इत्यनिर्धारितधर्म्यालम्बनायाश्चिन्तायां एव प्रतीयमानाया सतोऽप्यौत्सुक्यस्यैतद्वाक्येन प्राधान्येनानवबोधात् ।

(10) मदः—"मद्याद्युपयोगजन्या, उल्लासाख्यः, शयनहसितादिहेतुश्चित्त-वृत्तिविशेषो मदः ।"

मद्य आदि के सेवन से होने वाली, शयन व हसनादि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली उल्लास प्रदान करने वाली चित्तवृत्ति को ही मद कहते हैं ।

उदाहरण

मधुरतरं स्मयमानः स्वस्मिन्नेवायमश्नैः किमपि ।
कोकनदयंस्त्रिलोकीमालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबः ।।

कवि किसी मद से मत्त का वर्णन कर रहा है—कुछ मुस्कराता हुआ अपने में ही धीरे-धीरे कुछ बातचीत सा करता हुआ, मद्य के योग से अपने लाल-लाल नेत्रों से मानों तीनों लोकों को रक्त कमल जैसा बनाता हो, निष्प्रयोजन शून्य आकाश की तरफ कोई मत्त देख रहा है ।

यहाँ मादक द्रव्य का सेवन विभाव है । अस्पष्ट बोलना आदि अनुभाव है, इनसे मद भाव की अभिव्यक्ति हो रही हैं ।

यहाँ मत्त पुरुष के स्वभाव वर्णन में भी, मद के अभिव्यक्ति की ही प्रधानता होने से यह भावध्वनि ही है, न कि स्वभावोक्ति अलंकार, । स्वभाव वर्णनात्मक स्वभावोक्ति तो यहाँ उपस्कारकत्वेन उक्त ध्वनि का पोषक अलंकार ही है, अर्थात् अङ्ग ही है न कि अङ्गी । "अत्र मत्तस्वभाववर्णनस्य तन्निष्ठमदव्यञ्जनार्थत्वान्मद भाव एव प्रधानमिति, न स्वभावोक्त्यलंकारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्ध्वन्युपस्कारकत्वमेव ।"

(11) श्रमः—"बहुतरशरीरव्यापारजन्या, निश्वासाङ्गसम्मर्दनिद्रादिकारणीभूतः खेदविशेषः श्रमः ।"

अत्यधिक शारीरिक व्यापारों से उत्पन्न होने वाला, निश्वास अङ्गसम्मर्द व निद्रादि का कारणीभूत जो खेद विशेष है उसी को श्रम कहते हैं ।

उदाहरण

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना ।
चिराय चित्ते लिखितेव तन्वी, न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमाऽऽसीत् ।।

यहाँ विपरीत सुखरूप शरीरव्यापार विभाव है । स्तब्ध रहना सोना आदि अनुभाव है । इनसे श्रम भाव की अभिव्यक्ति होती है ।

(12) गर्वः—"रूप-धन-विद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः ।"

रूप, धन, और विद्या आदि से अपने को सबसे उत्कृष्ट समझकर, दूसरों की अवहेलना करने का जो मनोभाव है । या इस प्रकार की जो मानसिक वृत्ति है, उसी का नाम गर्व है ।

उदाहरण

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधेः,
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।

मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां, ।
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥

पण्डितराज की स्वयं अपने विषय में यह उक्ति है—सुमेरू पर्वत की उपत्यका से लेकर मलयाचल से घिरे हुए समुद्र के तट तक, जितने भी कविता कला में कुशल कवि हैं, वे निःशङ्क होकर कहें कि द्राक्षा के मध्य से निकलने वाली चिकनी रस धारा की मधुरता की समता को प्राप्त करने वाली वाणी (या कविता) की आचार्यता के पद का अनुभव करने वाला, मेरे सिवाय और कौन पुरुष धन्य है ।

यहाँ अपनी कविता को अनन्यसाधारण समझना विभाव है, दूसरों के लिए आक्षेपपूर्ण कह गये वचन अनुभाव है । इन विभाव अनुभावों द्वारा पण्डितराज के असाधारणकवित्व प्रयुक्त गर्व अभिव्यक्त हो रहा है । यद्यपि यहाँ पराधिक्षेपजन्या असूया भी किञ्चित् प्रतीत होती है, परन्तु वह भी गर्व की ही पुष्टि करती है । यद्यपि वीर रस के प्रभेदों के निरूपण के प्रसङ्ग में पाडित्यवीर की भी चर्चा की गई है, जो कि प्रस्तुत वाच्य से करीब करीब मिलती जुलती सी है । परन्तु वहाँ तो "वृहस्पति व वाग्देवी सरस्वती के साथ भी मैं विवाद करूँगा" इस कथन से जो उत्साह ध्वनित होता उसको "सब पण्डितों से मैं अधिक हूँ" इस रूप में ध्वनित होने वाला गर्व, उक्त उत्साह का पोषक ही है । प्रकृत पद्य में "महीतल में मुझसे अन्य कोई है ही नहीं" इस प्रकार स्पष्ट वाक्यरूप अनुभाव के द्वारा प्रधानतया गर्व की ही प्रतीति हो रही है ।

तथाहि—वीररसप्रसङ्गे प्रागुदाहृते "अपि वक्ति" इत्यादिपद्ये "गीःपतिना गिरामधिदेवतयाऽपि साकमहं वदिष्यामीति" वचनेनाभिव्यक्तस्योत्साहस्य परिपोषकतया स्थितः "सर्वेभ्यः पण्डितेभ्योऽहमधिक" इति गर्वः न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव महीतले मदन्य इति स्फुटोदितेन सोल्लुण्ठवचनेनानुभावेन प्राधान्येन प्रतीयमानः ।"

(13) निद्रा—"श्रमादिप्रयोज्यं चेतस्सम्मीलनं निद्रा ।"

श्रमादि के कारण होने वाली चित्त की सम्मीलनात्मक वृत्ति विशेष को निद्रा कहते हैं ।

नैय्यायिकों के मत में सुषुप्ति दशा में मन पूरीतत् नाड़ी में प्रवेश करता है । इस गाढ सुषुप्तिदशा में मन का सन्निकर्ष अवरूद्ध हो जाने से मनुष्य को किसी प्रकार के सुख दुःख का बोध नहीं होता है । परन्तु वेदान्त के अनुसार इस दशा में भी जीव अनुभव करता है । पञ्चदशी में विद्यारण्य स्वामी जी ने मनुष्यों की इन तीन अवस्थाओं का बहुत सुन्दर वर्णन किया है जिनमें अवस्था भेद व विषय भेद होते हुये भी ज्ञान की तो एकरूपता ही रहती है । ये तीन दशायें हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ।

जिस समय हम इन्द्रियों के द्वारा विषयों का साक्षात्कार या भोग करते हैं। या इन्द्रियों से विषयों को उपलब्ध करते हैं वह जाग्रतावस्था है, **"इन्द्रियैर्विषयोपलब्धिर्जागरितम्"** इत्यादि। जब हमारी सारी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से उपरत होकर जाग्रत अवस्था के संस्कार से उत्पन्न होने वाले विषयों का ज्ञान करते हैं, उसे स्वप्न कहते हैं, **"करणेषूपसंहृतेषु जागरितः संस्कारजः प्रत्यय सविषयः स्वप्नः"**

सुषुप्ति दशा जिसे हम गाढ निद्रा भी कह सकते हैं, उस अवस्था में न तो बाह्य जगत से ही इन्द्रियों का सम्पर्क रहता है, और न जाग्रतावस्था के संस्कार ही वहाँ विषय रूप में उपलब्ध होते हैं, परन्तु उस अवस्था में भी सुखानुभूति तो होती ही है, और ज्ञान भी जैसे अन्य अवस्था में रहता है, उसी तरह इस अवस्था में भी रहता है। इसमें इस वाक्य को प्रमाण मानते है **सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम्"** कोई पुरुष गाढ निद्रा से जब उठता है, तो कहता है मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे ऐसी निद्रा आई कि कुछ पता नहीं चला, अतः वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार सुषुप्ति गाढनिद्रा में आनन्दमय की स्थिति होने से सुखानुभूति तथा साक्षी चैतन्य के रहने से ज्ञान का रहना भी निश्चित ही है।

उदाहरण

सा मदागमनबृंहिततोषा जागरेणगमिताखिलदोषा।
बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न प्रातराननजसौरभलुब्धैः॥

मेरे आने पर उस नायिका को इतना परितोष हुआ कि जागते जागते ही उसने सारी रात बिता दी, पुनः ऐसी सोई कि प्रातःकाल मुख के सौरभ के लोभी भ्रमरों के द्वारा जगाये जाने पर भी नहीं जागी।

यहाँ रात्रि जागरण से होने वाला श्रम विभाव है। भ्रमरों के द्वारा जगाये जाने पर भी न जागना, (या नेत्र निमीलनादि गात्रनिश्चलत्वादि) अनुभाव हैं, इनसे निद्राभाव अभिव्यक्त है।

(14) मतिः—"शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्धारणं मतिः।"

शास्त्रादि के विचार से किसी वस्तु के निश्चयात्मक चित्तवृत्ति का नाम मति है।

(यहाँ निःशङ्क शास्त्रीय अर्थों का अनुष्ठान, व संशयों का अभाव आदि अनुभाव हैं।)

उदाहरण

निखिलं जगदेव नश्वरं पुनरस्मिन् नितरां कलेवरम्।
अथ तस्य कृते कियानयं क्रियते हन्त मया परिश्रमः॥

यह परिदृश्यमान समस्त जगत् ही विनाशशील है। इसमें भी यह शरीर तो

उससे भी कहीं नश्वर है, अर्थात् क्षणभङ्गुर है। किन्तु नश्वर इस कलेवर के लिए मैं कितना परिश्रम कर रहा हूँ।

उक्त पद्य में—यह शरीर जलबुलबुलों की तरह है, ऐसा शास्त्र का पर्यालोचन यहाँ विभाव है। हन्त पद से गम्य, अपनी निन्दा और राजसेवा विरति, विषय विशेष अरुचि आदि अनुभाव हैं। इनसे अभिव्यक्त मति नामक भाव है। यद्यपि यहाँ विषय वितृष्णामूलक निर्वेद स्थायिक शान्त रस की भी सम्भावना की जा सकती है। परन्तु मति की ही प्रथमतः प्रतीति व उसी में चमत्कार की अधिकता होने से भावध्वनि ही है।

(15) व्याधिः—"रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः।"

रोग विरहादि से होने वाले मन के ताप को व्याधि कहते हैं। (अर्थात् चित्तवृत्यात्मक जो मनस्ताप उसी को व्याधि कहते हैं)।

उदाहरण

हृदये कृतशैवलानुषङ्गा मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती।
तदुदन्तपरे मुखे सखीनामतिदीनामियमादधाति दृष्टिम्॥

विरहज्वर जनित ताप की शान्ति के लिए हृदय पर शिवार रखे हुए बार-बार विकलता से अङ्गों को इधर उधर फेंकती हुई, प्रिय के वृतान्त को कहने वाली सखियों के मुंह की तरफ अति दीन भाव से देखती है।

यहाँ विरह विभाव है अङ्ग क्षेपादि अनुभाव हैं। इनसे व्याधिभाव अभिव्यक्त है।

(16) त्रासः—"भीरोर्घोरसत्त्वदर्शनस्फूर्जथुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्ति विशेषस्त्रासः।"

भीरू (डरपोक) व्यक्ति के हृदय में व्याघ्रादि भयानक सत्त्वों के दर्शन से या बिजली आदि की कड़कड़ाहट से जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे त्रास कहते हैं। रोमाञ्च कम्पादि इसके अनुभाव हैं।

उदाहरण

आलीषु केलीरभसेन बाला मुहुर्ममालापमुदाहरन्ती।
आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामनीयां सुषमामयासीत्॥

क्रीडा के व्यासङ्ग में बाला सखियों के बीच मेरे विषय की बात कर रही थी। उसी समय नजदीक में मेरी आवाज को सुनकर बिजली की चमक के समान गायब हो गई।

यहाँ पति वचन श्रवण विभाव है, पलायन अनुभाव है। इनसे अभिव्यक्त त्रास है।

अथवा

मा कुरु कशां कराब्जे करुणावति! कम्पते मम स्वान्तम् ।
खेलन्नजातु गोपैरम्ब! विलम्बं करिष्यामि ।।

"हे करुणावति! हाथ में कोड़ा मत लो, मेरा हृदय काँपता है, हे अम्ब! अब फिर कभी भी ग्वाल बालों के साथ खेलता विलम्ब नहीं करूंगा" । यह लीला गोप किशोर भगवान् की उक्ति है । यहाँ मां का हाथ में कोड़ा लेना विभाव है । कम्पादि अनुभाव है, इनसे त्रास की अभिव्यक्ति है ।

(17) सुप्तम्—"निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम् ।"

निद्रासण विभाव (कारण) से उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम सुप्त है अर्थात् जिसे स्वप्न कहते हैं । प्रलाप आदि इसके अनुभाव हैं । नेत्रनिमीलनादि तो निद्रा के अनुभाव हैं न कि स्वप्न के, क्योंकि वे निद्राजन्य हैं । प्राचीनों ने जो निभृतगात्र व नेत्रनिमीलनादि को स्वप्न का अनुभाव बतलाया है, वे तो निद्रा के प्रति अन्यथा-सिद्ध है अर्थात् अकिञ्चितकर हैं । स्वप्न के व्यापक होते हुए भी स्वप्नोत्थ नहीं है ।

उदाहरण

अकरुण! मृषाभाषासिन्धो! विमुञ्च ममाञ्चलम्,
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ् मयेत्यनुभाषिणीम्
अविरलगलद्वाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणाम्,
क इह भवतीं भद्रे! निद्रे! विना विनिवेदयेत् ।।

हे अकरुण! निर्दय! व्यर्थ बनावटी बात को बनाने वाले! अर्थात् मिथ्या चाटुकार! मेरा आञ्चल छोड़ो, तुम्हारे प्यार को मैंने खूब पहिचान लिया । इस प्रकार निरन्तर रोती हुई आभूषण विहीन कृशाङ्गी को, हे भद्रे! निद्रे, तुम्हारे बिना कौन बता सकता है । अर्थात् स्वप्न में तुम्हीं उस प्रकार की प्रियतमा के समाचार सुना सकती हो । यह स्वप्न में इस प्रकार का भाषण करने वाली अपनी प्रियतमा को देखने वाले किसी प्रवासी की उक्ति है । स्वप्न में इस प्रकार की प्रियतमा को दिखलाकर हे निद्रे! तुमने मेरा महान् उपकार किया यह वस्तु भी, और विप्रलम्भ शृङ्गार भी यद्यपि यहाँ प्रतीत होते हैं तथापि स्वप्न ध्वनि ही यहाँ प्रथमतः प्रतीत होती है । प्रान्त में उन वस्तु और विप्रलम्भ ध्वनन भी रोका नहीं जा सकता है, पर चमत्कार का प्रकर्ष भावध्वनि में ही है ।

(18) विबोधः—"निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः ।"

निद्रा के नाश के बाद होने वाले बोध का नाम विबोध है । यह निद्रा का अवसान कभी निद्रा की पूर्ति से, या स्वप्न से अथवा बलवान शब्द के सुनाई देने से

होता है। ये ही सब इसमें विभाव भी होंगे, अक्षिमर्दन-गात्रमर्दन आदि अनुभाव होंगे।

उदाहरण

नितरां हितयाद्य निद्रया मे वत यामे चरमे निवेदितायाः।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत् प्रचुकोप वारिवाहः॥

कोई नायक अपने मित्र से कहता है कि रात्रि के चतुर्थ प्रहर में, कल्याण-कारिणी निद्रा के द्वारा स्वप्न में समुपस्थित की गई सुनयना के वचन ज्यों ही मैं सुन रहा था त्यों ही मेघ अपनी गर्जना के साथ मेरे उपर क्रुद्ध हो गये।

यहाँ गर्जित श्रवण विभाव है, स्वप्न में प्रिया के वचनों के श्रवणजन्य उल्लास का नाश अनुभाव है। इनसे अभिव्यक्त विवोध भाव सामाजिकों के चर्वणा का विषय है।

"केचिदविद्याध्वंसजन्यमप्यमुमामनन्ति। तेषां मते"—

कुछ लोग इस विबोध को अविद्या के नाश से मानते हैं—अर्थात् अविद्या के नाश से विद्यास्वरूप विबोध का उदय होता है।

उनके मत में यह गीता का पद्य उदाहरण है।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाच्युत?
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

श्रीमद्भगवद्गीता के पर्यन्त में अर्जुन भगवान् कृष्ण से कहता है कि हे अच्युत! आपके प्रसाद से मेरा मोह-अज्ञान सब नष्ट हुआ, अब मुझे आत्मस्वरूप विषयक स्मृति उपलब्ध हुई। अब मुझे कोई सन्देह नहीं है, अब आपके वचनानुसार कार्य करूँगा।

उक्त पद्य में भगवान् के कृपापूर्ण उपदेश विभाव है। उनसे मोहादि अज्ञान का नाश होना, और स्मृति का लाभ होना अनुभाव हैं। इनसे अभिव्यक्त भाव विबोध है।

(19) अमर्षः—"परकृतावज्ञादिनाऽपराधजन्यो मौनवाक् पारुष्यादि-कारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः"।

दूसरे के द्वारा किये गये अवज्ञा तिरस्कार आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होने वाली मौन वाक्, पारूष्यादि कारणीभूत चित्तवृत्ति विशेष का ही नाम अमर्ष है।

उदाहरण

वक्षोजाग्रं पाणिनामृष्य दूरे यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य।
शोणाग्राभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां जोषं जोषं जोषमेवावतस्थे॥

वक्षोजों के अग्रभाग को पाणि से स्पर्श करके, दूर चले गये प्रिय के आनन को लाल लाल नेत्रों से देखते हुए भामिनी चुप्प ही रह गई। यहाँ आकस्मिक स्तन-स्पर्श विभाव है। लाल लाल नेत्रों से निर्निमेष निरीक्षण अनुभाव हैं, इनसे अमर्ष की अभिव्यक्ति हो रही है।

क्रोध स्थायी भाव व अमर्ष सञ्चारी भाव में क्या अन्तर है ? विषय की विलक्षणता को ही उक्त भावों की भेदक समझना चाहिए, अथवा दोनों के कार्य की विलक्षणता को देखकर परस्पर अन्तर समझना चाहिए, क्योंकि क्रोध में जल्दी ही पर विनाश की ओर प्रवृत्ति हो जाती है, और अमर्ष में मौन रहना या परुषवचन का प्रयोग करना इत्यादि होते हैं।

(20) अवहित्था—"व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभवानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्थम्।"

हर्ष आदि भावों के (मुख प्रसाद व अश्रुपातादि) जो अनुभाव हैं उन्हें छिपाने के लिए लज्जा आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति को "अवहित्था" कहते हैं।

प्राचीनों ने इस बात को इस प्रकार कहा है—अनुभावों को छिपाने के लिए जो भाव उत्पन्न होता है, उसे अवहित्था कहते हैं। वह भय, लज्जा, धृष्टता एवं कुटिलता, गौरवादि से उत्पन्न होता है—

अनुभावविधानार्थेऽवहित्थं भाव उच्यते।
तद्विभाव्यं भय-व्रीडा-धार्ष्टर्य-कौटिल्य-गौरवैः॥

उदाहरण

प्रसङ्गे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपतेः,
उपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः।
विषज्वालाजालं झगिति वमतः पन्नगपतेः,
फणायां साश्चर्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम्॥

गुरुजनों के समीप ग्वालबालों की चर्चा के समय यदुपति श्रीकृष्णभगवान् की महिमा को सुनकर किसी कुलवधू की कपोल स्थली रोमाञ्चित हो गई, तब उसने जल्दी ही विषज्वाला को वमन करने वाले कालियनाग की फणाओं के उपर किये गए कृष्ण के ताण्डव नृत्य की कथा प्रारम्भ कर दी।

यहाँ उक्त कुल वधू की व्रीडा विभाव है, भयङ्कर कालिय नाग पर ताण्डव नृत्य की कथा का आरम्भ अनुभाव हैं, इनसे भावगुप्तिस्वरूप अवहित्था की अभिव्यक्ति हो रही है।

(21)—उग्रता—"अधिक्षेपावमनादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्तिरुग्रता।"

निन्दा और अपमान आदि से होने वाली "इसका क्या करूँ" इत्याकारा चित्तवृत्ति विशेष ही उग्रता है।

उदाहरण

अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम्।
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनुर्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते॥

संग्रामरूपी प्राङ्गण में अङ्गाधिपति कर्ण के द्वारा नितान्त अमंगल रूप पराभव को प्राप्त करके, (शत्रु के प्रभाव को) अथवा परम प्रभावशाली मेरे गाण्डीव धनुष की निन्दा करते हुए तेरा हृदय कांपता नहीं क्या ?

यह कर्ण से पराभूत होकर गाण्डीव की निन्दा करने वाले युधिठिष्र के प्रति अर्जुन की उक्ति है।

युधिष्ठिर के द्वारा की गई गाण्डीव की निन्दा यहाँ विभाव है, अर्जुन की युधिष्ठिर को मारने की इच्छा अनुभाव है। इनसे उग्रता भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।

(22) उन्मादः—"विप्रलम्भमहापत्तिपरमानन्दादिजन्मा अन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः"

(शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम्)

प्रिय वियोग, महाविपत्ति, परमानन्दादि कारणों से उत्पन्न होने वाली, अन्य में अन्य वस्तु का भ्रमरूप, जो भ्रमात्मक चित्तवृत्ति विशेष है, उसी का नाम उन्माद है, (अज्ञान या दोषवश अन्य शुक्तिका में अन्य रजत के भ्रम में कहीं उन्माद की अति-व्याप्ति न हो जाय, इसीलिए उन्माद के लक्षण में "जन्मान्त" विशेषण जोड़ दिया है, अर्थात् उन्माद वियोग, महाविपत्ति आदि कारणों से उत्पन्न होने वाला भ्रमात्मक चित्तवृत्ति विशेष है, जबकि शुक्तिका में होने वाला रजत का भ्रम अविद्यादि दोष-जन्य है।)

उदाहरण

अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम्।
इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा॥

हे दयाहीन हृदय वाले प्रियतम ! आज से तुमको मैं नहीं छोड़ूंगी, कोई विकल हृदया अपनी सखी के करकमल को पकड़कर ऐसा कह रही है।

यह उक्ति किसी प्रवासी नायक के प्रति उसके सन्देश-हारिणी दूती की है, जिससे वह अपनी प्रिया के विषय में कुछ पूछ रहा था।

प्रिय विरह यहाँ विभाव है, असम्बद्धप्रलाप अनुभाव है, इनसे उन्माद की अभिव्यक्ति हो रही है।

(23) मरणम्—"रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।"

(न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुं, चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्याप्रसक्तेः ।

भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात् ।"

रोग आदि से उत्पन्न होने वाली, मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था ही मरण है ।

चित्तवृत्ति स्वरूप भावों के वर्णन के प्रसङ्ग में प्राण वियोगानुकूल व्यापार विशेष मुख्य मरण का यहां ग्रहण नहीं किया जाएगा, क्योंकि भावात्मक चित्तवृत्ति के प्रसङ्ग में चित्तवृत्तिशून्यरूप मरण की प्रसक्ति ही नहीं है । दूसरी बात यह है कि, सभी भाव कार्यों हर्षादियों में शरीरप्राण संयोग ही कारण है, जब शरीर में प्राण व इन्द्रियों का समुदाय रहेगा, तभी हर्षादि भाव कार्यों की भी निष्पत्ति होगी, यह शरीरप्राण संयोग रूप कारण भी अन्य नैय्यायिकों की तरह कार्य के पूर्व क्षण में ही अपेक्षित नहीं है, अपितु कार्य के साथ साथ अपेक्षित हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि जहां नैय्यायिक कार्य नियतपूववर्ती कारण को अपेक्षित समझता है वहाँ भावों के प्रसङ्ग में कार्यकाल में भी शरीरेन्द्रिय प्राणादि संघात की अपेक्षा है । अतएव मरण की प्राक् अवस्था मूर्च्छा को ही मरण शब्द से ही ग्रहण करना चाहिए ।

उदाहरण

दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती शयने संप्रति या विलोकिताऽसीत् ।
अधुना किल हन्त सा कृशाङ्गी, गिरमङ्गी कुरुते न भाषिताऽपि ॥

कोई सखी किसी से कहती है—

जिसको अभी अभी प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुए, शय्या पर देखा था, हाय ! अब वह कृशाङ्गी बोलने पर भी नहीं बोलती है ।

यहाँ प्रिय विरह विभाव है, वचनों का विराम अनुभाव है, इनसे मूर्च्छारूप मरण भाव की अभिव्यक्ति हो रही है, अमङ्गल स्वरूप होने से प्रायः कवि लोग इस भाव का वर्णन नहीं करते हैं ।

(24) वितर्कः—"सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः"

सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होनेवाला "ऊह रूप" जो विचार विशेष है, उसी का नाम वितर्क है ।

(यह वितर्क निश्चय का जनक होता है ।)

उदाहरण

यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी नितरामेव न विद्यते भुवि ।
अथ मे कथमस्ति जीवितं न विनालम्बनमाश्रितस्थितिः ॥

यदि वह मिथिलेन्द्रनन्दिनी सीता वस्तुतः पृथ्वी पर नहीं है तो फिर मेरा जीवित रहना कैसे सम्भव हो सकता है। क्योंकि आलम्बन अर्थात् आश्रय के बिना आश्रित आधेय की स्थिति नहीं हो सकती है।

यह उक्ति भगवान् रामचन्द्रजी की स्वयं अपने विषय में है, पृथ्वी पर सीता है या नहीं यह सन्देह विभाव है, उक्त विभाव से आक्षिप्त भ्रुकुटी का क्षेपण, शिरः कम्पन, अङ्गुलिनर्तन आदि अनुभाव है, इनसे वितर्क नामक भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।

यहाँ चिन्ता भाव को ही क्यों न मान लिया जाय इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं—

"न चासौ चिन्तेति शक्यं वदितुम्, चिन्ताया नियमेन निश्चयं प्रति अप्रयोजकत्वात्।

"किं भविष्यति" "कथं भविष्यति" इत्याकारायाश्चिन्तायाः, "इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायशः" इत्याकारस्य वितर्कस्य विषयवैलक्षण्याच्च।

न विनेत्यादिनोक्तोऽर्थान्तरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः।"

इसे चिन्ता नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि चिन्ता नियमेन निश्चय के प्रति प्रयोजिका नहीं हैं, जबकि यह वितर्क नियमेन निश्चय के प्रति प्रयोजक है। "क्या होगा, कैसा होगा" यह चिन्ता का आकार है। "यह वस्तु प्रायः इसी प्रकार हो सकती है" यह वितर्क का आकार है, इन दोनों में विषय की विलक्षणता साफ ही मालूम पड़ जाती है।

"न विनाऽऽलम्बन" इत्यादि से कहा गया अर्थान्तरन्यास भी (अर्थात् सामान्य से विशेष का समर्थन भी) इस वितर्क के ही अनुकूल है।

(25) विषादः—"इष्टासिद्धि राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः।"

अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति से व राजा गुरु आदि के विषय में अपराधादि से उत्पन्न होने वाली अनुतापात्मक या पश्चात्तापस्वरूप चित्तवृत्ति विशेष ही विषाद है।

उदाहरण

भास्करसूनावस्तं याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे।
दुर्योधनस्य जीवित ! कथमिव नाद्यापि निर्यासि॥

महाभारत के संग्राम में कर्ण के मर जाने के बाद, विजय से निराश हुए दुर्योधन का अपने जीवन के प्रति यह कथन है।

हे दुर्योधन के जीवित ! तुम्हारे अभिन्न मित्र भास्कर सूनु कर्ण के अस्त हो जाने पर, और तुम्हारे प्रतिपक्षी पाण्डवों के उत्कर्ष हो जाने पर भी तुम क्यों नहीं निकल रहे हो अर्थात् इससे भी आगे कोई अधिक अपकर्ष देखना है क्या ?

यहाँ अपना अपकर्ष और पर का उत्कर्ष देखना विभाव है, जीवित के विषय में निर्गमन की आशङ्का करना, उससे आक्षिप्त वदननमनादि अनुभाव हैं, इनसे विषाद भाव की अभिव्यक्ति हो रही है। इस विषाद ध्वनि की "दुर्योधन" इस पद से व्यक्त होने वाली घोर दुःखमग्नरूप अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनिअनुग्राहक है।

उक्त पद्य के तृतीय चरण में "दुर्योधनस्य जीवित" इस वाक्य में "दुर्योधनस्य" इस पद में लक्षणा है। जिसके लक्ष्य होते हैं—जो कर्ण को देखे बिना जीवित नहीं रह सकता था, जो सात अक्षौहिणी पतियों से वन्दनीय था, जिसने अपने प्रताप से पाण्डवों को परास्त कर दिया था, जिसने पाण्डवों को वनवास एवं लाक्षागृह में जला दिया था, इत्यादि अर्थ उक्त लक्षणा से लक्षित होते हैं, इस लक्षणा का प्रयोजन है, वह व्यक्ति अब घोरदुःख से सन्तप्त है।

उक्त पद्य में त्रास ध्वनि है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उत्तम वीर दुर्योधन में त्रास का लेश भी कहां रह सकता है। चिन्ता ध्वनित हो रही हो, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि दुर्योधन की यह प्रतिज्ञा है कि युद्ध करके ही मरूंगा, इससे पहिले सन्धि के अवसर पर भी उसने यह बात साफ कह दी थी, "सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव," दुर्योधन के पक्ष की क्षति हो जाने से यदि यह कहा जाय कि उसके शब्दों से दैन्य भाव व्यक्त हो रहा है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि दुर्योधन जब एक उत्तम वीर है तो फिर एक कर्ण क्या सारी सेना का भी क्षय हो जाय, तो भी वह अपने को विपत्तिग्रस्त नहीं मानता है, अच्छा तो फिर वीररस ही उक्त पद्य क्यों न मान लिया जाय ? बात यह है कि "दुर्योधनस्य जीवित" इत्यादि पदों से परापकर्षनिमित्तक उत्साह का अभाव उसमें प्रतीत हो रहा है, तब उत्साहरूप स्थायीभाव के बिना वीर रस की प्रतीति कैसे होगी ?

"न चात्र त्रासभाव ध्वनित्वं शङ्क्यम्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्याप्ययोगात्, नापि चिन्ताध्वनित्वम्, "युद्धवा मरिष्यामीति तस्य व्यवसायात्" नापि दैन्य ध्वनित्वम् सकल सैन्यक्षयेऽपि विपदस्तेनागणनात्, न वा वीररस ध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणे परापकर्षजीवितस्योत्साहस्याभावात्"।

(26) औत्सुक्यम्—"अधुनैवास्य लाभो ममास्त्विवतीच्छा औत्सुक्यम्"

इसी समय इस पदार्थ का लाभ मुझे हो जाय, ऐसी इच्छा का नाम ही औत्सुक्य है।

इष्ट विरहादि यहाँ विभाव है, त्वरा और चिन्तादि अनुभाव हैं।

उदाहरण

निपतद्वाष्पसंरोध-मुक्तचाञ्चल्यतारकम्।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः॥

प्रवास से लौटते हुए किसी की यह कामना है—

बहते हुए आंसुओं के रुक जाने से जिन कनीनिकाओं की चञ्चलता समाप्त हो गई हो, ऐसे मृग नयना नीलकमल के समान नयनों को कब देखूं ।

यहाँ प्रिया विरह विभाव है, त्वरा अनुभाव, है इनसे औत्सुक्य भाव की अभिव्यक्ति है ।

(27) आवेग—"अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भ्रमाख्या वृत्तिरावेगः। "

अतिशय अनर्थ से उत्पन्न होने वाली, चित्त की एक प्रकार की सम्भ्रम नामक अर्थात् घबराहट वाली वृत्ति विशेष का ही नाम आवेग है ।

उदाहरण

लीलया विहितसिन्धुबन्धनः सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः ।
दर्पदुर्विलसितो दशाननः कुत्र यामि निकटे कुलक्षयः ।।

लीलामात्र से अर्थात् खेल खेल में ही जिन्होंने समुद्र में सेतु बांध दिया है, वह यह रघुनन्दन यहाँ लङ्का में आ रहे हैं, यह दशानन रावण अपने घमण्ड में ही मस्त है, राक्षस कुल का विनाश भी सन्निकट है, ऐसी स्थिति में मैं मन्दोदरी कहाँ जाऊं ?

यह मन्दोदरी का अपने आप का कथन है, यहां रघुनन्दन का आगमन विभाव है, कहाँ जाऊँ इससे गम्य अस्थैर्य अनुभाव है, इनसे आवेग भाव की अभिव्यक्ति हो रही है ।

(28) जडता—"चिन्तोत्कण्ठा-भय-विरहेष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्य-कर्त्तव्यार्थप्रतिसन्धान विकलाचित्रवृत्तिर्जडता ।"

चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह इष्ट-प्रियजन के विषय में अनिष्ट= अवाञ्छित दर्शन और श्रवणादि से होने वाली अवश्यकर्तव्यार्थ के विषय में किसी प्रकार के निर्णय से शून्य चित्तवृत्ति का नाम जडता है ।

यह जडता मोह के पहिले भी होती है, और बाद में भी होती है ।

उदाहरण

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां सहचरि दैववशेन दूरतोऽभूत् ।
तदवधि शिथिलीकृतो मदीयैरथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु ।।

हे सहचरि ! दुर्भाग्यवश जब से प्रियतम आखों से ओझल हो गये, तब से मेरी इन्द्रियों ने अपने अपने विषयों के व्यापार में प्रेम करना भी छोड़ दिया, अर्थात् तब से न मुझे आंखों से कुछ दिखाई देता है, और न कानों से कुछ सुनाई देता है ।

यहाँ प्रिय का विरह विभाव है, विभिन्न इन्द्रियों का अपने अपने विषयों की

प्रमितियों में प्रणय का शिथिल होना अनुभाव है, इनसे जडता नामक भाव की अभिव्यक्ति हो रही है ।

मोह में तो चक्षुरादि इन्द्रियों का सर्वथा व्यापाराभाव रहता है, परन्तु जडता में व्यापार की शिथिलता रहती है ।

(29) आलस्यम् —"अतितृप्तिगर्भव्याधिश्रमादिजन्या, चेतसः क्रियानुन्मुखताऽऽलस्यम् ।"

अतितृप्ति, गर्भ, रोग, और परिश्रम आदि के कारण चित्त का कर्तव्य विषयों के प्रति उन्मुख न होना ही आलस्य है ।"

यहाँ न तो असामर्थ्य है और नाही कार्याकार्य विवेकशून्यत्व ही केवल कार्याकरणरूप अनुभाव के समान होने पर भी ग्लानि व जड़ता से इसका भेद है ।

उदाहरण

निखिलां रजनीं प्रियेण दूरादुपयातेन विबोधिता कथाभिः ।
अधिकं नहि पारयामि वक्तुं सखि मा जल्प तवायसी रसज्ञा ।।

दूर से आये हुए प्रिय ने कहानी कहते कहते सारी रात जागरण में ही बिता दी, हे सखि, अब मुझसे, ज्यादा मत पूछो, अब अधिक मैं नहीं बोल सकती हूं । तुम तो बोलते बोलते भी थकती नहीं हो, मालूम पड़ता है कि तुम्हारी जीभ लोहे की बनी है ।

यह प्रिय के आगमन के द्वितीय दिवस में बार बार रात्रि के वृत्तान्त को पूछने वाली सखी के प्रति, रात्रि जागरण से अलसाई हुई किसी नायिका की उक्ति है । यहाँ रात्रि जागरण विभाव हैं, और अधिक न बोल सकना अनुभाव है । इनसे आलस्य भाव की अभिव्यक्ति हो रही है ।

(30) असूया—"परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया ।"

दूसरे के उत्कर्ष के दर्शन या श्रवण आदि से उत्पन्न होने वाली, दूसरे की निन्दा में कारणीभूत चित्तवृत्ति विशेष को ही असूया कहते हैं ।

इसीको परोत्कर्ष न सहन करना इत्यादि शब्दों से कहा जाता है ।

उदाहरण

कुत्र शैवं धनुरिदं, क्व चायं प्राकृतः शिशुः ।
भङ्गस्तु सर्वसंहर्त्रा कालेनैव विनिर्मितः ।।

कहाँ तो यह भगवान् भूतभावन शंकर का धनुष, कहाँ यह मानव बालक रामचन्द्र ? (तब उसके टूटने का कारण बतलाते हैं ।) इसका भङ्ग तो संसार के

समस्त पदार्थों का संहार करने वाले काल ने ही कर दिया, अर्थात् चिरकाल तक पडे रहने के कारण, यह धनुष अपने आप जीर्ण हो गया था, अन्यथा इसका भङ्ग करना, इस साधारण क्षत्रिय कुमार के वश की बात थोड़ी है।

यह भगवान् शंकर के धनुष को तोड़ने वाले, रामचन्द्रजी के प्रति, उनके पराक्रम को न सहन करने वाले राजाओं की उक्ति है।

यहाँ दशरथ पुत्र राम के बल को सबसे उत्कृष्ट समझना विभाव है, प्राकृत, और शिशु पदों से गम्य निन्द्य अनुभाव है। इनसे असूया भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।

अमर्ष सङ्कीर्ण असूया का उदाहरण

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे,
मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले, कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवती जनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना,
घातः किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराऽम्बरः॥

उदीयमान चन्द्र को अकस्मात् घनघटा से आच्छन्न होते हुए देखकर कोई सहृदय पुरुष विधाता को कोस रहा है— कि हे विधे ! जबकि चन्द्रोदय की प्रतीक्षा में चकोर समुदाय ज्योत्स्ना पान करने के लिए चञ्चलता पूर्ण आशाभरी दृष्टि लगाये हुए है, और कुमदकुल दिवसकृत सञ्कोच को छोड़कर विकसित होना चाहता है, कन्दर्प अपने शरासन को हाथ में लेकर मानिनियों के मान को भगाने ही वाला था कि अकस्मात् चन्द्र को मेघ घटा ने घेर लिया, इस प्रकार चन्द्र के ऊपर घनघटा का आवरण डाल देना क्या विधाता के लिये उचित था ?

उक्त पद्य में यद्यपि विधाता के विषय में कवि की असूया अभिव्यक्त हो रही है, जिसका विभाव पद्य में वर्णित धराधराऽम्बररूप का आच्छादनरूप विधाता की उच्छृंखलता है, और अनुचितकारितारूप विधाता की निन्दा अनुभाव भी है। यह सब होने पर भी यहाँ शुद्ध असूया की पृथक् प्रतीति नहीं हो रही है, अपितु असूया के जो अनुभाव विभाव (कार्य कारण) हैं, उन्हीं से अभिव्यक्त होने वाला अमर्ष भाव से मिश्रित असूया की यहाँ प्रतीति हो रही है।

यदि उक्त पद्य में अमर्ष मिश्रित असूया ध्वनि को न मानकर, अप्रस्तुत चन्द्र वृत्तान्त से प्रस्तुत किसी ऐसे राजकुमार के वृत्तान्त को लक्ष्य किया गया हो जो सभी प्रकार की उन्नति कर रहा हो, और अकस्मात् अनवसर में ही विपत्ति का पहाड़ उसके ऊपर टूट पड़ा हो, इस प्रकार के राजकुमार के वृत्तान्त को ही ध्वनित करने के लिए चन्द्र वृत्तान्त का वर्णन किया गया हो ? उत्तर में यही कहना है कि यहाँ यदि उक्त पद्य से किसी राजकुमारादि का वृतान्त ध्वनित हो रहा है, ऐसी सहृदयों की अनुभूति होय, तो भी अमर्ष मिश्रित असूया ध्वनि में कोई अन्तर नहीं

आता है, क्योंकि एक ध्वनि दूसरे ध्वनि की विरोधी नहीं होती है। साराँश यह है कि ध्वनियों का संकट आलंकारिकों को इष्ट ही है, अतः उक्त पद्य में भी दो ध्वनियों का समावेश अनुचित नहीं है।

(31) अपस्मारः—"वियोग-शोक-भय-जुगुप्सादीनामतिशयात्, ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः।"

वियोग, शोक, भय, घृणा आदि की अधिकता से एवं ग्रह-भूत प्रेतादि के आवेश से उत्पन्न होने वाली मानसिक व्याधि विशेष को अपस्मार कहते हैं।

उदाहरण

हरिमागतमाकर्ण्य मथुरामन्तकान्तकम्।
कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले॥

कृष्ण के आगमन को सुनकर विक्षिप्त हुए कंस के वृत्तान्त का वर्णन कर रहे हैं—

अन्तक (यमराज) का भी अन्त करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को मथुरा में अपने वध के लिए आये हुए सुनकर कंस काँपता हुआ, तथा श्वास निकालता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा।

यहाँ भय विभाव है, कांपना गिरना आदि अनुभाव हैं। इनसे व्याधि विशेष अपस्मार की अभिव्यक्ति हो रही है।

(32) चपलता—"अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता।"

अमर्ष आदि विभावों से उत्पन्न होने वाली, और कटु भाषण आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति को चपलता कहते हैं।

उदाहरण

अहितव्रत पापात्मन्! मैवं मे दर्शयाननम्।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि येन त्वमसि भावितः॥

हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद को कहता है—

हे अहितव्रत! अर्थात् भगवान् की दासता को स्वीकार करने वाले, जो मेरे लिये हितकर नहीं है, हे पापात्मन्! पिता की आज्ञा को न मानना रूप पाप का आचरण करने वाले प्रह्लाद, तुम मुझे अपना मुंह मत दिखलाओ। अब मैं खुद आत्महत्या करने जा रहा हूं, क्योंकि मैंने तुम जैसे मूर्ख पुत्र को उत्पन्न करने का अपराध किया है।

यह प्रह्लाद को भगवान की भक्ति से दूर रखने का प्रयास करने वाले

हिरण्यकशिपु की उक्ति है—भगवद् द्वेष से उत्पन्न पुत्र द्वेष यहां विभाव है, आत्म वद्येच्छा व पुरुष वचन अनुभाव हैं, इनसे चपलता भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।

(33) निर्वेदः—**"नीचपुरुषेषु आक्रोशनाधिक्षेप-व्याधि-ताडन-दारिद्रचेष्ट विरहपरसम्पद्दर्शनादिभिः उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या, रोदन-दोर्घश्वास-दीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः"**।

नीचों में आक्रोशन, अधिक्षेप, व्याधि, ताडन, दारिद्रच और इष्ट विरह व परसम्पत्ति के देखने व सुनने से जो विषयों में विद्वेष नाम की चित्तवृत्ति है, वह निर्वेद है। उत्तम पुरुषों में दूसरे के द्वारा की गई अवज्ञा आदि से उत्पन्न होने वाली विषयों पर द्वेष नाम की चित्तवृत्ति का नाम निर्वेद है, जो रोदन दीर्घश्वास व दीनता का कारण है।

उदाहरण

यदि लक्ष्मण सा मृगेक्षणा न मदीक्षासरणिं समेष्यति।
अमुना जडजीवितेन मे जगता वा विफलेन किं फलम्॥

हे लक्ष्मण! यदि वह मृगनयना सीता मेरे दर्शन पथ में नहीं आयेगी तो, (अर्थात् मुझे नहीं दिखाई देगी तो) फिर इस जडजीवन से और विफल इस संसार के निष्फल राज्य से क्या प्रयोजन है।

वैदेही के विरह से सन्तप्त रामचन्द्र जी की लक्ष्मण के प्रति यह उक्ति है।

यहाँ सीता विरह विभाव है और जीवन व जगत् का निष्फलत्व कथन अनुभाव है। इनसे निर्वेद भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।

(34) भावः—**"देवादिविषया रतिर्भावः।"**

इन हर्षादि तेंतीस सञ्चारी भावों से अतिरिक्त चौंतीसवाँ देवादि विषयक रति नाम का भी एक भाव है, जिसमें भक्ति आदि का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

उदाहरण

न धनं न च राज्यसम्पदं नहि विद्यामिदमेकमर्थये।
मयि धेहि मनागपि प्रभो! करुणा-भङ्गितरङ्गितां दृशम्॥

कोई भक्त भगवान से प्रार्थना कर रहा है—हे प्रभो! मुझे धन नहीं चाहिए, राज्य सम्पत्ति भी मैं नहीं चाहता हूँ। न विद्या की ही मै कामना करता हूँ। मैं तो केवल आपकी करुणापूर्ण कटाक्ष की छटा चाहता हूँ।

उक्त पद्य में भक्त की धनादि की अपेक्षा भगवान् के करुणामय कटाक्षपात की अभिलाषा भगवद् विषयक अनुरागातिशय को अभिव्यक्त करती है। अतः इस पद्य को रति भावध्वनि का उदाहरण मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

सञ्चारी भावों की संख्या

रस संख्या के समान ही सञ्चारी भावों की संख्या में भी संस्कृत साहित्य-शास्त्र में विद्वानों की एकवाक्यता नहीं है। क्योंकि इन भावों के विषय में तैतीस भाव हैं या चौंतीस भाव हैं। यह कोई निर्णयात्मक सिद्धान्त नहीं है। लक्षणों उदाहरणों में जगह जगह पर मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, कुतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धाष्टर्च आदि भाव भी दिखाई देते हैं। उत्तर यह है कि उक्त तैतीस या चौंतीस भावों में ही इनका भी अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अधिक संख्या मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

जैसे—असूया से मात्सर्य का, त्रास से उद्वेग का, अवहित्था भाव से दम्भ का, अमर्ष से ईर्ष्या का, मति से विवेक का, और निर्णय का दैन्य से क्लैव्य का, धृति से क्षमा का, औत्सुक्य से कुतुक और उत्कण्ठा का, लज्जा से विनय का, तर्क से संशय का, चापल से धाष्टर्च का, वस्तुतः सूक्ष्म भेद होने पर भी नित्य सम्बद्ध (नान्तरीयक) होने के कारण उक्त सम्भावित भावों का पूर्वोक्त तैतीस भावों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

इस तरह की सूक्ष्म भेदों की गणना में तो फिर भाव जगत् अनन्त है, कौन उन्हें गिन सकता है और भरत मुनि का एक प्रामाणिक सिद्धान्त जब हमारे सामने समुपस्थित है, तब स्वेच्छया स्वकपोल-कल्पना करना अनुचित है। अक्षुण्ण चली आ रही प्राचीन परम्परा को क्यों तोड़ा जाय। उक्त प्रसङ्ग को पण्डितराज ने "अथ कथमस्य संख्या नियमः" से प्रारम्भ कर "उक्तेष्वेवैषामन्तर्भावेण संख्यान्तरानुपपत्तेः" से उपसंहार किया है।

रसाभास

"अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्"

जहाँ रस-रत्यादि का आलम्बन विभाव अनुचित हो अर्थात् अनुचित आलम्बन से अनुचित रत्यादि हो वहाँ वह रत्यादि रस न होकर रसाभास कहलाता है।

यह विभावादि का अनौचित्य, लोकव्यवहार से समझना चाहिए, अर्थात् जिस रत्यादि को लोग अनुचित समझते हैं, वही रत्यादि की अनौचित्य प्रवृत्ति है।

रस, रसाभास, भाव व भावाभास में अन्तर

अब रस व रसाभास और भाव व भावाभास एक ही हैं या भिन्न भिन्न इस प्रश्न का उत्तर मतभेद के साथ दिखलाते हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि रसाभासत्व व रसत्व, और भावाभासत्व व भावत्व का सामानाधिकरण्य नहीं है। अर्थात् ये समान अधिकरण—स्थान में रहने

वाले धर्म नहीं हैं। रस और भाव उसी को कहना चाहिए जो निर्मल हों, जिनमें किसी प्रकार का अनौचित्य न हो, जब उनमें अनौचित्य दोष आ जाता है, तब उन्हें रस या भाव शब्द से न कहकर रसाभास और भावाभास शब्दों से कहा जाता है भले ही रसाभास रस सा भासित होने वाला हो और भावाभास भाव सा भाषित होने लगा है, जैसे नैय्यायिकों का हेत्वाभास जो कि हेतु की तरह आभासित होता है, परन्तु अपने साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ, दुष्ट हेतु कहा जाता है। हेतु व हेत्वाभास का जैसे सामानाधिकरण्य नहीं होता है, उसी प्रकार यहाँ रस और भाव का रसाभास व भावाभास के साथ सामानाधिकरण्य नहीं होता है।

दूसरे विद्वानों का कहना है कि रस तो वस्तुतः अखण्ड आनन्दमय शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। इसमें अनौचित्यादि दोषों की सम्भावना ही कहाँ है। जैसे काणत्व खञ्जत्वादि या अनिर्मलत्वादि ऐसे अनुचित दोषों का आश्रय आत्मा न होकर चिदाभास होता है। क्योंकि सुख-दुःख-मलिनता व निर्मलता इत्यादि दोषों का आश्रय जैसे अन्तःकरण होता है इसी अन्तःकरण की उपाधि से उपहित जीव या चिदाभास के साथ ही उक्त मलिनादि धर्मों का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार ये अनौचित्यादि दोषों का सम्पर्क भी रत्यादि स्थायी भावों के साथ ही होता है, न कि निर्मल आनन्दस्वरूप रस के साथ। परन्तु अश्वाभास की तरह रसाभास का भी व्यवहार होता है। जैसे अश्व में किसी दोष के आ जाने से उसे अश्वाभास शब्द से कहा जाता है, उसके स्वरूप का अपकर्ष नहीं होता है इसी प्रकार रत्यादि में भी किसी अनुचित दोष के आ जाने से उसके अपने निर्मल रस स्वरूप में कोई हानि नहीं होती है अपितु वह रत्यादि अपकर्ष का हेतु होने से अर्थात् अनौचित्य दोष से ग्रस्त होने से उसे रस न कहकर रसाभास कहते हैं।

रसाभास का उदाहरण

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव ॥

किसी सुन्दरी के अपने भवन में प्रवेश करते समय की अवस्था का वर्णन है—

जब वह सुन्दरी अपने भवन में प्रवेश कर रही थी, तो रास्ते में स्थित युवकमण्डल, जो कि उसके द्वारा गमनाशारूप कृपाकटाक्षों का अभिलाषी था, उसको अपने नयन कमलों से निहारा।

यहाँ उक्त सुन्दरी के अनेक नायक विषयक रतिभाव होने से (जो कि अनुचित है,) रसाभास माना गया है। अनेक नायक विषयक रति के अनुचित होने से इसे अनौचित्य प्रवृत्ता रति कहेंगे।

इसी प्रकार अन्य रसों में भी जब स्थायी के किसी अनुचित आलम्बन का वर्णन किया जाता है, तब तत्तत् रसाभास शब्दों से कहा जाता है। जैसे वीतराग-निष्ठ शोक का वर्णन या कदर्य कातरादिगत क्रोध या उत्साह का वर्णन इत्यादि सब रसाभास की ही परिधि में आते हैं।

भावाभास

गुरुदेवतादि-विषयक रति रूप भाव भी अनुचित आलम्बन में प्रवृत्त होता है, तब उसे भाव न कहकर भावाभास कहते हैं, अर्थात् अनौचित्येन भाव की प्रवृत्ति ही भावाभास है।

उदाहरण

सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता-
विद्याऽपि खेदकलितां विमुखी बभूव।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे,
नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥

गुरुकुल में विद्याभ्यास करते समय गुरुपुत्री के लावण्य से मुग्ध किसी की यह उक्ति है—

अब मेरे सारे विषय विस्मृति के गर्त में पड़ गये, परिश्रमपूर्वक पढ़ी हुई विद्या भी विस्मृत हो गई है। परन्तु केवल वह मृगशावकनयना मेरे हृदय से इष्ट देवता की तरह दूर नहीं होती है। यद्यपि यहाँ हृदय से अधिदेवता की तरह स्थिर रहती है, इत्यादि वाच्य से स्मृति भाव ध्वनित होता है परन्तु यह भाव अनुचित विषय में प्रवृत्त होने के कारण भाव न होकर भावाभास है। यह स्मृति अनुचित विषय के साथ अनुभयनिष्ठ भी है, इसलिए भी अनुचित है।

यदि कदाचित् इस पद्य का वक्ता उस मृगशावकनयना के पति का ही हो, तब तो यह भावध्वनि का उदाहरण है।

भावशान्ति

"भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः।"

भाव—जिसका स्वरूप पहिले "विभावादिव्यज्यमानहर्षासन्यतमत्व" इत्यादि अर्थात् विभावादि से अभिव्यक्त हर्षादि में अन्यतम कोई भी, उस भाव के नाश को भावशान्ति कहते हैं।

"स चोत्पत्त्यवच्छिन्न एव ग्राह्यः। तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात्।"

वह भाव का नाश उत्पन्न होता हुआ ही ग्राह्य है उसी में सहृदयों को चमत्कार का अनुभव होता है।

उदाहरण

मुञ्चसि नाद्यापि रूषं भामिनि ! मुदिरालिरुदियाय ।
इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः ॥

अयि कोपनशीले! अभी भी रोष को नहीं छोड़ रही हो । देखो घनघटा घिर आयी है । इस प्रकार पति के वचन सुनते ही नायिका के नयनकमलों के प्रान्त भाग की लालिमा गायब हो गई ।

यहाँ प्रियतम के घनघटा वाली बात का सुनना विभाव है, उक्त प्रिय वचन के श्रवण से नयनों की लालिमा के नाश से अभिव्यक्त प्रसाद अनुभाव है । इन विभाव व अनुभावों के उत्पत्ति के समय ही रोष का नाश हो जाना व्यङ्ग्य है तात्पर्य यह है कि उक्त पद्य में किसी मानिनी के अमर्ष या रोष के ध्वंस का वर्णन है ।

यहाँ मेघों की घनघटा वाली प्रियतम की बात का सुनना विभाव है । उक्त प्रिय वचनों के प्रभाव से नायिका के कोपमूलक नयनों की लालिमा दूर हो गई, जिससे प्रसाद की अभिव्यक्ति होती है । यह प्रसाद अनुभाव है, इन विभाव व अनुभाव की उत्पत्ति के ही समय नायिका के रोष नामक भाव का नाश ही यहाँ भावशान्ति है, जिस रोषभाव के शान्त हो जाने के साथ ही उसके कार्यभूत प्रसाद रूप अनुभाव भी अभिव्यक्त हो जाता है जिसका फल पद्य में अभिहित है कि अब नयनों के कोणों की लालिमा नहीं रही अर्थात् नयन स्वच्छ है । एक प्रकार से यह नयनों की स्वच्छता जो कि वाच्य है, इसको भी भावशान्ति का अनुभाव मान सकते हैं । परन्तु विभाव व अनुभावों के समकाल में रोषभाव की शान्ति में ही यहाँ अधिक चमत्कार है ।

भावोदयः

"भावस्योत्पत्तिः"

पूर्वोक्त हर्ष आदि में से किसी भी भाव की उत्पत्ति को भावोदय कहते हैं ।

उदाहरण

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।
अंशदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥

दयिता के वक्षस्थल पर विपक्षकामिनी के घर के चिह्न को देखकर भामिनी ने अंश देश में वलयीकृत अपनी बाहुलता को क्षण भर में हटा लिया ।

यहाँ दयिता के वक्षस्थल पर विपक्षकामिनी के घर के चिह्न को देखना विभाव है । प्रिय के अंश देश से वलयीकृतबाहुलता का आकर्षण अनुभाव है । रोष नामक भाव का उदय व्यङ्ग्य है ।

भावशान्ति व भावोदय के विषय में एक बात का जानना बहुत जरूरी है कि भाव की शान्ति में किसी दूसरे भाव का उदय आवश्यक है और भावोदय की स्थिति में किसी प्राक्तन भाव की शान्ति आवश्यक है। फलतः भावशान्ति व भावोदय ये दोनों ध्वनियाँ हमें भावान्तर से असंकीर्ण नहीं मिल सकती है। अतः भावशान्ति व भावोदय ये परस्पर सापेक्ष हैं। क्योंकि एक ही शान्ति पर दूसरे का उदय आवश्यक है, और दूसरे के उदय पर एक की शान्ति आवश्यक है। यदि इन दोनों को एक ही मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है लाघव भी है।

इसके समाधान में कहा जाता है कि एक ही जगह दोनों का चमत्कार नहीं मिलता है, और व्यवहार होता है चमत्कार के आधार पर, अतः इन दोनों का पृथक् पृथक् विषय विभाग मानना ही पड़ेगा। "यद्यपि भावशान्तौ भावान्तरादेयस्य, भावोदये वा पूर्वभावशान्तेरावश्यकत्वान्नानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषयः, तथापि द्वयोरेकत्र चमत्कारविरहात्, चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य, अस्ति विषय विभागः।"

भावसन्धि

"भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम्।"

जो भाव, एक दूसरे से परस्पर अभिभूत न होते हों, परन्तु एक दूसरे में अभिभूत करने की योग्यता रखते हों- ऐसे दो भावों के समानाधिकरण्य अर्थात् एक जगह में रहने को भावसन्धि कहते हैं।

उदाहरण

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः॥

भगवान् रामचन्द्रजी को देखकर जानकीजी के नयनकमल की शोभा संकुचित एवं विकसित हो रही है। (एक युवती का पर युवक को देखना शंका का स्थान है) अतएव राघव के यौवन के उद्गम से नितान्त शङ्कित हुई शोभा संकुचित होती है और शील, शौर्य, बल एवं कान्ति के दर्शन के लोभ से आकृष्ट होकर विकसित होती है। यहाँ भगवान् रामचन्द्र जी में लोकोत्तर यौवन की उत्पत्ति का तथा उसी तरह के लोकोत्तर चरित्र वीरता आदि का दर्शन विभाव है, आँखों का संकुचित होना एवं विकसित होना अनुभाव है, जिनसे लज्जा एवं औत्सुक्य इन दो भावों की सन्धि अभिव्यक्त हो रही है। अर्थात् नेत्र संकोच से लज्जा, एवं नेत्र विकास से औत्सुक्य समान अधिकरण में समानरूप से प्रतीत हो रहे हैं।

भावशबलता

"भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम्"

परस्पर बाध्य बाधक भाव को प्राप्त होने वाले या उदासीन रहने वाले भावों के व्याभिश्रण को, अर्थात् एक ज्ञान के विषय हो जाने को भाव शबलता कहते हैं। व्यामिश्रण—एकज्ञान का विषय होने का तात्पर्य यह है कि जब भिन्न-भिन्न वाक्य में भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त होते हैं, तब एक महावाक्य स्थित उन विभिन्न भावों को चमत्कार का ज्ञान एक व्यञ्जनावृत्ति के ही सहारे हो, (उसी में वे सब भाव भासित हों)।

उदाहरण

पापं हन्त मया हतेन विहितं, सीताऽपि यद्यापिता,
सा मामिन्दुमुखी, बिना बत वने, किं जीवितं धास्यति।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां किं ते वदिष्यन्ति माम्,
राज्यं यातु रसातलं, पुनरिदं न प्राणितुं कामये॥

सीताजी को वन में निर्वासित कर देने के बाद भगवान् रामचन्द्रजी का यह कथन है—

कष्ट है, कि सीता को मैंने जो निकाल दिया, यह मेरे द्वारा बहुत बड़ा पाप हुआ, वह इन्दुवदना मेरे बिना वन में कैसे जीयेगी। इस दशा में मैं इन महापुरुषों का मुख कैसे देखूं, ये मुझे क्या कहेंगे, जिसके लिए मैंने इतना पाप किया, यह राज्य रसातल को चला जाय, परन्तु अब मैं जीना नहीं चाहता हूं।

यहाँ अपने अपने विभावों से मति, असूया, विषाद, स्मृति, वितर्क, व्रीडा, शङ्का और निर्वेद इन भावों का मिश्रण है। "मैने पाप किया" इससे मति, (हतकेन) दुर्बुद्धि ने—इस आत्म विशेषण से स्वविषयक असूया, "सीता को भी" इससे विषाद, "वह चन्द्रमुखी" इससे स्मृति, "मेरे बिना जी सकती है ?" इससे वितर्क, "मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूंगा" इससे व्रीडा "वे मुझे क्या कहेंगे" इससे शङ्का, "यह राज्य रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता" इससे निर्वेद, ये सब भाव व्यक्त होते हैं। इन समग्र भावों का उक्त श्लोक रूप एक महावाक्यार्थ में भान होने से यहां भावशबलता है।

भावशबलता के आस्वाद का स्वरूप निम्न पद्य द्वारा वर्णित है—

नारिकेल-जल-क्षीर-सिता-कदल-मिश्रणे ।
विलक्षणो यथाऽऽस्वादो भावानां संहतौ तथा॥

अर्थात्—नारिकेल—नारियल का जल, दूध, मिश्री एवं केले के मिश्रण में जैसा विलक्षण आस्वाद का अनुभव का विषय होता है, वैसा ही आस्वाद भावों की संहति समष्टि में भी होता है ।

भाव ध्वनि से भावशान्त्यादि में चमत्कार की विलक्षणता

भाव ध्वनियों में, भावशान्तादि ध्वनियों में चमत्कार की विलक्षणता का कारण यह है कि भावध्वनियों की चर्वणा में स्थित्यवच्छिन्न अमर्षादित्व या शुद्ध अमर्षादित्व प्रकार है, जब कि भावशान्ति प्रभृति में शान्त्यादि अवस्थायें प्रकार हैं ।

तात्पर्य यह है कि जहाँ यत् प्रकारक यद् विशेष्यक उपस्थिति होती है, वहां तत् प्रकारक तद् विशेष्यक शाब्दबोध होता है ऐसा नियम है । तदनुसार जहाँ भी स्थिति विशिष्ट अमर्षादित्व प्रकारक या अमर्षादित्व प्रकार अमर्षादि विशेष्यक उपस्थिति एवं शाब्दबुद्धि होगी वहाँ ही भावध्वनि होगी और शाम्यावस्थत्वादि प्रकारक अमर्षादि विशेष्यक उपस्थिति एवं शाब्दबुद्धि होगी तो वहाँ भाव शान्त्यादि ध्वनियां होंगी ।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि भावशान्त्यादि की तरह रस के भी रस-शान्त्यादि भेद क्यों नहीं होते, तो उत्तर में यही कहा जा सकता है कि रसों के मूल में जो स्थायी भाव हैं, यदि उन्हीं की शान्ति हो गई तो फिर आगे रसत्व या रस निष्पत्ति ही असम्भव है । यदि रत्यादि की अभिव्यक्ति न होना ही रसशान्ति माना जाय, तब भी वही बात, क्योंकि अभिव्यक्त हुआ रत्यादि ही तो रस होता है । बिना रत्यादि की अभिव्यक्ति के चमत्कार ही कहाँ ? अतः रसशान्त्यादि के विषय में पृथक् विचार नहीं किया गया है ।

इस प्रकार इस रसादि प्रपञ्च में जहां प्रकरणादि स्पष्ट हों और विभा-वादियों की प्रतीति शीघ्र हो रही हो, वहाँ सहृदय प्रमाता के द्वारा पौर्वापर्य क्रम का शीघ्रता के कारण ज्ञान न होने से रसादि ध्वनियों को असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ही कहते हैं । परन्तु जहाँ प्रकरण विचारवेद्य हो, और विभावादियों की भी किसी प्रकार उन्नयन अर्थात् अनुमान किया जाता हो, तब विभावादि सामग्री के विलम्ब से ज्ञान होने के कारण चमत्कार में भी आ जाता है ऐसी स्थिति में रसादि ध्वनियां असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भी अन्तर्गत आ जाती हैं । जैसे—पूर्व उदाहृत "तल्पगताऽपि सुतनु" इत्यादि स्थल में सहृदय जन भी कहीं कहीं रस भावादि ध्वनियाँ को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत मानते ही हैं । स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने "एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी" इत्यादि में लज्जा भावध्वनि को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में माना है ।

इन रसभावादि ध्वनियों की अभिव्यक्ति, पद वर्ण रचना वाक्य व प्रबन्ध और पद के एकदेश प्रकृति व प्रत्यय अवर्णात्मक रागादि से भी होती है ।

यद्यपि वाक्यान्तर्गत जितने भी पद हैं वे सभी समानरूप से वाक्यार्थोपास्थिति में कारण होते हैं, अतः वाक्यार्थ ज्ञानोत्तर काल में होने वाली ध्वनियों की प्रतीति में समग्र पद समूहात्मक वाक्य ही होना चाहिए, न कि कोई एक पद या वर्ण इत्यादि। फिर "पदध्वनि" इत्यादि का व्यवहार कैसे होता है, उत्तर में यही कहना है कि सामान्यरूप से ध्वनि के प्रति वाक्य या वाक्यार्थ के कारण होने पर भी विशेष रूप से किसी एक पद में ही ऐसी "कुर्वद्-रुपता" रहती है, जिसके कारण वहां उस पद को ही प्रधानता दी जाती है, अर्थात् विलक्षण चमत्कार जनकता का सामर्थ्य वाक्य घटक किसी पद में ही रहता है, अतः ऐसे स्थलों में पदध्वनि से व्यवहार किया जाता है।

जैसे—पूर्वोक्त उदाहरण में—"**मन्दमाक्षिपति**" इत्यादि में "मन्द" पद में ही विलक्षण चमत्कार जनकता है।

———

द्वितीय आनन

विषय प्रवेश

मङ्गलाचरणम्

चञ्चलाभिश्च गोपीभिर्विद्युद्भिरिव वेष्टितम् ।
वृन्दावनवनश्यामं घनश्यामं नमाम्यहम् ।।
गङ्गाधरप्रसादेन रसगङ्गाधरस्य वै ।
आननमपरं वक्ष्ये, वाग्लवैः सरलैर्मनाक् ।।

रसगङ्गाधर का द्वितीय आनन प्रथम आनन की अपेक्षा विषयवस्तु की विविधता व विवेच्य विषय की गम्भीरता तथा तत्तत् शास्त्रीय सन्दर्भों की संकुलता को देखते हुए अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है । सचमुच इस आनन में साहित्यशास्त्रीय विषयों का तथा तत्सम्बद्ध अन्य शास्त्रीय विषयों का जितना गम्भीर व तलस्पर्शी प्रौढ़ विवेचन में हुआ है, उतना कहीं अन्य साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता है ।

वास्तव में यह आनन न केवल पण्डितराजीय साहित्यशास्त्र विषयक प्रतिभा का ही प्राञ्जल निदर्शन है, अपितु शास्त्रान्तरीय प्रौढ पाण्डित्य का भी एक निर्मल दृष्टान्त है । पण्डितराज का प्रौढ़ प्रतिभा काञ्चन शास्त्रान्तरीयनिकष को प्राप्त कर और भी उज्ज्वल व मनोहर हो जाता है । उपमादि अलंकारों के विवेचन के बहाने से विभिन्न शास्त्रीय विषयों के वृहदारण्य में विचरने वाले "पञ्चानन" के समान पण्डितराज प्रतीत होते हैं । अनेक शास्त्रार्थों के समक्ष विवेचित यह साहित्यशास्त्रीय सन्दर्भ भी यदि कठिन व गम्भीर हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि साहित्यशास्त्र के स्तर को भी पण्डितराज अन्यशास्त्रीय उपनेत्र से देखना चाहते हैं जिसमें किसी प्रकार की न्यूनता की गुन्जाइस न रहे । यह तभी सम्भव है, जबकि उन शास्त्रों की सभी विधाओं का समावेश उक्त शास्त्र में किया जाय, जिसके विषय में पण्डितराज का अनन्यसामान्य योगदान है, तथा अथक परिश्रम है अथवा अलौकिक मेधा का उचित प्रयोग है । इन्हीं सब अशेष विशेषताओं से यह आनन और भी दुर्ज्ञेय तथा गम्भीर हो गया है । अतएव संक्षेप में सरलतया प्रस्तुत आनन का विषयविभाग, तथा विवेच्य वस्तु का ज्ञान करा देना समुचित होगा, जिससे पाठकों को सुगमतया विषय में प्रवेश हो सके ।

प्रथम आनन में काव्यस्वरूप, काव्यकारणता काव्य प्रभेद, रसस्वरूप विवेचन, शब्द व अर्थ गुणों का विवेचन, भावादि के विस्तृतव्याख्यान के साथ साथ असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विवेचन किया गया है। जिसके अन्तर्गत रस भावादि समस्त ध्वनि प्रपञ्च सिमिट जाता है।

द्वितीय आनन में संलक्ष्यक्रमध्वनि पर विचार किया गया है। प्रथम इस ध्वनि के दो भेद किये गये—शब्दशक्तिमूलाध्वनि तथा अर्थशक्तिमूलाध्वनि। शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि वस्तु व अलंकार की अभिव्यञ्जना के विचार से दो प्रकार का होता है।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि पुनः अर्थ के स्वतःसम्भवी तथा कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध होने से उक्त दोनों अर्थों के परस्पर वस्तु तथा अलंकार की अभिव्यञ्जना से आठ भेद वाला होता है, जैसा कि हमने प्रथम आनन की भूमिका में बतलाया है।

तदनन्तर पण्डितराज ने शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के प्रसङ्ग में एक सुन्दर शास्त्रार्थ प्रस्तुत किया है। उक्त ध्वनि में अनेकार्थक शब्द प्रयुक्त होने पर प्रकरणादि के द्वारा नियन्त्रित होकर एक अर्थ ही प्रस्तुत होता है। दूसरा अर्थ अप्रस्तुत कहा जाता है। प्रस्तुत अर्थ अभिधा के द्वारा प्रतिपादित कहा जाता है परन्तु अप्रस्तुत अर्थ व्यञ्जना द्वारा ही अभिव्यक्त होता है ऐसा प्राचीन आलंकारिकों का मत है। उक्त प्रसङ्ग में नव्यों की असहमति दिखाकर, अर्थात् अप्पय्यदीक्षित आदि नये आचार्यों ने उभय प्रस्तुत व अप्रस्तुत अर्थ को (अभिनव युक्ति के द्वारा) अभिधेय ही माना है अर्थात् अभिधा के द्वारा ही गतार्थ दिखलाया है, पण्डितराज ने पुनः अपने प्रबल तर्क से योगरूढि स्थलों में योगार्थ के लिये व्यञ्जना की अनिवार्यता दिखलाई है।

इसके बाद नानार्थस्थल में, नानार्थविषयकशक्ति के नियामक प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित चौदह "संयोगो विप्रयोगश्च" इत्यादि नियामक तत्त्वों का बड़े ऊहापोहपूर्वक वर्णन कर, शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि, उपमा आदि अलंकार ध्वनियों के विषय में पूर्वाचार्यों तथा टीकाकारों से असहमति प्रकट करते हुए, शब्द शक्तिमूलक वस्तुध्वनि तथा, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का विवेचन किया है। उभय-शक्तिमूलक ध्वनि को पण्डितराज ने केवल वाक्यगत ही माना है।

लक्षणामूला ध्वनि के विवेचन के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने लक्षणा के दो भेद दिखलाये हैं। जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था, अर्थात् उपादान लक्षणा व लक्षण-लक्षणा जिनसे क्रमशः अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि व अत्यन्ततिरस्कृत ध्वनि के उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के उभयशक्तिमूलक ध्वनि को छोड़कर और सभी ध्वनियों को पदगत तथा वाक्यगत माना है।

अभिधा

अभिधा के विवेचन के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने न्याय मीमांसा व व्याकरण आदि की मान्यताओं को सामने रखकर, स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा निर्णय किया है। साथ ही साथ अप्पय्यदीक्षित की अभिधाविषयक विचारधारा का भी खूब खण्डन किया है। अर्थ के शब्दगत तथा शब्द के अर्थगत सम्बन्ध विशेष को अभिधा माना है।[1]

लक्षणा

शक्त्यसम्बन्ध को लक्षणा[2] कहते हुये पण्डितराज ने लक्षणा के स्वरूप के व्याख्यान में गम्भीर ऊहापोह किया है। उसके छः भेद स्वीकार किये हैं। रुढि व प्रयोजनवती के भेद से लक्षणा के दो भेद बतलाकर, पुनः प्रयोजनवती के छः भेद किये हैं। गौणी-सारोपा साध्यवसाना—2,तथा शुद्धा—उपादान लक्षणा, लक्षणलक्षणा और सारोपा साध्यवसना,—4। इनमें से उपादानलक्षणा व लक्षणलक्षणा का क्रमशः लक्षणामूलाध्वनि, अर्थान्तरसंक्रमितध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृतध्वनियों में उपयोग होता है। शेष चार लक्षणों का अलंकारों में उपयोग होता है। इस प्रकार पण्डितराज के मत में सब मिलाकर लक्षणा के सात भेद बनते हैं।

गौणी सारोपा लक्षणा का उदाहरण "मुखं चन्द्रः" इसके शब्दबोध प्रक्रिया के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष के रूप में एक विवेचनात्मक गम्भीर शास्त्रार्थ को प्रस्तुत किया गया है जिसमें नवीन तथा प्राचीन मान्यताओं को सामने रख कर प्राचीन मान्यताओं का युक्तिपूर्वक समर्थन किया गया है।

तदनन्तर उपमा से लेकर उत्तरालंकारपर्यन्त 70 अलंकारों का बड़े संरम्भ के साथ विवेचन किया गया है। उपलब्ध ग्रन्थ का करीब दो तिहाई भाग इन्हीं अलंकारों के प्रौढ़ व्याख्यानों में व्यय हुआ है। संक्षेप में रसगङ्गाधर के द्वितीय आनन का विवेच्य विषय विभाग उक्त प्रकार से ही है, पाठक जिसको आगे कुछ विस्तार के साथ देखेंगे।

प्रतिपाद्य विषय

संलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद

ध्वनि का वह भेद जिसमें वाच्य प्रतीति के अनन्तर ही क्रमशः व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य या अनुस्वानसन्निभ ध्वनि भी कहते हैं।

---

1. "शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा।"
2. "शक्त्यसम्बन्धो लक्षणा।"

जैसे घण्टा के अभिघातान्तर उसकी ध्वनि देर तक अनुरणन करती रहती है इसी प्रकार उक्त ध्वनि की भी वाच्य प्रतीति के बाद कुछ विलम्बेन या क्रमशः विभावादि की प्रतीति होने के कारण इसे अनुस्वानोपमात्मा या अनुस्वानसन्निभ ध्वनि भी कहते हैं। यह संलक्ष्यक्रम ध्वनि, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का ही द्वितीय प्रकार है।

उक्त संलक्ष्यक्रमध्वनि भी पुनः दो प्रकार का होता है। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि तथा अर्थशक्तिमूलक ध्वनि। इसमें आनन्दवर्धनाचार्य का कथन इस प्रकार है।

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः॥

(ध्व० 2 उ० 20 कारिका)

"द्वितीयोऽपि द्विविधः, शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च"

(इति लोचनकारः)

विवक्षितान्यपरवाच्य स्वरूप ध्वनि का जो अनुस्वानसन्निभ भेद अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है वह भी शब्दशक्ति व अर्थशक्ति के भेद से दो प्रकार का है। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि भी पुनः वस्तु व अलंकार की अभिव्यञ्जना के द्वारा दो प्रकार का हो जाता है अर्थात् वस्तुध्वनि व अलंकारध्वनि।

अर्थशक्तिमूलकध्वनि के दो भेद होते हैं कविप्रौढोक्ति या कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्ति (पहला कवि या कविनिबद्धवक्ता के द्वारा कल्पित अर्थ, और दूसरा स्वतः सम्भवी, लोक में भी जिस अर्थ की सम्भावना हो) इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य के मतानुसार अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना के व्यञ्जक अर्थ दो प्रकार के माने गये हैं।

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरसम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधः ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः॥

(ध्व० 2 उ० 24 का०)

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ, कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतः सम्भवी द्वितीयः। (वही० वृत्ति में)

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य के मतानुसार अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य-पूर्वोक्त प्रौढोक्ति व स्वतःसम्भवी के भेद से दो प्रकार का होता हुआ, पुनः परस्पर वस्तु व अलंकार की अभिव्यक्ति के द्वारा आठ प्रकार का होता है।

परन्तु आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने अपनी लोचक टीका में कविप्रौढोक्ति व कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति के अलग अलग भेद माने हैं। अतः लोचनकार अभिनवगुप्त के अनुसार अर्थशक्तिमूला ध्वनि के व्यञ्जक पुनः तीन

प्रकार के अर्थ हुए 1—कविप्रौढोक्ति 2 कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति 3 स्वतःसम्भवी, लोचन में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

"प्रौढोक्तीत्यादिना योऽर्थान्तरस्य दीपको व्यञ्जकोऽर्थं उक्तः सोऽपि द्विविधः। न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः यावत्तद्भेदो यो द्वितीयः सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपिशब्दार्थः। प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह—कवेरिति, तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति।"

अभिनवगुप्त के इसी विवरण के आधार पर आगे ध्वनि सम्प्रदायानुयायी मम्मट विश्वनाथ आदि ने भी अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना के बारह भेद माने हैं। कवि प्रौढोक्ति में ही कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति के गतार्थ न होने में इन्होंने कुछ नई युक्ति भी प्रस्तुत की है। इन लोगों का कहना है, जैसे वृद्ध के वक्तव्य से शिशु के वक्तव्य में कुछ विलक्षण चमत्कार मालूम पड़ता है, उसी प्रकार कवि के वक्तव्य से कविनिबद्ध वक्ता के कथन में भी कुछ विलक्षणता मालूम पड़ती है। **"वृद्धोक्ति-विषयाच्छिशूक्तिविषय इव कव्युक्तिविषयात्तन्निवद्धोक्तिविषयोऽधिकतररागप्रकट-कत्वेनाधिकचमत्कारीति द्वयोर्भेदः"** (उद्योत का० प्र० टीका)

परन्तु पण्डितराज आनन्दवर्धनाचार्य के ही व्याख्यान को आदर्श मानकर अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि के केवल आठ भेद ही मानते हैं। वे कविप्रौढोक्ति में ही कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्ति को भी गतार्थ कर देते हैं। कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति व्यञ्जक अर्थ के आधार पर अधिक भेद उक्त ध्वनि के पण्डितराज को अभीष्ट नहीं है। आपके मत में कविप्रौढोक्ति सिद्ध अर्थ तथा कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध अर्थ की एकता ही समुचित है।

वस्तुतः पण्डितराज की दृष्टि में अर्थ के केवल दो ही रूप इष्ट हैं। 1 निसर्गसिद्ध तथा 2 कविकल्पना प्रसूत। वह कविकल्पित अर्थ चाहे फिर कवि द्वारा साक्षात् प्रस्तुत हो, अथवा किसी पात्र विशेष द्वारा प्रस्तुत किया जाय, समान रूप ही है।

मम्मटादि के द्वारा समर्थित कविनिबद्ध वक्तृसिद्धअर्थ का प्रत्याख्यान पण्डितराज निम्न शब्दों में करते हैं—

प्रतिभा निर्वर्तितत्वाविशेषाच्च कवि-तदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्न पृथक् भावेन गणनोचिता, उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः।"

अर्थात् कविकल्पित वक्ता के द्वारा कल्पित अर्थ को भी यदि पृथक् से व्यञ्जक मानकर उसके आधार पर भी यदि भेदों की गणना की जाएगी, तब तो कविकल्पित वक्ता से कल्पित वक्ता आदि की भी फिर अलग से गणना करनी पड़ेगी, जिसमें अनन्त अनन्तभेदों की कल्पना का गौरव दोष या अनवस्था दोष

आ जायेगा, अतः लोकोत्तर वर्णनानिपुणत्व लक्षण जो प्रथम कविकल्पित अर्थ है, उसी में कविनिबद्ध वक्तृ कल्पित अर्थ का भी समावेश कर लेना उचित है। इस प्रकार से यह संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य नामक ध्वनि सब मिलाकर दश प्रकार का है। दो भेद शब्द शक्तिमूलक ध्वनि के, तथा आठ भेद अर्थ शक्तिमूलकध्वनि के। (एक भेद उभय-शक्ति अर्थात् शब्दार्थ शक्तिमूलक ध्वनि का होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा)।

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के विषय में विवाद

शब्दशक्तिमूला ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ नानार्थक शब्द का एक अर्थ प्रकरणादि द्वारा नियन्त्रित हो जाता है, और अन्य अर्थ अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ व्यञ्जनाव्यापार द्वारा गम्य होता है। काव्य प्रकाश में इसका उदाहरण यह पद्य है—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशान्ततेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥
(द्वि० उ०)

इस पद्य में नानार्थक शब्दों द्वारा राजा का वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—भद्रात्मनः—सुन्दर आत्मा वाले, किसी राजा का हाथ दान करने के लिए (संकल्प में) ग्रहण किये गये जल से हमेशा सुन्दर हो रहा है और इस राजा का शरीर भी शत्रुओं से अनभिभवनीय है, बहुत बड़े वंश में इसने ख्याति प्राप्त की है, (अपनी व अपने राज्य की सुरक्षा के लिए) जिसने बाणों का अच्छा संग्रह कर रखा है, शत्रु निवारक यह राजा अगाध मान वाला भी है—यह राजविषयक अर्थ प्रकरण प्राप्त है, इसके अतिरिक्त इन्हीं शब्दों से अप्राकरणिक राजविषयक अर्थ भी प्रतीत होता है, जो इस प्रकार है--जिस उत्कृष्ट हाथी का (कर) शुण्डादण्ड निरन्तर मदजल से सुशोभित हो रहा है, यह हाथी भद्र जातीय है, तथा अत्युच्च होने से मुश्किल से अरोहण होता है, विशालवंश (बाँस) की तरह जिसका पृष्ठ भाग उन्नत है, मद के कारण भौंरे जिसके गण्डस्थल पर मंडरा रहे हैं, और यह अनुद्धत धीर गति से गमन करता है। इस पद्य में जब प्रकरणवश राजपक्ष वाला अर्थ नियन्त्रित हो जाता है, तो पुनः हाथी पक्ष वाले अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार से होती है। उक्त द्वितीय अर्थ की प्रतीति में ही में प्रधानतया निमित्त या मूल ये नानार्थक शब्द ही हैं अन्यथा उक्त शब्दों का परिवर्तन या तत्पर्यायवाचक शब्दों के रखने पर भी उक्त द्वितीयार्थ जो कि अपस्कृत है, प्रतीत नहीं हो सकता है। उक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति में इन शब्दों के परिवृत्यसह होने से यह शब्दशक्तिमूलक ध्वनि है।

साथ ही साथ उक्त प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों में कहीं असङ्गति या वाक्यभेदापत्ति न हो जाय इसलिए इन अर्थों में परस्पर उपमानोपमेय भाव की

कल्पना की गई है, यह उपमानोपमेय या उपमा भी पर्यन्त में ध्वन्यमान ही होती है।

इस प्रसङ्ग में आलंकारिकों में नानार्थक शब्द वाले स्थलों में बहुत विवाद है। कुछ लोग प्रकृताप्रकृत उभयविध अर्थ को अभिधाव्यापार का ही विषय मानते हैं, फलतः उक्त दोनों अर्थों के बीच ध्वनि न मानकर (श्लेषादि) अलंकार ही मानते हैं।

नानार्थ शब्दों के आश्रय से प्रतीत होने वाले अनेकविध अर्थों का प्रतिपादन अलंकारशास्त्र में दृष्टिगोचर होता है जिसको हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं।

(1) नानार्थक शब्द जन्य श्लेषालंकार जो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है शास्त्रान्तरों में भी जिसका उपयोग प्रकारान्तर से किया गया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि "अर्थभेदेन शब्दभेदः" इस न्याय से श्लेष स्थल में दो या अनेक शब्द रहते हैं, जिनकी तन्त्र द्वारा आवृत्ति की जाती है, इस प्रकार क्रम से द्वितीय या अन्य अर्थों का भी बोध हो जाता है।

अन्य लोगों का कथन है कि "एक वृन्तगतफलद्वयन्यायेन" अर्थात् एक ही शाखा में जैसे दो फल लटके रहते हैं, पर शाखा या टहनी एक ही रहती है, इसी प्रकार श्लेष स्थल में भी शब्द एक ही रहता है पर अर्थ दो या अनेक रहते हैं। यहाँ विशेषण या विशेष्य दोनों ही श्लिष्ट होते हैं।

(2) दूसरा स्थल है, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति आदि अलंकारों का। इन अलंकारों में भी विशेषण या विशेष्य की विशेषता से प्रकृताप्रकृत अनेक अर्थों की प्रतीति होती है। समासोक्ति अलंकार में प्रकृत पदार्थ के केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं, ये विशेषण प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों अर्थों में अन्वित होते हैं। यहाँ प्रकृत वृत्तान्त पर अप्रकृत के व्यवहार का समारोप होता है। अप्रकृत अर्थ व्यङ्ग्यार्थ ही होता है।

अप्रस्तुत प्रशंसा में भी एक अर्थ वाच्य होता है और दूसरा व्यङ्ग्य, पर यहाँ अप्रकृत अर्थ वाच्य होता है, और प्रकृत अर्थ व्यङ्ग्य होता है। यहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थपरक होता है।

पर्यायोक्ति में कवि किसी अन्य, विच्छित्ति से ही अभिधान करता है, यहाँ वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ दोनों ही प्रस्तुत होते हैं, व्यङ्ग्यार्थ ही यहां कथन किसी असामान्य प्रकार से होता है।

(3) तृतीय प्रकार है ध्वनिवादियों का नानार्थक अप्रकृतार्थ के विषय में शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि का पक्ष। इसके मत में प्रकृताप्रकृत विषयक

नानार्थक काव्य के प्रसङ्ग में द्वितीय अप्रकृत अर्थ व्यञ्जनावृत्ति गम्य ही होता है।

दर्शन जगत् में विशेषकर नानार्थक शब्दों के विषय में बहुत विवाद या पुष्कल विचार नहीं हुआ है। क्योंकि नानार्थविषयक प्रकृत या अप्रकृत उभयविध अर्थ को वे लोग भी श्लेष से या तन्त्रावृत्ति द्वारा गतार्थ कर लेते हैं। परन्तु उन स्थलों के लिए जहाँ नानार्थक शब्दों के प्रकृत या अप्रकृत अर्थ में सन्देह हो जाता है, कि किस अर्थ को ग्रहण किया जाय, वक्तृतात्पर्य या प्रकरणादि ज्ञान के द्वारा ये लोग अपने अभीप्सित अर्थ का अनुसन्धान कर लेते हैं।

मीमाँसा दर्शन में भाट्टमत में तात्पर्यावृत्ति द्वारा ही पदार्थसंसर्ग तथा वाक्यार्थबोध सम्पन्न होता है, कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद में इस बात का संकेत भी किया है—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद् बोधकं परे॥

"अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामाद् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्या नाम वृत्तिः। तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वय-वादिनां मतम्"॥

वाक्यरूप में व्यवहृत पद अभिधा द्वारा भले ही अपने अपने अर्थ का प्रतिपादन करें, परन्तु परस्पर सम्बन्ध या संसर्गान्वित अर्थ का प्रतिपादन तो वाक्यवर्ती पदों की तात्पर्यावृत्ति ही करती है। इसी तात्पर्यावृत्ति द्वारा मीमांसक नानार्थक शब्द विषयक अप्रकृत व्यङ्ग्यार्थ का भी अवगम कर लेते हैं। क्योंकि सभी पौरुषेया-पौरुषेय सभी वाक्यों को कार्यपरक मान लेते हैं, इसी प्रकार इन काव्यवाक्यों को भी वे निरतिशयसुखास्वादरूप कार्यपरक मान लेते हैं, "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्याय से काव्यशब्द का उच्चारण रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अवबोध के लिए है, तो काव्य शब्दों का अभिप्राय भी रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ ही है, फिर वह अर्थ चाहे अप्राकरणिक अलंकारादि ध्वनि हो या वस्तुरूप, सभी प्रकृताप्रकृताश्रित जितना भी रसादिरूपप्रतीयमान है, वह सब तात्पर्यावृत्ति द्वारा ही प्रकाशित होगा।

अद्वैत वेदान्त के मतानुसार भी नानार्थ शब्दों के ऐसे संदिग्ध अर्थ प्रकरणाधीन तात्पर्य ज्ञान के द्वारा निर्णीत होते हैं। भोजन के प्रसङ्ग में "सैन्धवमानय" इत्यादि वाक्य जब लवण लाने अर्थ की प्रतीति की इच्छा से समुच्चरित होंगे तो, तदर्थ प्रतीति-जनन-योग्यता स्वरूप तात्पर्य विशेष का ही बोध करायेंगे, अर्थात् उस प्रसङ्ग में अश्वादि की प्रतीति न कराकर, लवण पदार्थ की ही प्रतीति करायेंगें। वेदान्तपरिभाषा के आगम परिच्छेद में इसका निर्वचन इस प्रकार किया है, "तथा च यद्वाक्यं यत् प्रतीतिजननस्वरूपयोग्यत्वे सति यदन्यप्रतीतीच्छया नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमिति इत्युच्यते।"

अर्थात् जो वाक्य जिस अर्थ की प्रतीति की स्वरूप योग्यता रखता हो, और उससे भिन्न अर्थ बोध की इच्छा से उच्चारण नहीं किया गया हो, तो वह वाक्य उस अर्थ के संसर्गपरक माना जायेगा। "एवं च सैन्धवमानयेति वाक्यमश्वप्रतीति-जननयोग्यमपि भोजनप्रकरणे प्रयुक्तत्वाल्लवणान्यप्रतीतिच्छयाऽनुच्चरितत्वेन नाश्व-संसर्गज्ञानजनकमिति भावः।" (अर्थदीपिका टीका आगमपरिच्छेद में)

इस प्रकार वेदान्त में भी प्रकरणज्ञानाधीन तात्पर्यज्ञान से ही अनेकार्थक या संदिग्धार्थक पदार्थों का विवक्षित अर्थ में निर्णय हो जाता है।

न्यायदर्शन भी इस प्रकार के नानार्थक स्थल में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के विषय में "तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूप" तात्पर्य को ही निर्णायक मानता है। और प्रकरणज्ञान को तात्पर्यग्राहक मानता है। तर्कसंग्रह की दीपिका टीका के शब्द परिच्छेद में इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है।

"तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्, तात्पर्यज्ञानञ्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः, नानार्थानुरोधात्, प्रकरणादिकं तात्पर्यग्राहकम्।"

नीलकण्ठ प्रकाशिका टीका में उक्त मत के आशय को इस प्रकार समझाया है—"इदं सैन्धवपदं लवणबोधेच्छयोच्चरितम्, भोजनप्रकरणे उक्तत्वात् इति रीत्या गृहाण"। इस प्रकार के अनुमानाधीन तात्पर्यज्ञान द्वारा नानार्थक पद ोंके विवक्षित अर्थ का निर्णय करते हैं।

वस्तुतः नैय्यायिक लोग चाहे शब्दशक्तिमूलक अप्राकरणिक अर्थ हो चाहे अर्थ-शक्तिमूलक कोई भी व्यङ्ग्यार्थ हो, वे अनुमान द्वारा ही सभी प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों को गतार्थ मानते हैं, वस्तु रसभावादि व्यङ्ग्यार्थों के लिए वे अलग से व्यञ्जना व्यापार को नहीं मानते हैं। "गङ्गायां घोषः" इत्यादि प्रयोजनवती लक्षणास्थल में वे शैत्यपावनत्वातिशय प्रतीतिरूप व्यङ्ग्य को भी वे लक्षणासाम्राज्य से ही गतार्थ कर लेते हैं।

"गङ्गायां घोषः" इत्यादौ तु शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीर प्रतीतिरपि लक्षणा साम्राज्यादेवेति।" (नीलकण्ठ प्रकाशिका टीका)

गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवा।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्॥

इत्यादि स्थलों में भी हे प्रिय "तव गमनोत्तरं मम प्राणनाशो भविष्यति, अतो न गन्तव्यम्", इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों को भी वे लोग "इयं मदीयगमनोत्तरकालप्राण वियोगवती, विलक्षणशब्दप्रयोक्तृत्वात्" इत्यादि अनुमान से ही गतार्थ कर लेते हैं।

परन्तु तर्कसंग्रहदीपिका के टीकाकार नीलकण्ठ शास्त्री जी ने अपनी

नीलकण्ठ प्रकाशिका टीका में पुनः सहृदयों के अनुभव के आधार पर व्यञ्जनावृत्ति की भी स्वीकृति दी है। अनेक शब्दों में वह "यदि पुनरानुभविकलोकानां स्वरसवाही शब्दादमुमर्थं प्रत्येमि, इत्यनुभवः, तदा वैयाञ्जनिकी प्रतीतिर्गीर्वाणगुरुणाप्यशक्यवारणेति व्यञ्जनासिद्धिः, निष्प्रत्यूहैवेति मन्तव्यम्"।

नानार्थक शब्दों के शक्ति के विषय में आनन्दवर्धनाचार्य की सम्मति—

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि के वर्णन प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने पूर्वपक्ष के रूप में एक आपत्ति प्रदर्शित की है—

"ननु शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते, तदिदानीं श्लेषस्य विषय एव अपहृतः स्यात्"।

अर्थात् नानार्थक शब्दों के विषय में शब्दशक्ति के द्वारा जहाँ कोई दूसरा अर्थ प्रकाशित होता है वहाँ यदि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानी ही जायेगी तब तो श्लेषालंकार के लिए कोई विषय ही नहीं रह जायेगा, अर्थात् ऐसे नानार्थक स्थलों में जहाँ श्लेषालंकार से ही दोनों अर्थों की प्रतीति होती है, यदि इन सभी जगहों पर आप शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानते जायेंगे तब तो श्लेष के लिए कोई जगह ही नहीं रह जायेगी।

आनन्दवर्धन स्पष्ट रूप से समाधान देते हैं कि जहाँ सामग्री महिमा के सामर्थ्य से किसी अलंकार की अभिव्यक्ति हो (न कि वस्तुमात्र की) वहाँ शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि होगी।

आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥

यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्द शक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेशः यथा—येन ध्वस्तमनोभवेन.....त्वां सर्वदोमाधवः। इत्यादि

वस्तुद्वय अर्थात् प्राकरणिकाप्राकरणिक दोनों अर्थों के शब्दशक्ति से प्रकाशित होने पर तो श्लेषालंकार ही होता है—जैसे "येन ध्वस्तमनोभवेन" इत्यादि पद्य में "सर्वदोमाधवः" इत्यादि पदों से उमाधव और माधव अर्थात् शिव व विष्णु परक दोनों ही अर्थ श्लेषालंकार से ही प्रतीत हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन को शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि में अलङ्कारमात्र का व्यङ्ग्यत्व अभीष्ट है, अप्राकरणिक अर्थ का नहीं, इसके विपरीत भट्टोद्भट्ट आदि प्राचीन आलंकारिक शब्दशक्ति द्वारा अलङ्कारान्तर की प्रतीति में भी श्लेषालंकार ही मानते थे, इस स्थिति में आनन्दवर्धन को शीघ्र ही

कोई व्यवस्था बनानी थी, जिससे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि व श्लेष का विषय विभाग निरापद रहे, तब उन्हें "आक्षिप्त एवालंकारः" इत्यादि कारिका द्वारा स्पष्टीकरण करना था। अर्थात् जहाँ शब्दशक्ति के सामर्थ्य या सामग्री महिमा के द्वारा आक्षिप्त वाच्य व्यतिरिक्त कोई अलंकारान्तर प्रकाशित होता है, तो वहाँ शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि ही मानी जाएगी और जहाँ शब्दशक्ति के द्वारा साक्षात् वाच्यालंकार की प्रतीति होती है, वह सब श्लेष का ही विषय है।

तदयमर्थः—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलंकारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः।

अभिनवगुप्त ने इस प्रसङ्ग में केचित्, अन्येतु, एकेतु, इतरेतु, करके चार मत किन्हीं प्राचीन आचार्यों के प्रस्तुत किये हैं, परन्तु यह ठीक मालूम नहीं पड़ता कि उन्हें इनमें से कौन सा मत सम्मत है। ग्रन्थकार आनन्दवर्धनाचार्य के मत से भी वे सम्मत हैं या नहीं इस प्रकरण की लोचन टीका से स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इस प्रसङ्ग में उन्होंने तटस्थरूप में सीधे शब्दों में ग्रंथकार के शब्दों की व्याख्या की है अपनी ओर से पक्ष या विपक्ष में कोई साधक या बाधक युक्तियों को प्रस्तुत नहीं किया है। अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीनों के अन्तिम "इतरे तु" वाले पक्ष को इन्होंने कुछ उपयुक्त समझा हो, बाद में अप्पय्यदीक्षित व पण्डितराज ने भी उक्त इतरे तु वाले चतुर्थ मत का अपने अपने सिद्धान्तों को सजाने के लिए काफी मात्रा में उपयोग किया है। लोचन में जो इस प्रकार निर्दिष्ट है—

"इतरे तु द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयतः एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रुपणा सा तावत् भात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः, कस्याश्चिदप्यनाशङ्कनीयत्वात्, तस्यां च द्वितीया शब्दशक्तिमूलम्, तथा बिना रुपणाया, अनुत्थानात् अतएवालङ्कारध्वनिरयमिति युक्तम्। वक्ष्यते च "असम्बद्धार्थाभिधायित्वं या प्रसाङ्क्षीत्" इत्यादि। यह मत भी स्पष्टतः तो नानार्थक स्थल में द्वितीयार्थ को भी अभिधा शक्ति के ही द्वारा प्रसूत मानता है परन्तु परस्पर अर्थों की असम्बद्धता दूर करने के लिए जिस अलंकारांश या "रुपणा" को स्वीकार किया जाता है, यह अंश शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि का ही विषय है।

दीक्षित ने उक्त मत के पूर्वभाग को शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के विवेचन प्रसङ्ग में ग्रहण किया, और पण्डितराज ने इस मत के उत्तरभाग को ग्रहण कर शब्दशक्तिमूलक उपमादि अलंकार ध्वनि में रूपक या रूपणा के उपर ही अधिक जोर दिया है।

इन मतमतान्तरों के बीच अभिनवगुप्त की तटस्थता इस बात का संकेत करती है कि अधिक अंश में उन्हें भी नानार्थक स्थल में अप्रकृतार्थ का व्यङ्ग्य होना ही पसन्द है, अतः ऐसे प्रसङ्गों में अप्रकृतार्थ की व्यक्ति शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि द्वारा ही होती है। जिसका स्पष्ट निर्देश हमें मम्मट के काव्यप्रकाश में मिलता है, क्योंकि आनन्दवर्धन से भी कहीं अधिक आश्रय मम्मट ने अभिनवगुप्त का लिया है। यह बात हमें अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनि के बारह भेदों के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है कि अभिनव के निर्देश से ही मम्मट को भी ये भेद अभीष्ट है, अन्यथा तो वे भी आनन्दवर्धनाचार्य का अनुसरण कर पण्डितराज की तरह केवल आठ भेद ही मानते हैं।

"अवाच्यार्थधीकृद्व्यावृतिरञ्जनम्" इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि मम्मट को भी अप्रकृतार्थ का व्यङ्ग्यत्व स्वीकार्य है। इसके उदाहरणस्वरूप "भद्रात्मनो दुरीधरोहतनोः" इत्यादि पक्ष में—राजपक्ष प्रकृत है, हस्तिपक्ष अप्रकृत है, मम्मट के मत में हस्तिपक्ष वाला अर्थ तथा हस्ति व राजा में परस्पर उपमानोपमेयभाव भी ये दोनों ही व्यङ्ग्य हैं।

काव्यप्रकाश के प्रसिद्धटीकाकार गोविन्द ठक्कुर की भी यहाँ स्पष्ट सम्मति है कि उक्त पद्य में गजवाला अर्थ व्यञ्जना बोध्य ही है, प्रदीप टीका में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

"अत्र प्रकरणेन "भद्रात्मन" इत्यादिपदानां राशि तदन्वययोग्ये चार्थेऽभिधा-नियन्त्रणेऽपि गजस्य तदन्वयायोग्यस्य चार्थस्य व्यञ्जनयैव प्रतीतिः।"

प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का व अर्थश्लेष का परस्पर भेद भी प्रदर्शित किया है, उक्त ध्वनि का समावेश अर्थश्लेष में कदापि नहीं हो सकता है, अर्थश्लेष वहाँ होता है जहाँ कवि तात्पर्य दोनों अर्थों में हो, अर्थात् जहाँ दोनों अर्थ प्रकृत हों, पर जहाँ कवि विवक्षित अर्थ एक हो। विशिष्ट सामग्री के कारण या शब्द शक्ति सामर्थ्य से (अप्रकृत) द्वितीयार्थ की प्रतीति भी होती हो तो वह व्यञ्जनाव्यापार के ही कारण हो सकती है, और वह अप्रकृतार्थ व्यङ्ग्य ही होगा। इसका उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

"ननूपमानोपमेयभावकल्पनाच्छब्दश्लेषतो भेदेऽपि "योऽसकृत् परगोत्राणाम्" इत्याद्यर्थश्लेषतः कुतोऽस्य भेदः। अथश्लेषे चोर्थभयत्र शक्तिरेव न व्यञ्जनेति चेदुच्यते-यत्रोभयोरर्थयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः, यत्रत्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति" (प्रदीप)

नानार्थक शब्दशक्ति के विचार के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में प्रथममत में "तत्र केचिदाहु" कहकर मम्मट के मत को इस प्रकार उपस्थित किया है—

अनेकार्थक शब्दों का श्रवण होने पर, उक्त अनेकार्थ शब्द वाले काव्य से यद्यपि प्रथमतः सभी अर्थ स्मृतिपथ में आते हैं, क्योंकि कोष आदि से उस पद का संकेत सामान्यरूप से सभी अर्थों में ज्ञात हुआ करता है, पर प्रकरण आदि के सहयोग से विवक्षित किसी एक ही अर्थ में नियन्त्रित होता है। इसके बाद यदि द्वितीयार्थ या अप्राकरणिकार्थ स्मृति होती है तो वह व्यञ्जना व्यापार द्वारा ही होती है, क्योंकि "शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावः" इस नियम के अनुसार एक बार पदार्थोपस्थिति कराकर अभिधा व्यापार विरत हो जाता है। तब द्वितीयार्थ का जो उन्मेष होगा, वह बिना शब्द व्यापार के तो हो नहीं सकता हैं, अभिधा लक्षणादि व्यापार तो उक्तार्थ बोध के लिए प्रवृत्त हो नहीं सकते हैं, तब प्रतिभात उक्त द्वितीयार्थ किस व्यापार का विषय बनेगा, सिवाय व्यञ्जनावृत्ति के। यदि इस विषय कोई यह पूछे कि पहिले जिस प्रकार प्रथम उपस्थित अर्थ को प्रकरणादि ज्ञानाधीन तात्पर्य ज्ञान ने नियन्त्रित कर दिया था, तो उसी प्रकार इस द्वितीयार्थ को भी प्रकरणादि-ज्ञान ही नियन्त्रित कर लेगा, अतः द्वितीयार्थ की प्रतीति भी अभिधा व्यापार के ही द्वारा क्यों न मान ली जाय, इसका समाधान यह है कि प्रकरण आदि वैयाञ्जनिक ज्ञान या स्मृति को नियन्त्रित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि व्यञ्जना का प्रादुर्भाव ही ऐसे (चमत्कार पूर्ण) अर्थों के स्मरण कराने के लिए हुआ है। अथवा व्यञ्जना-व्यापार जन्य ज्ञान को उत्तेजक मान लेने पर भी कोई क्षति नहीं है। "व्यक्ति ज्ञानस्योत्तेजकत्व कल्पनाद्वा" इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर तो काव्यप्रकाश में मम्मट कहते हैं—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगापरवाच्यार्थ धी कृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥

"संयोग" आदि अभिधानियामक तत्त्वों के द्वारा अनेकार्थक शब्दों की वाचकता शक्ति या अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर, बाद में उन्हीं शब्दों से जो अप्राकरणिक अर्थ का बोध होता है, उसमें कारण एकमात्र व्यञ्जना व्यापार ही है।

संक्षेप में नानार्थक स्थलों में जहाँ "किस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है" इत्यादि का प्रकरणादि से निश्चय करने के बाद, अर्थात् प्राकरणिक अर्थ के नियन्त्रित हो जाने पर, इसके बाद यदि अप्राकरणिक अर्थ की स्फूर्ति किन्हीं सहृदयों को होती हो तो ऐसे स्थल शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि के ही हैं। परन्तु जहाँ उभय अर्थों में कवि का तात्पर्य हो अर्थात् उभय अर्थ प्रकरणप्राप्त या प्रकृत में, अथवा उभय अर्थ अप्रकृत हो वहाँ श्लेषालंकार होता है। कहीं कहीं तो "अर्थभेदेन शब्दभेदः" के न्याय से क्रमशः दोनों शब्दों की तंत्रावृत्ति की जाती है। जहाँ दोनों अर्थों की परस्पर अन्वय के बिना उपपत्ति न हो सके, विशेष्य अश्लिष्ट हो "विद्वान् मानस

हंस" इत्यादि स्थलों में श्लिष्ट परम्परित रूप होगा। यही मम्मटाचार्य का निर्णय है।

अन्य ध्वनिवादियों का विचार

रस गङ्गाधर में "अपरे त्वाहुः" कहकर उक्त मत को उपस्थित किया गया है। इस मत को ध्वनिकारानुयायी मत कहा गया है यद्यपि पूर्वमत में भी ध्वनिकारानुयायियों का ही मत प्रदर्शित किया है। काव्य प्रकाश की "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते" इत्यादि कारिका भी उद्धरणरूप में प्रस्तुत की गई है जिससे स्पष्ट ही मालूम पड़ता है कि पूर्वमत काव्यप्रकाशकार मम्मटादिकों का ही है, फिर किञ्चित् पूर्वमत से अन्तर दिखा कर द्वितीय मत को भी "ध्वनिकारानुयायिनो वर्णयन्ति" कहकर दिखलाया है। सम्भवतः ध्वनि सिद्धान्त के व्याख्यापरक ग्रंथों का या टीकाकारों का यह मत हो।

इन आचार्यों का कथन है कि अनेकार्थक शब्दों के श्रवणान्तर कोषादि से प्रथम तो सभी प्रकार के अर्थों की उपस्थिति हो जाती है। पुनः प्रकरणादि के पर्यालोचन के द्वारा किसी एक अर्थ में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय किया जाता है। जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य होता है प्रथम उसी अर्थ की उपस्थिति या स्मृति भी होती है। अतः इस मत में न तो एकार्थमात्र स्मृति की अपेक्षा है, और न ही प्रकरणादि ज्ञान द्वारा अपरार्थ के प्रतिबन्ध की आवश्यकता है, क्योंकि जैसे किसी जगह पर देवदत्त व यज्ञदत्त दोनों बैठे हैं, वहाँ यदि हमारा काम सिर्फ देवदत्त से है, तो हम देवदत्त को ही अपने पास बुलायेंगे, पर यज्ञदत्त को उस स्थान से अन्यत्र धकेल तो नहीं देंगे। हमारे पास न सही पर उस स्थान पर तो यज्ञदत्त की भी स्थिति रहेगी ही, ठीक इसी प्रकार नानार्थक शब्द द्वारा यदि अनेकार्थ की उपस्थिति होती है, तो प्रकरणादि द्वारा वक्ता के तात्पर्य विषयीभूत अर्थ का अभिधा व्यापार द्वारा ग्रहण हो जाने पर भी, द्वितीय अर्थ जो कि वक्ता का तात्पर्यविषयीभूत नहीं है या अप्राकरणिक हैं, वह भी उसी शब्द से उपस्थित हुआ है, तब किस व्यापार का विषय बनेगा अतात्पर्य विषयीभूत यह अर्थ शक्तिजन्य तो हो नहीं सकता है, क्योंकि शक्तिजन्य बोध में तात्पर्य निर्णय को कारण माना है। व्यञ्जना व्यापार में तो तात्पर्यज्ञान के कारणता की भी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः यह प्रतीयमान द्वितीय अर्थ व्यञ्जना व्यापार का ही विषय माना जायेगा। यद्यपि पूर्वमत में सम्मत "विशेषस्मृतिहेतवः" अर्थात् एकार्थमात्रस्मृति, और संयोगादि द्वारा अपरार्थ की प्रतिबन्धकता विशेष में विरोध आता है, परन्तु उक्त दोनों नियमों का क्रमशः विशेषविषयक तात्पर्य निर्णय तथा शाब्दबोध में उक्त तात्पर्य की अनुकूलादि अर्थ कर लेने से उन आचार्यों के ग्रंथों से किसी प्रकार की असङ्गति नहीं होती है।

ध्वनिकारानुयायियों में अप्पय्यदीक्षित भी हैं। बल्कि इस प्रसङ्ग में तो दीक्षित जी ध्वनिकार के कदम से कदम मिलाये हुये हैं, पर पण्डितराज ने उक्त सन्दर्भ में दीक्षित जी का स्मरण नहीं किया सम्भवतः इस सन्दर्भ का दीक्षित जी का सिद्धान्त पण्डितराज को भी किसी अंश में मान्य है। अन्यथा वे कुछ न कुछ जरूर कहते। अप्पय्यदीक्षित को नानार्थशब्दशक्ति विषयक यह मम्मटादि का सिद्धान्त मान्य नहीं है। वे प्रकताप्रकृतार्थ प्रतीति में भी श्लेषालंकार को ही मानते हैं। आपके मतानुसार उभयविध अर्थ शक्ति (अभिधा) से ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि अप्रकृतार्थ में भी संकेत पाया जाता है। केवल ऐसे स्थलों में उपमानोपमेय भाव (उपमा) ही व्यङ्ग्य होता है। कुवलयानन्द में श्लेषालंकार प्रकरण में—

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुलैः करैः॥ इति

चन्द्र वर्णन के प्रकरण में अप्रकृत राज वर्णन रूप अर्थ को यद्यपि प्राचीन लोग शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानते हैं। परन्तु दीक्षित जी प्रकृताप्रकृतार्थ में श्लेषालंकार ही मानते हैं।

"यदत्र प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणे शब्दशक्तिमूलध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चः, तत् प्रकृताभिधानमूलकस्योपमादेरलंकारस्य व्यङ्ग्यत्वाभिप्रायम्, नत्वप्रकृतार्थस्यैव व्यङ्ग्यत्वाभिप्रायम्" इत्यादि।

पण्डितराज ने बड़े संरम्भ के साथ प्राचीनों के दोनों मतों का खण्डन किया है। उक्त दोनों प्रथम व द्वितीय मत का सुन्दर युक्तियों से खण्डन कर, बाद में ध्वनिसम्प्रदाय की पुरानी मान्यता की मर्यादा के लिए किन्हीं युक्तियों से उसका मण्डन भी किया है।

प्रथम मत वालों के विषय में पण्डितराज का यह प्रश्न है कि, आप जो अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थों में प्रकरणादि द्वारा एकार्थमात्र स्मृति मानते हैं, यह क्यों? तत् पद विषयक संस्कार व उद्बोधक के रहने पर स्मरण का न होना असम्भव सा है। यदि अनेकार्थक शब्द से प्रकरणादि द्वारा एक ही अर्थ का स्मरण होता तो "पयो रमणीयम्" पय सुन्दर है, ऐसा किसी प्रकरणज्ञ के कहने पर, अन्य व्यक्ति जो उक्त प्रकरण से अपरिचित हैं, उक्त प्रकरणज्ञ वक्ता के तात्पर्य के विरूद्ध जलादि की रमणीयता समझता है, तो प्रकरणज्ञ उसे यह समझाता है कि यहां पयः का अर्थ दूध है, न कि जल। यदि प्रकरणज्ञ को "पयस्" शब्द से द्वितीय जल-रूप अर्थ उपस्थित ही नहीं होता तो वह जलार्थ का निषेध कैसे करता, अतः प्राचीनों का यह कहना सरासर गलत है कि अनेकार्थ शब्दों में प्रकरणादि के द्वारा किसी एक ही अर्थ की उपस्थिति है, उभयार्थों की उपस्थिति अनुभव सिद्ध है।

द्वितीय मत में जो वक्तृतात्पर्य निर्णय को कारण मानकर प्राकरणिक अभिधेय अर्थ का समर्थन किया गया है, वह भी संगत नहीं है ; क्योंकि अभिधेय तथा अनभिधेय किसी भी अर्थबोध में वक्ता के तात्पर्य को कारण मानना अनुचित है। यदि ऐसा कार्य-कारणभाव माना जायेगा तो शुकादि पक्षियों के द्वारा उच्चरित वाक्य से अर्थबोध नहीं होगा। क्योंकि शुकादि पक्षी तो किसी तात्पर्य विशेष से वाक्य का उच्चारण नहीं करते उन्हें तो जिस किसी प्रकार भी शब्द रटा दिये जायेंगे, वैसा ही उच्चारण करेंगे, परन्तु श्रोता को उनके वाक्य से भी अर्थबोध तो होता ही है। तब क्या तात्पर्य निर्णय का कहीं भी कोई उपयोग ही नहीं है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वक्ता के तात्पर्य का उपयोग अर्थ बोध में नहीं होता है, अपितु बोद्धा की प्रवृत्ति में उसका उपयोग होता है। अनेकार्थक शब्दों के अर्थात् "सैन्धवमानय" इत्यादि शब्दों के अनेक अथों को समझकर भी, बोद्धा केवल उसी अर्थ में प्रवृत्त होता है, जिसमें वक्ता का तात्पर्य रहता है, इस प्रकार अनेकार्थक स्थल में शब्द के सभी प्राकरणिक व अप्राकरणिक अर्थों का बोध अभिधा से ही मानने में कोई हर्ज नहीं है।

यदि वक्तृ तात्पर्यज्ञान व बोधव्य के प्रतिभादि विशेष को कारण मानकर अप्राकरणिक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति मानी भी जाय, तब क्या सभी जगह नानार्थक स्थलों में व्यञ्जना का उल्लास होता है, या कहीं कहीं, सर्वत्र व्यञ्जना का उल्लास मानने पर तो तात्पर्य ज्ञान की कारणता का फिर कोई मूल्य नहीं है। यदि यह कहा जाय कि शक्तिजन्य ज्ञान में एकत्र नियमन हेतु तात्पर्य को कारण माना गया है, तभी उक्त अर्थ की प्रथमतः उपस्थिति होती है, अन्यथा तो प्राकरणिक अर्थ की तरह अप्राकरणिक अर्थ की भी प्रथम उपस्थिति हो जाय, अतः प्राकरणिक अर्थ की प्रथम उपस्थिति हेतु तात्पर्य ज्ञान को कारण मानना समुचित ही है। तो यह भी पक्ष उचित नहीं है। श्लेषालंकार प्रधान काव्य में जिस प्रकार दोनों अर्थों की उपस्थिति हो जाती है, उसी प्रकार शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमध्वनिकाव्य में भी उभयविध प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति संस्कार व तद्बोधक सामग्री के बल से हो जायेगी।

इस प्रकार नानार्थक स्थलों में भी एकार्थ के नियमन हेतुभूत तात्पर्यज्ञान की शिथिलता में अतात्पर्य विषयीभूत अप्राकरणिक अर्थ की भी उपस्थिति अभिधा शक्ति के द्वारा ही हो सकती है, इसके लिए व्यञ्जना को मानना कोई युक्तिसङ्गत नहीं है।

नानार्थक स्थलों में यह अप्राकरणिक अर्थ यदि बाधित न हो, तो तभी अभिधा व्यापार द्वारा बोधित हो सकता है, परन्तु जहाँ यह अर्थ वहिकरणक सेक की तरह बाधित होता है, जैसे—**"जैमिनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः"** इत्यादि

बाधित जुगुप्सित अर्थ (जिह्वा में मल धारण रूप द्वितीयार्थ) अभिधाव्यापार का विषय कैसे होगा ! अतः ऐसे स्थलविशेष के लिए तो, अर्थात् उस बाधित अर्थ के बोध के लिए वहाँ व्यञ्जना व्यापार मानना ही पड़ेगा, क्योंकि यह नियम है कि व्यञ्जनाजन्य बोध के प्रति बाधबुद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती है ।

परन्तु पण्डितराज इस पक्ष को भी अपने तर्क से निरस्त कर देते हैं । उनका कहना है कि यदि ऐसे बाधित अर्थ के बोध के लिए व्यञ्जना व्यापार माना जायेगा, तो फिर प्रत्येक अलंकार को वाच्यार्थ की उपपत्ति के लिए वहाँ व्यञ्जनावृत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि व्याजोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों में प्रायः वाच्यार्थ बाधित ही रहता है ।

तस्मात् नानार्थक शब्दों के अप्राकरणिक अर्थ में व्यञ्जना मानना यह जो प्राचीनों का सिद्धान्त है, वह शिथिल ही है ।

हाँ प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के उपमानोपमेय भावध्वनि को तो कदाचित् ऐसे नानार्थक स्थलों में माना जा सकता है ।

परन्तु नानार्थ शब्दों का भी एक स्थल ऐसा है जहाँ बिना व्यञ्जना व्यापार के निर्वाह नहीं हो सकता है । यह है योगरूढि स्थल, क्योकि "रुढिर्योगापहारिणी" इस नियम के अनुसार रुढि के द्वारा जहाँ योगार्थ का अपहरण कर लिया जाता है, अर्थात् प्रथमत रुढि अर्थ की ही जहाँ उपस्थिति होती है, पुनः बाद में योगार्थ से निःसृत जो अर्थान्तर है, वह व्यञ्जना व्यापार के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता है । पण्डितराज के शब्दों में (संलक्ष्यक्रम ध्वनि के) शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का लक्षण इस प्रकार है—

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते ।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ।।

अर्थात् योगरुढि स्थल में रुढि के द्वारा जहाँ योगार्थ का अपहरण किया जाता है । पश्चात् यदि योगार्थ की भी प्रतीति होती है, तो वह प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से ही होती है । जब योगरुढ स्थल के लिए व्यञ्जना माननी ही पड़ी तो फिर अनेकार्थ शब्द स्थल में भी अप्राकरणिक अर्थ के लिए भी व्यञ्जना मान लेना एक सरल मार्ग है, प्राचीनों के द्वारा स्वीकृत यह नानार्थव्यञ्जकत्व भी इतना असङ्गत नहीं है ।

नानार्थशक्ति के नियामक तत्त्व

प्राचीन आचार्यों ने (भर्तृहरिप्रभृति आचार्यों ने) अनेकार्थक शब्दों के चौदह नियामक तत्त्व माने हैं । भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ से इन चौदह नियामक तत्त्वों का वर्णन इस प्रकार किया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता,
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः,
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग अन्यशब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, (चेष्टादि) अनेकार्थ शब्दों के विषय में अर्थात् इस शब्द का यहाँ क्या अर्थ है, इस तरह के सन्देह में ये चौदह तत्त्व निर्णय में कारण होते हैं, अर्थात् विवक्षित अर्थ की स्मृति में ये कारण होते हैं ।

(1) संयोग—उस सम्बन्ध विशेष को संयोग कहते हैं जो नानार्थक पद के किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध हो, और उसी पद के अन्य अर्थ में अप्रसिद्ध हो, जैसे—सशङ्खचक्रो हरिः अर्थात् शङ्ख चक्र सहित हरि । इस वाक्य में हरिशब्द नानार्थक है, क्योंकि हरि का अर्थ विष्णु भी होता है, और इन्द्रादि भी, परन्तु शङ्ख चक्रादि सम्बन्ध (संयोग) केवल विष्णु में ही प्रसिद्ध है । अतः हरिपद यहाँ अभिधा द्वारा विष्णु अर्थ को ही कहेगा, न कि (अप्रसिद्ध सम्बन्ध विशेष) इन्द्रादि को ।

(2) विप्रयोग या वियोग—विप्रयोग का अर्थ है विभाग अर्थात् एक दूसरे से पृथक् होना । इसका उदाहरण है अशङ्खचक्रो हरिः अर्थात् शङ्ख चक्र से रहित हरि । यहाँ भी नानार्थ हरि पद का विष्णु अर्थ ही होगा न कि इन्द्रादि, क्योंकि विभाग हमेशा संयोगपूर्वक होता है । अर्थात् विभाग से पहिले उस वस्तु का संयोग रहना आवश्यक है, जिसका कभी पहिले संयोग रहता है, उसी का उससे वियोग भी होता है, यह शङ्खचक्र का संयोग पहिले विष्णु में ही था, अतः अब शङ्खचक्र रहित भी विष्णु ही होंगे ।

(3) साहचर्य —किसी एक कार्य में परस्पर अपेक्षा का नाम साहचर्य है । जैसे—रामलक्ष्मणौ, राम और लक्ष्मण, इस वाक्य में राम पद नानार्थक है, क्योंकि राम पद परशुराम बलराम आदि के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है परन्तु लक्ष्मण के साहचर्य होने से, अर्थात् वनवास के समय साथ में रहना, तथा युद्धादि कार्य में साथ साथ रहने आदि साहचर्य से राम पद का यहाँ (दशरथ का पुत्र) रघुनाथ अर्थ ही होगा ।

(4) विरोधिता —प्रसिद्ध वैर को विरोधिता कहते हैं अथवा सहानवस्थान अर्थात् एक साथ न रहना । इसका उदाहरण है, "रामार्जुनगतिस्तयोः" अर्थात् उन दोनों की गति राम व अर्जुन की तरह है । अर्थात् जिस प्रकार परशुराम व सहस्रार्जुन का आपस में वैरभाव प्रसिद्ध है, उसी प्रकार इन दोनों का भी । यद्यपि ये दोनों ही पद नानार्थक हैं, परन्तु विरोधिता—प्रसिद्ध वैरभाव के कारण

राम पद की शक्ति परशुराम में और अर्जुनपद की शक्ति सहस्रार्जुन में ही नियमित हो जाएगी, न कि दशरथपुत्र व पाण्डुपुत्र में ।

(5) अर्थ—अर्थ शब्द का "प्रयोजन" अर्थ है । "स्थाणु भज भवच्छिदे" अर्थात् संसार से छुटकारा पाने के लिए "स्थाणु" को भजन करो । यहाँ स्थाणु पद के नाना अर्थ हैं, शिव व शुष्क वृक्ष परन्तु भवच्छेद रूप प्रयोजन की सिद्धि शिव से ही सम्भव है, शुष्क वृक्ष से नहीं । अतः प्रयोजन के द्वारा स्थाणु पद की शक्ति शिव रूप अर्थ में ही नियमित हो जाएगी ।

(6) प्रकरण—प्रकरण का अर्थ है वक्ता व श्रोता की बुद्धि में किसी अर्थ का रहना, या किसी प्रसङ्ग का रहना ।

जैसे—किसी राजा को सम्बोधित कर किसी ने कहा कि "सर्वं जानाति देवः" अर्थात् आप सब कुछ जानते हैं । यद्यपि यहाँ देव पद देवता व आप इत्यादि नाना अर्थों का वाचक है, परन्तु प्रसङ्गतः वक्ता के बुद्धि में स्थित वस्तु राजा है, अतः प्रकरण वश यहाँ देव शब्द का "आप" अर्थ ही होगा ।

(7) लिङ्ग—लिङ्ग उस धर्म विशेष को कहते हैं जो साक्षात् शब्द से बोधित हो, और नानार्थ पदों के अनभिप्रेत-अशक्य अर्थ में न होकर अभिप्रेत-शक्य अर्थ में ही हो, (मन आदि से ज्ञात न होता हो) जैसे—"कुपितो मकरध्वजः" यहाँ नानार्थक (समुद्र व कामदेव रूप) मकरध्वज शब्द के, साक्षात् शब्दबोधित कोप रूप धर्म से, कामदेवरूप अर्थ में ही शक्ति नियमित हो जाएगी । क्योंकि शक्त्यान्तर-अशक्य अचेतन समुद्रादि में कोपरूप धर्म नहीं है ।

(8) अन्य शब्द की सन्निधि—ऐसे दो अनेकार्थक पदों का आसपास रहना, जिनमें कोई एक अर्थ ही परस्पर सम्बन्ध रखता हो, या अन्य पद के सान्निध्य से जहाँ नानार्थक पद की एक अर्थ में शक्ति नियमित की जाय । जैसे—"देवस्य पुरारातेः" अर्थात् त्रिपुरासुर भगवान् शङ्कर का—यहाँ 'पुरारातिं' शब्द के सान्निध्य से देव पद की शिव अर्थ में ही शक्ति नियमित होगी ।

(9) सामर्थ्य—सामर्थ्य का अर्थ है, कारण, अर्थात् जो कार्य के नियमतः पूववर्ती हो । जैसे—"मधुना मत्तः कोकिलः" यद्यपि यहाँ मधु शब्द के मद्य वसन्त शहद आदि अनेक अर्थ हैं परन्तु कोकिल को मादन करने का सामर्थ्य वसन्त में ही है, अतः सामर्थ्य के द्वारा मधुपद की शक्ति वसन्त अर्थ में ही नियमित हो जायेगी ।

(10) औचिती—योग्यता को औचिती कहते हैं । यथा—"पातु वो दयिता मुखम्" यहाँ औचिती के द्वारा मुख शब्द का अर्थ साम्मुख्य ही होगा, अन्यथा केवल मुखमात्र अर्थ लिया जाय, तब तो भाव होना असम्भव है ।

(11) देश—देश का अर्थ है नगर ग्रामादि देश, जैसे "भात्यत्र परमेश्वरः"

यहाँ परमेश्वर पद के अनेक अर्थ हैं, परमात्मा व राजा, परन्तु नगर सम्बन्धी देश विशेष के कारण परमेश्वर पद राजारूप अर्थ को ही अभिहित करेगा, परमेश्वर के व्यापक होने से, अत्र इस पद से जो कि उस देश की तरफ संकेत करता है, परिछिन्न अर्थ लेना उचित नहीं है ।

(12) काल—दिन रात्रि आदि । जैसे "चित्रभानुर्दिने भाति" नानार्थक चित्रभानु पद यद्यपि अग्नि व सूर्य दोनों अर्थों का वाचक है, तथापि दिन रूप काल के कारण सूर्य अर्थ का ही अभिधायक होगा ।

(13) व्यक्तिः—पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग व नपुंसक लिङ्गों का नाम व्यक्ति है । जैसे यदि पुंलिङ्ग "मित्रो भाति" कहा जायेगा तब मित्र शब्द का अर्थ सूर्य होगा । यदि नपुंसकलिङ्ग में "मित्रं भाति" कहा जाय तब सखा सुहृद् अर्थ होंगे । व्यक्ति का अर्थ लिङ्ग यहाँ तत्तत् पदों की शक्ति के नियामक होंगे ।

(14) स्वर—स्वर का अर्थ है उदात्तादि । अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर विशेष से भी किसी अर्थ विशेष का निर्धारण किया जाता है, परन्तु स्वरों के द्वारा वैदिक वाक्यों में ही प्रायः अर्थ का निर्धारण होता है ।

जैसे—"इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इत्यादि वैदिक वाक्यों में "इन्द्रशत्रुः" इत्यादि पदों को यदि अन्तोदात्त रूप में पढ़ा जायेगा तब उस पद में षष्ठी तत्पुरुष समास होगा उक्त स्वर के बल पर—"इन्द्र को सताने वाला यह अर्थ होगा, यदि उक्त शब्द को आद्युदात्त के रूप में पढ़ा जायेगा तब वहाँ बहुव्रीहि समास होगा । क्योंकि बहुव्रीहि समास में पूर्व पद में प्रकृतिस्वर का विधान है, ऐसी स्थिति में अर्थ होगा—इन्द्र से सताया गया, (कोई राक्षस आदि)

आदि शब्द से चेष्टादि का संग्रह किया जाता है । यद्यपि पण्डितराज ने यहाँ प्राचीनों के अनुरोध से उक्त चतुर्दश अभिधा नियामक तत्त्वों का वर्णन कर दिया जैसा कि रसगङ्गाधर में उल्लेख है—

> **"इहार्थसामर्थ्यौचितीनामुदाहरणेषु चतुर्थ्याद्यैस्तृतीयाद्यैरर्थसामर्थ्येन च बोध्यमानकार्यकारणभाव एव नियामकः, न तु वस्त्वन्तरम्, बोधकवैचित्र्याच्च नियामकस्य वैचित्र्येणोक्तिः प्राचाम्"** इत्यादि ।

अर्थात् अर्थ, सामर्थ्य, व औचिती आदि में चतुर्थी तृतीया आदि व अर्थ-सामर्थ्य के द्वारा ज्ञायमान कार्यकारणभाव को ही नियामक मानना उचित था, अन्य किसी वस्तु को नहीं, परन्तु प्राचीनों को बोधक के वैचित्र्य से नियामकों की विचित्रता भी अभीष्ट थी, अतएव चौदह नियामकों का वर्णन किया, पण्डितराज की दृष्टि में तो ये सारे नियामक तत्त्व केवल लिङ्गतत्त्व के ही भेद हैं, उससे पृथक् अन्य कोई तत्त्व नहीं ।

"वस्तुतस्तु संयोगादीनामर्थान्तरसाधारणत्वे नानार्थशब्दस्यार्थविशेषे शक्तेः संकोच एव न संभवति, नियमकानामसंकुचितत्वात् अथ । प्रसिद्धत्वादिना तेषामसाधारणता बुद्धिर्थाकथञ्चिदुपपाद्यते, तदा प्रायशो लिङ्गभेदा एवैते, न तु सर्वथैव ततः स्वतन्त्रा इति बोध्यम् ।"

वस्तुतः संयोगादियों को यदि अर्थान्तर साधारण माना जाय तब तो नियतार्थ में शक्ति का संकोच ही नहीं हो सकता है । नियामकों (संयोगादियों) के अतिव्याप्त होने से, अथवा प्रसिद्धिवश (जैसे शङ्ख चक्रादि का योग विष्णु में ही प्रसिद्ध है,) इनका यदि असाधारणत्व (अन्यूनातिरिक्तत्व) कथञ्चिद् मान लिया जाय, तब प्रायः ये सब लिङ्ग के ही भेद बन जायेंगे, उससे पृथक् इनकी कोई स्थिति नहीं होगी ।

शब्दशक्तिमूलालंकार ध्वनि का उदाहरण

करतलनिर्गलदविरलदानजलोल्लसितावनीवलयः ।
धनदाग्रमहिमर्मूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥

हाथ से गिरते हुए निरन्तर दानसंकल्प के जाल में समस्त भूमण्डल को आनन्दित कर देने वाला, तथा धनदायकों में सर्वप्रथम गौरवान्वित, यह चक्रवर्ती राजा सबसे उत्कृष्ट है । (यह वाच्यार्थ है) ।

दूसरा व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है—सूंड से निरन्तर चूते हुए मदजल से पृथिवी-मण्डल को उल्लसित (सुवासित) कर देने वाला, तथा धनद-कुबेर के आगे प्रशंक्षित है मूर्ति जिसकी ऐसा यह सार्वभौम दिग्गज सर्वोत्कृष्ट है । उक्त पद्य राजप्रकरण में कहा गया है, अतः कर दान धनद और सार्वभौम इन अनेकार्थक पदों की शक्ति क्रमशः हाथ वितरण दाता और चक्रवर्ती राजारूप अर्थों में प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित हो जाने से, उक्त राजपक्षीय अर्थ वाच्य या प्राकरणिक कहा जायेगा ।

परन्तु वाच्यार्थ बोधानन्तर उन्हीं पदों से शब्दशक्तिमूलक व्यञ्जना द्वारा द्वितीय अप्राकरणिक दिग्गजपक्ष वाला अर्थ भी प्रतीत होता है । (जिसे मम्मटादि ध्वनिवादियों के मत से व्यङ्ग्य कह सकते हैं, तथा अपय्यदीक्षित व पण्डितराज आदि की दृष्टि में अप्राकरणिक अर्थ कह सकते हैं । इन लोगों के मत इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति भी अभिधाशक्ति के द्वारा ही होगी) उक्त दोनों अर्थों में अप्रासङ्गिकता न प्रसक्त हो एतदर्थ उपमानोपमेयभाव की कल्पना की जाती है जिससे उक्त प्रकृताप्रकृत वाक्यों की एकवाक्यता सम्पन्न हो जाती है । उक्त उपमानोपमेय-भाव के व्यञ्जनागम्य होने से यहाँ उपमालङ्कार ध्वनि है ।

शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि का उदाहरण

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम् ।
बाले ! वारय पान्थस्य वासदानविधानतः ॥

कोई पथिक किसी रमणी के प्रति कह रहा है—यह राजा मेरे प्रतिकूल है, अतः मुझे इससे बहुत भय है, हे बाले! अपने घर में निवास प्रदान कर मुझे बचाओ, यह उक्त पद्य का वाच्यार्थ है। प्रकरणादिवश उक्त अर्थ के नियमन हो जाने से, पुनः व्यञ्जना व्यापार द्वारा राज पान्थ व वासदानादि पदों से हे सुन्दरी! चिर विरही मुझे, आकाश में चमकने वाला चन्द्र सता रहा है, अतः मेरे उचित निवास का प्रबन्ध करो, इत्यादि वस्तुरूप अर्थ इन्हीं राज पान्थ वासदानादि पदों से अभिव्यक्त होता है, अतः यह शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि का उदाहरण है।

उक्त पद्य में उपमा अथवा रूपक ध्वनि वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है, दोनों अर्थों के तुल्य कक्ष होने से वाक्य भेदापत्ति की आशङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आच्छादक-नृपरूप अर्थ की प्रतीति के समय में आच्छाद्य-चन्द्र रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती है और आच्छाद्य चन्द्ररूप अर्थ की प्रतीति के समय आच्छादक-नृपरूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती है।

अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु ध्वनि का उदाहरण—

गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति संमुखम्।
आवर्तन्ते विवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः॥

कोई नायक किसी नायिका से कहता है कि जिन्होंने केवल मधुपान का व्रत ले लिया ऐसे में मधुव्रत अर्थात् भ्रमर चारों ओर मधुर गुञ्जन कर रहे हैं, इधर उधर और सामने दौड़ रहे हैं, बार बार सरोवर में आते हैं और जाते हैं।

उक्त पद्य में अभिधा द्वारा जो भ्रमरों के गुञ्जन का वर्णन हुआ है वह केवल कवि कल्पित न होकर स्वतःसम्भवी अर्थात् संसार में स्वाभाविक है, उक्त वाच्यवस्तु द्वारा सरसिजोत्पत्तिरूप वस्तु का ध्वनन होता है। तब उक्त ध्वनि से सन्निकट शरत् कालागमन की अभिव्यक्ति होती है।

स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः,
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्माधरः खण्डितः।
तत्त्वं ब्रूहि मदीयजीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता,
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः॥

कोई भक्त अपनी आत्मा से पूछता है कि हे मेरे जीव! तूने बार बार स्वर्ग से इस लोक तक का चक्कर लगाया है अर्थात् इस लोक में पुण्यविशेष का उपार्जन कर मरणोत्तर स्वर्ग में पहुंचा, और वहाँ भी पुण्य के क्षीण हो जाने पर "क्षीणे

पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" के अनुसार पुनः संसार में जन्म ग्रहण किया। तेरा यह गमनागमन अनेकों बार हो चुका है, इस भ्रमण के प्रसङ्ग में तूने अनेक आस्वाद्य पदार्थों का आस्वादन किया। इस लोक में द्राक्षा-अङ्गूर चरण, चीनी की चासनी ली। दूध का यथेच्छ पान किया, और स्वर्ग जाकर पीयूष का भी पान किया और अनेक बार रम्भा अप्सरा के अधरों का भी पान किया। यह सब कुछ तो किया, परन्तु सच सच बता क्या कभी तूने कृष्ण इन दो अक्षरों के मधुरिमा का आस्वादन भी किया।

उक्त पद्य में निष्कृष्ट अर्थात् शरीरादि से पृथक्भूत निरवच्छिन्न आत्मा संबोध्य है अर्थात् जीव से प्रश्न किया जा रहा है और चेतन संवलित परिदृश्य-मान स्थूल देहेन्द्रियादि अचेतन संघात स्वरूप अस्मद् पद बोध्य पदार्थ (सत्यं ब्रूहि मदीय जीव) प्रश्न कर्त्ता है। इस स्वतः सम्भवी वाच्य वस्तु से जिसके द्वारा अनेक जन्मों के वृत्तान्तों को प्रत्यक्ष किया ऐसी योगसिद्धि का भगवन्नाम द्वारा निगरण किया गया है। अर्थात् भगवन्नाम का योग सिद्धि के साथ तादात्म्येन अध्यवसान हुआ है। यही तादात्म्याध्यवसिता अतिशयोक्ति यहाँ अभिव्यक्त है।

स्वतः सम्भवी अलङ्कार से वस्तु ध्वनि का उदाहरण—

नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिव्रजाः,
पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे वन्दिनः।
इदं तदवधि प्रभो यदवधि प्रवृद्धा न ते,
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः॥

कोई कवि किसी राजा से कहता है—

हे प्रभो! आपके शत्रुओं के भवन में मदमत्त गज चीत्कार करते हैं। अश्वों की श्रेणियाँ सुशोभित होती हैं और बन्दीजन विरुदावली (स्तुतिपाठ) पढ़ते हैं। परन्तु ये सब तब तक हैं, जब तक प्रलयकालीन—अग्निशिखा के समान, आपके नेत्र कोण की अरुण आभा नहीं हो जाती है।

प्रस्तुत पद्य में प्रलयकालीन अग्नि शिखा से जो नयनकोणशोणद्युति की उपमा दी है, इसी वाच्य उपमा अलंकार से "ज्यों ही आपके हृदय में क्रोध का उदय हुआ, त्यों ही रिपु सम्पतियाँ भस्मसात् हो जायेंगी" यह वस्तु अभिव्यक्त होती है। यद्यपि उक्त वस्तुध्वनि राजविषयक रतिभाव में अङ्ग है, तथापि वाच्य की अपेक्षा चमत्कारजनक होने से ध्वनि व्यवहार का हेतु है।

स्वतः सम्भवी अलंकार से अलंकार ध्वनि का उदाहरण—

उदितं मण्डलमिन्दो रुधितं सद्यो वियोगिवर्गेण।
मुदितं च सकललननाचूड़ामणिशासनेन मदेन॥

कोई कवि चन्द्रोदय का वर्णन कर रहा है—

इधर चन्द्रमण्डल उदय हुआ कि विरही वर्ग ने रोना प्रारम्भ कर दिया, और सम्पूर्ण ललनाओं के लिए है चूडामणिरूप शासन जिसका, अर्थात् जिसका शासन शिरोधार्य है, वह मदन मुदित हो उठा ।

उक्त पद्य में उदयन, रोदन, मोदन क्रियाओं के युगपत् प्रादुर्भाव रूप वाच्य समुच्चयालंकार से पौर्वापर्यविपर्ययरूपा अतिशयोक्ति अभिव्यक्त होती है । अतः यह उदाहरण स्वतःसम्भवी अलंकार से अलंकार ध्वनि का है ।

कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से ध्वनि का उदाहरण—

तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजो विवेकः ।
यदवधि न पदं दधाति चित्ते हरिणाकिशोरदृशो दृशोर्विलासः ॥

कवि कहता है कि सैकड़ों पुराणों, शास्त्रों तथा स्मृतियों के सुन्दर विचारों से उत्पन्न विवेक तभी तक सकुशल रहता है जब तक कि मृगशावकनयना के नयनों का विलास हृदय में स्थान नहीं ग्रहण कर लेता है ।

उक्त पद्य में कामिनी के नयनविलास के चित्त में पद रखते ही विवेक का कुशल नहीं है, इस वाच्य वस्तु से सामान्य पदार्पण से ही जब विवेक की यह स्थिति है, तब उसके अच्छी तरह सुस्थिर होने पर उसकी कुशलचर्चा करना व्यर्थ है—यह वस्तु ध्वनित होती है । यहाँ जड नयनविलास का चित्त में पदार्पण करना अस्वाभाविक है, फलतः यह व्यञ्जक वस्तु कविकल्पित है ।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण—

देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता-
देवं जल्पन्ति तावत् प्रतिभटपृतनावर्तिनः क्षत्रवीराः ।
यावन्नायाति राजन्नयनविषयतामन्तकत्रासिमूर्ते !,
मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः ॥

कवि किसी राजा का वर्णन करता है—हे राजन्! युद्ध में मेरे समक्ष देव, दानव, एवं मानव कौन होते हैं, अर्थात् कुछ भी नहीं; ये तो अत्यन्त तुच्छ है । इस प्रकार दुश्मनों की सेना के वीर तभी तक ये सब बकते हैं जब तक कि यम को भी त्रस्त कर देने वाले आपके शत्रुओं के प्राणरूपी दुग्ध का अशन करने वाले कृपाणरूपी भुजङ्ग को नहीं देखते ।

उक्त पद्य में कविकल्पित कृपाण में भुजङ्गरूप वाच्य रूपकालंकार द्वारा, जब आप अपना कृपाण उठा लेते हैं, तो फिर शत्रुओं के जीने की कोई आशा नहीं रह जाती है—यह वस्तु अभिव्यक्त होती है ।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकार ध्वनि का उदाहरण—

साहंकारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः ।
तृष्णातान्म्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता,
भूमीभृषण ! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्तयः ।।

कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है—हे पृथ्वीभूषण! गर्वयुक्त देव व दानवों की श्रेणी के हाथों से खींचे हुए मन्दर पर्वत से क्षुब्ध किये जा रहे दुग्ध सागर के सुन्दर तरङ्गसमूह की शोभा के गर्व को समूल नष्ट कर देनेवाली, तृष्णा से घबराये हुए अनेक तपस्वि समूहों के द्वारा सहर्ष देखी गई, आपकी कीर्तियाँ समस्त संसार को सुशोभित कर रही हैं ।

उक्त पद्य में तृषातुर तपस्वियों के द्वारा सानन्द कीर्ति का अवलोकन रूप वाच्य वस्तु द्वारा तापस समवेत दुग्ध भ्रान्ति ध्वनित होती है ।

कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वाच्य अलंकार से अलंकार ध्वनि का उदाहरण—

दयिते रदनत्विषां मिजादयि, तेऽमी विलसन्ति केसराः ।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः ।।

कोई नायक किसी नायिका से कहता है—

हे प्रिये! तेरे दशन-किरण के व्याज से ये केसर शोभित हो रहे हैं, और कचकलाप का वेष धारण किये हुये ये पराग के लोभी भ्रमर हैं ।

उक्त पद्य में ये दातों की किरणें नहीं अपितु केसर हैं, और ये केश नहीं अपितु भ्रमर हैं । इन वाच्य कविकल्पित दो अपह्नुतियों से, तुम नारी नहीं अपितु कमलिनी हो यह तृतीय अपह्नुति अभिव्यक्त होती है ।

शब्दशक्ति व अर्थशक्तिमूकलता में हेतु

यद्यपि ध्वनि काव्य में सर्वत्र व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में शब्द तथा अर्थ का ज्ञान अपेक्षित है । अन्यथा व्यङ्ग्यार्थ का समुल्लास ही मुश्किल है, क्योंकि शब्द तथा अर्थ में एक के व्यञ्जक होने पर भी नियमतः दूसरे की सहायता अपेक्षित है, जैसा कि कविराज विश्वनाथ का कथन है—

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ।।

(साहित्य द० द्वि० परिच्छेद)

उभयविध व्यङ्ग्यों में सामान्येन शब्दार्थ मूलकता रहती ही है, तथापि **"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"** इस न्याय से जिस ध्वनि की अभिव्यञ्जकता में

प्राधान्येन शब्द व्यापार की ही प्रयोजकता हो, साथ ही साथ पर्यान्तर से उस प्रकार की अभिव्यक्ति हो या शब्दपरिवृत्यसहिष्णु हो शब्दान्तर के विन्यास में उस प्रकार की चमत्काराभिव्यक्ति न हो सके, उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहेंगे ।

इसी प्रकार जहाँ प्राधान्येन उक्त चमत्काराभिव्यक्ति में अर्थ का ही व्यापार परिलक्षित हो रहा हो, शब्द परिवृत्ति को भी सहन कर सकता हो यहाँ चमत्कार के अर्थाश्रित होने से उसे अर्थशक्तिमूलक ध्वनि कहेंगे । मूलतः यही शब्दार्थ मूलक ध्वनि के विभाग का रहस्य है ।

शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि

जिस काव्य में परिवृत्ति सहिष्णु तथा परिवृत्यसहिष्णु शब्दों की समानमात्रा में स्थिति हो तथा शब्दार्थाश्रित चमत्कार भी समानरूपेण परिलक्षित होता हो वहाँ शब्दार्थोभय शक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार होगा । इस प्रकार के काव्य को ध्वनि संकर या संकर काव्य नहीं कह सकते हैं । क्योंकि ध्वनि संकर तो ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ के भेद में ही सम्भव है । उक्त काव्य में तो शब्दार्थों के उभयविध शक्ति से समुल्लसित व्यङ्ग्यार्थ एक ही रहता है या एक ही वाक्यार्थ में शब्दार्थोभय शक्तियों के सामर्थ्य का सहयोग रहता है ।

उभयशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण

रम्यहासा रसोल्लासारसिकालिनिषेविता ।
सर्वाङ्गशोभासम्भारा पद्मिनी कस्य न प्रिया ॥

कवि स्वयं परामर्श कर रहा है—

जिस नायिका का हास रमणीय है और शृङ्गारादि रसों से जो सुशोभित है और रसिकजनों से भी सुसेवित है, सर्वाङ्गशोभायुक्त यह पद्मिनी लक्षण वाली नायिका किसके लिए प्रिय नहीं है । अन्यत्र पद्मिनी पक्ष में इसका अर्थ इस प्रकार है—जो कमलिनी सुन्दर विकसित है, और पराग से भी परिपूर्ण है । पराग के लोभी भ्रमर जिसमें मंडरा रहे हैं । सर्वाङ्ग शोभामय यह कमलिनी किसको प्रिय नहीं लगेगी, अर्थात् सभी को प्रिय लगेगी । उक्त पद्य में कामिनी तथा कमलिनी का परस्पर उपमानोपमेयभाव ध्वनित होता है । वह शब्दार्थोभय शक्तिमूलक है । इसमें हास, रसालि, पद्मिनी शब्द परिवृत्यसहिष्णु है, अर्थात् इनके पर्यायान्तर की स्थिति में अर्थान्तर सम्भव नहीं है । अन्य शब्द परिवृत्ति अर्थात् पर्यायान्तर को भी सहन कर सकते हैं ।

यह ध्वनि केवल वाक्य में ही सम्भव है, केवल पद में नहीं, क्योंकि उसमें नानार्थक तथा एकार्थक पदों का समावेश नहीं हो सकता है । इस प्रकार अभिधामूला

ध्वनि के तीनों प्रकारों का (शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक तथा उभयशक्ति-मूलक) का संक्षेप में निरूपण किया जा चुका है।

लक्षणामूला ध्वनि

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के समस्त भेद-प्रभेदों के निरूपणानन्तर अब अविवक्षितवाच्य ध्वनि के, (जिसे लक्षणामूलाध्वनि भी कहते हैं) प्रभेदों का निरूपण किया जा रहा है—

प्रकृत लक्षणामूला ध्वनि के लक्षणा मूल में सन्निहित होने के कारण लक्षणा के भेदों का भी परिचय आवश्यक है। क्योंकि लक्षणाभेद प्रयुक्त ध्वनिभेदों की व्यवस्था की जायेगी।

लक्षणा दो प्रकार की होती है—रुढिमूला व प्रयोजनवती। रुढिमूला लक्षणा का व्यङ्ग्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः प्रयोजनवती लक्षणा के भेदों का उल्लेख अपेक्षित है। क्योंकि उसी में प्रयोजनांश व्यङ्ग्य रहता है, अतएव उसी का उपयोग लक्षणामूला ध्वनि में होता है।

प्रयोजनवती लक्षणा छः प्रकार की होती है। गौणी के दो भेद—गौणी सारोपा व गौणी साध्यवसाना। शुद्धा के चार भेद—शुद्धा सारोपा, व शुद्धा साध्यवसाना, अजहत्स्वार्था (उपादान लक्षणा) जहत्स्वार्था (लक्षण लक्षणा) लक्षणा के इन छः प्रकारों में आदि के चार प्रकार क्रमशः रूपक, अतिशयोक्ति, हेतु व उत्प्रेक्षा अलंकारों में उपयुक्त होते हैं। अवशिष्ट दो प्रभेद-अजहत्स्वार्था (उपादानलक्षणा) व जहत्स्वार्था (लक्षणलक्षणा) का उपयोग क्रमशः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में होता है। इन लक्षणाओं के मूल में रहने के कारण इन ध्वनियों को लक्षणामूला ध्वनि कहते हैं।

इनमें जहत्स्वार्थामूला अर्थात् लक्षणलक्षणामूला ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि भी कहते हैं।

कृतं त्वयोन्नतं कृत्यमर्जितं चामलं यशः।
यावज्जीवं सखे! तुभ्यं दास्यामो विपुलाशिषः॥

किसी अपकारी मित्र के प्रति कोई मित्र कहता है—

हे सखे! तूने बहुत प्रशंसनीय कार्य किया और विमल यश प्राप्त किया, हम जब तक जीयेंगे, तब तक तुम्हें भूरि भूरि आशीर्वाद देते रहेंगे।

उक्त पद्य में अपकारी के प्रति ये उन्नत कृत्य (प्रशंसनीय कार्य) आदि पदार्थ मुख्य अर्थ में बाधित हैं। अतः विपरीत लक्षणा द्वारा उक्त पदों का हीन कर्म, निन्दितकार्य आदि अर्थ करना पड़ेगा। तब पूरे वाक्य का अर्थ होगा—"तूने परमहीन

कार्य किया, और अयश कमाया, अतः हम यावज्जीवन तुझे शाप देते रहेंगे। उक्त लक्ष्यार्थ से यह ध्वनित होता है कि, अपकार किये जाने पर भी, जिसका व्यवहार बहुत मधुर है, ऐसे मित्र के प्रति पापाचरण करने वाले, तेरे पापों का वर्णन कैसे किया जाय, अर्थात् तू संसार में अतिनिन्दनीय है।

पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

त्वया कृतेऽप्यपकारे परमखेदहेतौ, मधुरमेव यो भाषेत, न परुषं तस्मिन्नेवं जातीयके मयि पापमाचरतस्तव पापिष्ठत्वं कथं शक्यते वक्तुमिति व्यङ्ग्यम्।

अजहत्स्वार्थामूला ध्वनि या लक्षणलक्षणामूलाध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि भी कहते हैं—

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरम्,
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः।
न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया,
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः॥

यह पद्य पण्डितराज जगन्नाथ का गंगालहरी नामक स्तोत्र ग्रन्थ का है, इस पद्य में पण्डितराज जगन्नाथ गंगा जी की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—हे सुरधुनि गङ्गे! अन्य साधारण मनुष्यों के समान समझकर आप मेरी अवहेलना न कर देना, मतलब यह है कि अब तक तो आपका सम्बन्ध देवताओं पुण्यात्माओं व मनुष्यों से ही था, मुझ जैसे असाधारण पापियों से नहीं पड़ा, अतः अतिशय पापाच्छन्न जगन्नाथ का यह उद्धार का समय है इसमें आपको भी परम सावधानी से देखना पड़ेगा, क्योंकि अन्य व्यक्तियों के स्वल्प पापों के निराकरण में तो आपको ज्यादा प्रयास नहीं करना पड़ता है, यों ही उनके पाप केवल आपके स्पर्शमात्र से ही दूर हो जाते हैं। परन्तु जन्मजन्मान्तरीय पापों के बोझ से दबे हुए इस जगन्नाथ के उद्धार के लिए तो आपको भरकस कोशिश करनी पड़ेगी, अतः सावधानी से दृढ़तापूर्वक अपने रमणीय परिकर को बाँध लें। (अर्थात् मेरे उद्धार के लिए कमर कस लो) किरीट-वासी बालचन्द्र को सर्प समूहों से पुनः स्थिर कर लो, अन्यथा कदाचित् वह किरीट से दूर न हो जाय क्योंकि जगन्नाथ का उद्धार तो बड़ी तैयारी से ही हो सकता है।

उक्त पद्य के वक्ता जब स्वयं पण्डितराज हैं, तो फिर पुनः जगन्नाथ यह नाम निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं थी "मेरे" "मम" आदि सर्वनामों से ही यह निर्देश कर देना उचित था। जगन्नाथ पद का अर्थ यहाँ केवल रसगङ्गाधर रचयिता,बादशाह शाहजहां का प्रियभाजन, यवनीप्रिय पण्डिततल्लजमात्र नहीं है, अपितु उक्त जगन्नाथ पद तो अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है जिसका अर्थ है कि विविध पापकारी जगन्नाथात्मक व्यक्ति विशेष। उक्त लक्ष्य अर्थ में भी, जगन्नाथ

यह पद अपने स्वार्थ को छोड़ते हुए, उक्त लक्ष्यार्थ में परिणत हो जाता है । जगन्नाथ के पापों की असीमता अभिव्यक्त होती है अतएव उन्हें किसी शब्दान्तर से इद-मित्थंतया वर्णन करना सम्भव नहीं है । जैसाकि उन्होंने स्वयं लिखा है—

अत्र जगन्नाथस्येत्यनेन शक्य एवानेकपापविशिष्टत्वेन लक्ष्यते । पापानां पदान्तरेणानिर्वाच्यत्वं व्यङ्ग्यम् ।"

"कुन्ताः प्रविशन्ति" इत्यादि प्राचीनोक्त उदाहरणों से अपने उदाहरण में भेद प्रदर्शित कर रहे हैं—कि **"कुन्ताः प्रविशन्ति"** इत्यादि स्थल में अचेतन कुन्तों का स्वतः प्रवेश क्रिया में अन्वय वाधित है, अतः कुन्तपद की लक्षणा कुन्तधारी पुरुषों में की जाती है । कुन्तगत तीक्ष्णता को घोषित करना लक्षणा का प्रयोजन है । यहाँ यह तीक्ष्णता धर्म वाच्यगत कुन्तनिष्ठ है, परन्तु जगन्नाथ इस पद से अभिव्यक्त होने वाला, पापों की अनिर्वाच्यतारूप धर्म, 'जगन्नाथ' इस वाच्य पदनिष्ठ नहीं है यह लक्ष्यार्थ से अभिव्यक्त हो रहा है । प्राचीनों के व अपने उदाहरणों में यही भेद है ।

शब्दशक्ति या वृत्ति का स्वरूप

हम प्रतिदिन सैकड़ों व हजारों शब्दों को सुनते हैं परन्तु अच्छी प्रकार से सुने गये भी ये सभी शब्द अर्थ का ज्ञान नहीं कराते है । सुने हुए किन्हीं शब्दों से हमें अर्थ ज्ञान होता है किन्हीं से नहीं, यह क्यों? इसका उत्तर यही है कि जिस शब्द में हमारा संकेतग्रह हो चुका है, उस शब्द से अवश्य अर्थ या पदार्थ का ज्ञान होगा । जिस शब्द का संकेतग्रह नहीं हुआ है, उससे अर्थ का बोध नहीं होगा, जैसे घट शब्द का हमें अच्छी तरह ज्ञान है कि घट पद से कम्बुग्रीवादिमान् व्यक्ति विशेष को समझा जाता है । क्योंकि उस शब्द में हमारा संकेतग्रह हो चुका है, यह कोष, व्याकरण या वृद्ध व्यवहार किसी से भी हो परन्तु यह हमें ज्ञात है कि **"घटपदं कम्बुगीवादिव्यक्तिविशेषं बोधयति ।" "अस्मात् पदादयमर्थो बोधव्यः"** इस प्रकार का संकेतग्रह हमें हो चुका है, तब हम घट पद से जो कम्बुग्रीवादिमान् व्यक्ति विशेष का बोध करते हैं पटादि का नहीं । इसमें कारण हैं घट पद का कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ से कोई सम्बन्ध विशेष, जिससे ये घटादि पद पटादि पदार्थों को न बतलाकर घटादिरूप अर्थ विशेष का ही बोध कराते हैं । इससे यह निर्णय करना चाहिए कि अवश्य पद-पदार्थ का परस्पर कोई सम्बन्ध है, जिसके कारण शब्द अपने से सम्बद्ध अर्थ का ही ज्ञान कराता है, न कि असम्बद्धार्थ का; अतः पद पदार्थ का कोई निश्चित सम्बन्ध है, जिसे शक्ति, व्यापार, या वृत्ति शब्द से कहा जाता है । यह शब्दार्थ का सम्बन्ध सभी शास्त्रकारों को मान्य है । इसी सम्बन्ध को कोई शक्ति कहते हैं जैसे मीमाँसक नैय्यायिक आदि । कुछ लोग इसे व्यापार भी मानते हैं । वैय्याकरण इसी सम्बन्ध को पदपदार्थों का बोधजनकत्वरूप पदार्थान्तर

मानते हैं। मीमांसक लोग भी इस पदपदार्थ के सम्बन्ध विशेष शक्ति को पदार्थान्तर ही मानते हैं। आलङ्कारिक भी पदपदार्थ का प्रतिपाद्य प्रतिपादकरूप सम्बन्ध को ही शक्ति कहते हैं "अस्मात् पदादयमर्थो बोधव्यः" यही संकेत का स्वरूप है। जब यह संकेत शब्द में रहता है, तब शब्द ज्ञान का विषय होता हुआ अर्थ का प्रतिपादन करता है। अर्थात् उक्त संकेत शब्दगत होता हुआ अर्थ विषयक अज्ञान को दूर करके उस शब्द से अर्थविषयक ज्ञान को उत्पन्न करा देता है।[1] अभिप्राय यह है कि शब्द में अर्थज्ञानजननयोग्य एक शक्ति है, जो उद्बोधक कारण के बिना मन्द रहती है। संकेत उक्त शक्ति के प्रतिबन्धकस्वरूप अज्ञान का अपसारण कर देता है, जिससे शब्द में अपने अर्थविषयक ज्ञानजनन की योग्यता आ जाती है। इसीलिए प्राचीन वैय्याकरणों ने शब्दार्थ के इस वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को बोधजनकता शक्ति कहा है—

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता तथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता यथा॥

(वै० भू० सा० श० 37 का०)

चक्षुरादि इन्द्रियों की अपने विषय घटादि के प्रत्यक्षीकरण की योग्यता जैसे अनादि काल से है उसी प्रकार शब्दों की भी अपने अपने अर्थों के साथ बोधजनकतारूपी योग्यता भी अनादि काल से ही है, इसी योग्यता का नाम शक्ति है।

इस प्रकार शब्द से होने वाले बोध के लिए अर्थोपस्थिति का कारण शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध है। इसी का नाम शक्ति या अभिधा व्यापार है। अधिकतर साहित्यशास्त्र में उक्त शक्ति के लिए वृत्ति या व्यापार शब्द का प्रयोग किया गया है। दर्शन ग्रन्थों में भी प्रायः उक्त संकेतग्रहकृत शब्द व्यापार विशेष के लिए वृत्ति शब्द का ही प्रयोग किया गया है। जैसे गदाधर भट्टाचार्य ने अपने "शक्तिवाद" ग्रन्थ में वृत्ति शब्द का ही प्रयोग किया है, **"वृत्त्या पदप्रतिपाद्य एव पदार्थ इत्यभिधीयते"। "इदं पदमिममर्थं बोधयतु इति," "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोधव्य, इति वेच्छा संकेतरूपा वृत्तिः।"**

आशाधर भट्ट ने अपने त्रिवेणिका ग्रन्थ में वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाते हुए कहा है कि—**"वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्तते, अनयेति वृत्तिः"** अर्थात् वह सम्बन्ध जिसके द्वारा शब्द अपने अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है।

अन्यान्य शास्त्रों में वृत्ति के अन्य अर्थ भी हैं, जो केवल उन्हीं शास्त्रों के लिए उपयुक्त है। जैसे—व्याकरणशास्त्र में वृत्ति शब्द का प्रयोग **"कृत्तद्धितैकशेष-**

---

1. संकेतस्त्वर्थस्थितं पुरुषाज्ञानमुत्सार्य, ज्ञातृत्वं जनयति, तत्र शब्दवत्तत्र गता क्रियाऽपि करणं प्रदीपस्य करणत्वे सति तत्प्रभावत्, सैव शक्तिः।

सनाद्यन्तधातुरूपा पञ्चवृत्तयः" इस अर्थ में हुआ है, तथा सूत्रों के व्याख्यानों को भी वृत्तिशब्द से कहा जाता है।

सांख्य, योग, तथा वेदान्त शास्त्र में बुद्धि के विषयाकार परिणाम में वृत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे किसी तालाब का पानी नाली के द्वारा खेत में जब प्रविष्ट होता है, तो खेत के आकार का बन जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण या बुद्धि भी चक्षु आदि के द्वारा घटादि प्रदेश को प्राप्त कर घटाकार में परिणत हो जाती है। इसी परिणाम को वृत्ति कहते हैं।

"यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाकारं भवति, तथाऽन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा घटादिदेशं गत्वा घटाद्याकारेण परिणमति। स एव परिणामो वृत्ति इत्युच्यते।"

व्यवहार में भी अधिकतया इस शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु यहाँ तो वृत्ति शब्द का प्रयोग शब्द के उस सामर्थ्यरूप व्यापार में हुआ है, जिसके ज्ञान से पदार्थ सद्यः बुद्धिपक्ष में आरुढ़ हो जाते हैं। अतः शब्द बोध के लिए यह एक ऐसा उपयुक्त सम्बन्ध है, जिसमें शब्द प्रतियोगी हो और अर्थ अनुयोगी हो। क्योंकि सम्बन्ध द्विष्ठ होते हुए एक प्रतियोगिक तथा अपरानुयोगिक ही होता है।

अभिधा शक्ति

शब्द अपने इस सम्बन्ध विशेष से अर्थ का प्रतिपादन करता है, अतएव शब्द का यह स्वभाव ही है कि वह अपने निश्चित संकेतित अर्थ की ओर अग्रसर होता है। शब्द का यह निश्चित संकेतित अर्थ वाच्यार्थ या मुख्यार्थ कहलाता है। इस प्रकार के मुख्यार्थ की प्रतीति कराने वाले व्यापार का नाम "अभिधा" है। इसी को "शक्ति" पद से भी कहा जाता है। प्रायः अन्य शास्त्रों में अभिधा के लिए शक्ति पद का ही प्रयोग हुआ है परन्तु हमने यहाँ इस शब्द का प्रयोग केवल सम्बन्धरूपा वृत्ति के लिए किया है इसी लिए शीर्षक में अभिधा शक्ति लिखा है।

अभिधा-शक्ति संकेत के सहयोग से ही किसी अर्थ विशेष का प्रतिपादन करती है, शास्त्र में संकेत को शक्तिग्रह के नाम से भी कहा गया है, जिसका अर्थ है शक्ति का ज्ञान करा देने वाला साधन। ये आठ हैं—व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण तथा सिद्ध पद का सान्निध्य।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

इन्हीं उपायों के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक शब्द को वाचक कहते हैं, जैसा कि आचार्य मम्मट का कहना है—

"साक्षात् संकेतितं योऽर्थंमभिधत्ते स वाचकः।"

यह संकेतग्रह जाति गुण द्रव्य व क्रिया, इन चार जगह होता है।[1]

उस साक्षात् संकेतित अर्थ को ही मुख्यार्थ या वाच्यार्थ कहते हैं, इसी मुख्यार्थ विषयक व्यापार का नाम अभिधा है।

यह अभिधा भी तीन प्रकार की होती है, केवल समुदायशक्ति (रूढि) केवल अवयवशक्ति (योग) समुदायावयव शक्तिसंकर (योगरूढि)

(1) केवल समुदाय-शक्ति (रूढि) केवल पदों के समुदाय से ही अर्थ जिस में मान्य हो जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त, डित्थ इत्यादि संज्ञा यह लावण्य आदि शब्द जिससे प्रकृति-प्रत्यार्थ की अर्थबोध के लिए पृथक् कल्पना नहीं की जाती है।

(2) केवल अवयव-शक्ति (योग) जहाँ प्रकृति व प्रत्यय की शक्ति से किसी अर्थ का बोध होता है। जैसे पाचक, पाठक आदि शब्द। जहाँ पच् धातु से कर्ता अर्थ में ण्वुल् को अक् होकर पाचक शब्द बना है, जिसका अर्थ है पकाने वाला, इसमें अतिरिक्त और किसी भी अर्थ की यहाँ प्रतीति नहीं होती है।

(3) समुदायावयव-शक्तिसंकर—(योगरूढि)—धातु प्रत्यय की शक्ति से व समुदाय शक्ति से भी जहाँ अर्थ का बोध होता है : जैसे—पङ्कजादि शब्द, इसमें दोनों शक्तियों का संकर रहता है।

पङ्क उपपद जन् धातु से ड प्रत्यय होने पर पङ्कज शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है कीचड़ से उत्पन्न होने वाला, यदि केवल यहाँ योग प्रकृति-प्रत्ययार्थ ही लिया जाय तब तो कीचड़ से तो शैवाल व कुमुद आदि बहुत सी चीजें उत्पन्न होती हैं। समुदाय शक्ति से भी यदि यहाँ अर्थ लिया जाय तब कमलत्व जाति से युक्त पदार्थ की प्रतीति होगी, यह कमलत्व जाति युक्त पदार्थ पङ्क से भी उत्पन्न होता है, अतः अवयव व समुदाय दोनों शक्तियों का मिश्रण यहाँ होता है।[2]

---

1. अनया यः शब्दो यमर्थं बोधयति स तस्य वाचकः इयं च यस्य शब्दस्य यस्मिन्नर्थेऽस्ति, तस्य सोऽर्थोऽभिधेयः, स च जातिगुणक्रियायाद्यच्चिकात्मकः।
(रसगङ्गाधर 2-आनन)

2. (i) अखण्डशक्तिमानेनैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः।
(ii) अवयवशक्तिमानसापेक्षं—पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः।
(iii) अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः।
(वृत्तिवार्तिक अप्पय्यदीक्षित कृत)

पण्डितराज ने अश्वगन्धा, मण्डप, निशान्त, आदि शब्दो में एक अतिरिक्त चतुर्थ अभिधा का भेद माना है। ये द्वयर्थक पद समुदाय व योग से अलग अलग अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, यह योगरूढि से भिन्न अभिधा का चतुर्थ "योगिकरूढि" नामक भेद है। पूर्व भेदों में जैसे केवल समुदाय या केवल रूढि शब्दों का प्रतिपादन है, तथा समुदायावयव शक्ति वाले योगरूढ के उदाहरण में पङ्कजादि पदों में संकर माना है, परन्तु उक्त चतुर्थ भेद में तो केवल समुदाय शक्ति या केवल योग शक्ति काम नहीं करती है, और न केवल एकार्थप्रतिपादन के लिए उभय शक्ति का ही यहां उपयोग समुचित है, तब इसको किस भेद में रक्खा जाय, तस्मात् इसे अभिधा का चतुर्थ भेद माना जाय या योगरूढि के उपभेद यौगिकरूढि में इसका समावेश किया जाय।

अप्पय्य दीक्षित ने अभिधा का लक्षण इस प्रकार किया है, **"शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा"** अर्थात् शक्ति के द्वारा प्रतिपादकत्व का नाम अभिधा है। अभिप्राय यह है कि, शक्तिज्ञान सहकारी होता है, और प्रतिपादक होता है शब्द, यहाँ प्रतिपादकत्व का अर्थ है प्रतिपत्ति-अनुकूल व्यापार अर्थात् शब्द से होने वाली उपस्थिति में, जिसका ज्ञान कारण है, वह शब्द की वृत्ति अभिधा है। यहाँ शब्द हेतु है, पदार्थोपस्थिति में, हेतुत्व रहेगा हेतु में, यह प्रतिपादकत्व रूप हेतुत्व का (शब्द का) ज्ञान तो वस्तुतः पदार्थोपस्थिति कारण नहीं है, अपितु इस शब्द का इस अर्थ में संकेत है, यह ज्ञान उक्त उपस्थिति में कारण है; तब प्रतिपादकत्व अभिधा यह लक्षण कैसे होगा अर्थात् यह अभिधा का लक्षण सङ्गत नहीं है।

दूसरी बात यह है कि शक्ति और अभिधा तो दोनों एक ही हैं, दोनों नाम शब्द व्यापार के हैं। ऐसी स्थिति में अभिधा के द्वारा अर्थोपस्थितिरूप व्यापार को अभिधा कहते हैं, अभिधा के ज्ञान के लिए यहाँ फिर अभिधा की आवश्यकता पड़ेगी, फलतः आत्माश्रयदोष होगा, इसलिए पण्डितराज की दृष्टि में यह लक्षण ठीक नहीं है।[1]

---

1. इस प्रसङ्ग में मथुरानाथ भट्ट जी की टिप्पणी इस प्रकार है—

"उपरिप्रोक्तस्य खण्डनप्रघट्टकस्यायं सारः—लक्षणे प्रोक्तं प्रतिपादकत्वम्, प्रतिपत्तेः (ज्ञानस्य) हेतुत्वमिति निरुच्येत, तच्चाभिधायकशब्दगतं स्यात्। एतच्छब्दनिष्ठं प्रतिपादकत्वमस्तीत्येतज्ज्ञानमात्रेण किं प्रतिपत्तिः (ज्ञानम्) भवेत्, ततः कथं प्रतिपादकत्वमभिधेति लक्षणम् ?

यदि तु प्रतिपादकत्वस्यार्थः प्रतिपत्त्युनुकूलः (येन बोधो भवेत्) तादृशो व्यापारः इति, सच व्यापारो ज्ञातएव अभिधेयार्थबोधे उपयुक्त

क्रमशः

पण्डितराज का अभिधा का लक्षण इस प्रकार है—

"शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः, शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा" ।

अर्थात्—अर्थ का शब्द में रहने वाला और शब्द का अर्थ में रहनेवाला सम्बन्ध विशेष ही अभिधा है, इसी को शक्ति भी कहते हैं ।

लक्षणा

पूर्व प्रकरण से यह ज्ञात होता है कि शब्द जहाँ कोष, व्याकरण व व्यवहार के द्वारा संकेतितार्थ को साक्षात् बतलाते है, उसे अभिधा व्यापार कहते हैं, अर्थात् पदों से मुख्यरूप में पदार्थोपस्थिति, यह शब्दार्थ के मुख्य व्यापार अभिधा द्वारा सम्पन्न होती है, परन्तु जहाँ वक्ता का तात्पर्य कुछ और होता है, जिसको वह शब्दार्थ के मुख्य व्यापार से न बतलाकर किसी अपने रहस्यभूत प्रयोजन को भी शब्दान्तर से प्रतिपादन करना चाहता है, तब उसे शब्द के एक अमुख्य व्यापार का आश्रय लेना पड़ता है, जिससे कि वह अपने हृदयङ्गम रहस्यभूत प्रयोजन को शब्दान्तरों से सुरक्षित रख कर और अच्छी तरह कह सकता है । कहने का अभिप्राय यह है कि किसी विशिष्ट बात को या अपने विवक्षित तात्पर्य को किसी के प्रति यदि सीधे-सीधे शब्दों से कह दिया जाय तो कोई विशेष आनन्द नहीं आयेगा, यदि उसी तात्पर्य को किन्हीं शब्दान्तरों से या शब्द के अमुख्य व्यापार से कह दिया जाय, तो श्रोताओं को बुरा भी मालूम नहीं पड़ता, साथ ही साथ वक्ता अपना विवक्षित तात्पर्य बोधव्य के मस्तिष्क तक ही सीमित न रह कर हृदयङ्गम हो जाता है ।

इन्हीं सब अभिप्रायों का अनुसन्धान कर शास्त्रकारों ने शब्द के प्रसिद्ध व्यापार अभिधा का निरूपण कर उससे ही सभी समीहित सिद्धि न समझकर पुनः एक अप्रसिद्ध या अमुख्य व्यापार वाली लक्षणा वृत्ति का भी निरूपण किया है,

---

स्यादित्युच्येत, (ज्ञातैवाभिधा कारणमिति तात्पर्यम्), "शक्त्या प्रतिपादकत्वम्" इति कथनं नोपपद्येत, शक्तिर्हि अभिधाख्यैव, ततश्च "अभिधया प्रतिपादकत्वमभिधा" इति लक्षणं स्वज्ञाने स्वज्ञानापेक्षया आत्माश्रयदोषदुष्टम् । अभिधातोऽन्या शक्तिः काचित्प्रमाणसिद्धैव नेति लक्षणे असङ्गतिरपि स्फुटैव ।"

सम्भवतः दीक्षित जी कुमारिलभट्ट के "अभिधानक्रियायां हि कर्मत्वम्" इत्यादि श्लोक की पार्थसारथि मिश्रकृत—"अर्थप्रतिपत्तिफलः शब्द व्यापारोऽभिधान क्रिया" । इस व्याख्या से प्रभावित हों, विशेष जिज्ञासु "न्यायरत्नाकर सहित श्लोकवार्तिक" देखें ।

अन्यथा तो **"स्वायत्ते शब्दप्रयोगे किमिति अवाचकं प्रयोक्ष्यामहे"** इस सिद्धान्तानुसार जब शब्द अपने अधीन है, तो फिर मुख्य सरल व सीधे शब्दों का प्रयोग न करके, अवाचक व वक्र पदों का प्रयोग क्यों किया जाय, अतः यह कहना पड़ेगा कि उक्त असामान्य अवाचक व वक्र शब्दों के प्रयोग में अवश्य वक्ता का कोई न कोई तात्पर्य है, जिसको उद्देश्य कर वह इस प्रकार की पदावली का प्रयोग कर रहा है । जैसे "गङ्गा तीर में घोष है" न कहकर अधिक शीतलता व पवित्रता की प्रतीति के लिए या बोधव्य की अतिशय विश्वसनीयता के लिए—गङ्गा में ही घोष है कह दिया जाता है, इसके बदले यदि साफ-साफ गङ्गा के तट में घोष है कह दिया जाय, तब तो तट की सीमा गङ्गा जी से बहुत दूर तक भी हो सकती है, जहाँ से फिर उतनी पवित्रता व शीतलता का बोध नहीं हो सकता है । इसी पवित्रता व शीतलता की अतिशय प्रतीति रूप प्रयोजन के लिए ही अवाचक गङ्गादि शब्दों से भी तटादि अर्थों का प्रतिपादन किया जाता है । इसी अमुख्य वृत्ति का नाम लक्षणा है ।

लक्षणा की तीन शर्तें हैं जिन्हें जान लेना परमावश्यक है, प्रथम मुख्यार्थ का बाध होना, अर्थात् वाच्यार्थ में उसका अन्वय बोध रूप सङ्गति का न होना, द्वितीय मुख्यार्थ के साथ उस लक्ष्यभूत अमुख्य अर्थ का सम्बन्ध रहना, तृतीय उक्त अर्थ को अमुख्यरूप से कहने में या तो कोई प्रयोजन हो, अथवा वह प्रयोग रूढ़ हो ।

आचार्य मम्मट के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता[1] क्रिया ।।

लक्षणा व्यापार को अमुख्यवृत्ति, गुणवृत्ति, और भक्ति शब्दों से भी कहा जाता है । जिस प्रकार अभिधावृत्ति को शक्ति कहा जाता है, जिसका अर्थ किया जाता है—**"शक्यते साक्षादभिधीयते अर्थो अनयेति शक्तिः"** उसी प्रकार भक्ति का भी अर्थ है—

भज्यते—शक्यार्थ खण्ड्यते अनयेति भक्तिर्लक्षणा ।

भञ्जो आमर्दने इस धातु से करण में क्तिन् प्रत्यय करके यह रूप निष्पन्न होता है । अथवा भज सेवायाम् इस धातु से करण में क्तिन् प्रत्यय करके—**"भज्यते—सेव्यते अर्थान्तरमनयेति भक्तिः"**

लक्षणा के विषय में एक सुन्दर उपाख्यानरूप विवरण हमें आशाधर भट्ट की त्रिवेणिका में मिलता है जिसको उद्धृत कर देना यहाँ अनुचित न होगा—

---

1. "समारोपितः शब्दव्यापारः" की व्याख्या है सान्तरार्थनिष्ठः । अन्तरं मुख्येन व्यवधानं तेन सहितो योऽर्थस्तीरादिस्तन्निष्ठः" (काव्यप्रकाश व्याख्यातारः)

"काव्यादिषु शब्दजन्यमर्थज्ञानं त्रिविधम्—चारु, चारुतरम्, चारुतमञ्चेति। अत्र शक्तिजन्यं चारु। यथा पाकं कुरुष्व पाकार्थमिति। अत्र पाकशब्दस्य शिशुवाचकत्वमन्वयबोधश्च व्युत्पन्नानामेव भासते, इति चारुत्वम्। यत्तु "चणकांश्चर्वति गाँलं च ददाति" इत्यादि ग्राम्यवाक्यजन्यमचारु न तत् कविभिरादियते, लक्षणाजन्यं चातररुम्, यथा दधिद्रोणक्रयकामेन केनचित् कश्चिद् गोपालः पृष्टः—प्रातर्दधि दास्यसि क्व ते निवासः ? इति तेनोक्तं दास्यामि गङ्गातटे मे घोषः, इति। तच्छ्रुत्वा दूरात् कथमानेतुं शक्यमित्युपेक्षितः सः, पुनश्चान्य पृष्टः—प्रातरपि दास्यसि क्व ते निवासः ? इति। तदा तेनोक्तम्—दास्यामि गङ्गायां मे घोषः इति। तदा नागरिकस्य चेतस्या गतमेतदीयमेव दधि ग्राह्यमिति। यतो गङ्गाप्रवाहनिकटेऽयं वसति, वृक्षवातादि सद्भावात् पथि तापादिबाधश्च न स्यादिति, सुखितपशुजन्यत्वात् स्वादुतरं गङ्गाम्भःसम्बन्धात् पावनं चेति चारुतरत्वम्।"

तात्पर्य यह है कि जब अभिधाजन्य अर्थ से काम नहीं चलता या वक्ता का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ सुलभ नहीं होता है, तभी शब्दव्यापार के इस द्वितीय सम्बन्ध का अर्थात् लक्षणा वृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। प्रथम वृत्ति अभिधा है, और द्वितीय वृत्ति लक्षणा है अभिधा के बाद ही इसका नम्बर है। अतः इसे अभिधा पुच्छभूता भी कहते हैं। अभिधा की पुच्छ होने से ही अभिधा के साथ इसका सम्बन्ध भी रहता है। अतएव नैय्यायिकों ने शक्यसम्बन्धरूपा इसे माना है। विश्वनाथ पञ्चानन ने अपनी न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में लक्षणा का लक्षण इसी प्रकार निरूपित किया है—"**लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः।**" लक्षणा के विषय में पण्डितराज का लक्षण करीब-करीब नैय्यायिकों के लक्षण के ही समान है—

"**शक्यसम्बन्धो लक्षणा**"

शक्य—अभिधावृत्ति से बोध्य अर्थ के साथ जो सम्बन्ध, उसी को लक्षणा कहते हैं।

यहाँ पण्डितराज ने शक्य के सम्बन्ध को ही लक्षणा कहा है, इस सम्बन्ध रूप लक्षणा से सम्बन्धी लक्षित होता है। जैसे—"गङ्गायां घोषः" यहाँ गंगा पद का शक्यार्थ है प्रवाह (या भागीरथरथ्खातावच्छिन्न जलप्रवाह) उस प्रवाह का सम्बन्ध हैं तीर से, अतः इस सम्बन्ध से उक्त सम्बन्धी तीर लक्षित हुआ, ये सम्बन्ध अनेक हैं। जैसे यहाँ सामीप्य सम्बन्ध है, कहीं सादृश्य सम्बन्ध होता है, कहीं विरोध और कहीं जन्यजनकभाव आदि। ये सब सम्बन्ध ही लक्षणा के स्वरूप है, इन्हीं सम्बन्धों के भेद से लक्षणा के भी भेद बहुत होते हैं।

काव्यप्रकाशकार व उनके टीकाकारों के मत में लक्षणा अर्थ व्यापार ही है। क्योंकि यह तो मुख्यार्थ ही है जो कि अपने तात्पर्य के अनुपपन्न हो जाने पर अपने से किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध तीरादि अर्थ का अवबोधक हुआ करता

है। किन्तु इस मुख्यार्थ के व्यापार को शब्द में इसलिए आरोपित कर दिया जाता है कि अन्ततोगत्वा बाधितमुख्यार्थ शब्द ही तो लक्ष्यार्थ का उत्थापक हुआ करता है।

मुख्यार्थधीपूर्वकत्वात् व्यवहितार्थनिष्ठाऽपि मुख्यसम्बन्धितीरविषयत्वाद्-वृत्तेर्विषयतासम्बन्धेन शब्दनिष्ठेत्यर्थः (आ० कमलाकरः)

प्रदीपकार का भी यही मत है—

"शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयत्वाच्छब्दे आरोपित एव स व्यापारः, वस्तुतोऽर्थ-निष्ठ एव, तदेतदुक्तम्—सान्तरार्थनिष्ठ इति।"

अन्य शास्त्रों में यह भी एक विवाद है कि लक्षणा का बीज क्या माना जाय, अन्वयानुपपत्ति माना जाय या तात्पर्यानुपपत्ति। इस विषय में शास्त्रकार एकमत नहीं है, यदि लक्षणा का बीज केवल अन्वयानुपपत्ति माना जाय, अर्थात् मुख्यार्थबाध ही स्वीकार किया जाय तब तो "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्।" "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्" अर्थात् कौवों से दही की रक्षा करनी चाहिए और तारे देखकर बोलना चाहिए—इत्यादि जो लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण हैं उनमें लक्षणा न हो सकेगी, क्योंकि उक्त दोनों स्थलों में मुख्यार्थ का बाध या अन्वय की अनुपपत्ति तो नहीं हो रही है। वाक्यार्थ में अन्वय सङ्गत ही है परन्तु यहाँ वक्ता का तात्पर्य लक्षणा-द्वारा केवल काक से ही दही की रक्षा कराना अभिमत नहीं है अपितु जितने भी दही के उपघातक हैं, उन सबसे दही की रक्षा करना अभीष्ट है, यह तभी सम्भव है, जबकि लक्षणा का बीज तात्पर्यानुपपत्ति माना जाय। इसी प्रकार द्वितीय वाक्य में भी वक्ता का अभिप्राय रात्रि में बोलने का है, परन्तु जब कभी आकाश मेघाच्छन्न हो जाय, तब क्या फिर बोलना ही बन्द कर दिया जाय, अतः लक्षणा का बीज अन्वयानुपपत्ति न रखकर, तात्पर्यानुपपत्ति ही रखना उचित है। वस्तुतः केवल तात्पर्यानुपपत्ति को भी लक्षणा का बीज कह देना आपातरमणीय है। यह तो लक्षणा की अनेक शर्तों में एक है। इस एक ही उपकरण से लक्षणा का सर्वाङ्ग सौन्दर्य नहीं निखरता है। लक्षणा वह स्थल है जहाँ किसी प्रकार का तात्पर्य नहीं होता है ऐसे स्थलों या शब्दों का भी व्यवहार में या काव्य में प्रचुर प्रयोग होता है जिनमें रूढ़ि लक्षणा मानी जाती है। लावण्य मण्डप कुशल आदि शब्द इसी रूढि लक्षणास्थल में उपयुक्त होते हैं। अथवा लक्षणा का वह स्थल जहाँ प्रयोजन या तात्पर्य अत्यन्त पिहित रहता है, सामान्यतः वक्ता के विवक्षा का विषय नहीं होता है या कतिपय सहृदयों की ही प्रतिभा का विषय बनता है। ऐसी जगह केवल तात्पर्यानुपपत्ति से लक्षणा की अशेष विशेषताओं का पर्यवेक्षण नहीं हो सकता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर साहित्यशास्त्रकारों ने लक्षणा के स्वरूप सम्पादक हेतुओं में इन सभी तत्त्वों का निवेश किया है—अन्वयानुपपत्तिमुख्यार्थबाध

जो पहली शर्त है लक्षणा की, मुख्यार्थ के साथ अन्वय साथ लक्ष्यार्थ का योग-सम्बन्ध तथा रुढि अथवा प्रयोजन या वक्ता का विवक्षित तात्पर्य ।

शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा के द्वारा अर्थोपस्थिति में पुनः पण्डितराज का प्रश्न है कि उक्त लक्षणा स्थल में आपका तात्पर्यानुपपत्ति का क्या अभिप्राय है ? क्या मुख्यार्थतावच्छेदक में अर्थात् गङ्गा पद का जो मुख्य अर्थ गङ्गा (प्रवाह) है उसका अवच्छेदक होगा गङ्गात्व—(गङ्गा का धर्म शैत्यपावनत्वादि) उसका, तात्पर्य-विषयीभूत अन्वय का अन्वयी जो तीर है, उसमें उक्त मुख्यार्थतावच्छेदक गङ्गात्व का अभाव होना ? अभिप्राय यह है कि तात्पर्यानुपपत्ति से आपका मतलब क्या यही है कि मुख्यार्थतावच्छेदक व तात्पर्यविषयतान्वयितावच्छेदक धर्म दो रहें (एक नहीं) तभी लक्षणा हो, इस प्रकार का तात्पर्य मानने से तो "गङ्गायां घोषः" इत्यादि स्थलों में लक्षणा ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि लक्ष्य तट में शैत्यपावनत्व की अभि-व्यक्ति के अनुरोध से ही तो आलंकारिक शक्यतावच्छेदकरूप से अर्थात् गङ्गात्व रूप से ही लक्ष्य तट का भान मानते हैं । परन्तु तात्पर्यविषयीभूत तट में मुख्यार्थता-वच्छेदकरूप से अर्थात् गङ्गा को मुख्यार्थ प्रवाह तद्रूप से अन्वय अभिमत नहीं है । यद्यपि मुख्यार्थ का सम्बन्ध है लक्ष्यार्थ के साथ, पर मुख्यार्थत्वेन (प्रवाहरूप से) नहीं है अपितु गङ्गात्वेन है । इस प्रकार तीरप्रतियोगिक व घोषानुयोगिक अन्वय अभीष्ट है, जिसमें गङ्गात्वेन तीर की उपस्थिति होती है । रूढि अथवा प्रयो-जन में से अन्यतर लक्षणा के हेतुरूप में होना आवश्यक है ।[1]

यह लक्षणा पुनः दो प्रकार की होती है, निरूढा और प्रयोजनवती । प्रयोजन-

---

1. मुख्यार्थतावच्छेदकम् (गङ्गापदस्य मुख्योऽर्थ गङ्गाप्रवाहः) मुख्यार्थतावच्छेद-कम् गङ्गात्वम्, तद्धि सर्वथैव तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकं न भवेत् । अर्थात् तात्पर्यविषयीभूतेऽन्वये मुख्यार्थतावच्छेदकस्य (गङ्गात्वस्य) सर्वथैव यदि अनन्वयस्तदैव लक्षणाऽवतरेत् इति न कारणम् । लक्ष्यस्य तटाद्यर्थस्य मुख्यार्थतावच्छेदक (गङ्गात्व) रूपेण प्रतीतेः स्वीकारात् तदैव हि शैत्य-पावनत्वरूपप्रयोजनस्य प्रतिपत्तिः ।

   तात्पर्यविषयीभूतेऽन्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्योऽर्थः, अभावस्य प्रति-योगी भवति, अर्थात् तत्र मुख्योऽर्थः (प्रवाहः) मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण नान्वेति, अपितु लक्ष्यार्थेन सह सम्बद्धतया आनुषङ्किकरूपेण । ततश्च लक्षणायां मुख्यार्थस्यान्वये सत्यपि मुख्यार्थत्वरूपेण मुख्यार्थस्य अन्वयो न भवति, एवं च मुख्यार्थतावच्छेदकतया मुख्यार्थप्रतियोगिकोऽभावः, रूढि-प्रयोजनयोर्मध्ये एकतरच्च लक्षणायां कारणमिति सारम् (सरला टीका भट्ट म० ना०)

वती लक्षणा के पुनः दो भेद होते हैं, गौणी व शुद्धा, गौणीलक्षणा—सारोपा व साध्यवसाना भेद से दो प्रकार की होती है। शुद्धालक्षणा—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था सारोपा, साध्यवसाना के भेद से चार प्रकार की होती है, सब मिलाकर प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद हुए।

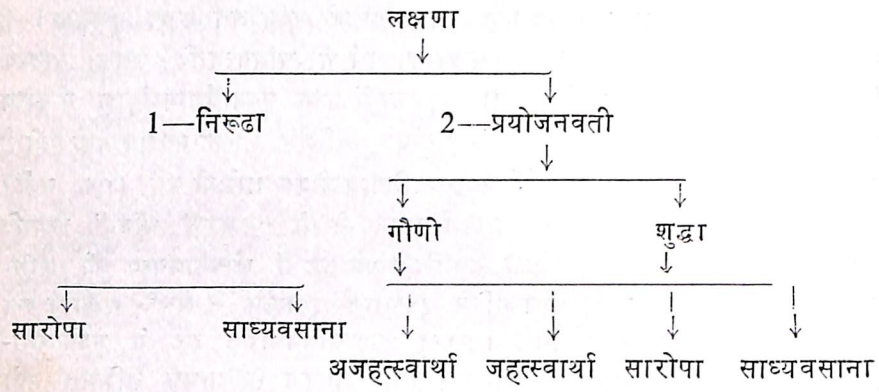

निरूढालक्षणा का उदाहरण

अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम, लावण्य आदि। अनुकूल शब्द का मुख्यार्थ है "कूलमनुगतः" इति, नदी के तट का अनुगमन, परन्तु जब हम "धर्मस्यायमनुकूलः" यह धर्म के अनुकूल है इत्यादि प्रयोग करते हैं, तब उक्त पद का मुख्यार्थ बाधित हो जाता है, क्योंकि इसमें नदी तट का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, अतः अनुकूल शब्द का अर्थ एकवस्तुप्रवणत्व अर्थात् एक वस्तु की तरफ झुकनारूप सादृश्य सम्बन्ध से अनुकूल पद की अनुगुण अर्थ में लक्षणा होती है। इसी प्रकार अन्य निरूढ पदों की भी व्याख्या करनी चाहिए।

प्रयोजनवती लक्षणा के भेद

सारोपा—विषय तथा विषयी का जहाँ पृथक्-पृथक् निर्देश हो, साथ ही साथ अभेदारोप भी हो। जिसमें आरोप होता है, उसे भेद का उपमेय कहते हैं जैसे मुखादि। जिसका आरोप किया जाता है, उसे विषयी या उपमान कहते हैं जैसे चन्द्रादि।

साध्यवसाना—जहाँ विषय उपमेयादि का निर्देश न करके विषयी उपमान का ही निर्देश हो, साथ ही साथ विषयी के साथ विषय का अभेद हो, उसे अध्यवसान कहते हैं, उससे युक्त लक्षणा को साध्यवसाना कहते हैं। यहाँ विषय, विषयी में ही समा जाता है। गौणीसारोपा का उदाहरण—**"मुखं चन्द्रः"**। गौणी साध्यवसाना का उदाहरण—**"पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते।"**

"मुखं चन्द्रः" इस गौणी सारोपा के उदाहरण में विषयिबोध चन्द्रादि पदों से लक्षणा के द्वारा चन्द्र सदृशार्थ की उपस्थिति होती है, और विषय बोधक मुखादि पदों से अभिधा के द्वारा मुख आदि अर्थ की उपस्थिति होती है। इसके बाद उन लक्ष्य एवं वाच्यार्थों का परस्पर अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है, जिसका आकार होता है **"चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्"** अर्थात् चन्द्र से अभिन्न मुख।

उक्त स्थल में यदि चन्द्र पद की चन्द्र सादृश्यरूप धर्म में लक्षणा की जायेगी, तब तो चन्द्र पद का मुख के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि यह नियम है कि **"नायार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः"** दो नायार्थों का (प्रतिपदिकार्थों का) अभेदातिरिक्त सम्बन्ध अस्वीकृत है। अतः सादृश्य और मुख का तो अभेदान्वय हो नहीं सकता है। फलतः सदृशरूप धर्मी में ही चन्द्र आदि उपमान वाचक पदों की लक्षणा माननी चाहिए। तब बोध का आकार होगा "चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख"।

रूपक और उपमा में भेद

"मुखं चन्द्रः" इस रूपकस्थल में जब गौणी सारोपा लक्षणा के द्वारा चन्द्र पद की चन्द्र सदृश में लक्षणा की जाती है तो **"चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्"** ऐसा शाब्द बोध होगा। **"चन्द्रसदृशं मुखम्"** या **"चन्द्र इव मुखम्"** इस उपमा अलंकार से रूपकालंकार में फिर कोई भेद नहीं रहा। अर्थात् शाब्दबोध तो दोनों जगह **"चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्"** एक सा ही होगा।

यदि यह कहा जाय कि "मुखं चन्द्रः" इस रूपकस्थल में गौणीलक्षणा के द्वारा चन्द्र इस उपमान वाचक एक ही पद से चन्द्र व तत्सदृश का बोध होता है। लक्षणा के द्वारा उपस्थापित इस सदृश पद का चन्द्र के साथ शाब्दवोध में अन्वय नहीं होता है। क्योंकि यह नियम है—**"भिन्नपदोपस्थाप्ययोरेकार्थयोः सम्बन्धः संसर्गतया स्वीक्रियते"**। **"चन्द्रसदृशं मुखम्"** इत्यादि उपमा में तो चन्द्र व सदृश इन दोनों के भिन्न पदार्थ होने से शाब्दबोध में इनका सम्बन्ध संसर्गविधि से माना जायेगा।

फलतः रूपक में सदृशशदार्थ का शब्दबोध में अन्वय नहीं होगा, और उपमा स्थल में सदृश का भी शाब्दवोध में अन्वय होगा। इस बोध वैचित्र्य से यदि आप रूपक व उपमा में पृथक् अलंकार मानते हैं, तब तो उपमा स्थल में ही **"चन्द्रसदृशं मुखम्"** इससे "चन्द्र इव मुखम्" इत्यादि में भी भिन्न बोध से भिन्न भिन्न अलंकार क्यों न मान लिया जाये, अर्थात् उपमालंकार में भी आर्थी उपमा व शाब्दी उपमा में बोध वैलक्षण्य के आधार पर अलग अलग अलंकार क्यों नहीं मानते ? अर्थात् यह बोध वैलक्षण्य अलंकार के वैलक्षण्य का आधार मानना उचित नहीं है।

उक्त पूर्वपक्ष के समाधान के लिये पण्डितराज ने केचित्, अन्ये, अपरे, के नाम

से तीन तरह के प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है, बाद में निष्कर्ष के रूप में अपना भी सिद्धान्त उपस्थित किया है ।

(1) प्रथम—समाधान पक्ष में 'केचित्' पद से अभिहित आचार्य का कथन इस प्रकार है—

रूपक का उपमा से स्वरूपतः कोई विशेष भेद न होने पर भी, गौणी लक्षणा के फलांश को लेकर भेद होता है । अर्थात् उपमा में जहाँ सादृश्य प्रत्यय होता है, वहाँ रूपक में पर्यन्त में तादरूप्य प्रत्यय होता है, इसी तादरूप्य के लाभ के लिए रूपकस्थल में लक्षणा की उपासना की जाती है जिसकी कृपा से विषय मुखादि में विषयितावच्छेदक चन्द्रत्वादि का ज्ञान होता है, इसी को तादरूप्यसंवेदन भी कहते हैं ।

पुनः पूछते हैं कि जब हम रूपक में भी उपमान वाचक चन्द्र पद की चन्द्र सदृश में लक्षणा कर रहे हैं तो फिर मुख के साथ उसका तादरूप्य प्रत्यय कैसे होगा इस तादरूप्य का सम्पादक कोई उपाय तो यहाँ (शक्ति-या लक्षणा आदि) हैं नहीं, यहाँ तो चन्द्र व तत्सदृश इन पदों में भेद प्रतीति ही उचित है, न कि अभेद प्रतीति, यदि इस प्रकार रूपक स्थल में अभेद प्रतीति मानी जायेगी, तब तो "चन्द्रसदृशं मुखम्" इत्यादि उपमा स्थल में भी उसे मानना चाहिए ।

बात यह है कि श्लेष स्थल के समान, उक्त रूपक स्थल में भी चन्द्र तथा तत्सदृश अर्थ की उपस्थिति एक चन्द्र पद से ही होती है । अतः एकपदीपादनत्वरूप व्यञ्जना वृत्ति से मुख में चन्द्र का तादरूप्य हो जाता है । वैयाञ्जनिक बोध के प्रति किसी प्रकार की बाधबुद्धि भी प्रतिबन्धिका नहीं होती है ।

उपमा में चन्द्र व तत्सदृश अर्थ की उपस्थिति एक पद से नहीं होती है अपितु चन्द्र व सदृश या इवादि भिन्न भिन्न पदों से होती है, ऐसी स्थिति में वहाँ व्यञ्जना का उत्थान नहीं होता है, जिससे मुख में चन्द्र तादरूप्य की प्रतीति नहीं होती है, अपितु सादृश्य प्रतीति ही होती है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि रूपक व उपमा में स्वरूप संवेदनकृत भेद न होते हुए भी, लक्षणा के प्रयोजन प्रयुक्त तादरूपसंवेदन को लेकर अवश्य भेद है ।

(2) द्वितीय समाधान पक्ष में 'अन्ये' पद से अभिहित आचार्यों का मन्तव्य इस प्रकार है—

रूपक स्थल में यद्यपि चन्द्र पद से लक्षणा द्वारा चन्द्र सदृश रूप में ही उपस्थिति होती है, तथापि मुख के साथ अन्वयबोध चन्द्र रूप में ही होता है । पदार्थोपस्थिति शाब्दबोध के समानाकारता रूप सिद्धान्त के विद्यमानता में भी, लक्षणा-जन्य बोध से उक्त यह शाब्दबोध होने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यह समाना-

कारता का सिद्धान्त तो लक्षणाजन्य बोध से अतिरिक्त स्थल में लागू होता है। इसी लिये तो **"गङ्गायां घोषः"** यहां पर लक्षणा द्वारा तटत्वेन उपस्थित तट का गङ्गात्वेन बोध होता है। तत्प्रयुक्त ही तो शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति होती है।[1] इसी प्रकार चन्द्र सदृशादि जो लाक्षणिक पद हैं, उनका अन्वयबोध की दशा में, चन्द्रादि पदों का शक्यतावच्छेदक जो चन्द्रत्व है, वह भी तो उसमें प्रविष्ट है, इस प्रकार चन्द्रत्वेन रूप में उपस्थित चन्द्र का मुख के साथ अभेदान्वय दुर्लभ नहीं हैं।

अतः इस मत में उपमा से रूपक का स्वरूप संवेदनकृत तथा फलीभूत-तादृरूप्य संवेदनकृत, दोनों प्रकार का भेद है।

(3) तृतीय समाधान पक्ष का 'अपरे' द्वारा निर्दिष्ट मत इस प्रकार है—

भेद घटित सादृश्य उपमा का जीवातुभूत है और भेदाघटित सादृश्य रूपक का जीवातुभूत है। इन आचार्यों का कथन है कि समानधर्म रूप इस सादृश्य की दो स्थितियां हैं, एक सादृश्य भेद घटित है, जिसका स्वरूप है, **"तद् भिन्नत्वे सति तद्गत भूयो धर्मवत्वम्"** अर्थात् चन्द्रादि उपमानरूप पदार्थों से भिन्न होते हुए भी तद्गत-चन्द्रगतं भूर्योधर्मत्व (आह्लादकत्वादि का तत् सादृश्य में रहना। इस प्रकार का सादृश्य तो **"चन्द्रसदृशं मुखम्"** इत्यादि उपमा में रहता है, और जो भेदाघटित सादृश्य है, जिसका स्वरूप केवल तद्गतभूयो-धर्मत्व ही है। अर्थात् भेदरहित-अखण्ड रूप में विद्यमान तथा चन्द्रगत अधिक धर्मों की सत्ता वाला, यह सादृश्य रूपक का जीवातु है। इस प्रकार उपमा स्थल में चन्द्र का भेद मुख में भासित होता है, और रूपक स्थल में उसका अभेद। अतः दोनों के स्वरूपज्ञान में ही भेद सिद्ध हो जाता है फिर फलज्ञानकृत भेद पर्यन्त जाना व्यर्थ है।

यह सब मतभेद प्रदर्शन पूर्वक प्राचीन आचार्यों के अनुसार उपमा व रूपक स्थल में भेद दिखा दिया।

(4) चतुर्थ समाधान पक्ष को **"नव्यास्तु"** से अभिहित किया गया है जिनमें अप्पय्यदीक्षितादि आचार्य प्रमुख हैं। दीक्षित जी का कथन है कि रूपक स्थल में **"मुखं चन्द्रः"** **"वाहीको गौः"** इत्यादि स्थलों में लक्षणा के बिना ही अभेदान्वय बोध हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि यह सब तो प्रत्यक्षज्ञान से ही बाधित है कि मुख चन्द्र नहीं है, इस प्रकार तो इसके उत्तर में दीक्षित जी का कहना है कि अभीष्ट चमत्कार प्रयोजक आहार्यज्ञान किसी प्रमाण विशेष से बाधित नहीं होता है। जैसे शब्दज्ञान बाध निश्चय प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में नहीं आता है अर्थात् किसी अबाधित प्रमाण द्वारा बाधित नहीं होता है वैसे ही आहार्यज्ञान-(कविकल्पित)

---

1. अतएव "गङ्गायाँ घोषः" इत्यम तटत्वेनाप्युपस्थितस्य तटस्थ गङ्गात्वेनान्व पबोधस्तत्प्रयोज्यः शैत्यपावनत्वासीतिश्च संङ्गच्छते। (रस० हि० आ०)

या आरोपित ज्ञान भी किसी प्रमाण द्वारा बाधित नहीं होता है। शब्दज्ञान के विषय में शास्त्रकारों का कथन भी है कि **"अत्यन्तासत्यप्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति"** अर्थात् किसी पदार्थ के सर्वथा अभाव में भी, तद्वाचक शब्द उस अर्थ या पदार्थ का ज्ञान कराता ही है "भले ही शश के शृङ्ग न हों, आकाश कमलिनी न हो" पर शब्द के द्वारा शश व शृङ्ग, आकाश व कमलिनी इत्यादि पदों के अर्थों का ज्ञान तो होता ही है।

अन्यथा ऐसे रूपक स्थलों में यदि सर्वत्र लक्षणा मानी जायेगी तब तो **"राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्"** इत्यादि स्थलों, में प्राचीनों की तरह लक्षणा मानी जायेगी तब तो राजनारायण में लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन की अनुपपत्ति हो जायेगी क्योंकि उपमित समास करने पर "राजा नारायण इव" अर्थात् राजा नारायण के सदृश है, नारायण सदृश में लक्ष्मी का आलिङ्गन कैसे होगा। तब रूपकालंकार में भी यदि लक्षणा मानी जायेगी तो फिर इस उपमा और रूपक में क्या अन्तर रहा। तस्मात् रूपकस्थल में लक्षणा न मानकर ही उक्त स्थल में लक्ष्मी-कर्तृक आलिङ्गन सम्भव है।

इस प्रकार रूपक स्थल में लक्षणा द्वारा सादृश्य का बोध होता ही नहीं है, वह तो उपमा स्थल में होता है। अतः रूपक व उपमा का भेद स्वतः सिद्ध है। रूपकस्थल में दो नामार्थों का अभेदान्वयसरणि ही सुन्दर है। जो लोग सदृश लक्षणा का फल तादरूप्य प्रतीति मानते हैं, यह पक्ष भी हृदयङ्गम नहीं है। क्योंकि "चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्" इत्यादि सदृश पद के रहते कैसे अभेद प्रतीति होगी।

उक्त नव्यों के पक्ष पर पण्डितराज का निर्णयात्मक विचार—

नवीन आचार्यों की ओर से यह जो कहा गया कि रूपक स्थल में दो नामार्थों के अभेदान्वय द्वारा ही तादरूप्य की प्रतीति हो जायेगी उसमें पुनः लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है—इसमें यह विचार करना है कि जिस प्रकार साधारण धर्म के बिना उपमा का चमत्कार निष्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार रूपक में भी साधारण धर्म के बिना कोई चमत्कार निष्पन्न नहीं हो सकता है। यह बात तो सभी सहृदयों के अनुभव से सिद्ध है।

जैसे—"नगरं विधुमण्डलम्" यह नगर चन्द्र मण्डल है। केवल इतने वाक्य के सुन लेने से रूपक का कोई वैचित्र्य प्रतीत नहीं होता है। यदि इसी वाक्य में **"सकलकलम्"** यह विशेषण जोड़ दिया जाय तो, यही वाक्य श्लिष्ट इस विशेषण से विशिष्टत्वरूप साधारणधर्म युक्त होकर कुछ विलक्षण चमत्कार को उत्पन्न करता है। अर्थात् यही वाक्य साधारण धर्म युक्त होकर रूपकालङ्कार की पूर्ण छटा लेकर उपस्थित होता है। ठीक यही दशा "मुखं चन्द्रः" इत्यादि रूपक की भी है। यहाँ आह्लादकत्व रूप साधारण धर्म की उपस्थिति होने पर ही चमत्कार की प्रतीति

होती है। यह बात दूसरी है कि ऐसे प्रसिद्ध रूपक स्थलों में प्रसिद्ध साधारण धर्म के बोधक पद के उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती है। उच्चारण के बिना भी इसकी उपस्थिति हो जाती है। यह साधारण धर्म लक्षणा द्वारा ही उपलक्षित हो सकता है। इसी लिए रूपकालङ्कार में सदृश लक्षणा का आश्रय लिया जाता है जैसा कि प्राचीन आचार्यों का कथन है—

अभेद बोध तो साधारण धर्म की अनुपस्थिति में भी हो सकता है, पर उसमें कोई चमत्कार नहीं है। पुनः नव्यमत में जो यह कहा गया है कि यदि रूपक में लक्षणा मानी जायेगी तो **"राजनारायणं लक्ष्मी त्वामालिङ्गति निर्भरम्"** इत्यादि में उपमा की तरह नारायण सदृश में लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन नहीं हो सकेगा, इत्यादि, यह भी सङ्गत नहीं है।

क्योंकि रूपकालङ्कार में चन्द्रसदृशादिपदों से उपस्थापित मुखादिकों की चन्द्रत्वरूप से ही उपस्थिति मानी गई है। इसी "राजनारायणम्" इत्यादि स्थलों में भी सदृश लक्षणा द्वारा उपस्थापित नारायण सदृशों की प्रतीति नारायणत्व-रूप से ही होगी, अतः लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन भी समुचित है। पुनश्च राज-नारायणम्" इत्यादि रूपक स्थल विशेषण समासायत्त है "मयूरव्यंसकादयश्च" इत्यादि सूत्र से यहां समास होगा, जिससे इनकी उत्तरपद प्रधानता बनी हो रहेगी, यह भी लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन का सम्पादक है।

फलतः रूपकस्थल में लक्षणा के बिना कोई चमत्कार नहीं होता है। अतः लक्षणा आवश्यक है जिसका फल तादूरूप्य प्रतीति है। उपमा में तो सादृश्य प्रतीति सर्वजन प्रसिद्ध ही है। अतः प्राचीन आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट उपमा व रूपक का विवेक ही सर्वसहृदय-सम्मत है, न कि नव्यों के द्वारा प्रदर्शित मत। पण्डितराज अपने पक्ष में महाभाष्यकार की सम्मति प्रदर्शित कर रहे हैं —

"महाभाष्यादिग्रन्थानामस्मिन्नेवानुकूलत्वाच्च, नव्यनये तु तेषामाकुलीभावः स्यादिति दिक्"।

महाभाष्य में **"पुंयोगादाख्यायाम्"** इस सूत्र के भाष्य में यह शङ्का की गई है कि दो भिन्न पदार्थों में अभेद कैसे होता है अर्थात् "अतस्मिन् सः" जो जिसमें नहीं है, वह कैसे वहाँ रहेगा। उत्तर में कहा गया है कि यद्यपि ऐसे स्थलों में मुख्य तादूरूप्य तो नहीं होता है परन्तु लक्षणा के द्वारा यहाँ तादूरूप्य माना जाता है। वह चार प्रकार से भिन्न पदार्थ का भिन्न पदार्थ में आरोप होता है, जो इस प्रकार है—(1) तात्स्थ्य से जैसे—"मञ्चा क्रोशन्ति", यहाँ मञ्चस्थ पुरुषों में मञ्च का तादूरूप आरोपित है। (2) ताद्धर्म्य से जैसे—"जटी ब्रह्मदत्तः" यहाँ केशरूप मुख्य जटी का तादूरूप्य, केशवाले या केशरूप धर्म वाले ब्रह्मदत्त में आरोपित हुआ है। (3) तत्सामीप्य से जैसे—गङ्गायां घोषः, इत्यादि में, यहाँ सामीप्य सम्बन्ध से

प्रवाह का धर्म तट में आरोपित किया गया है। (4) साहचर्य से—जैसे—"कुन्तान् प्रवेशय" यहाँ कुन्तधर पुरुषों में कुन्तों का तादूरूप्य आरोपित है। अलङ्काररत्नाकर में शोभाकर मिश्र का तो यहाँ तक कहना है कि—सादृश्य प्रयुक्त या सम्बन्धान्तर प्रयुक्त जितना भी उपचार का विषय है, वह सब रूपक में आ जाता है—**"सादृश्यप्रयुक्तः सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान् भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशः स सर्वोऽपि रूकपम्"**। इस प्रकार महाभाष्यादि मान्य ग्रन्थों से व प्राचीन आलङ्कारिकों के प्रतिष्ठित मतों से प्रतिकूल दीक्षित जी का मत चिन्तनीय ही है।

साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण

पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते।

या पुर शिखर में लसत विमल चन्द्र की पांति।

किसी महानगर के प्रासाद के गगनचुम्बी प्रकोष्ठ से कुछ ललितवदनायें वनितायें झाँक रही थी। इसी समय कोई कविवर उक्त प्रासाद के करीब गुजर रहे थे, तो उपर की ओर देखते ही कवि के मुखारविन्द से एकाएक निकल पड़ा "चन्द्रराजी विराजते" इत्यादि। इस "अतिशयोक्ति अलङ्कार में" गोणी लक्षणा का साध्यवसाना नामक भेद है। यहाँ चन्द्रादि पद से उपलक्षित मुख का (चन्द्रादि पदों से निगरण कर), चन्द्रत्वादि से ही बोध होगा।

काव्य में अलङ्कारों का महत्त्व

जिस प्रकार मानव सृष्टि के साथ ही उसके परिष्कार के लिये, परमात्मा ने आचार विचार व लोकव्यवहार, व नाना विधानों का भी निर्माण किया उसी प्रकार शब्द के द्वारा वाक्यार्थ की सर्जना में भी उसी के साथ साथ उसके परिष्कार के लिए पद वाक्य व प्रमाणों के भी प्रकारों का आविष्कार हुआ। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रमुख रूप में मानव के व्यवहार के साधनीभूत इस शब्दराशि या वाङ्मय के सुचारु प्रयोग के लिए पद, विद्या व्याकरण, वाक्य व वाक्यार्थ का बोध कराने वाली मीमाँसा तथा प्रभेदों को समुचित रूप में आकलन करने के लिए प्रमाण न्यायशास्त्र का भी अविर्भाव तभी से हो गया था।

यह सब होते हुए भी मानव के अन्तर्निहित मनोभावो के विभिन्न रूप प्रिय, याद, तथा प्रभेदों, के सुविधापूर्ण अभिव्यक्ति के लिए शब्द शास्त्र को या वाङ्मय को किसी मधुर विधान की भी आवश्यकता थी जिसके द्वारा मानव अपने चिदंश के "अलम्" का अभिव्यञ्जन कर सके। यही कारण है कि जब हम किसी मनोहर दृश्य या प्रकृति के किसी स्वच्छ चित्र का अवलोकन करते हैं तो हमारे अन्तःकरण के रज व तम से अभिभूत कण जो कि किसी स्वच्छ या मनोज्ञ सात्त्विक उद्बोधक कारण के बिना धूमिल से ही रहते हैं। किसी श्रीमद् तथा स्वच्छ पदार्थों के सम्पर्क

या सान्निध्य से हमारे अन्तःकरण का रज व तम मन्द होता हुआ सत्त्व के उदय के लिए अवकाश मिलता है। फलतः चिदंश की उक्त रमणीयक पदार्थों से उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। यही चिदंश का किञ्चित् उच्छ्वास ही "अलम्" अर्थ में परिणत होता है जिसके माध्यम से मानव प्रकृति के उल्लसित दृश्य, के दर्शन का वर्णन करना चाहता है, वही अलंकार है जिस अलं तत्त्व की चरम परिणति रसानुभूति में होती है। तत्त्वदृष्टा कवि के कथन के साथ ही, अलंकार का भी प्रादुर्भाव हो गया, कविता व अलङ्कारों का तो चोली-दामन का सा सम्बन्ध है। इसीलिए तो महाकवि दण्डी ने अपने काव्यादर्श में—

"काव्यशोभाकरान् धर्मान्-अलंकारान् प्रचक्षते" कह कर, काव्य में अलंकारों के महत्त्व का आख्यान किया। आनन्दवर्धन की सम्मति में काव्य के चारुत्व सम्पादक हेतुओं में अलंकार अन्यतम तत्त्व है। प्रायः स्वभावोक्ति से उबकर ही कवियों ने विभिन्न अभिधान के हेतुभूत वक्रोक्ति का विस्तार किया, जिसमें प्रतिपद या उत्तरोत्तर रमणीयता का साम्राज्य लक्षित होता था। महाकवि माघ की यह उक्ति **"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"** काव्यजगत् में कम महत्त्व की नहीं है। क्योंकि काव्य केवल एक प्रकार की ही शैली का लकीर का फकीर न होकर विभिन्न रूचियों का आश्रय होता है। भावात्मक अतिसूक्ष्म आख्यान न तो सबके मनोनुकूल होता है और ना ही सब उसे हृदयङ्गम कर सकते हैं। इसके विपरीत काव्य का कलात्मक विधान सहसा लोगों के चित्त में विचित्रता ला देता है।

यही कारण है कि भरत से लेकर आज तक साहित्य जगत् में किसी न किसी रूप में इस कलात्मक कल्पना विधान का अनुसन्धान हो ही रहा है। यद्यपि अलंकारों की सामान्य चर्चा भरत से ही प्रारम्भ हो जा जाती है। इन्होंने काव्य व नाट्य दोनों प्रकार के अलङ्कारों का वर्णन किया है।

परन्तु अलंकार पक्ष का पूर्वरूपेण प्रतिनिधित्व आचार्य भामह ने ही किया है, इसीलिये इनको अलंकार सम्प्रदाय का प्रजापति माना जाता है। बाद में आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्रीय गम्भीर परिशीलन कर ध्वनितत्त्व का पुनरुजीवन कर, काव्य जगत् में इसकी प्रतिष्ठा कर एक नया मापदण्ड प्रस्तुत किया जिसके फलस्वरूप अलंकार के वैचित्र्य का झन्कार कुछ मन्द सा हो गया। तदनन्तर वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक ने इस पक्ष की मजे में पहल कर अलंकार को केवल काव्य का उत्कर्षक न मानकर काव्य का जीवित अर्थात् काव्य का सर्वस्व माना परन्तु इस बात को उन्होंने किसी सीधे रास्ते से या सीधे उसी वेष में नहीं कहा, इन अलंकारों को काव्यजीवित होने के लिए अपना वही पुराना वही सीधा साधा लिवास नहीं रखना पड़ा। अपितु विचित्र परिधान के साथ विचित्र अभिधान में

आने पर ही ये अलंकार काव्य के प्रतिष्ठित पद पर आरूढ हो सकते हैं। अलंकार या उसके व्यापार का अब केवल "अलंक्रियते अनेन" इस स्वरूप न होकर "विचित्र भङ्गीभणिति" रूप में उपस्थित होकर काव्य के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हुआ।

अलंकार की ही कायाकल्प करके कुछ नई रीति व नया परिधान पहिना कर कुन्तक ने अलंकार पक्ष के उद्धार के लिए अत्यधिक रुचि ली।

परन्तु यह पक्ष ध्वनिवादियों को सम्मत नहीं था। प्रत्यक्ष इसका विरोध न होते हुए भी, प्रकारान्तर से इसकी घोर उपेक्षा हुई। लोग ध्वनि के चमत्कार में ही काव्य का सर्वस्व देखने लगे। अलंकारों का तो उसके बाह्य अङ्ग की हैसियत से वर्णन करने लगे। यद्यपि अप्पय्यदीक्षित जैसे धुरन्धर विद्वानों की लेखनी का विषय अलंकार सम्प्रदाय भी बना, और वादयुग के शास्त्रार्थ प्रधान शैली व नव्यन्याय की भाषा का परिधान पहनाकर इसमें कुछ नया जीवन आया।

परन्तु सर्वात्मना अलंकारों का स्वरूप पण्डितराज जगन्नाथ के हाथों में ही आकर निखरा। अलङ्कार सम्प्रदाय पर पण्डितराज की दृष्टि पूर्ण सहानुभूतिपूर्ण हैं, वे प्रत्येक अलङ्कार की पूर्ण छानबीन करते हैं, अलङ्कारान्तर की या ध्वनि; गुणीभूत व्यङ्ग्य की सङ्कीर्णता के विवाद में बिना किसी पक्षपात के ही उचित दर्जा देते हैं। "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" कहकर, सचमुच पण्डितराज ने अलङ्कारों के लिए बड़ी गुञ्जायश रक्खी, जिससे कि काव्य में उनको उचित स्थान मिल सके; इसीलिए तो वे अलङ्कार निरूपण के आरम्भ में, अवतरण देते हुए लिखते हैं—

"अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्काराः निरूप्यन्ते"

उक्त अवतरण में रसादि पद न रखकर सामान्य व्यङ्ग्य पद रक्खा, जिससे यह ध्वनित होता है कि पण्डितराज को इस कोटि में अर्थात् प्रथम श्रेणी में (रस वस्तु अलंकार) ये तीनों प्रकार के काव्य अभीष्ट हैं, इनमें अलंकारों का उपस्कारकत्वरूप से रहना आवश्यक है। रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशभट्ट ने इसी अवतरण में आये हुए "रमणीयता प्रयोजकत्व" को अलंकार का सामान्य लक्षण माना है, जिसका स्वरूप यह होगा—

"व्यङ्ग्यरमणीयताप्रयोजक काव्यधर्मत्व"

वस्तुतः स्मरणालंकार के निरूपण के प्रसङ्ग में एक जगह पण्डितराज ने स्वयं लिखा है—**"प्रधानव्यङ्ग्यव्यावृत्त्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं सर्वेषु अलंकारलक्षणेषु देयम्"** और भ्रान्तिमान् अलंकार के लक्षण का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है— **"चमत्कारीति-कविप्रतिभानिर्वर्तित इत्यर्थः"**। इन प्रसङ्गों के उक्त सभी तात्पर्य को

ध्यान में रखते हुए पण्डितराज की दृष्टि में अलंकार का सामान्य लक्षण इस प्रकार कहा जा सकता है—

"कविप्रतिभानिर्वर्तितमुख्यवाक्यार्थोपस्कारकसुन्दरशब्दार्थधर्मत्वम्"।

उपमा

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा॥

अप्पय्य दीक्षित ने अपने चित्रमीमांसा नामक ग्रन्थ में उपमा के ज्ञान को ब्रह्म ज्ञान के समान माना है; जिस प्रकार एक ब्रह्म के ज्ञान से निखिल प्रपञ्च का ज्ञान तथा उसके अनित्यता का ज्ञान भी हो जाता है, इसी प्रकार एक उपमा अलंकार के सम्यक् ज्ञान से तद् विवर्तभूत निखिल अलंकारों का ज्ञान हो जाता है।

तथा हि—"चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः" इत्युपमेयोपमा, "मुखं मुखमिव" इत्यनन्वयः, "मुखमिव चन्द्रः" इति प्रतीपम्। "चन्द्रे दृष्ट्वा मुखं स्मरामि" इति स्मरणम्। "मुखमेव चन्द्रः" इति रूपकम्, "मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति" इति परिणामः "किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः" इति सन्देहः, "चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनु धावन्ति" इति भ्रान्तिमान्। "चन्द्र इति चकोराः कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्ति" इत्युल्लेखः "चन्द्रोऽयं न मुखम्" इत्यपह्नवः, "नूनं चन्द्रः" इत्युत्प्रेक्षा। "चन्द्रोऽयं" इत्यतिशयोक्तिः। "मुखेन चन्द्रकमले निर्जिते" इति तुल्ययोगिता। "निशि चन्द्रश्च त्वन्मुखं च हृष्यति" इति दीपकम्। "त्वन्मुख एवाहं रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यते" इति प्रतिवस्तूपमा, "दिवि चन्द्रो भूवि त्वन्मुखम्" इतिदृष्टान्तः। "मुखं चन्द्रश्रियं विभर्ति" इति निदर्शना। "निष्कलङ्कं मुखं चन्द्रादतिरिच्यते" इति व्यतिरेकः। "त्वन्मुखेन समं चन्द्रो निशासु हृष्यति" इति सहोक्तिः। "मुखं नेत्राङ्कुरुचिरं स्मितज्योत्स्नोपशोभितम्" इति समासोक्तिः। "अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितशक्तिना" इति श्लेषः। "मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः" इत्यप्रस्तुत-प्रशंसा। एवमुक्तानेका अलङ्कारविवर्तवतीयमुपमा।

इस प्रकार प्रायः सभी अलंकार रूपी विवर्तों की अधिष्ठानभूता यह उपमा है, अर्थात् इसी उपमा के सारे अलंकार सदृश या विसदृश परिणाम हैं, और इसी उपमा अलंकार के ही ज्ञानाधीन सबका ज्ञान है, इसीलिये उपमा के विषय में संक्षेप में कुछ निर्देश कर देना आवश्यक है, जिससे पाठकों को इसके विषय में सामान्य जानकारी हो जाय क्योंकि आगे यही उपमारूपी नटी अलंकार-विवरणरूपी काव्यरङ्ग में नाना प्रकार के वेषों को धारण कर उपस्थित होगी, जैसा कि दीक्षितजी ने कहा है—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

उपमा का अर्थ है तुलना या सादृश्य अर्थात् किसी अधिक गुण वाले चन्द्रादि पदार्थ से किसी न्यून गुण वाले मुखादि पदार्थ की तुलना करना या परस्पर सादृश्य दिखलाना। कवि जब किसी सुन्दरी के मुख को चन्द्र के समान बतलाता है तो यह समझना चाहिये कि चन्द्र के द्वारा उस सुन्दरी के मुख के सौन्दर्य को तौलता है, इसीलिये तो चन्द्र को उपमान कहा जाता है, उपमान का अर्थ है तुला या तराजू मुख है। उपमेय तौलने योग्य पदार्थ। सौन्दर्य साधारण धर्म है, जिसकी दोनों में समता दिखलाई जाती है। सदृश इव, निभ आदि शब्द इस साधारण-धर्म के वाचक हैं फलतः उपमा के स्वरूप निर्माण में चार पदार्थों की आवश्यकता होती है उपमान उपमेय, साधारण धर्म व उपमावाचक इवादि पद, तभी पूर्ण-उपमा का स्वरूप सम्पन्न हो सकता है, जैसा शब्द शक्तिमूलक ध्वनि निरूपण के प्रसङ्ग में स्वयं पण्डितराज का कथन है—

अथोच्यते—उपमानमुपमेयं साधारणो धर्मः उपमावाचकमिति हि, उपमा-शरीरघटकम् नतु ततः पृथकभूतम्, तैर्विना तस्या अनिष्पत्तेः।

इसी प्रकार काव्यप्रकाश की वामनी टीका में भी उपमा अलंकार की जानकारी के लिये कुछ आवश्यक बातों का निर्देश किया है, जिनको उद्धृत कर देना कोई अनुचित न होगा।

"उपमास्थले चोपमानम् उपमेयम् साधारणो धर्मः तद् वाचकं पदमिति चतुष्टयमपेक्षते साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्धपदार्थ उपमानम्, तद्धर्मतया वर्णनीय-पदार्थ उपमेयम्। केचित्तु अधिकगुणवत्तया सम्भाव्यमानमुपमानम्, निकृष्टगुणवत्तया सम्भाव्यमानमुपमेयमित्याहुः। "यथा कमलमिव मुखं मनोज्ञमिति" इत्यादौ मनोज्ञत्वे धर्मसम्बन्धात् तद्वत्तया प्रसिद्धेन कमलेन सह मुखमुपमीयते, अत्र मनोज्ञत्वञ्च साधारणो धर्मः, कमलमुपमानम् मुखमुपमेयम् इव यथादिपदात् साधारणधर्मावगतेः, पर्यायपरिवृत्तिसहत्वादुपमादेर्भवत्यर्थालंकारत्वमिति"।

संक्षेप में इसका निष्कर्ष यह है कि मम्मटादि आचार्यों के मत में साधर्म्य ही उपमा है जैसा कि उन्होंने लक्षण भी किया है "साधर्म्यमुपमा भेदे" साधर्म्य पद का अर्थ है, समान धर्म प्रयुक्त सम्बन्ध। क्योंकि कृतद्धितसमास के बाद यदि भाव प्रत्यय किया जाय तो, उसका अर्थ सम्बन्ध ही होता है। यहाँ का विग्रह इस प्रकार है, **"समानः, एक तुल्यो वा धर्मो (गुणक्रियादिरूपः) ययोः। उपमानोपमेपयोः) तौ सधर्माणौ तयोर्भाव साधर्म्यम् अर्थात्—उपमानोपमेयमोः समानेन धर्मेण सह सम्बन्धः उपमा।** यह साधर्म्य सम्बन्ध सादृश्य का प्रयोजक है, अर्थात् किन्हीं दो पदार्थों में तभी समानता या सादृश्य आ सकता है, जब कि उन दोनों का समान धर्म हो। परस्पर विरुद्ध धर्म वाले पदार्थों का सादृश्य नहीं होता है, उपमा में भी चन्द्र व मुख में आह्लादकत्व रूप समान धर्म है, अतएव उन दोनों का परस्पर सादृश्य है। लोक में

भी जिस किसी की परस्पर समानता दिखलाई जाती है तो उन दोनों में परस्पर एक धर्म (गुण या क्रियादि) के द्वारा ही दिखलाई जाती है। अतः उपमान व उपमेय में भी आह्लादकत्वरूप समान धर्म का संबंध है, इसीलिए इनमें परस्पर सादृश्य है, जिसको कि मीमांसकों ने पदार्थान्तर माना है जिसके बल पर उन्होंने उपमान नामक पृथक् प्रमाण की सिद्धि की है। इसी सादृश्य के द्वारा आलंकारिकों की उपमा की सिद्धि होती है, अतः इस विषय में ये लोग भी मीमांसक मतानुयायी ही हैं। नैय्यायिकों को तो पृथक् से उपमान प्रमाण मानना नहीं है अतः वे समान धर्मरूप ही सादृश्य को मान लेते हैं, तत्प्रयुक्त किसी उपमान या उपमा अलंकार की सिद्धि का झन्झट वे नहीं लेते हैं। अब जब उपमा को एक सम्बन्ध विशेष बतलाया है तो सम्वन्ध तो हमेशा द्विष्ठ होता है, वह एक प्रतियोगिक तथा अपरानुयोगिक होगा, जैसे **"राज पुरुषः"** यहाँ पर राजा व पुरुष में स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध है। (अर्थात् राजा का पुरुष स्व है, और पुरुष का राजा स्वामी है) इससे राजा प्रतियोगी व पुरुष अनुयोगी है; इसी प्रकार इस साधर्म्य रूप सम्बन्ध के भी साधारण धर्म प्रतियोगी और उपमान तथा उपमेय अनुयोगी है और साधारण प्रयोज्य सादृश्य का उपमान प्रतियोगी तथा उपमेय अनुयोगी होगा, इस प्रकार साधारण धर्म प्रतियोगिक उपमान व उपमेय उभयानुयोगिक सम्बन्ध साधर्म्य होगा और उपमान प्रतियोगिक उपमेयानुयोगिक सम्बन्ध सादृश्य होगा। यही साधर्म्य तथा सादृश्य में भेद है।

आलंकारिकों ने उपमा को सादृश्यमूलक अलंकार माना है, फलतः इस अलंकार में दो पदार्थों के बीच समानता के कारण सहृदयों को चमत्कार की अनुभूति होती है, अतः सादृश्य उपमा का प्राण है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि किन्हीं गुण धर्म व क्रिया के द्वारा किन्हीं दो पदार्थों की रमणीय समानता का नाम ही उपमा है, यही उपमा जब वाक्यार्थ का उपस्कार करती है, या रसादि पदार्थों के प्रति अङ्गरूप में उपकार की हैसियत किसी वाक्यार्थ में रहती है तो उसे उपमा अलंकार कहते हैं। जैसा कि पण्डितराज ने कहा है—

"सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः।

अर्थात्—वाक्यार्थ को शोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य का नाम "उपमा अलंकार" है।

लक्षण में आये हुए "सुन्दर" पद का अर्थ है, सौन्दर्यविशिष्ट, और सौन्दर्य का अभिप्राय है चमत्कारजनक होना। चमत्कार का अर्थ है विलक्षण आनन्द, जिसको सहृदयों का हृदय प्रमाणित करता है। इस प्रकार इस लक्षण वाक्य का फलित अर्थ यह हुआ कि—

वाक्यार्थ को शोभित करने वाले जिस सादृश्य से सहृदयों के हृदय में एक विलक्षण आनन्दानुभूति हो उस सादृश्य विशेष को उपमा अलंकार कहते हैं ।

यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने भी अपनी अपनी दृष्टि से उपमा अलंकार के लक्षण बनाये हैं, परन्तु पण्डितराज की समालोचनात्मक दृष्टि में वे सब फीके पड़ जाते है । जिस नपी तुली व सुघड़ भाषा में पण्डितराज का लक्षण प्रस्फुटित हुआ है, उसकी तुलना में अन्य आचार्यों के लक्षण निष्प्रभ से प्रतीत होते हैं ।

मम्मट अपने सशक्त तथा स्वल्प वक्तव्य के लिये जितने प्रसिद्ध हैं, उससे अधिक कहीं बदनाम भी हैं क्योंकि मम्मट के प्रतिपद के व्याख्यान के लिए टीका की शरण लेनी पड़ती है, फिर टीकाकारों में भी परस्पर मत मतान्तरों का झगड़ा है । वैसे मम्मट मानों थोड़े में सब कुछ कह देना चाहते हैं परन्तु उनके टीकाकारों की खींचातानी पाठकों को परेशान कर देती है । उपमा का लक्षण भी मम्मट का उक्त प्रवाह से अछूता नहीं है, **"साधर्म्यमुपमा भेदे"** ।

अर्थात् उपमानोपमेय में परस्पर भेद रहने पर (दोनों का शब्दतः निर्देश रहने पर) समान धर्म प्रयुक्त सम्बन्ध उपमा है । पण्डितराज को यह लक्षण उपयुक्त नहीं मालूम पड़ता है । क्योंकि यह लक्षण तो व्यतिरेकालंकार के निषेध प्रतियोगिक सादृश्य में भी अतिव्याप्त हो जायेगा, क्योंकि व्यतिरेकालङ्कार उपमानोपमेय का सादृश्य में पर्यवसान न होकर उपमेयाधिक्य में पर्यवसान होता है ।[1] यद्यपि यह अलंकार भी साधर्म्यमूलक है, पर यहाँ कवि व्यञ्जना द्वारा सादृश्य को उपस्थित करना चाहता है । यदि यह कहा जाय कि जहाँ उपमानोपमेय का सादृश्य में पर्यवसान हो, वह उपमा है, इस प्रकार उपमा के लक्षण के अर्थ करने से "सादृश्य में पर्यवसित न होने वाले व्यतिरेकालङ्कार से तो अतिव्याप्ति हट जायेगी परन्तु इसी सादृश्य के पर्यवसान से "अनन्वय" की भी व्यावृत्ति हो जायेगी पुनः लक्षण में "भेदे" यह पद देने की क्या जरूरत थी ।

दूसरी बात यह है कि काव्योपयोगी अलङ्कारों के वर्णन प्रसङ्ग में लौकिका-लौकिक सभी तरह की उपमाओं को संग्रहीत करने वाले सामान्य उपमा लक्षण का बनाना अनुचित है । अर्थात् जब तक आप इस सादृश्य में चमत्कारित्वादि कोई विशेषण नहीं लगायेंगे तब तक यह लक्षण लौकिक उपमा जैसे **"यथा गौस्तथा गवय"** इत्यादि में भी प्रसक्त हो जायेगा, अतः यह लक्षण सर्वथा रमणीय नहीं है ।

---

1. मम्मट व पण्डितराज केवल उपमेय के आधिक्य में ही व्यतिरेक मानते हैं, जब कि रुय्यक व अप्पय्यदीक्षित उपमान के आधिक्य वर्णन व उपमेय के न्यूनता वर्णन में भी व्यतिरेक अलंकार मानते हैं ।

इसी प्रकार अलंकार-सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक का भी यह लक्षण पूर्वोक्त दोषों से दूषित है । यह लक्षण इस प्रकार है—

"उपमानोपमेमयोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा" ।

अभेद प्रधान रूपकालंकार से तथा भेद प्रधान व्यतिरेक से, पृथक् भेदाभेद-प्रधान उपमालंकार को रुय्यक ने माना है ।

अर्थात् रूपकादि में सादृश्य अभेद घटित होता है, और व्यतिरेकादि में सादृश्य भेद घटित होता है, परन्तु उपमा में यह सादृश्य भेदाभेदघटित माना है । स्वयं उन्होंने लिखा है—

"साधर्म्ये त्रय प्रकाराः भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत्, अभेदप्राधान्यं रूपकादिवत् द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम् यदाहुः-यत्र किञ्चित् सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशताया" ।

उपमा को रुय्यक ने अभेदहेतुक सामान्य, एवं भेद हेतुक विशेष दोनों को ही सादृश्य ज्ञान का विषय माना है । चित्रमीमांसा के उपमा निरूपण के प्रसङ्ग में दीक्षित जी ने भेदाभेद घटित उपमा की व्याख्या करते हुए लिखा है— **द्वयोस्तुल्यत्वम् —यथास्यामुपमायाम्, "अत्र ह्युपमानोपमेदासाधारणरूपाभ्यां भेदः, साधारण-धर्मेणाभेदश्चेति द्वयोस्तुल्यतैव" इति ।"**

अर्थात् उपमान व उपमेय के असाधारण (भिन्न) रहने से भेद भी है, और साधारण धर्म के (अभिन्न) एक रहने से अभेद भी है, इस प्रकार उपमा में भेदाभेद दोनों की तुल्यता रहती है ।

यह सब होते हुए भी अलंकार-सर्वस्वकार का मत निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उक्त लक्षण में साधर्म्य कैसा हो यह निर्देश नहीं किया गया है जो लौकिक व काव्यीय सभी प्रकार की उपमाओं में अतिव्याप्त हो सकता है ।

चित्रमीमांसा में अप्पय्यदीक्षित का उपमा लक्षण इस प्रकार है—

"उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा"

अर्थात्—जो उपमिति क्रिया की सिद्धि से युक्त हो, अर्थात्—जिससे उपमिति क्रिया (तुलनात्मक व्यापार विशेष) की सिद्धि होती है, ऐसे सादृश्य के वर्णन को उपमा अलंकार कहते हैं । दीक्षित जी के अनुसार उपमा वहाँ होती है, जहाँ सादृश्य या समानता के वर्णन में उपमिति क्रिया की निष्पत्ति होती है । (साथ ही साथ वह अदृष्ट व अव्यङ्ग्य रहे) ।

यद्यपि दीक्षित जी का यह लक्षण प्रौढ़ व परिष्कृत है फिर भी पण्डितराज को उक्त उपमा के लक्षण में कई आपत्तियाँ हैं ।

उक्त लक्षण में जो दीक्षित जी ने "अव्यङ्ग्यत्व" विशेषण जोड़ा है, वह किस-लिए ? क्योंकि वर्णन चाहे बाह्य हो या आभ्यन्तर, वह तो विशेष प्रकार के शब्दों द्वारा ही होता है, फिर शब्द के द्वारा जिस वस्तु का वर्णन किया जायेगा उस वस्तु को ही तो वाच्य कहेंगे । वर्णन चाहे शब्दात्मक हो या ज्ञानात्मक वह किसी भी दशा में व्यङ्ग्य नहीं हो सकता है । उसकी व्यावृत्ति के लिए "सादृश्य वणन" में "अव्यङ्ग्यत्व" विशेषण देना अनुचित है ।

"वर्णनस्य विलक्षणशब्दात्मकस्य विलक्षणज्ञानात्मकस्य वा शब्दवाच्यता विरहेणार्थालङ्कारताया बाधात्, तस्य सर्वथैवाव्यङ्ग्यत्वादव्यङ्ग्यत्वविशेषण-वैयर्थ्याच्च ।"

यदि दीक्षित जी का आशय यह है कि वर्णन विषयीभूत "अदृष्ट व अव्यङ्ग्य" विशेषणों से विशिष्ट सादृश्य उपमा है, तब लौकिक उपमा "यथा गौस्तथा गवयः" में लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा, क्योंकि यह वाक्य भी दोष रहित तथा अव्यङ्ग्य है, वर्णन विषयीभूत भी है । इसी प्रकार पाणिनि के इस सूत्र में भी लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा । **"कालोपसर्जने च तुल्यम्"** इस सूत्र के पहिले **"प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्य-प्रमाणत्वात्"** यह सूत्र है, जिसका आशय है कि "प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है, इस प्रकार का वचन (या निर्वचन) बनाना व्यर्थ है, क्योंकि यह बात तो "अन्यप्रमाण" लोक से ही सिद्ध है, इस सूत्र से **"प्रत्ययार्थः प्रधानं भवति, इत्येवंरूपं वचनमशिष्यम्"** अर्थात् शास्त्र द्वारा "नानुशासनीयम्" इसकी अनुवृत्ति आती है, अर्थात् यह साधारण धर्म है, जिस प्रकार प्रत्यार्थ प्रधान होता है यह वचन शास्त्र द्वारा अनुशासनीय नहीं है, उसी प्रकार **"कालोपसर्जने च तुल्यम्"** में कालविधायक वचन तथा विशेषण उपसर्जन है, यह भी (अशिष्यत्वेन तुल्य) अर्थात् शास्त्र द्वारा प्रतिपादनीय नहीं है, लोकसिद्ध हैं । काल का अर्थ यहाँ दिवस है, जिसका निर्देश सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका में इस प्रकार है—

"अतीतायाः रात्रैः पश्चार्धेन, आगामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितः कालः (दिवसः) अद्यतनः ।"

अब आप प्रधानप्रत्ययार्थ वचन का सादृश्य काल तथा उपसर्जन में भी देख सकते हैं । इन सब आपत्तियों को दूर करने के लिए दीक्षित जी को भी उपमिति क्रिया निष्पत्ति के स्थान में, चमत्कार युक्त सादृश्य कहना अधिक अच्छा है ।

इस प्रकार प्रधान अलंकार शास्त्र के मर्मज्ञों के मतों का आलोचन कर प्राचीन आचार्यों के द्वारा स्वीकृत उपमा के भेदों व प्रभेदों के उदाहरणों को प्रदर्शित कर अलंकार से भी अलंकार उपस्कृत कैसे होता है इसको अच्छी तरह समझाकर,

अपनी प्रतिभा के बल से उपमा के भेदों में विलक्षण नयी कल्पना करके कुछ नये भेदों की भी उद्भावना की गई है।

उपमा के अनुगामी धर्म के विषय में सभी दृष्टियों से विश्लेषण किया गया है, बाद में **"प्रकारान्तरं च सुधीभिः स्वयमुन्नेतुं शक्यम्"** कहकर एक विलक्षण भेद भी दिखलाया है, जिसमें उपमा को ही उपमा का साधारण धर्म भी सिद्ध किया गया है।[1]

पुनः **"इयमेवं भेदा प्राचीनैः भेदैर्गुणने वागगोचरं भूमानं भजमाना नेयत्तामर्हति"** लिखकर सन्तोष किया, इसके बाद उपमा अलंकार के न्याय व्याकरण व मीमांसा शास्त्रों के आधार पर शाब्दबोध का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। कहीं कहीं तो आलङ्कारियों की स्वतन्त्र सारणी का दावा करते हुए, आप आख्यातवाद शिरोमणि तथा पाणिनीय व्याकरण के भी कुछ नियमों को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करते हैं, शास्त्रार्थ प्रक्रिया में अधिकतर आपने अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा का बहुत उपयोग किया है जो जिज्ञासु विद्वानों के लिए माननीय है।

उपमेयोपमा

सादृश्यमूलक अलंकारों में अब उपमेयोपमा का निरूपण करते हैं। पण्डितराज उपमेयोपमा को अलग से अलंकार न मानकर इसको उपमा का ही एक भेद मानते हैं। पर अन्य आचार्यों ने इसे अलग से अलंकार माना है। उपमेयोपमालंकार का लक्षण इस प्रकार है—

"तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोः सादृश्यं सुन्दरमुपमेयोपमा।"

अर्थात् उपमान व उपमेय बने हुए पदार्थों का परस्पर ऐसा सुन्दर सादृश्यात्मक वर्णन जिससे तृतीय सदृश के व्यावृत्ति का ज्ञान हो, अर्थात् जिस ज्ञान का फल यह हो कि, इन दोनों पदार्थों की समता—सादृश्य इन्हीं में हैं, इनसे अन्य किसी तृतीय में नहीं है।

उपमेयोपमा का उदाहरण

कौमुदीव भवती विभाति मे कातराक्षी ! भवतीव कौमुदी।
अम्बुजेन तुलितं विलोचनं लोचनेन च तवाम्बुजं समम्॥

---

1. "यथा लतायाः स्तवकानतायाः स्तनावनम्रे नितरां समासि।
तथा लता पल्लविनी सगर्वे शोणाधरायाः सदृशी तवामि॥
यहाँ दो उपमाओं का ही, तृतीय उपमा में साधारण होना इस उदाहरण की विशेषता है। अतः यह उपमा का एक नया ही भेद है।

कोई नायक किसी नायिका से कह रहा है कि—

हे कातराक्षि ? तू मुझे चन्द्रकला सी प्रतीत होती है, और चन्द्रकला तुझ सी है, तेरे नयन कमल के तुल्य है, और कमल तेरे नयन के समान है ।

उक्त पद्य में कौमुदी और नायिका, एवं कमल व नेत्र की परस्पर उपमा से तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति प्रतीत होती है । अतः यहाँ उपमेयोपमा नामक अलंकार है ।

यह भी उपमा की ही तरह अनेक प्रकार की होती है, अनुगामी धर्म के वस्तुप्रतिवस्तूभावापन्न होने से या बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होने से ।

(1) उपमान व उपमेय में उभय साधारण जो प्रसिद्ध धर्म रहता है उसे ही अनुगामी धर्म कहते हैं । जैसे "चन्द्र इव सुन्दरं मुखम्" इस पूर्णोपमा में उभयनिष्ठ सौन्दर्य अनुगामी धर्म कहा जाता है ।

(2) जो दो पदार्थ भिन्न न हों, पर भिन्न आश्रय के कारण या भिन्न शब्दों से प्रतिपादित होने के कारण भिन्न से लक्षित हो, ऐसे दो पदार्थों का जहाँ अभेद माना जाय उसे वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहते हैं ।

"एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन (आश्रयभेदेन वा) द्विरुपादानं वस्तु-प्रतिवस्तुभावः"

(3) वस्तुतः दो भिन्न पदार्थों में भी जहाँ समानधर्मप्रयुक्त सादृश्य की प्रतीति होने के कारण अभेद माना जाय वहाँ "बिम्बप्रतिबिम्बभाव" होता है,

"वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः" ।

वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न बिम्बप्रतिबिम्बभाव वाली उपमेयोपमा का उदाहरण जैसे—

"रमणीयस्तबकयुता विलसति वक्षोजयुगलशालिन्यः ।
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिकाः ॥

किसी वाटिका में विहार करती हुई रमणियों का कवि वर्णन कर रहा है—

ये वनितायें सुन्दर पुष्पगुच्छों से युक्त लताओं की तरह हैं, और ये लतायें सुन्दर स्तनयुगलों से शोभित वनिताओं की तरह सुशोभित हो रही हैं ।

उक्त पद्य में वर्णित "रमणीयता" और विलसितता, (विशेषणरूप में) युक्तता व शालिनता, (विशेष्य रूप में) ये वस्तुतः एक ही पदार्थ हैं । केवल शब्द और आश्रय भेद से भिन्न से दीखते हैं, अतः इनका परस्पर वस्तुप्रतिवस्तुभाव है । इन दोनों विशेषणों व विशेष्यों के मध्य वर्णित पुष्पगुच्छ तथा स्तन (वक्षोजयुगल)

वस्तुतः भिन्न-भिन्न पदार्थ होते हुए भी सादृश्यमूलक अभेदारोप के कारण बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है ।

अप्पय्यदीक्षित के उपमेयोपमा अलंकार के लक्षण की आलोचना—

चित्रमीमांसा में दीक्षित जी ने प्राचीनों के लक्षणों में दोष दिखलाते हुए, अपना उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया है—

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा ।
एकधर्माश्रया या स्यात् सोपमेयोपमा मता ॥

अर्थात् परस्पर दोनों पदार्थ (उपमान व उपमेय) जिसके प्रतियोगी होते हों ऐसी एक ही साधारण धर्म से सिद्ध होने वाली जो उपमा (सादृश्य) वह चाहे व्यञ्जना वृत्ति से ज्ञात हो अथवा अभिधा वृत्ति से, उसे उपमेयोपमा कहते हैं ।

पण्डितराज का कथन है कि दीक्षित जी का उक्त लक्षण इस परस्परोपमा के उदाहरण में भी अतिव्याप्त है, जैसे—

अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि याया ।
गवेषणेनालमिहापरेषामेषापि तुल्या तव तावदस्ति ॥

हे गौराङ्गि! मैं लता के समान हूँ, इस तरह का महान् गर्व तुम कभी न करना, (अर्थात् लता व अपनी तुलना में मैं ही उपमान होती हूँ) इस प्रकार का अहंकार तुम कभी मत करो । क्योंकि इस विषय में किसी दूसरे को ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं, यह लता भी तो तेरे सदृश हैं, अर्थात् तुलना में तेरा उपमान बनती है । अभिप्राय यह है कि बिना ढूंढ़े जब लता तेरे समान मिल गई, तो ढूँढ़ने पर न जाने कितनी चीजें तेरे समान मिल जायेंगी ।

इस उपमा में भी परस्पर की प्रतियोगिता सहित कृशतारूप एक धर्माश्रय, तथा अभिधारूप एक वृत्ति द्वारा प्रतिपादन तो है ही ।

परन्तु उपमेयोपमा का असली तत्त्व जो तृतीयसदृश व्यवच्छेद था, उसका तो उक्त उदाहरण में गन्ध भी नहीं है । इसके विपरीत ज्यादा पर्यालोचन करने पर तो तृतीय सादृश्य का व्यवच्छेद तो दूर, न जाने कितने सादृश्यों के उपलब्ध होने की शिकायत है ।

अलंकारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक के उपमेयोपमा लक्षण पर अब विचार करते हैं । उन्होंने उपमेयोपमा अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा"

दो वाक्यों में क्रमशः उपमान और उपमेयभाव जहाँ हो उसे उपमेयोपमा

अलंकार कहते हैं। उक्त लक्षण में पण्डितराज इस "द्वयोः" पद की सार्थकता जानना चाहते हैं। खुद वे इसमें तर्क करते हैं कि क्या यह "द्वयोः" पद (अर्थात् दो वाक्यों में या वाक्य भेद) आपने यह अनन्वयालंकार की व्यावृत्ति के लिए दिया है, क्योंकि उक्त अनन्वयालंकार तो एक ही वाक्य में सम्पन्न होता है। परन्तु यह बात तो केवल "पर्यायेण" इस पद से सिद्ध हो जाती है, क्योंकि अनन्वय में परस्पर क्रमशः उपमानोपमेयभाव नहीं होता है। तब इस "द्वयोः" पद की क्या सार्थकता है? यदि किसी प्रकार उक्त "द्वयोः" पद की सार्थकता लक्षण में सिद्ध भी हो जाय, तब भी उक्त लक्षण, **"अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वम्"** इत्यादि परस्परोपमा स्थल अतिव्याप्त है और महाकवि कालिदास द्वारा निर्मित उपमेयोपमा के निम्नाङ्कित पद्य में अव्याप्त है, क्योंकि आपके लक्षण के अनुसार तो वाक्यभेद होना फिर आवश्यक है। परन्तु इस कालिदासीय पद्य जो कि उपमेयोपमा अलंकार का उदाहरण है उसमें वाक्य भेद नहीं है। यह पद्य इस प्रकार है—

तद् वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्,
सद्यः परस्परतुलामधिरोहता द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरञ्च पद्मम्॥

प्रस्तुत पद्य अज व इन्दुमती के स्वयंवर यात्रा के प्रसङ्ग का है। राजकुमार अज सुकोमल शय्या पर सोये हुये हैं। उनको जगाने के लिये बन्दी बालक प्रभात वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हे कुमार! भगवान् भास्कर अब उदयाचल के शिखर को चूम रहे हैं अतः चञ्चल व कोमल कनीनिका वाले तुम्हारे नेत्र, तथा चञ्चल भौरों वाला कमल ये दोनों ही (प्रातः काल के समय) सुन्दर विकास के कारण शीघ्र ही एक दूसरे की तुलना (समानता) को प्राप्त करें।

इस पद्य में वाक्यभेद अर्थात् दो वाक्यों का प्रयोग नहीं है। परस्पर तुलना के कारण, एक दूसरे के साथ तृतीयसदृश का व्यावर्तन करते हुए उपमानोपमेयभाव को प्राप्त कर रहे हैं। अतः इस लक्ष्यैकदेश में सर्वस्वकार के लक्षण की प्राप्ति न होने से लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त ही है। जैसा कि स्वयं पण्डितराज का लेख है·—

इति कालिदासपद्ये प्रतिपाद्यायामुपमानोपमेययोर्युगपदुपमेयोपमानभावाया-मुपमेयोपमायां वाक्यभेदाभावादव्याप्तेश्च।

अनन्वय

सादृश्यमूलक अलंकारों के वर्णन प्रसङ्ग में अब अनन्वय नामक अलंकार का वर्णन करते हैं। अनन्वय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"न विद्यतेऽन्वयः, सम्बन्धः, उपमानान्तरेण यत्र सोऽनन्वयः", अर्थात् जहाँ किसी उपमेय का उपमानान्तर

से साधारण धर्मत्व सम्बन्ध न हो। कवि जहाँ सादृश्यप्रयुक्त उपमानान्तर के चमत्कार को उपमेय में ही देखना चाहता है। उस भेदमूलक सादृश्य की उपचारवश एक ही उपमेय वस्तु में कल्पना कर ली जाय वहाँ अनन्वय नामक अलंकार होता है। उपमेय पर ही जहाँ कवि की आस्था केन्द्रित हो जाती है, साथ ही साथ सादृश्यप्रयुक्त चमत्कार भी उसी में लाने की कोशिश होती है, तब उपमानान्तर के सादृश्य का व्यवच्छेद या द्वितीय सदृश व्यवच्छेद में उक्त अलंकार का तात्पर्य रहता है, जैसा कि पण्डितराज का लक्षण है—

"द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं, तदनन्वयः" ।

अर्थात् उस सादृश्य का नाम अनन्वय है, जिसके वर्णन से द्वितीय सदृश का व्यवच्छेद होता हो, जिसका उपमान व उपमेय एक ही पदार्थ होता हो।

उदाहरण

पण्डितराज के पीयूषलहरी नामक स्तोत्र काव्य का यह पद्य है। कवि गङ्गा जी की स्तुति करता हुआ कह रहा है कि—

कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि संतप्तमनसः,
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्,
नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननित्वं विजयसे ॥

हे मातः गङ्गे! छोटे छोटे पापों को करने के बाद अपने मन में सन्ताप का अनुभव करने वाले, मनुष्यों के उद्धार के लिए तो न जाने संसार में कितने तीर्थ हैं। (क्योंकि उन तीर्थों में उन लोगों के पापों का प्रायश्चित्त सम्भव है)। परन्तु जिनके पाप प्रायश्चित की परिधि से भी बाहर हैं अर्थात् जिन पापीय चरितों का कभी भी प्रायश्चित्त न हो सके, ऐसे महापापियों को भी अपनाकर उनका उद्धार करने में तो आपके समान आप ही हैं। तात्पर्य यह है कि महापापियों को भी अपनाने के विषय में आपकी तुलना किसी दूसरे से नहीं की जा सकती है, इस विषय में आप ही सर्वोत्कृष्ट हैं।

यहाँ **"त्वमिव जननि त्वं विजयसे"** इत्यादि वाक्य से गङ्गा से इतर में सर्वोत्कर्ष रूप साधारण धर्म का व्यवच्छेद किया गया है। फलतः गङ्गाजी के उपमानान्तर के अभाव में एक गङ्गारूप उपमेय में ही उपमानोपमेय भाव की कल्पना की गई है। उक्त पद्य के निर्माता कवि पण्डितराज की असीम आस्था का केन्द्रबिन्दु गङ्गाजी होने से कविनिष्ठ गङ्गा विषयक भाव का उक्त अनन्वयालंकार उपस्कारक है। अतः वाक्यार्थोपस्कारकत्वरूप अलंकार सामान्य लक्षण भी उक्त अनन्वयालंकार में सङ्गत हो जाता है।

दीक्षित जी ने अनन्वय का लक्षण इस प्रकार दिया है—

स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका ।
अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरितः ।। (चित्र मी०)

जहाँ एक पदार्थ की उपमा स्वयं उसी से दी जाय तथा यह केवल अनुगामी धर्म के आधार पर हो वही अन्वर्थ नाम वाला "अनन्वय" अलंकार होता है और **"गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः । राम रामणयोर्युद्धं राम रावणयोरिव ।"** इत्यादि प्राचीनों के अनन्वयालंकार के उदाहरणस्वरूप इस पद्य के विषय में अरुचि प्रकट की है ।

आपका कहना है कि "अभेद में भी उपमानोपमेय भाव कहने वाले आलंकारिकों का मत है, मीमांसक तो अभेद में उपमानोपमेय भाव को मानते भी नहीं हैं । वे लोग उक्त पद्य में—

"अद्यतनस्य पूर्वेद्युस्तनं युद्धमुपमानम्, एतत् कल्पगगनस्य कल्पान्तरगगनमुपमानमित्यादि कल्पयन्ति" इस प्रकार का उद्धरण देकर फिर अपना अनन्वयालंकार का पूर्वोक्त लक्षण प्रस्तुत किया है ।

बाद में यह अनन्वयालंकार व्यङ्ग्य भी होता है, कहकर निम्न पद्य को उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है—

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ।।

घर पर आये हुए श्रीकृष्ण के प्रति विदुर का यह वचन है । हे कृष्ण, आज आपके (घर पर) आगमन से मुझे जो प्रसन्नता हुई है वह फिर बहुत समय के बाद आपके ही आगमन से हो सकती है । इसमें दीक्षित जी का कथन है कि उक्त पद्य में व्यञ्जनावृत्ति द्वारा "आपके आगमन से होने वाली प्रसन्नता, पुनः आपके ही आगमन से होने वाली प्रसन्नता के समान है" इस प्रकार का अनन्वय व्यङ्ग्य होता है ।

इस प्रसङ्ग में पण्डितराज का आलोचन इस प्रकार है । काल विशेष से अनवच्छिन्न (अविशेषित) श्रीकृष्ण गगनप्रयुक्त प्रसन्नता एक सामान्य अङ्गीभूत वस्तु है और काल विशेष से अवच्छिन्न, अर्थात् समय समय पर हुए श्रीकृष्णगमन से उत्पन्न होने वाली दो प्रसन्नतायें उसके अङ्ग हैं ।

इन दो प्रसन्नताओं को भिन्न भिन्न काल में उत्पन्न होने के कारण भिन्न भिन्न में कोई बाधा नहीं है । ऐसी स्थिति में इन अङ्गभूत प्रसन्नताओं का सादृश्य बाधित नहीं होता है । बिना सादृश्य के बाधित हुए अनन्वय हो नहीं सकता है । जैसा स्वयं दीक्षित जी ने उपमा प्रकरण में कहा है **"स्वस्मिन् सादृश्यस्यान्वया-**

भावादनन्वयः" अपने सादृश्य का अपने में अनन्वय नहीं होने के कारण इसे अनन्वय कहते हैं" इत्यादि । अब स्वयं आप कहिये कि उक्त पद्य में तो उक्त रीति से सादृश्य अन्वित हो जाता है, तब यहाँ अनन्वय कहाँ रहा? यहाँ वर्तमान कालिक अङ्गभूत कृष्णागमन प्रयुक्त प्रसन्नता उपमेय है, उसकी तुलना जब दूसरे से करेंगे तब, भविष्यत् कालिक कृष्णागमन प्रयुक्त प्रसन्नता उपमान होगी, और अन्य सादृश्य का निषेध भी यहाँ प्रतीत नहीं होता है, तब जब यहाँ अनन्वयालंकार का लेश ही नहीं है, तो फिर वह कैसे होगा ।

अतः हमारा यह पद्य उक्त अनन्वयालंकार ध्वनि के उदाहरण में प्रस्तुत करना चाहिए—

नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कतमया,
पुराणां संहर्त्तुः सुरधुनि कपर्दोऽधिरुरुहे ।
कया वा श्रीभर्त्तुः पदकमलमक्षालि सलिलै-,
स्तुलालेशो यस्यां तव जननि दीयेत कविभिः ।।

हे मातगङ्गे, पर्वतों से निकलने वाली नदियों में कौन सी ऐसी नदी है, जिसने त्रिपुरदाहक भगवान् शंकर के जटाजूट पर आरोहण किया हो, और कौन सी ऐसी नदी है, जिसमें श्रीपति अर्थात् भगवान् विष्णु के चरणकमलों को अपने जल से धोया हो, हे गङ्गे ! यह तुम ही कहो, (इन दोनों कार्यों को करने वाली दूसरी कोई नदी नहीं है) जिससे कि तुम्हारी तुलना का लेश भी कविगण अपनी कविता में दे सकें ।

अर्थात् अन्य किसी भी नदी के द्वारा उक्त कार्य न होने से तुम्हारे साथ केवल तुम्हारी ही तुलना दी जा सकती है, यह "अनन्वय" यहाँ ध्वनित होता है ।

असम

सादृश्यमूलक अलंकारों के निरूपण प्रसङ्ग में अनन्वयालंकार का निरूपण कर अब सर्वथा सादृश्य निषेध परक असमालंकार का निरूपण कर रहे हैं जिसका लक्षण है **"सर्वथैवोपमानिषेधोऽसमाख्योऽलङ्कारः ।"** जहाँ सर्वथा ही उपमा का निषेध रहता है, वह असम नामक अलंकार है ।

साक्षात् अथवा परम्परया सादृश्य को सर्वथा निषेध प्रयुक्त चमत्कार इस अलंकार के अलंकारत्व का साधक है । यद्यपि यह अलंकार अनन्वयालंकार में नियत-रूप से व्यङ्ग्य रहता है । जैसे—**"त्वमिव जननिस्त्वं विजयसे"** इत्यादि में "तुम्हारे समान संसार में कोई नहीं है ।" यह व्यङ्ग्य ही अनन्वय के स्वरूप का पोषक है, इस स्थिति में वे स्वतन्त्र चमत्कार का जनक नहीं है, परन्तु वाच्यता दशा में तो

यह स्वतन्त्र भी चमत्कार का जनक होता हुआ अलंकार व्यवहार का प्रयोजक होता है।

जिस प्रकार रूपक, दीपकादि में व्यङ्ग्यभूता उपमा पृथक् अलंकार व्यवहार को नहीं प्राप्त करती है उसी प्रकार अनन्वय में व्यङ्ग्यभूत यह असम भी पृथक् अलंकार व्यवहार को नहीं प्राप्त करता है। स्वतन्त्र वाच्यालंकार की दृष्टि से तो "सादृश्य" के सर्वथा निषेध द्वारा कुछ चमत्कार का आधान करता है।

उदाहरण

भूमिनाथ शहाबुदीन भवतस्तुल्यो गुणानां गणैः,
एतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावयेत्,
न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥

कवि मुगल सम्राट् शहाबुद्दीन की स्तुति कर रहा है—हे शहाबुद्दीन नृपते! पञ्च महाभूतों से बने हुये इस महा प्रपञ्च (संसार) में, गुणगणों से आपके समान कोई नहीं यह क्या कहें, क्योंकि यह तो सब विदित ही है।

कहना तो यह है कि यदि ब्रह्मा पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त किन्हीं नवीन का उपादान कारणों से संसार की सृष्टि करें, तब भी आपके समता की बात तो दूर रही। आपकी समता का गन्धमात्र भी धारण करने वाला मनुष्य नहीं होगा।

उक्त पद्य में शहाबुद्दीन के सादृश्य का पुरातन व नूतन उभयविध सृष्टि में सर्वथा निषेध किया गया है। प्रधानतया यह चमत्कार सर्वथा सादृश्य निषेध में होने से और उक्त असम राजस्तुति का उत्कर्षक होने से अलंकार है।

प्राचीन आलंकारिकों ने उक्त अलंकार की अपने ग्रंथों में कोई चर्चा नहीं की है, हाँ अलंकार-रत्नाकरकार ने अवश्य इस अलंकार को माना है, पर वे इसका समुचित उदाहरण न दे सके, उपमा लुप्ता के ही उदाहरण को लाकर यहाँ पटक दिये, जो इस प्रकार है—

ढुँढुलायमानो मरिष्यसि कण्टकलितानि केतकीवनानि।
मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर भ्रमन्नपि न प्राप्स्यसि॥ (छाया)

हे भ्रमर, तू ढूँढता हुआ भी मालती के फूल के समान दूसरे को नहीं प्राप्त कर सकेगा। इत्यादि।

काव्य प्रकाशकार आदि सभी ने उक्त गाथा में उपमानलुप्ता नामक अलंकार माना है और पण्डितराज भी इससे सहमत हैं कि उक्तपद्य असमालंकार का उदाहरण नहीं हो सकता है। पण्डितराज का इस प्रसङ्ग में कथन है कि उक्त पद्य में उपमान का सर्वथा निषेध नहीं हो रहा है। यहाँ का अभिप्राय यह है कि मालती के समान

दूसरा कोई फूल भले ही हो दुनियाँ में कहीं पर तुम उसे नहीं प्राप्त कर सकते हो, यह कोई उपमान का आत्यन्तिक निषेध तो नहीं है, जिसमें कि उक्त पद्य को असमालंकार का उदाहरण माना जाय ।

"मालती कुसुमसदृशं भ्रमन् भ्रमर न प्राप्स्यसि इति उक्त्या वर्ततां नाम तत्सदृशं क्वापि, त्वया तु दुष्पापमेवेति, प्रत्ययादात्यन्तिकोपमान-निषेधाभावादुपमानलुप्तोपमैवेयं भवितुमर्हति, नासमालङ्कारः, अन्यथा "मालती कुसुमसदृशं नास्ति", इत्येवं ब्रूयात्, न तु प्राप्स्यतीति ।"

उदाहरण

असम के बाद उदाहरण नामक अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

"सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावय-विभाव उच्यमान उदाहरणम् ।"

अर्थात् सामान्यरूप से वर्णित अर्थ के शीघ्र बोध के लिए, उनके एकदेश का वर्णन करके, सामान्य पदार्थ व उसके एकदेश का शब्दतः कहा गया अङ्गाङ्गिभाव "उदाहरण" कहलाता है ।

अर्थान्तरन्यास में कहीं उक्त लक्षण अतिव्याप्त न हो इसलिए इस अलंकार के लक्षण में "उच्यमान" पद का निवेश किया । यद्यपि अर्थान्तरन्यास में भी सामान्य-विशेष भाव रहता है, पर वहाँ इसका वाचक शब्द नहीं रहता है । उक्त अलंकार में यथा, इव, निदर्शन, दृष्टान्त, इत्यादि पद सामान्य-विशेषभाव के बोधक रहते हैं । परन्तु ये 'यथा इवादि' शब्द तो उपमा अलंकार में भी आते हैं । तब उक्त स्थल में उपमा ही क्यों न मानी जाय? इसके उत्तर में पण्डितराज का कथन है कि उपमा तो सादृश्य का नाम है और सादृश्य भेदघटित पदार्थ है जिसका उपयोग यहाँ नहीं होता है । यहाँ तो सामान्य विशेषरूप से किसी एक ही पदार्थ में में अवयवावयविभाव की कल्पना की जाती है । जैसे—वृक्षत्वसामान्य का वर्णन कर उसके विशेष दृष्टान्त के लिए उसी के एकदेश आम्रादि को प्रस्तुत कर दिया ।

इसी प्रकार का उदाहरण यह निम्न पद्य है—

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति ।
निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ।।

अगणित गुणों से मण्डित पदार्थ भी कभी एक दोष के कारण निन्दित हो जाता है, जैसे (आयु आदि को बढ़ाने वाले औषधियों में) समस्त रसायनों में श्रेष्ठ लहसुन अपने उग्रगन्ध के कारण निन्दित हो जाता है । उक्त पद्य में अमितगुणवाले पदार्थ सामान्य का वर्णन कर उसके "अवयव" एकदेश को विशेष रूप से उदाहरण-रूप में प्रस्तुत करने से यहाँ उदाहरणालंकार है ।

यहाँ पदार्थ व लहसुन में सादृश्यप्रयुक्त उपमा नहीं कही जा सकती है, क्योंकि यहाँ सामान्य विशेषभाव ही कवि का विवक्षित रहता है, न कि सादृश्य। उक्त अलंकार में सादृश्य की स्पष्ट प्रतीति न होने के ही कारण इव, यथा, के अर्थ में सदृश व तुल्यादि पदों का प्रयोग नहीं कर सकते हैं।

प्राचीन आलंकारिकों ने उक्त उदाहरणालंकार को नहीं माना है। केवल अलंकार-रत्नाकरकार शोभाकर मिश्र ने ही इस अलंकार को माना है। शोभाकर मिश्र ने इसे सूत्ररूप में निर्दिष्ट किया है—

"सामान्योद्दिष्टानामेकस्य निदर्शनमुदाहरणम्"

सामान्यतः निर्दिष्ट पदार्थों में उसके विशेष किसी एक देश का दृष्टान्त रूप में उपस्थित करना उदाहरणालंकार कहलाता है।

प्राचीनों ने उक्त अलंकार को उपमा में ही अन्तर्युक्त कर लिया था, परन्तु शोभाकर को यह अभीष्ट नहीं था। इसके पृथक् अलंकार की उपपत्ति में वे दो श्लोकों में स्पष्ट निर्देश करते हैं कि उपमा में इस अलंकार का कभी भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

उपमानोपमेयत्वं भिन्नयोरूपमेत्यतः,
सामान्यस्यास्फुटत्वेन ज्ञातस्य स्फुटसंविदे।
तदंशस्य विशेषस्य क्रियते यन्निदर्शनम्,
तदुदाहरणं तस्यामन्तर्भावोऽस्य किं कृतः॥

इस प्रकार शोभाकर व पण्डितराज इस अलंकार के पक्ष में हैं। पूर्व पद्य में सामान्य विशेष भाव इव शब्द के द्वारा बोधित किया गया था, अब निदर्शन शब्द द्वारा अभिहित सामान्य विशेष भाव का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

उपकारमेव कुरुते विपद्गतसद्गुणोनितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः॥

भले आदमी विपत्ति में पड़े हुए भी अत्यन्त उपकार ही करते हैं। मूर्च्छित या मृत पारदरस ही इसमें दृष्टान्त है।

उक्त पद्य में विपद्गत सद्गुण सामान्य एक सामान्य है, जबकि मूर्च्छित या मृत पारदरस, इसका एक विशेष है। इनका सामान्य-विशेषभाव यहाँ निदर्शन शब्द द्वारा दिखलाया गया है। रासायनिक प्रक्रिया द्वारा जब पारे का संस्कार किया जाता है तो उसकी तीन अवस्थायें होती हैं। मूर्च्छित, मृत, बुभुक्षित। इन अवस्थाओं में भी पारा उपकारक ही होता है।

यह उदाहरणालंकार कहीं-कहीं अर्थान्तरन्यासादि से मिश्रित भी पाया जाता है। जैसे अर्थान्तरन्यास से मिश्रित यह महाकवि कालिदास का पद्य—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

कुमारसम्भव महाकाव्य के हिमालय वर्णन प्रसङ्ग में यह श्लोक आया है—अनन्तरत्नों के उत्पत्ति स्थान जिस हिमालय का हिम (बर्फ) उसके सौभाग्य का ह्रास न कर सका। क्योंकि अनेकों गुणों के रहने पर, उस गुण समूह में, एक दोष इस प्रकार छिप जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों में कलंक।

उक्त पद्य में 'गुणसमूह में एक दोष' इस सामान्य का 'इव' शब्द के द्वारा 'चन्द्र किरणों में कलंक' इस विशेष के रूप में उदाहृत किया गया है। और इन सामान्य विशेषात्मक दोनों पदार्थों का विधेयभूत एक ही क्रिया के साथ अन्वय होता है, जैसे उक्त श्लोक में 'गुणसमुदाय में दोष' यह सामान्य तथा 'चन्द्र किरणों में कलंक' इस विशेष का एक ही निमज्जन रूप क्रिया में अन्वय है।

प्राचीन रुय्यकादि आचार्य उक्त पद्य में अर्थान्तरन्यास अलंकार मानते हैं, वे इसमें गुणसमुदाय में दोष का निमज्जन इस सामान्य चन्द्र की किरणों में काम के निमज्जन रूप विशेष से समर्थन करते हैं।

अप्पय्य दीक्षित जी ने उक्त पद्य में विकस्वर नामक अलंकार माना है, जिसका लक्षण दिया है—

"यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः"

अर्थात् जहाँ विशेष का समर्थन सामान्य से किया जाये, और उसकी दृढता के के लिए फिर किसी विशेष का उपादान किया जाये ऐसी जगह विकस्वरालंकार होता है। जैसे उक्त पद्य में—अनेक रत्नों की खान वाले हिमालय का हिम (बर्फ) कुछ भी नहीं बिगाड़ सका—इस विशेष उक्ति का "अनेक गुणों में एक दोष छिप जाता है" इस सामान्य उक्ति द्वारा समर्थन किया गया, पुनः इसकी पुष्टि "चन्द्रमा की किरणों में कलंक जैसे छिप जाता है," इस उपमानावयव रूप विशेष उक्ति के द्वारा की गई। अतः यहाँ विकस्वरालंकार है ऐसा दीक्षित जी का कहना है।

परन्तु पण्डितराज विकस्वर अलंकार को पृथक् से नहीं मानना चाहते हैं, वे इसको अर्थान्तरन्यास व उपमा की संसृष्टि मान लेते हैं, अथवा दो अर्थान्तरन्यासों की संसृष्टि, और "अनन्तरत्नप्रभवस्य" इत्यादि पद्य में उदाहरणालंकार की समर्थक युक्तियों को प्रस्तुत करते हैं। आपका कहना है कि उदाहरणालंकार में—सामान्य-विशेषभूत पदार्थों के अवयवावयविभाव के बोधक इव यथादि शब्द प्रयुक्त होते हैं, और सामान्य व विशेष पदार्थों का एक ही क्रिया (विधेय) के साथ अन्वय होता है, जब कि अर्थान्तरन्यास में यह सब नहीं होता है, अर्थात्—वहाँ सामान्य-विशेष भाव के बोधक इवादि शब्द नहीं रहते हैं और सामान्य व विशेषभूत पदार्थों का अन्वय

भिन्न भिन्न क्रियाओं के साथ रहता है। इन्ही सब विशेषताओं के कारण उदाहरणालंकार को एक पृथक् अलंकार माना जाता है।

स्मरण

उदाहरण के बाद अब स्मरणालंकार का निरूपण करते हैं—जिसका लक्षण-इस प्रकार है—

"सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः"।

सादृश्य ज्ञान से उद्बुद्ध जो संस्कार, उससे साक्षात् या परम्परया होनेवाला जो स्मरण उसको "स्मरणालंकार" कहते हैं।

उदाहरण

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डध्वनि-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम्।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितिश स्मरेत्॥

कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है—हे राजन्, दोनों बाहु दण्डों से कुण्डल के समान गोल किये हुए सुन्दर धनुष की प्रचण्ड ध्वनि से उद्दण्ड शत्रुसमूह को नष्ट कर देने वाले तुम्हें युद्ध के मध्य में देखकर, कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो वाचाल गाण्डीव धनुष से युक्त व बाणसमूह की ज्वालामुखी का ताण्डव नृत्य से भ्रष्ट होते हुए, खाण्डव (वन) में स्थित कुद्ध पाण्डव (अर्जुन) का स्मरण न करे अर्थात् रणभूमि में आपको देखकर दर्शकों को वैसे अर्जुन की स्मृति हो जाती है।

यहाँ युद्धभूमि में वर्ण्य राजा को देखकर, दर्शकों को उक्त सादृश्य ज्ञान के संस्कार से अर्जुन की स्मृति हो आयी अतः यह स्मरण है। इस वाच्य स्मरण से कविनिष्ठ राजविषयक रति का उत्कर्ष हो रहा है, अतः यह स्मरण अलंकार है। इस स्मरणालंकार की उद्बोधक सामग्री सादृश्य ही होनी चाहिए न कि चिन्ता आदि क्योंकि जिस प्रकार सादृश्य या उसका संस्कार स्मृति को बोधक है, उसी प्रकार अदृष्ट, चिन्तादि भी उक्त स्मृति के उद्बोधक है, अतः सादृश्यज्ञानों से उद्बुद्धसंस्कार फलीभूत स्मृति को ही अलंकार कहा जायेगा। जैसे निम्न पद्य में स्मरणालंकार नहीं माना जायेगा—

इत एव निजालयं गताया वनिताया गुरुभिः समावृतायाः।
परिवर्तितकन्धरं नतभ्रु स्मयमानं वदनाम्बुजं स्मरामि॥

उक्त पद्य में चिन्ता से उद्बुद्ध स्मृति न तो अलंकार है, और नहीं भाव है, क्योंकि अभिव्यक्त स्मृति को ही भाव कहते हैं, यहाँ का स्मरण तो व्यङ्ग्य नहीं

अपितु वाच्य है, अतः केवल उक्ति वैचित्र्य में ही विश्रान्त वस्तुमात्र है।

चित्रमीमांसा में अप्पय्यदीक्षित का स्मरणालंकार का लक्षण इस प्रकार है—

स्मृतिः सादृश्यमूला वा वस्त्वन्तरसमाश्रया।
स्मरणालंकृतिः सा स्यादव्यङ्ग्यत्वविशेषिता॥

किसी समान (या असमान) विषय में होनेवाली उस स्मृति को स्मरणालंकार कहते हैं, जो व्यङ्ग्य न हो। (अर्थात् वाच्य व लक्ष्य हो)।

पण्डितराज का कथन है कि केवल सादृश्यमूला स्मृति ही से जब स्मरणालंकार की सिद्धि हो जाती है, तब फिर "वस्त्वन्तरसमाश्रया" इत्यादि पदों का लक्षण में निवेश करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसी से परम्परया किसी अन्य स्मृति का भी या सम्बद्ध स्मृति का भी ग्रहण हो जायेगा, यह नियम है कि **"एकसम्बन्धिज्ञानपमरसम्बन्धिस्मारकं भवति"** और लक्षण में "अव्यङ्ग्यत्व" विशेषण भी उचित नहीं है, क्योंकि व्यङ्ग्यत्व और अलंकारत्व में कोई विरोध नहीं है, यदि आप अलंकार्यभूत स्मृति के लिए उक्त विशेषण का निवेश आवश्यक समझते हो तो यह भी उचित नहीं, यदि वह स्मृति भी किसी रस भावादि की उपकारिका हो तो उक्त स्मृति के अलंकार होने में कोई क्षति नहीं—जैसे हनुमन्नाटक के इस पद्य में—

सौमित्रे, ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते,
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते, चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरङ्गं यतः
क्वासि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि॥

सीता के वियोग से सन्तप्त भगवान् रामचन्द्र की लक्ष्मण से यह उक्ति है—

हे लक्ष्मण! प्रचण्ड किरणों वाला यह सूर्य उदित हो रहा है, अतः छाया का आश्रय लें, इस वृक्ष के नीचे चलो, हे रघुपते! रात्रि में सूर्योदय कहाँ, यह तो चन्द्रोदय हो रहा है, (ऐसा जब लक्ष्मण ने कहा) तब रामचन्द्र जी बोले—हे वत्स, तुमने कैसे जाना कि यह चन्द्रोदय हो रहा है? तब लक्ष्मण ने कहा क्योंकि यह मृग को धारण किया हुआ है, इतना कहते ही (भगवान् राम की मृग के स्मरण से उसके नयनों की स्मृति, पुनः तत्सादृश्य से सीता के नयनों स्मरण, तदनन्तर सीता जी का स्मरण हो आया) जोर से विलाप करने लगे हाय कुरङ्गनयने! चन्द्रानने! जानकि! तुम इस समय कहाँ हो, इत्यादि यहाँ यद्यपि स्मृति व्यङ्ग्य है, परन्तु इस पद्य में प्रधानीभूत विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रति उक्त व्यङ्ग्यभूता स्मृति उपस्कारक होने के कारण स्मृति अलंकार है।

"तत्र नेयं स्मृतिरलङ्कार्यभूता, किन्तु जानक्यालम्बनो निशासमयोद्दीपितः, सन्तापादिनानुभावित, उन्मादेन सञ्चारिणा परिपोषितो विप्रलम्भः प्रधानत्वेनालङ्कार्यः, तस्य च स्मृतिरुत्कर्षहेतुत्वादलङ्कार एव"।

इस प्रसङ्ग में नागेश ने दीक्षित जी का ही पक्ष लिया, "गुरुमर्मप्रकाश" में उन्होंने "**सीतास्मृतेः प्राधान्यादिति भावः**" ऐसा लिखा है, आपका अभिप्राय है कि "हा कुरङ्गनयने क्वासि जानकि" इत्यादि पदों से प्रधानता—या सीता की स्मृति ही ध्वनित होती है। विप्रलम्भशृङ्गार ही उक्त अलंकार्यभूत स्मृति का उपस्कारक है, फलतः दीक्षित जी का कथन ठीक ही है। परन्तु अन्य लोगों का कथन इस प्रकार है—उक्त पद्य जिस प्रकरण का है, उस समस्त प्रकरण से विप्रलम्भ शृङ्गार रस ही प्रधानरूप से ध्वनित होता है, इस पद्य की रचना भी कवि ने प्रकरण व्यङ्ग्य विप्रलम्भ की परिपुष्टि के लिए ही की है। अतः इस पद्य का भी प्रधान व्यङ्ग्य विप्रलम्भ को ही मानना चाहिये। पुनः "सादृश्यमूला" इस विशेषण का प्रयोजन बतलाते हुए निम्नाँकित पद्य में स्तूयमाना पृथ्वी से सम्बन्धित राजा की स्मृति स्मरणालंकार नहीं माना, है, क्योंकि उक्त स्मृति सादृश्यमूलक नहीं है—वह पद्य इस प्रकार है—

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि विभ्रति किमपि न श्रान्ताऽसि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद् विभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः॥

कवि किसी राजा की स्तुति में कहता है कि—हे राजन्, चारों तरफ ऊँचे ऊँचे पर्वत और समुद्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हे वसुन्धरे, इन सबको धारण करती हुई भी तू कुछ भी श्रान्त नहीं हुई, अतः तुझे प्रणाम है। इस प्रकार आश्चर्यपूर्वक जब तक पृथ्वी की बार बार स्तुति का प्रस्ताव रखता हूँ, तब तक उस पृथ्वी को भी धारण करने वाले आपके बाहु का स्मरण हो आया, फिर क्या था मेरी वाणी ही रूक गई।

दीक्षित जी ने उक्त पद्य में भू विषयक स्मृति को स्मरणालंकार इस लिए नहीं माना चूंकि वह सादृश्यमूलक नहीं है, अपितु सञ्चारीभाव है। वह राजविषयकरति के अङ्ग होने से, यह प्रेयान् नामक अलङ्कार है।

इस पर पण्डितराज का कथन है कि यहाँ 'प्रेयान्' अलंकार नहीं हो सकता है। प्रेयान् अलंकार तो यहाँ तब होता जब कि स्मृति यहाँ व्यङ्ग्य होती, तभी वह भाव भी कही जा सकती है, तब कहीं एक भाव के दूसरे भाव की अङ्गता में प्रेयान् अलंकार हो सकता परन्तु यहाँ तो स्मृति वाच्य ही है। वाच्य सञ्चारी स्मृति तो भाव पदवाच्य नहीं हो सकती है, जैसा कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का कहना है—"**व्यभिचार्यञ्जितो भावः**" इति सिद्धान्तात्। काव्यप्रकाशकार ने पञ्चम उल्लास में अपराङ्ग व्यङ्ग्य रूप मध्यमकाल के उदाहरण रूप में उक्त पद्य को प्रस्तुत

किया है, प्रकारान्तर से यहाँ काव्यप्रकाशकार ने भाव के भावाङ्ग होने में प्रेयान् अलंकार को माना है।

"अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य-रतिभावस्य"

अलंकार-सर्वस्वकार की भी यही सम्मति है कि प्रेयोऽलंकार का लक्ष्य तो वह स्मरण होता है, जो सादृश्य से अन्य किसी निमित्त से उद्बोधित हुआ हो और वह भी वाच्य विभावादि से अभिव्यक्त होने पर जैसे "अहो ! कोप में भी उसका मुंह कितना सुन्दर था" **"अहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्"**

अपने वाचक शब्द से प्रतिपादित होने पर स्मृति भाव रूप नहीं होती है, और सादृश्य के बिना अलंकार भी नहीं, केवल स्मृति का उदाहरण यह पद्य है—

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥

लंका से लौटते समय सीता के प्रति राम की यह उक्ति है—शिकार खेलकर गोदावरी नदी के किनारे जब मैं थककर लौटता था, तो उस नदी के शीतल समीर से वह थकान दूर हो जाती थी, तब तुम्हारी गोद में सिर रखकर जो मैं इस वेमलता के मण्डप में सो जाया करता था, उसकी स्मृति इस स्थान को देखते ही जग उठी है।

उपमा की ही तरह स्मरणालंकार के भी पण्डितराज ने कई भेद किये हैं, उपमा में जैसे अनुगामी साधारण धर्मा आदि के लोप से अनेक भेद होते हैं, उसी प्रकार इस स्मरणालंकार में भी अनुगामी साधारण धर्म के लोप से, और कहीं विम्बप्रति-बिम्बभावापन्न के रूप में, और कहीं साधारण धर्म के उपचार में और यह श्लेषयुक्त शब्द मात्र में स्मरणालंकार का प्रयोग कर इसके अनेक भेद दिखलाये हैं।

रूपक

स्मरणालंकार का निरूपण कर अब जिनमें अभेद की ही प्रधानता होती है, उन अलंकारों में सर्वप्रधान रूपकालंकार का निरूपण करते हैं—

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमान-तादात्म्यं रूपकम्, तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलंकारः उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण।

अर्थात् उपमेय में रहने वाले असाधारण धर्म मुखत्व आदि (को पुरस्कृत कर) रूप से उपस्थित उपमेय मुख में शब्द प्रमाण द्वारा निश्चित किये जाने वाले उपमान (चन्द्रादि) की एकरूपता (अभेद) को "रूपक" कहते हैं। यही अभेद जब किसी वाक्यार्थ का उत्कर्ष होता है, तब इसे रूपकालंकार कहते हैं। लक्षण में आये हुए **"उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण"** पद के द्वारा, अर्थात् उपमेय में रहने वाले असाधारण

धर्म मुखत्वादि के रूप में मुखादि उपमेयों को उपस्थित करने पर अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति व निदर्शना इन चार अलंकारों में उक्त लक्षण की व्यावृत्ति हो जाती है।

यद्यपि इन अलंकारों में भी उपमेय तथा उपमान का तादात्म्य रहता है, परन्तु उसमें उपमेयतावच्छेदकरूप से उपमेय उपस्थित नहीं रहता है। अपह्नुति अलंकार में तादात्म्य के लिये उपस्थित होता हुआ भी मुख पुरस्कृत न होकर तिरस्कृत ही होता है। भ्रान्तिमान् में भी भ्रान्ति के कारण मुखादि उपमेयों का बाध्य ही होता है, अन्यथा तो उक्त अलंकार की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। अतिशयोक्ति में उपमेयांश को उपमान द्वारा निरूपण ही हो जाता है, इसके विपरीत उपमानतावच्छेद-रूप से ही वहाँ उक्त उपमेय की प्रतीति होती है। निदर्शना में उपमेय मुखादि का भी बोध उपमानतावच्छेदकरूप से अर्थात् चन्द्रत्वेन ही होता है। फलतः मुखादि का बोध भी चन्द्रत्वरूप से ही होता है। अतिशयोक्ति व निदर्शना दोनों जगह साध्यवसाना लक्षणा होती है, इसलिए उभयत्र चन्द्रत्वेन मुखादि का बोध होगा।

चाक्षुष प्रत्यक्ष की व्यावृत्ति के लिए आहार्यनिश्चय अभेदज्ञान का जन्य शब्द प्रमाण होना चाहिए, इसीलिए लक्षण में **"शब्दान्निश्चीयमान"** यह विशेषण दिया। उत्प्रेक्षा के सम्भावना के निरास के लिए "निश्चीयमान" यह विशेषण रक्खा। उपमानोपमेयभाव सादृश्य व्याप्त पदार्थ है, अर्थात् जहाँ भी उपमानोपमेयभाव रहता है, वहाँ सादृश्य अवश्य रहता है। अर्थात् 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूपक में उपस्थित उपमान व उपमेय के द्वारा सादृश्य का लाभ होता है, अतः सादृश्यमूलक तादात्म्य को ही रूपक कहते हैं न कि सम्बन्धान्तरमूलक तादात्म्य को, अतएव **"सुखं मनोरमाः रामाः"** इत्यादि हेत्वलंकार में रूपक की प्रसक्ति नहीं हुई, यहाँ रामाओं में जो सुख का आरोप है, वह सादृश्यमूलक न होकर कार्यकारण-मापमूलक है, या शुद्धा सारोपा द्वारा ही यहाँ तादात्म्यारोप है।

अलङ्कार-रत्नाकर कार के मत का खण्डन

अलंकार-रत्नाकर कार शोभाकर मित्र का कथन है कि सादृश्य प्रयुक्त हो या सम्बन्धान्तर प्रयुक्त हो, दो विभिन्न पदार्थों का सामानाधिकरण्य निर्देश अर्थात् विभक्ति प्रयुक्त जो तादात्म्य है, वह सब रूपक ही है।

यह तो प्राचीनों का व्यर्थ का दुराग्रह है कि केवल गौणीसारोपा मूला लक्षणा प्रयुक्त तादात्म्य ही रूपकालंकार है, अतः सादृश्यमूलक तादात्म्य की ही तरह सम्बन्धान्तरमूलक तादात्म्य को भी रूपकालंकार मान लेना चाहिए।

इस विषय में पण्डितराज का प्रत्याख्यान इस प्रकार है--यदि आप किसी

प्रकार के भी सामानाधिकरण्य को रूपक मानेंगे, तब तो अपह्नुति आदि में भी आपका रूपकालंकार अतिप्रसक्त हो जायेगा, क्योंकि किसी न किसी सम्बन्ध से दो विभिन्न पदार्थों का सामानाधिकरण्य तो वहाँ भी रहता ही है।

जिस प्रकार आप कार्यकारणादिभावमूलक तादात्म्य में रूपक मान लेते हैं, उसी प्रकार स्मरणालंकार में चिन्तादि मूलक स्मरण को भी स्मरणालंकार क्यों नहीं मान लेते हैं। वहाँ सादृश्यमूलक ही स्मरण को क्यों स्मरणालंकार मानते हैं?

इस पर यदि आप यह कहें कि किसी भी प्रकार की स्मृति को यदि स्मरणालंकार माना जायेगा, तब तो स्मृतिभाव का लोप ही हो जायेगा, इसीलिए हमने केवल सादृश्यमूलक स्मृति को ही स्मरणालंकार माना है, इसके उत्तर में निवेदन है कि स्मृति जहाँ ध्वनित होगी वहाँ स्मृति को भाव कहा जायेगा, अन्यथा तो वह अलंकार रूप में ही रह सकती है।

अप्पय्यदीक्षित के मत का खण्डन

चित्रमीमांसा में दीक्षित जी ने रूपकालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

विम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥

जब विषयी अर्थात् उपमान बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से रहित, शब्द के द्वारा निर्दिष्ट, विषय के साथ उपरञ्जकता को प्राप्त करता है, उसे रूपक कहते हैं।

अर्थात् शब्द द्वारा स्पष्ट निर्दिष्ठ विषय उपमेय (मुखादि) जहाँ विषयी उपमान (चन्द्रादि) के रङ्ग में रङ्ग जाए अर्थात् उसके साथ अभेदारोप हो जाए, साथ ही साथ यह अभेद विम्बप्रतिविम्बभावापन्न न हो तो वहाँ रूपकालंकार होता है।

दीक्षितजी का कहना है कि कहीं निदर्शना में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसीलिए रूपक में विम्बप्रतिविम्ब भाव का निषेध किया गया है। जैसे—

त्वदत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥

अर्थात् तुम्हारे पैरों के नखों में जो महावर का लगाना, वह श्रीखण्ड के लेप द्वारा चन्द्रमा को स्वच्छ करना है। जैसे चन्द्रमा से स्वतः शुक्लता होने से अनासञ्जनीय धवलता है। उसी प्रकार तुम्हारे नखों में भी स्वतः लालिमा रहने से अनासञ्जनीय रक्तिमा है। अतः दोनों में सादृश्य रहने से बिम्बप्रतिबिम्वभाव है। इसी बिम्बप्रतिबिम्बभाव की व्यावृति के लिए दीक्षित जी ने रूपक के लक्षण को बिम्बाविशिष्ट अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से रहित कहा है।

पण्डितराज ने बड़ी असभ्य भाषा में इस प्रसङ्ग में दीक्षित जी का खण्डन किया है। एक तो दीक्षित जी को यहाँ अलंकार-सर्वस्वकार का पिछलग्गू कहा है, और परोक्ति द्वारा ही उनकी प्रामाणिकता का उपहास किया है। रसगङ्गाधर में यह उद्धरण इस प्रकार है—**"भ्रान्तेनैव प्रतारितोऽसि। न हि प्रामाणिकेन भवता कदापि परेणानुक्तं किञ्चिदुच्यते। यद्यपि रूपकं बिम्बप्रतिविम्बभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव।"**

अर्थात् रूपक में बिम्ब-प्रतिविम्बभाव नहीं होता है यह कहना तो दीक्षित जी की भ्रान्ति ही है। इस विषय में दीक्षित जी ने जो अलंकार-सर्वस्वकार का अनुसरण किया है, वह भी सीधा अन्धानुकरण है। जबकि अलंकार-सर्वस्व के टीकाकार जयद्रथ ने विमर्शिनी टीका में स्वयं "कन्दर्प द्विपकर्ण नम्बुमलिनै" इत्यादि पद्य में रूपक में भी बिम्बप्रतिविम्बभाव माना है।

जैसे **"मुखं चन्द्रः"** इत्यादि स्थलों में उपमान और उपमेय का आरोपित ताद्रूप्य रहता है, वैसे ही यहाँ **"त्वत्पादनखरत्नानाम्"** में भी "मार्जन" रूप उपमेय और "पाण्डुरीकरणरूप" उपमान का ताद्रूप्य शब्दतः है। अतः यहाँ रूपक ही है निदर्शना नहीं। यदि ऐसी जगह भी रूपक न मानकर निदर्शना ही मानेंगे, तव तो **"मुखं चन्द्रः"** यहाँ षर भी निदर्शना ही मान लीजिए। और रूपक की अभिज्ञता का जो आवरण पहिने हुए है, उसे हटा दीजिए। **"निरयतां च रूपकदाक्षिण्यकौपीनम्।"** उक्त पद्य—"त्वत्पादनखरत्नानाम्" में दीक्षितजी वाक्यार्थनिदर्शना मानते हैं, और पण्डितराज इसमें विम्वविशिष्ट रूपक।

पण्डितराज इन दोनों में विषय विभाग भी साफ दिखा देते हैं जो इस प्रकार है—

श्रौतः शाब्दः अभेदः, उद्देश्यविधेयभावालिङ्गनं च यत्र भवेत् तत्र रूपकम्। यथा मुखं चन्द्रः, इत्याद्यैः मुखचन्द्रयोः शाब्दोऽभेद उद्देश्यविधेयभावश्च स्फुटः। यत्र पुनरार्थः, अर्थबलगम्य अभेदः, उद्देश्यविधेयभावानालिङ्गनं च तत्र निदर्शना, यथा यो यावकैः नखान् रञ्जयति, स चन्दनेन इन्दुं पाण्डुरी कुरुते इत्यादौ रञ्जनपाण्डुरीकरणयोरार्थोऽभेदः। शब्दस्य भिन्नत्वात्, उद्देश्यविधेयभावाभावश्च, इति व्यवस्थासम्पत्तेरिति भावः" (रस ग० चन्द्रिका व्याख्या)

इस प्रकार पण्डितराज ने रूपक में भी बिम्ब-प्रतिविम्ब भाव को समझाते हुए, कुछ आवेश में आकर दीक्षित जी को दीर्घश्रवा यशस्वी किंवा लम्बकर्ण (दूसरे की ही बातों को अधिक सुनने वाले) अथवा गदहा आदि गन्दे शब्दों का प्रयोग किया है। रसगङ्गाधर में यह उद्धरण इस प्रकार है—

"नेदं रूपकम्, रूपके विम्बप्रतिविम्बभावो नास्ति, इति केनाप्यालङ्कारिकमन्येन प्रवारितस्य दीर्घश्रवसो द्रविडयोक्तिरश्रद्धेयैव।"

मम्मट का खण्डन

आचार्य मम्मट ने रूपकालंकार का लक्षण इस प्रकार का किया है **"तद्-रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः"** अर्थात् उपमान व उपमेय का जो अभेद उसे रूपक कहते हैं।

पण्डितराज का कथन है कि मम्मट कृत रूपक का यह लक्षण चिन्तनीय है, क्योंकि उपमान व उपमेय का अभेद तो अपह्नुति अलंकार में भी रहता है। यदि आप पूर्वोक्त उपमेय व उपमान का अर्थ उपमेयतावच्छेदक को उपस्थित कर उपमानतावच्छेदकावच्छिन्न से उसका अभेद कहें अर्थात्—उपमेयतावच्छेदक उपमेयभाव का परिचायक मुखत्व आदि से युक्त मुखादि में, उपमानतावच्छेदकावच्छिन्न अर्थात् उपमानतावच्छेदक चन्द्रत्वादि से परिचित चन्द्र का अभेद रूपक है, तो यह लक्षण अपह्नुति में प्रसक्त नहीं होगा क्योंकि वहाँ तो उपमेयतावच्छेदक अर्थात् मुखत्व के रूप में मुख पुरस्कृत नहीं अपितु तिरस्कृत ही रहता है।

परन्तु **"नूनं मुखं चन्द्रः"** इत्यादि उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति हो जाएगी, क्योंकि उपमान व उपमेय का अभेद तो वहां भी होता ही है भले ही वह अभेद सम्भावनापरक हो। यदि उत्प्रेक्षा को विशेष शास्त्र मानकर और रूपक को सामान्य शास्त्र मानकर उत्प्रेक्षादि को उसका बाधक माना जाय, जैसे लोक में भी, **"सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि देयम्, तक्रं कौण्डिन्याय,"** "सभी ब्राह्मणों को दही दिया जाय कौण्डिन्य को तक्र दिया जाय"। यद्यपि ब्राह्मण होने के नाते कौण्डिन्य को भी सामान्य नियम के अनुसार दही प्राप्त है, परन्तु विशेष विहित तक्रदानवचन से सामान्यविहित दधिदान वचन बाधित हो जायेगा, ठीक यही बात रूपक व उत्प्रेक्षा के विषय में भी है। जहाँ सामान्य अभेद होगा वहाँ रूपकालंकार होगा, और जहाँ विशेष सम्भावना वाला अभेद होगा, वहाँ उत्प्रेक्षा होगी। अतः रूपक-लक्षण की अतिव्याप्ति उत्प्रेक्षा में नहीं होगी,—तो यह कथन भी ठीक नहीं हैक्योंकि आपने जो दृष्टान्त उपस्थित किया है, वह विषय है।

रूपक का लक्षण है उसका असाधारण धर्म, यदि वह उत्प्रेक्षा में भी पाया जायेगा तो वहाँ से उसे कौन हटा सकता है। तब आप यही कहेंगे कि रूपक का सामान्य धर्म है, और उत्प्रेक्षा का विशेष धर्म है, तो इससे क्या हुआ, कोई विशेष धर्म सामान्य धर्म के बिना तो रहेगा नहीं, जैसे घटत्वरूप विशेष धर्म के साथ उसके सामान्य धर्म द्रव्यत्व, पृथवीत्व तो रहेंगे ही, अब कोई द्रव्यत्व, या पृथवीत्व को हटाकर, घटत्व विशेष को किसी अधिकरण में रखना चाहे तो क्या रख सकता है? कभी नहीं। उसी तरह उत्प्रेक्षा में सम्भावनारूप विशेष धर्म के साथ रहने वाले अभेदरूप सामान्य धर्म को कोई हटा नहीं सकता है। अतः जब अभेद वहाँ (उत्प्रेक्षा में) है तो "रूपक" भी आपको वहाँ मानना पड़ेगा, क्योंकि मम्मट के लक्षण के अनुसार

तो उपमान व उपमेय का अभेद जहाँ होगा, वहाँ रूपक मानना ही पड़ेगा। तब अभेद व सम्भावना को कोई साधक, बाधक, खास प्रमाण के न मिलने पर उसे रूपक भी कह सकते हैं और उत्प्रेक्षा भी।

तस्मात् रूपक के लक्षण में अभेद के साथ "निश्चीयमान" यह विशेषण अवश्य लगाना चाहिए जिससे उत्प्रेक्षा स्थलीय सम्भाव्यमान अभेद रूपक नहीं कहा जा सकेगा।

अर्थात् जिस प्रकार मैंने अपने रूपक के लक्षण "निश्चीयमान" शब्द का निवेश किया है, उसी प्रकार आपको भी अपने लक्षण में उक्त शब्द को अवश्य रखना चाहिए। **"विषय सम्भावनाऽभेदाभ्यामुत्प्रेक्षायामलङ्कारद्वयव्यवहारोपपत्तेश्च, निश्चीयमानत्वेनाऽभेदो विशेषणीय इति चेदस्मदुक्त एव तर्हि पर्यवसितिरिति दिक्।"**

रूपक के भेद

अब रूपकालंकार के भेद प्राचीन आचार्यों के अनुसार दिखलाते हैं। प्रथमतः रूपक तीन प्रकार का होता है—सावयव, निरवयव, व परम्परित। प्रथम-सावयव रूपक समस्तवस्तु विषय, व एकदेशविवर्ती के भेद से दो प्रकार का होता है। द्वितीय केवल व मालारूप के भेद से दो प्रकार का होता है, तृतीय श्लिष्टपरम्परित व शुद्ध परम्परित ये दोनों केवल व माला के भेद से चार प्रकार के होते हैं। सब मिलाकर आठ प्रकार का होता है। सुविधा के लिए निम्न रेखा चित्र में रूपक के भेद इस प्रकार हैं—

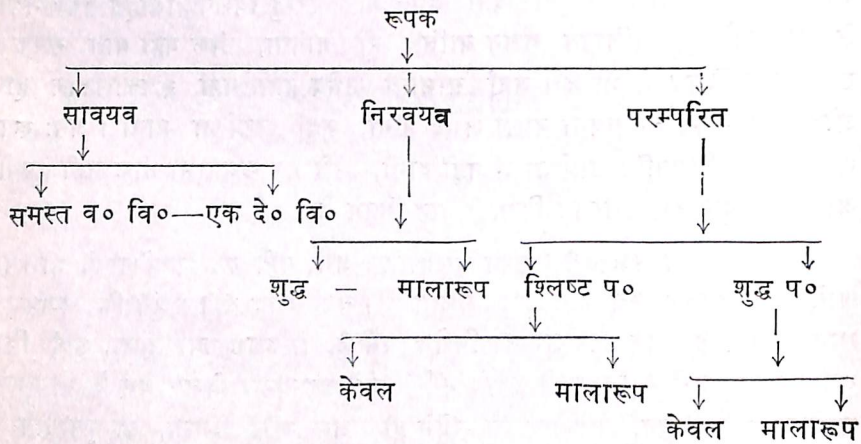

सावयव रूपक—एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होने वाले रूपकों के समूह को सावयव रूपक कहते हैं।

"परस्पर सापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम्"।

समस्त वस्तु विषयक—जिसमें सभी आरोपणीय उपमानभूत पदार्थों का ग्रहण शब्दतः किया जाता है, उसे "समस्तवस्तु विषयकरूपक" कहते हैं। **"समस्तानि वस्तूनि आरोप्यमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र, तत्समस्तवस्तुविषयम्"।**

एकदेश विवर्ती—जिस सावयव रूपक में किसी एक देश में अर्थात् अवयव में उपमान शब्दतः कथित हो, और किसी अवयव में वह (उपमान) अर्थतः आक्षिप्त हो वह एकदेश विवर्ती रूपक कहलाता है।

"यत्र च क्वचिदवयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाणं, क्वचिच्चार्थसामर्थ्याक्षिप्तं, तदेकदेशे विशेषेण वर्तनाद् एकदेशविवर्तिरूपकम्।"

निरवयव रूपक—परस्पर सापेक्ष रूपकों का संघात जहाँ न हो उसे निरवयव रूपक कहते हैं।

"सापेक्षरूपकसंघातात्मकत्वविरहान्निरवयवम्"

केवलरूपक—जहाँ एक उपमेय में अनेक उपमानों की माला का अभाव हो, उसे केवल रूपक कहते हैं। मालारूपक—जहाँ एक उपमेय में अनेक उपमानों की माला हो, वहाँ मालारूपक होता है। परम्परित रूपक—जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण बने वहाँ परम्परित रूपक होता है। **"यत्र आरोप एवारोपान्तरस्य निमित्तं तत्परम्परितम्।"**

श्लिष्ट परम्परितरूपक—परम्परितरूपक में यदि समर्थक रूपक (क्योंकि उक्त रूपक में समर्थ्य-समर्थकभाव रहता है) श्लिष्ट शब्दों द्वारा उपात्त रहे तो, उसे श्लिष्ट परम्परित रूपक कहते हैं, अथवा समर्थक रूपक श्लिष्ट शब्दों में न रहे तो उसे शुद्धपरम्परितरूपक कहते हैं।

प्राचीन व नवीनों की दृष्टि से रूपक-स्थलीय शाब्दबोध का विचार—

(1) "मुखं चन्द्रः" इत्यादि रूपक स्थलीय शाब्दबोध के प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्यों का विचार इस प्रकार है—सर्वत्र रूपकस्थल में उपमान वाचक चन्द्रादि पदों की स्ववृत्तिगुणवत् अर्थ में "गौणी सारोपा" लक्षणा होती है। अर्थात् "मुखं चन्द्रः" इत्यादि रूपक स्थल में उपमान चन्द्रादि पदों की स्ववृत्तिगुणवत् अर्थ में—चन्द्रादि उपमान वाचकों में विद्यमान जो आह्लाद, उस आह्लाद से युक्त अर्थ में लक्षणा होती है। और उपस्थित उस अर्थ का अर्थात् चन्द्रनिष्ठ उस आह्लाद युक्त अर्थ का विशेषणरूप से उपमेय मुखादि में अभेदान्वय होगा। तब उसका स्वरूप होगा "चन्द्र-वृत्ति आह्लादवदभिन्नं मुखम्।" (अर्थात् चन्द्र में रहने वाले आह्लादकता आदि गुणों से युक्त या गुणवत् से अभिन्न मुख)।

गौणी सारोपा लक्षणा के द्वारा चन्द्र पद स्वनिष्ठगुणवत् को लक्षित करेगा, अर्थात् उपमान वाचक चन्द्र पद अपने में वर्तमान आह्लादकतायुक्त अर्थ को उपस्थित करेगा, तब उक्त अर्थ का उपमेयभूत मुख के साथ अभेदान्वय विशेषण के रूप में होगा, उक्त लक्षणा का फल होगा—चन्द्र व मुख में तादृप्य की प्रतिपत्ति अर्थात्

अभेद जिसका आकार शब्द बोध में होगा "**चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखम् ।**"

अलङ्कार भाष्यकार का भी इस विषय में यही मत है,[1] आपका कहना है कि रूपक में जो लक्षणा की जाती है, उसका रहस्य ही यही है कि उपमान व उपमेय पदार्थों में परस्पर अभेद प्रतिपत्ति हो जाय । अर्थात् कवि जब किन्हीं पदार्थों में रूपणा करता है, तो उसका तात्पर्य ही यह है, कि उपमानगत समस्त सौन्दर्य का मुख भलीभाँति आधान कर सके, यह तभी सम्भव है जबकि उन दो पदार्थों का परस्पर अभेदारोप हो ।

कुछ लोगों का इस विषय में यह कहना है कि यदि उपमानवाचक पदों में आप लक्षणा करते हैं, तब तो उक्त चन्द्रादि पदों के अर्थ तद्गतगुण आह्लादकत्वादि या तत् सदृशादि ही होंगे, फिर उपमा में भी तो "**चन्द्रसदृशं सुन्दरं मुखम्**" इत्यादि सादृश्य रहता ही है । शाब्द बोध में तो रूपक व उपमा स्थल में कोई विशेष फर्क नहीं हैं । इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उपमा में जहाँ यह बोध अभिधा द्वारा होता है, वहाँ रूपक में यह लक्षणा द्वारा होता है, अतः वृत्तिभेद जन्य वैलक्षण्य तो है ही । यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वृत्तिभेद से अलंकार भेद मानना ठीक नहीं, चमत्कार भेद से ही अलंकार भेद माना जा सकता है । इस पर सिद्धान्ती का कथन है वृत्तिभेद से चमत्कार में भी भेद आ जाता है । रूपक स्थल में गौणी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणा होती है, जिसका फल है अभेद, यह फल उक्त स्थल में व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ही अभिव्यक्त होता है, जबकि उपमा केवल साम्य ही वाच्य है । उक्त रूपक स्थल में वैयाञ्जनिक वृत्ति द्वारा उपस्थित अभेद के प्रति बाध बुद्धि भी अकिञ्चित्कर है । अर्थात् व्यञ्जना बोध के द्वारा आहार्य अभेद ज्ञान के प्रति बाधबुद्धि भी प्रतिबाधक नहीं है । रूपकस्थल में यही प्राचीनों का विचार है ।

उक्त रूपक स्थल में नवीन आचार्यों (अप्पय्यदीक्षितादि) का मत इस प्रकार है ।

नवीन आचार्यों का कथन इस प्रकार है कि दो प्रतिपादिकों के अर्थों का अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय व्युत्पत्ति सिद्ध है, "**नात्रार्थयोरभेदसंसर्गेणान्वयस्यव्युत्पत्तिसिद्धत्वाच्चन्द्राभिन्नं मुखमिति लक्षणां विनैव बोधः**" । अतः "मुखं चन्द्रः" इत्यादि स्थलों में किसी अन्य युक्ति अर्थात् लक्षणादि की आवश्यकता नहीं है । "मुखं चन्द्रः" इत्यादि रूपक में प्राचीन लोग जिस अभेद की सिद्धि के लिए प्रयोजनवती लक्षणा मानते हैं, वह अभेद तो, आकाँक्षा आदि संसर्ग विधि से ही सम्भव है तब उसके लिए व्यर्थ लक्षणा की कल्पना करना उचित नहीं है ।

---

1. "अत एवालंकारभाष्यकारः लक्षणा परमार्थ यावता रूपकम्" (रस ग० द्वि०)

फिर उक्त रूपक स्थल में लक्षणा मानने में बहुत से दोष आते हैं। **"मुखं चन्द्रः"** इत्यादि में आपके अनुसार चन्द्रपद की लक्षणा चन्द्र-सदृश अर्थ में होगी, तब उपमिति समास व विशेषण समास में क्या अन्तर रह जायेगा। अर्थात् जब आप लक्षणा के द्वारा चन्द्र पद का चन्द्रसदृश यह अर्थ करते हैं, तब **"उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे"** इस पाणिनि सूत्र से "मुखं चन्द्रः" पद को सिद्ध करते हैं। तब उपमा अलंकार यहाँ माना जाता है, और "मुखं चन्द्रः" इस विग्रह में जब **"विशेषण-विशेष्येण बहुलम्"** इस पाणिनि सूत्र से समास करके उक्तपद को बनाते हैं तब यहाँ रूपकालंकार माना जाता है, यह वस्तुस्थिति अब यदि प्राचीनों के कथनानुसार रूपक स्थल में लक्षणा मानी जायेगी, तब तो उक्त उपमिति समास तथा विशेषण विशेष्य समास में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा क्योंकि उपमिति समास में जिस प्रकार उत्तर पद चन्द्रपद की स्वसदृश में लक्षणा होने के कारण "चन्द्रसदृश मुख" यह अर्थ होगा। उसी तरह विशेषण समास में भी उक्त चन्द्रपद की चन्द्रसदृश अर्थ में लक्षणा होने से वैसा ही अर्थ होगा। तब प्रथम को उपमा व द्वितीय को रूपक कहने में कोई युक्ति (विनिगमना) नहीं है।

दूसरी बात यह है कि उन रूपकों में जहाँ सादृश्श का निषेध भी मिश्रित रहता है, जैसे—"मुखं न चन्द्रसदृशमपि तु चन्द्रः" इत्यादि स्थलों में लक्षणा वाली प्राचीनों की बात नहीं बन सकती है, "क्योंकि मुख चन्द्रसदृश नहीं अपितु चन्द्र ही है।" इस अंश में चन्द्रपद की तत्सदृश में लक्षणा नहीं होगी, कारण यह है कि जिस मुख में शब्दतः चन्द्रसादृश्य का निषेध किया जा चुका है उसी मुख में चन्द्रसादृश्य बुद्धि हो नहीं सकती है। फिर नञर्थ का अन्वय न तो आप लक्ष्यार्थ चन्द्रसदृश के साथ कर सकते हैं, ना ही व्यङ्ग्यार्थ अभेद के साथ ही कर सकते हैं, क्योंकि जिस समय आप नञ् का अन्वय करने चलेंगे वह तो वाच्यार्थ दशा है उस समय अभेद का वहाँ ज्ञान ही कहाँ है। तस्मात् लक्षणा के बिना ही **"नीलो घटः"** इत्यादि की तरह **"मुखं चन्द्रः"** इत्यादि स्थल में भी अभिधा द्वारा ही अभेदान्वय हो जायेगा।

यद्यपि यहाँ चन्द्राभिन्न मुख का अभेद प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हो सकता है। परन्तु यह बोध तो आहार्य—अर्थात् बाधकालिक इच्छाजन्य है अतः बाधज्ञान से बाधित नहीं होगा। क्योंकि आहार्य से भिन्न ज्ञान ही बाधज्ञान से प्रतिवध्य होता है। और भी "कृपया सुधया सिञ्च, हरे मां तापमूर्च्छितम्" इत्यादि स्थलों में भी, हे हरे! मैं ताप से मूर्च्छित हूँ मुझे कृपारूप सुधा से सीचों। अब यहाँ कृपा को सुधा से अभिन्न न मानकर, लक्षणा द्वारा सुधा सदृश कृपा मान लो तब तो वह सींचने का कारण कैसे होगा और अभिन्न मानने पर ही वह जीवन हेतु सींचना हो सकता है अर्थात् कृपा जब तक अमृतरूप न हो जाय, तब तक उसका

"सींचना" जीवन का हेतु नहीं हो सकता है। यह नवीन आलंकारिकों के मत का दिग्दर्शन मात्र है।

यद्यपि पण्डितराज का सम्मत मत प्राचीन आचार्यों के ही अनुसार है, वे रूपक में लक्षणा को मानते ही हैं। यहाँ इन मतों का प्रदर्शन केवल उनके दृष्टिकोण को दिखाने के लिए प्रदर्शित किया है।

परिणाम

अभेदप्रधान अलंकारों में रूपक का निरूपण कर अब परिणाम का निरूपण कर रहे हैं। रूपकालंकार से जहाँ उपमान का उपमेय में अभेद होता है, वहाँ परिणामालंकार उपमान में उपमेय का अभेद होकर प्रकृतोपयोगी होता है। रूपक में उपमान को उपमेय से अभिन्न समझ लेने पर ही प्रकृत वाक्यार्थ सङ्गत हो जाता है, परन्तु परिणाम में तो उपमेय का उपमान में अभेद प्रतीत होकर प्रकृत कार्योपयोगी होने पर ही वाक्यार्थ सङ्गत होता है। उपमान-प्रतियोगिकाभेद रूपक है, और उपमेय-प्रतियोगिकाभेद परिणाम है। यही इनमें भेद है। पण्डितराज के टीकाकारों का इस विषय में यही विचार है—विषय का अभेद विषयों में होकर, वह प्रकृतोपयोगी हो तो उसे परिणाम कहते हैं, रूपक में तो विषयी का विषय में अभेद होता है।

"विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी, न स्वातन्त्र्येण स परिणामः"

पण्डितराज का विचार इस प्रकार है—विषयी-उपमान, विषय-उपमेय के रूप में ही, न कि स्वतन्त्र रूप से अर्थात् विषयस्वरूप में प्रकृतकार्योपयोगी हो, तो वहाँ पर वह विषयरूपता, विषयाभेद परिणाम कहलाता है।

पण्डितराज के परिणाम के इस सीधे-लक्षण में टीकाकारों की क्लिष्ट कल्पना भी चिन्तनीय है। नागेश ने मर्मप्रकाश में **"रूपकादस्य भेद इति"** इस प्रतीक को उपन्यस्त कर **"वयं तु ब्रूमः—उपमानप्रतियोगिकाभेदो रूपकम्, उपमेयप्रतियोगिकाभेदः परिणामः प्रतीपवत्"** यह कहकर एकदम परिणाम को रूपक के विपरीत मान लिया है, प्रतीप की तरह। वस्तुतः रूपक से आमूलचूल एकदम परिणाम का भेद नहीं होता है, रूपक में जहाँ उपमान अपने उपमेय के साथ अभेद प्रतिप्रत्ति ही उपरञ्जनमात्र कराता है, वहाँ परिणाम में विषयी विषयरूप में परिणत होकर ही प्रकृत में उपयोगी होता है। सभी प्राचीन अलंकारिकों का करीब करीब यही मत है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने परिणामालङ्कार का कोई उल्लेख नहीं किया है, हाँ रुय्यक ने अपने अलंकार-सर्वस्व नामक ग्रन्थ में इस अलंकार का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात् प्रकृतोपरञ्जकत्वेनैव केवलेनान्वयं भजते, परिणामे तु

प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति ।

अर्थात् परिणामालंकार में आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता रहती है; जब कि रूपक में आरोप्यमाण उपमान केवल प्रकृतोपरञ्जकमात्र हुआ करता है ।

ठीक इसी का अनुसरण साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने भी किया है—

विषयात्मतयारोपे प्रकृतार्थोपयोगिनी ।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।। इत्यादि

अप्पय्यदीक्षित का भी परिणामालंकार का लक्षण इसी प्रकार का है, उन्होंने कुवलयानन्द में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

परिणामः क्रियार्थश्चेद् विषयी विषयात्मना ।
प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्ष्यते मदिरेक्षणा ।।

विषयी जहाँ विषय के स्वरूप को ग्रहण कर प्रकृतोपयोगी हो वहाँ परिणामालंकार होता है । जैसे—मादकनेत्रों वाली नायिका प्रसन्न नेत्र कमलों से देखती है—यहाँ उपमान कमल वीक्षणारूप कार्य में तभी उपयुक्त हो सकता है, जब कि वह विषयात्मतया अर्थात् नेत्रत्वेन-दृगात्मना परिणत होगा । यहाँ किसी प्रकार उपमा की शंका भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि सामान्य धर्म "प्रसन्नेन" का उल्लेख भी है, उपमिति समास सामान्य धर्म के अप्रयोग में ही होता है ।

इस प्रकार परिणाम अलंकार के विषय में करीब करीब आचार्य रुय्यक से लेकर पण्डितराज तक सबका एक सा ही विचार है, परन्तु नागेश ने तो परिणाम का एकदम व्यत्यय सा अर्थ कर दिया और अन्य टीकाकारों ने भी जिसका अन्धानुकरण किया है ।

उदाहरण

अपारे संसारे विषयविषयारण्यसरणौ,
मम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमते ।
परिश्रान्तस्यायं तरणितनयातीरनिलयः,
समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालास्तिरयतु ।।

कोई भक्त प्रार्थना कर रहा है—

"अपार इस संसार के भयानक विषयारण्य रूपी राह में अविरत गति से बार बार भ्रमण करके थके हुए मुझ जडमति के चारों तरफ के तापों को, यमुनातीरवासी यह हरिरूप नूतनतमाल दूर करें" । उक्त पद्य में भगवान् हरि उपमेय है और नूतनत-

माल है उपमान, यह नूतन तमाल उपमान भगवान् हरिरूप उपमेयात्मना ही अर्थात् उपमेय हरिरूप में परिणत होकर ही, प्रकृत-संसार के तापों को दूर करने में उपयोगी है। साथ ही साथ यह तमाल पथिकों के धर्मजन्य सन्ताप को भी दूर करता हुआ, उन्हें रमणीय तथा शीतल छाया भी प्रदान करता है, इसीलिए कवि ने तमाल को उपमान बनाया है।

व्यधिकरण (भिन्न विभक्ति) में भी यह परिणामालंकार देखा जाता है। जैसे—

अहीनचन्द्रा लसताननेन, ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन।
एषा हि योषा सितपक्षदोषा, तोषाय केषां न महीतले स्यात्॥

किसी सुन्दरी का यह वर्णन है—"शोभायमान आनन से पूर्णचन्द्रा, शुद्धहास्य से ज्योत्स्ना युक्त, यह शुक्लपक्ष की यामिनीरूपकामिनी संसार में किसकी प्रसन्नता के लिए नहीं है, अपितु सभी की प्रसन्नता के लिए है।" यहाँ सभी को प्रसन्न करने वाली है, यह कहने से विरहिजन सन्तोषकारिणी है, यह अर्थ भी आ जाता है, वह विरहिजनतोषकारकत्व, उपमानभूत शुक्लपक्ष की रजनी में, स्वतः अपने आप में बाधित है, किन्तु उपमेयभूता योषा से सङ्गत होने से परिणामालंकार है। अर्थात् उपमानभूता शुक्लपक्षीय दोषा, जब तक उपमेयात्मना योषारूप में परिणत नहीं होगी तब तक विरहिजन-सन्तोषजनकत्व नहीं आ सकता है।

यह परिणाम परस्पर सापेक्ष बहुसंघात्मक है, अतः सावयव है। इसमें पूर्वार्ध के दो अवयव भिन्न विभक्तिक हैं, और उत्तरार्ध का एक अवयव समान विभक्तिक है। मुख तथा स्मित जो कि उपमेय हैं इनकी उपस्थिति तृतीयान्त पदों से है, और चन्द्र और ज्योत्स्ना जो कि उपमान है, इनकी उपस्थिति प्रथमान्त पदों से हैं। विरुद्ध विभक्तियों के द्वारा उपस्थित होने के कारण इसे व्यधिकरण परिणाम कहते हैं।

अप्पय्यदीक्षित द्वारा उदाहृत व्यधिकरण परिणाम का खण्डन

अप्पय्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में व्यधिकरण-परिणाम के उदाहरण में निम्न पद्य को उपस्थित किया है—

तारानायकशेखराय जगदाधाराय धाराधर-
च्छायाधारककन्धराय गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणे।
नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिने नारायणेनास्त्रिणे,
नागैः कङ्कणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेयं नुतिः॥

चन्द्र जिनका शिरोभूषण है, जो जगत् के आधार हैं, जिनका कण्ठ मेघ की कान्ति को धारण करता है, और पार्वती के साथ ही जिनका एकमात्र शृङ्गार है, ऐसे नदी (गङ्गा) द्वारा शिरोभूषावाले, ललाटचक्षु द्वारा तिलक वाले, नारायण द्वारा

अस्त्रवाले, सर्पो द्वारा कङ्कण वाले, और पर्वत-कैलास द्वारा घर वाले, हमारे स्वामी शिव के लिए यह नमस्कार है ।

उक्त पद्य के विषय में पण्डितराज का वक्तव्य इस प्रकार है कि "कवि के द्वारा यहाँ शृङ्गारी शिव के लिए नमस्कार किया जा रहा है, और शृङ्गार में उक्त आभूषणों की आवश्यकता भी है, क्योंकि उनके बिना शृङ्गारी होना भी सम्भव नहीं है, ऐसी स्थिति में यहाँ आरोपित किये जाने वाले उपमानभूत, शिरोभूषण, तिलक आदि के रूप में ही नदी, नेत्र आदि उपमेयों का उपयोग सिद्ध हो रहा है, अतः यहाँ शुद्ध "रूपक" ही होना चाहिए। परिणाम की यह पहली शर्त कि उपमान उपमेय से अभिन्न रहता है, यह तो यहाँ घट जाती है, क्योंकि उपमेय वाचक नदी आदि शब्दों के आगे तृतीया विभक्ति का यहाँ अभेद अर्थ है, परन्तु परिणाम की जो दूसरी शर्त है कि प्रकृत में उपयोगी होना, यह इस अभेद में नहीं मालूम पड़ती है, क्योंकि उपमान शिरोभूषण आदि उपमेयात्मना स्थित होकर भी प्रकृत कार्य जो शृङ्गार है, उसमें शिरोभूषण आदि उपमान का उपमेयात्मना अर्थात् नदीरूप में रहकर कोई उपयोग नहीं है, अपितु स्वात्मना-उपमान, शिरोभूषणात्वेन है। अतः प्रकृत पद्य परिणाम का उदाहरण न होकर रूपकालंकार का ही उदाहरण है ।

इसी प्रकार पण्डितराज को रूय्यक के परिणाम के लक्षण में भी कुछ आपत्ति है, वे रूय्यक से इस बात का खुलासा अर्थात् स्पष्टीकरण चाहते हैं कि लक्षण में उक्त "प्रकृतोपयोग" शब्द का क्या अर्थ है ? प्रकृत कार्य में उपयोग या प्रकृत विषयात्मतया उपयोग ? यदि इसमें से पहला अर्थ लिया जाय तो उन्हीं के द्वारा प्रदत्त रूपक के उदाहरण "दासे कृतागसि" इत्यादि पद्य में अतिव्याप्ति हो जाती है ।

यदि द्वितीय अर्थ लिया जाय तब तो उन्हीं के द्वारा उदाहृत परिणाम के "अथ पक्त्रिमतामुपेयिवद्धिः" इत्यादि पद्य में लक्षण की सङ्गति नहीं होती है। तस्मात् अलंकार-सर्वस्वकार रूय्यक को उक्त पद की स्पष्ट व्याख्या करनी चाहिए ।

परिणामध्वनि का उदाहरण

इन्दुना परसौन्दर्यसिन्धुना बन्धुना बिना ।
यमायं विषयस्तापः केन वा शमयिष्यते ॥

किसी विरही की यह उक्ति है—

परम सौन्दर्य के सिन्धु मेरे बन्धु चन्द्रमा के बिना (सुन्दर रमणी के मुख के बिना) मेरा यह विषय ताप अन्य किससे दूर किया जा सकता है ।

इस पद्य का वक्ता प्रकरणप्राप्त विरही है, अतः ध्वनित होने वाले सुन्दरी के मुख से अभिन्नरूप में चन्द्र अभिमत है। अभिप्राय यह है कि यहाँ व्यङ्ग्य-उपमेयभूत-

रमणीमुख से ही ताप शान्तिरूप प्रस्तुत कार्य हो सकता है, (न कि वाच्य उपमान भूत चन्द्र से) अतः यह पद्य परिणाम ध्वनि का है।[1]

"अत्र वक्तुविरहितया व्यज्यमानरमणीमुखाभिन्नत्वेनेन्दुरभिप्रेतः। तेन रूपैणैव तस्य प्रकृतिविरहसन्तापशमन-हेतुत्वात्।"

सन्देह

अभेदप्रधान सादृश्यमूलक ससन्देहालंकार का निरूपण करते हैं—अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में इस अलंकार के कई नाम हैं, संशय, सन्देह व ससन्देह। सन्देह चेतन का धर्म है, एक ही वस्तु में जहाँ अनेकों वस्तुओं का या विभिन्न प्रकार के ज्ञानों का निबन्धन हो ऐसे सन्देह के साथ वर्तमान् होने वाले अलंकार को ससन्देह कहते हैं, **"सन्देहेन सह वर्तते इति, ससन्देहः।"**

पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—**"सादृश्यमूला भासमान-विरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया ससन्देहालंकृतिः"।**

सादृश्य ज्ञान रूप दोष से होने वाला, एवं जिसमें विरोध-भासित होता हो, और जिसमें अनेक कोटियों (धर्मों) को भासित करने वाली सामग्री समानबलशालिनी हो, ऐसे विरुद्ध अनेक धर्मों को अवगाहन करने वाला सुन्दर ज्ञान ससन्देहालङ्कार कहा जाता है।

सादृश्यमूला—(अर्थात् सादृश्य ज्ञान रूप दोष से जन्य) इस विशेषण के निवेश से **"सिंहवत् प्रान्तरं गच्छ गृहं सेवस्व वा श्ववत्"** अर्थात् सिंह की तरह निर्जन वन में चला जा या कुत्ते की तरह घर में पड़े रहो।

इस उपमा विकल्प में, जिसमें वाकार से अर्थात् "वा" इस पद से विरोध की प्रतीति हो रही है, जो प्रान्तर गमन अथवा गृह सेवनरूप नाना धर्मों का अवगाहन करता है, तथा सादृश्य भी है, अतिव्याप्ति नहीं हुई, क्योंकि यह उपमाविकल्प सादृश्य-ज्ञानरूप होते हुए भी, सादृश्य ज्ञान से जन्य नहीं है।

मालारूपक (**धर्मस्यात्मा, भागधेयं क्षमायाः सारः सृष्टेः जीवितं शारदायाः,** इत्यादि) में अतिव्याप्ति वारण के लिए "भासमान विरोधका" कहा है, उत्प्रेक्षा में अतिप्रसक्ति वारण के लिए "समबला" कहा, क्योंकि उत्प्रेक्षा उत्कट एककोटिक

---

1. यह परिणामालंकार ध्वनि भी अर्थशक्तिमूलक व शब्दशक्तिमूलक भी होता है, जैसे प्रकृतपद्य अर्थशक्तिमूलक परिणामध्वनि का है। इसी प्रकार "पर्याया-सहिष्णु" शब्दों से द्योतित यह शब्द शक्तिमूलक भी होता है, इसमें परिणामालंकार में भी पूर्ववत् लिङ्गवचनादि दोष भी होते हैं।

सम्भावना होती है, जब कि सन्देह समान नानाकोटिक ज्ञान विशेष है।

"स्थाणुर्वा पुरुषो वेति" यह स्थाणु है या पुरुष है, इस प्रकार के लौकिक संशय की निवृत्ति के लिए लक्षण में "रमणीया" चमत्कारपूर्ण ज्ञान को ससन्देहालंकार कहा। इसी तरह "उपस्कारकत्व" को भी लक्षण का विशेषण समझना चाहिए अन्यथा (रमणीयत्व व उपस्कारकत्व के अभाव में) तो केवल संशय ही होगा, न कि अलङ्कार।

उक्त ससंदेह के लक्षण में रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेश भट्ट ने "मर्मप्रकाश" में, इस विषय में कुछ पते की बात कही है—(जिसमें पण्डितराज का भी निगूढ अभिप्राय निहित है, जिसके कारण पण्डितराज को भी उक्त अलङ्कार का पुनः लक्षण करना पड़ा) वह यह है कि—संशय में विरोध की प्रतीति नहीं होती है[1] वैशेषिक दर्शन का एक सूत्र है कि—**"सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः"**

सामान्य धर्म का जब प्रत्यक्ष होता है, और विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसी सामान्य धर्म से जब विशेष धर्मों या धर्मियों की स्मृति हो जाती है, उसी को संशय कहते हैं।

(विरोध का ज्ञान नहीं है, ऐसा अभाव विशिष्ट जो नाना कोटिवाला ज्ञान वह संशय है)

अतः "यद्वा" कहकर पण्डितराज ने पुनः उक्त लक्षण में संशोधन किया, जो इस प्रकार है—

"सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धी रमणीया संशयालंकृतिः।"

अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान से भिन्न व सम्भावनात्मक ज्ञान से भी भिन्न, जो सादृश्य हेतुक चमत्कारात्मक ज्ञान उसे ससन्देहालंकार कहते हैं।

केवल निश्चय व केवल सम्भावना में भी निश्चय सम्भावना उभय भेद रहता ही है, इसीलिए निश्चय सम्भावना भिन्न न कहकर "अन्यतर" पद का निवेश किया है, जैसे—"घटो न घटपटोभयम्" एक घट में घटपटोभय, भेद रहता है, उसी प्रकार एक निश्चय या सम्भावना में भी निश्चयसम्भावना उभय भेद रह सकता है। निश्चय से भिन्न कहने से रूपक से उक्त लक्षण की व्यावृत्ति हो जाती है, और सम्भावना से भिन्न, कहने से उत्प्रेक्षा से व्यावृत्ति हो जाती है।

यह सन्देहालंकार तीन प्रकार का होता है—

---

1. ननु संशये विरोधो न भासते मानाभावात्, किंत्वविरोधित्वज्ञानायाव-विशिष्टनानाकोटिकज्ञानमेव संशयः, इति कथमुक्तलक्षणमत आह-यद्वेति।

शुद्ध, निश्चयगर्भ, व निश्चयान्त ।

(1) शुद्ध सन्देह वह है जिसका संशय में पर्यवसान हो ।[1]

(2) निश्चयगर्भ सन्देह वह है, जिसका प्रारम्भ संशय से हो, और मध्य में निश्चय होगा, और फिर अन्त में संशय ही रहे ।[2]

(3) निश्चयान्त सन्देह वह है, जिसका प्रारम्भ संशय से हो और निश्चय में पर्यवसान हो ।[3]

शुद्ध ससन्देह का उदाहरण

मरकतमणिमेदिनीधरो वा,
तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः ।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूराद्-
ऋषिनिकरैरिति संशयः प्रपेदे ॥

वन में जाते हुए राम का यह वर्णन है—

उस वनपथ पर पदार्पण करते हुए, रामचन्द्र को दूर से देखकर मुनिवृन्दों को यह सन्देह हुआ कि यह मरकतमणि का पर्वत है, अथवा पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हुआ तमाल वृक्ष है ।

उक्त पद्य में मुनिवृन्द निष्ठ मरकतमणिपर्वतत्व व तरुणतरतमालवृक्षत्वादि नानाकोटिक ज्ञान होने से संशय है । बीच में किसी प्रकार का निश्चय नहीं है, और संशय में ही पर्यवसान भी है, अतः यह शुद्ध है ।

निश्चयगर्भ ससन्देह का उदाहरण

तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा,
मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्न सा मधुरा कुतः ।
इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनकौतुकै-
र्वनवसतिभिः कैः कैरादौ न सन्दिदिहे जनैः ॥

वनवासी राम का ही यह वर्णन है—

रामचन्द्र की देहकान्ति के दर्शन में उत्कण्ठावाले किन-किन वनवासी जनों को पहिले यह सन्देह नहीं हुआ कि क्या यह यमुना होगी ? नहीं, वह तो जलमयी है । तो क्या फिर मरकतमणि होगी ? नहीं, वह मधुर कैसे हो सकती है ?

---

1. शुद्धो यस्य संशय एव पर्यवसानम् ।
2. निश्चयगर्भो यः संशयोपक्रमो निश्चयमध्यः संशयान्तश्च ।
3. निश्चयान्तो यत्र संशय उपक्रमो निश्चये पर्यवसानम् ।

(अलंकारसर्वस्वम्)

उक्त पद्य में वनवासि जन निष्ठ रामचन्द्र विषयक नाना कोटिक ज्ञान होने से संशय है, पर बीच बीच कुछ निश्चय हो जाने से यह निश्चय गर्भ है।

निश्चयान्त ससन्देह का उदाहरण

चपला जलदाच्च्युता लता वा तरुमुख्यादिति संशये निमग्नः।
गुरुनिःश्वसितैः कपिर्मनीषी निरणैषीदथ तां वियोगिनीति॥

हनुमान जी ने जब अशोकवाटिका में सीता जी को देखा, तब वे पहिले इस सन्देह में डूब गये कि यह या तो मेघ से गिरी हुई विद्युत् है या किसी प्रधान वृक्ष से गिरी हुई लता है। तदनन्तर बुद्धिमान् हनुमान ने दीर्घ निःश्वासों द्वारा निर्णय किया है कि यह वियोगिनी, रामविरहकातरा जानकी है, विद्युत् अथवा लता नहीं। उक्त पद्य में हनुमन्निष्ठ सीताविषयक नाना प्रकारक ज्ञान सन्देह है। अन्त में रामविरहकातरा जानकी के रूप में निश्चय होने से यह निश्चयान्त है।

उक्त उदाहरणों में वर्णित सन्देह तो स्वयं वाक्यार्थ है। किसी दूसरे रस या भावादि वाच्यार्थों का उपस्कार तो कर नहीं रहे हैं, तब उन्हें अलंकार कैसे कहा जाय क्योंकि अन्योपस्कारकत्व ही अलंकार का लक्षण है। इसका समाधान लौकिक अलंकारों के दृष्टान्त से देते हैं— जैसे किसी रमणी के अलंकार (गहने) कुण्डल, कटक, केयूरादि, उसके अङ्गों में जब इस्तेमाल नहीं होते उस समय वे मञ्जूषा (पेटी) में ही रहते हैं। उक्त रमणी के अङ्गों के उपस्कारकत्व के अभाव में भी जैसी गौणरूप से उनमें अलंकार का व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रकृत में भी किसी प्रधान वाक्य के उपकाराभाव में भी उक्त अलङ्कार उपस्कार की योग्यता रखते हैं। इसी वजह से इनमें अलंकार व्यवहार होता है। जैसा कि पण्डितराज का कथन है—

"एषु संशयेषु मञ्जूषादिगतकटकादिष्विवालंकार व्यपदेशः।"

पूर्वोक्त सभी ससन्देहालंकार के उदाहरण आरोपमूलक है अर्थात् इनमें उपमानोपमेयभाव शब्दतः उपात्त है। फलतः इस अलंकार के मूल में रूपक के रहने से यह आरोपमूलक कहलाता है। परन्तु चमत्कार सन्देहजन्य होने से ससन्देहालङ्कार से ही इसका व्यवहार होता है।

अध्यवसानमूलक भी यह सन्देहालंकार होता है, ऐसा परकीय मतानुसार उदाहरण प्रस्तुत कर पण्डितराज विचार करते हैं—

सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा लाक्षारसैः क्षालितं,
लिप्तं वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम्।
सन्देहं जनयन् नृणामिति परित्रातत्रिलोकस्त्विषां,
व्रातः प्रातरुपातनोतु भवतां भव्यानि भासां निधेः॥

यह धरामण्डल क्या सिन्दूर से परिपूरित है, अथवा अलक्तकरस से धोया हुआ है, क्या केशर रस से लीप दिया है ? इस तरह के सन्देह को मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न करता हुआ, त्रिलोकत्राता सूर्य का प्रातःकालिक कान्तिसमूह आपका कल्याण करे ।

यह धरामण्डल पर सिन्दूरादि के लेपनादि-विषयक सन्देह कविनिष्ठ सूर्य विषयक भाव का उपस्कारक होने से "कामिनी करगत कङ्कणादि की तरह" मुख्यतया अलंकार है ।

उक्त अलंकार की अध्यवसानमूलकता पर विचार करते हुए पण्डितराज का कहना है कि हमें उक्त पद्य में दो तरह का सन्देह प्रतीत होता है । आपाततः देखने पर धरामण्डलरूप धर्मी (आधार) पर सिन्दूर परिपूरित्वादि अनेक धर्मों का सन्देह दिखाई देता है परन्तु कुछ विचार किया जाय तो किरण समूह में (धर्मी में) सिन्दूरत्व आदि अनेक धर्मों का सन्देह होता है । अभिप्राय यह है कि जो सूर्य की किरणें धरातल पर फैली हुई हैं, वस्तुतः उन्हीं में सिन्दूरत्वादि अनेक धर्मों का सन्देह हो रहा है । परन्तु उक्त सन्देह सारोप (अर्थात् सारोपालक्षणामूलक) नहीं कहा जायेगा, क्योंकि उक्त धर्मी किरणसमूह व वे अनेक धर्म जो आरोपित हैं, समान विभक्ति द्वारा उपस्थिति नहीं है । अर्थात् आरोप्यमाण सिन्दूरत्व आदि की उपस्थिति तृतीयान्त पदों द्वारा है, और आरोप विषय किरण समूह की उपस्थिति प्रथमान्त पद द्वारा है । फलतः रूपक वाली स्थिति यहाँ नहीं है । यदि यहाँ सिन्दूरैः आदि पदों द्वारा सिन्दूरत्वादि रूप में संशय के विषय किरणसमूह का निगरण कर साध्यवसाना लक्षणा द्वारा अतिशयोक्तिमूलक सन्देह माना जाय तब भी, प्रथम धरामण्डल विषयकसिन्दूर परिपूरित्वादिधर्मक सन्देह का उपपादक होने से गौण होगा, उक्त प्रथम सन्देह की ही प्रधानता रहेगी । तस्मात् द्वितीय सन्देह को व्यञ्जना वृत्ति से ही गम्य मानना चाहिए जिससे कि धर्मी व धर्म में समानविषयकत्वादि झन्झट भी दूर हो जाता है । अतः अलंकार-सर्वस्वकार के टीकाकार (विमर्शिनी-कार) जयरथ का यह कथन है कि सन्देह साध्यवसानमूलक भी होता है, वह ठीक नहीं है ।

उक्त पद्य में पण्डितराज का विचार कुछ अटपटा सा लगता है । एक तो स्वयं वे जब व्यधिकरण परिणाम में विभिन्न विभक्तियों में आरोप स्वीकृत कर चुके हैं, फिर यहाँ उक्त आरोप को स्वीकृत करने में उन्हें न मालूम क्या आपत्ति है ।

दूसरी बात यह है कि उक्त पद्य में साध्यवसाना लक्षणा की अधिक गुन्जाईस ही नहीं है । क्योंकि यहाँ विषय किरणव्रात व विषयी सिन्दूरत्वादि दोनों ही शब्दतः उपात्त हैं ।

तीसरी बात यह भी कुछ खटकती सी है कि वे द्वितीय सन्देह को व्यञ्जना-

गम्य मानते हैं, और उसको भी वाच्य सन्देह का उपपादक मानकर फिर उक्त सारे सन्देह वाक्यार्थ को गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं मान रहे हैं। पुनः एक बात यहाँ और भी आश्चर्य की प्रतीत होती है कि वे राजपथ के अपने उदाहरण में प्रदर्शित विचार का, अपने पद्य द्वारा विमर्श कर रहे हैं, जबकि उन्हें उन्हीं के द्वारा उदाहरणरूप प्रदर्शित पद्य पर विचार करना था।

जयरथ अपने ग्रन्थकार रुय्यक की, इस पंक्ति की व्याख्या कर रहे हैं, कि **"केचित्त्वध्यवसायाश्रयत्वेन सन्देहप्रकारमाहुः। अन्ये तु नु शब्दस्य सम्भावनाद्योतकत्वादुत्प्रेक्षा प्रकारमिमाचक्षते।"**

अत्रैव पक्षान्तरमाह केचिदित्यादि—इस प्रतीक को लेकर, जयरथ ने उक्त सन्देहालंकार को जो कि स्वरूप हेतु फल के भेद से तीन प्रकार का है, उसे अध्यवसायमूलक भी माना है। **"तेनाध्यवसायाश्रयोऽप्ययं स्वरूपहेतुफलानां संदिह्यमानत्वेन त्रिधा भवति। तत्र स्वरूपसन्देहो यथा "रञ्जितानु"** इत्यादि। यथा वा कहकर फिर अपनी तरफ से साध्यवसानमूलक सन्देह का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है—

एतत्तर्कय, कैरवल्कमहरे, शृङ्गारदीक्षागुरौ,
दिक्कान्तामुकुरे, चकोरसुहृदि प्रौढे तुषारत्विषि।
कर्पूरैः किमपूरि किं मलजैरालेपि किं पारदैः,
अक्षालि स्फटिकोपलैः किमघटि द्यावापृथिव्योर्वपुः॥

यह तो विचारो कि दिनभर सूर्य के ताप से क्लान्त हुए कुमुदों के क्लम को दूर करने वाले, (नायिकाओं के) शृङ्गार दीक्षा गुरु, दिशारूपी कान्ता के दर्पण, और चकोरों के मित्र, चन्द्रमा के अच्छीतरह उदय हो जाने पर, क्या यह विश्व कर्पूर से भर गया, मलयचन्दन से इस पर लेप कर दिया। क्या पारद से इसको धो दिया, और क्या स्फटिकमणि से इसका निर्माण हुआ है?

यहाँ कौमुदी की धवलिमा का, जो कि विषय है, शब्दतः उपात्त नहीं है, कर्पूरादि व मलयजादि विषयी, आरोप्यभावों द्वारा निगीर्ण कर लिया गया है, तन्मूलक सन्देह होने से साध्यवसानमूलक सन्देह है। **"अत्र कौमुदीधवलिम्नः कर्पूरपूरणादिनाध्यवसितत्वादध्यवसानमूलत्वम्"**।

इसी पद्य के अनुसार यदि पण्डितराज का भी कदाचित् "किरणव्रातः", से केवल सूर्य अर्थ अभिप्रेत हो, तब फिर उसकी लालिमा के अध्यवसान का प्रश्न हो सकता है, अथवा किरणव्रात की व्यापन में लक्षणा हो, परन्तु पण्डितराज के अपने सन्देह के लक्षण के अनुसार उक्त पद्य सन्देहालंकार का उदाहरण नहीं बन सकता है, क्योंकि समानरूप में भासमान विरोध का जब नाना धर्म विषयक सन्देह होगा तब सन्देहालंकार होगा। भासमान विषयक सामग्री के समबल न होने से तथा विभिन्न

विभक्ति के द्वारा उपस्थित होने से सम्भवतः पण्डितराज के विचार में यहाँ सन्देह अलंकार न हो ।[1]

अप्पय्यदीक्षितोक्त—सन्देह के उदाहरण का उद्धार

दीक्षित जी ने **"अस्यां सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु** कान्तिप्रदः" इत्यादि प्राचीन आचार्यों के द्वारा उदाहृत सन्देहालंकार के उदाहरण में, यह दोष देकर उक्त पद्य को अव्याप्तिग्रस्त बतलाया है कि यहाँ चन्द्रादि जो सन्देह के धर्मी विषय हैं, उन्हीं की अनेकता है, न कि वर्णनीय वनिता निर्माताओं की, अर्थात् वर्णनीय वनिता का निर्मातृत्व तो केवल प्रजापति में है, अतः अनेक कोटिक ज्ञान (नाना धर्म वाले ज्ञान) के अभाव होने से, उक्त 'संशय लक्षण' की यहाँ प्रसक्ति नहीं है ।

इस पर पण्डितराज का कथन है कि उक्त पद्य का आशय इस प्रकार है—क्या इस सुन्दरी के सृष्टि विधि में जो प्रजापति हुआ, वह चन्द्र था या कामदेव था, अथवा सन्त था, इस प्रकार का संशय है । इस प्रकार प्रजापति धार्मिक-विषयक-चन्द्रत्वादि नाना कोटिक ज्ञान ही है, संशय का लक्षण तो सङ्गत ही है कहाँ उक्त पद्य में अव्याप्ति है । अभिप्राय यह है कि **"अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्"** इस नियम के अनुसार प्रजापति के पूर्ण निर्देश होने से उसकी उद्देश्यता है, और चन्द्रत्वादि के पश्चात् निर्देश होने से उनकी विधेयता है, ज्ञान में जो उद्देश्य होता है, वह विशेष्य होता है, और जो विधेय होता है, वह विशेषण होता है । फलतः प्रजापति विशेष्यक चन्द्रत्वादि प्रकारक ज्ञान तो यहाँ स्पष्ट ही प्रतीत होता है ।[2]

पुनः अप्पय्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में संशय ध्वनि के उदाहरण में निम्न पद्य को प्रस्तुत किया है—

काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गीं वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम् ।
वरदः संशयापन्नो वक्षःस्थलमवैक्षत ।।

---

1. इस प्रसङ्ग में रसगङ्गाधर के टीकाकार भी मौन हैं, मात्र मधुसूदनी टीका में कुछ पण्डितराज के विषय में निर्णय दिया है ।
2. नागेश ने अपने मर्मप्रकाश में उक्त "अस्यां सर्गविधौ प्रजापतिरभूत्" इत्यादि पद्य को "मालतीमाधवे मालती वर्णनमिदम्" लिखा है, इस पर सरला टीकाकार मञ्जुनाथ का यह कटाक्ष है—"विवादवेतालाविष्टतया साहित्यसौधे बलादुत्प्लुयमानस्य महायागस्य पुनः परिचीयतां काव्यमार्मिकत्वं येन हि कालिदासस्यापि कविता न कदाचित् परिचिता, इदं हि विक्रमोर्वशीयं पद्यं काव्यप्रकाशे, साहित्यदर्पणे अन्येष्वपि च साहित्यनिबन्धेषूदाहृतमपि ।" (सरला टीका)

वरदराज (भगवान् विष्णु की मद्रास स्थित मूर्ति में जो विराजमान है) मानो साक्षात् लक्ष्मी हो, सुवर्णसदृश गौराङ्गी किसी कामिनी को देखकर, संशयापन्न होकर अपने वक्षस्थल को देखने लगे।

"संशयापन्नः" शब्द के द्वारा संशय के शब्दोपान्त होने पर भी "वक्षःस्थलमवैक्षत" इत्यादि पदों द्वारा वक्षःस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सामने खड़ी है क्या? यह सन्देह का आकार ध्वनित होता है, और भी—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य विम्बमनुविम्बमात्मनः कानि कान्यपि चकार लज्जया॥

पार्वती दर्पण में अपने सम्भोग कालिक नखक्षतादि चिह्न को देख रही थी, उसने अपने पीछे बैठे हुए प्रणयी शिव का प्रतिबिम्ब अपने प्रतिबिम्ब के साथ पीछे देख लिया, फिर तो उसने लज्जा के मारे क्या-क्या न किया?

उक्त पद्य में लज्जा शब्द का प्रयोग करने पर भी अपने विभावों व अनुभावों द्वारा रसानुकूल लज्जा भाव की अभिव्यक्ति होती ही है।

दीक्षित जी का इस प्रकार का कथन ध्वनि सिद्धान्त के विरुद्ध मालूम पड़ता है, क्योंकि पूर्व पद्य में सामान्यतः "संशय" शब्द से अभिहित कर देने पर भी यदि विशेषरूप से **"लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य किं पुरस्तिष्ठतीति"** इत्यादि अर्थ व्यञ्जना व्यापार बोध्य होता हुआ भी, शक्ति के द्वारा संशय शब्द से प्रतीत ज्ञान में विशेषणीभूत सामान्य अर्थ के साथ एक होकर मिल जाता है। यही बात दूसरे पद्य में भी है, सामान्याकारेण लज्जा शब्द से लज्जा का कथन कर देने पर भी पुनः विशेषरूप से विभावादि द्वारा उक्त लज्जाध्वनि के अभिव्यक्त होने पर भी, वह अर्थ परस्पर मिल सा जाता है, अतः सहृदयों के लिए उतना चमत्काराधायक नहीं होता है। सर्वथा वाच्यवृत्ति से असम्पृक्त अर्थ की ही ध्वनि-व्यवहार में प्रयोजकता है, जैसा कि ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य की उक्ति है—

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थ कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वने॥

शब्दार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता हुआ भी व्यङ्ग्यार्थ, जहाँ कवि के द्वारा फिर 'स्व' शब्द द्वारा प्रकाशित किया जाता है, वह ध्वनि का विषय न होकर, एक पृथक् अलंकार माना जाता है। जैसे—**"संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया, हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्।** संकेत कालाभिलाषी के लिए लीला कमल का निमीलन सन्ध्या समय का अभिव्यञ्जक होते हुए भी **"संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा"** इस विशेषण के द्वारा पुनः वाच्यवत् कह दिया, अतः काव्य का

यह प्रभेद ध्वनि से भिन्न गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहा जायेगा। इसी प्रकार "**अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा**" इत्यादि काव्यों में भी समझना चाहिए।

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में गुणीभूत व्यङ्ग्य के निरूपण के प्रसङ्ग में स्वयं उन्होंने कहा है—

"व्यङ्ग्यस्यार्थस्य यदि मनागप्युक्त्या प्रकाशनं तदा गुणीभाव एव शोभते"।

इसी का विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त ने "ध्वन्यालोक" की "लोचन" टीका में इस प्रकार कहा है—"**तस्माद् यत्रोक्ति विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते, तत्र तस्य प्राधान्याद्ध्वनित्वमिति**"।

भ्रान्तिमान्

अयथार्थ ज्ञानरूपसादृश्य के आधार पर सन्देहालंकार के पश्चात् अब भ्रान्तिमान् अलंकार का निरूपण करते हैं। "भ्रान्ति" एक प्रकार का चित्त का धर्म है, अर्थात् अन्तःकरण में रहने वाला एक प्रकार का ज्ञान विशेष। किसी सादृश्य से वह चमत्कारपूर्ण भ्रम जिस वाक्य सन्दर्भ में वर्णित होता है, उसे भ्रान्तिमान् अलंकार कहेंगे। जैसा कि पण्डितराज का कथन है—"**सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तर-प्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्तिः। सा च पशु-पक्ष्यादिगता यस्मिन् वाक्यसन्दर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान्**"।

सादृश्ययुक्त धर्मी (आधार) में अभेदसम्बन्ध से, अन्य किसी धर्मी का, सादृश्य से उत्पन्न होनेवाला वास्तविक निश्चयात्मक चमत्कारी ज्ञान ही भ्रान्ति है, पशु पक्ष्यादिगत वह भ्रान्ति जिस वाक्य सन्दर्भ में वर्णित हो, उस वाक्य सन्दर्भ को भ्रान्तिमान् कहा जायेगा।

यद्यपि भ्रान्ति ही अलंकार है, परन्तु उक्त भ्रान्ति अलंकार का वाक्य में अभेदारोप होने के कारण उक्त वाक्य को भी भ्रान्तिमान् अलङ्कार कहा जाता है, पर अलङ्कार में यह व्यवहार औपचारिक है।

इस विषय में प्राचीन आचार्यों का कथन भी है—

प्रमात्रन्तरधीभ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते।
स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिक॥

प्रमाता से अन्य (अर्थात् कवि से भिन्न) किसी के भ्रमात्मक बोध का अनुवाद जिस वचन सन्दर्भ में किया जाता है, वह वचन सन्दर्भ भ्रान्तिमान् कहा जाता है, अलंकार में तो इस शब्द का प्रयोग औपचारिक (आरोपमूलक) है।

मीलित, तद्गुण व सामान्यालंकारों में भी अनाहार्य निश्चय होता है, परन्तु

वहाँ एक धर्मी का अपर धर्मी में न होकर परस्पर धर्मों का होता है, अतः उक्त अलंकारों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हुई। रूपक में कहीं उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसीलिए लक्षण में "अनाहार्य" पद का निवेश किया गया है, क्योंकि रूपक में वह निश्चय आहार्य अर्थात् इच्छाजन्य होता है, कृत्रिम होता है, जब कि प्रकृत अलंकार में अनाहार्य वास्तविक होता है। संशयालंकार में भी अनाहार्य ज्ञान होता है, पर उक्त—भ्रान्तिमान् अलंकार में "निश्चय" पद का निवेश किया गया है, क्योंकि संशयालंकार में अनाहार्य ज्ञान निश्चयात्मक न होकर संशयात्मक होता है।

"शुक्तौ इदं रजतम्" इत्याकारक लौकिक भ्रान्ति के कारण के लिए लक्षण में "चमत्कारी" अर्थात् कविप्रतिभा निर्वर्तितत्व का निवेश किया गया है।

अकरुणहृदय, प्रियतम, मुञ्चामि त्वमितः परं नाहम्।
इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा॥

किसी विरह विकला नायिका के सन्देश हारक की नायक के प्रति यह उक्ति है—कि वह विरहिणी किसी सखी का हाथ पकड़कर कहती है—हे निर्दय हृदय वाले प्रियतम ! मैं तुम्हें आगे नहीं छोड़ सकती हूँ ; (अब तक जो छोड़ा सो छोड़ा)।

इस विरह-विकला के सन्देश हारक की प्रकृत उक्ति से अभिव्यक्त उन्माद में कहीं उक्त अलंकार के लक्षण के अतिव्याप्ति न हो, इसीलिए "सादृश्यप्रयोज्य" अर्थात्—सादृश्यज्ञान से सिद्ध होने वाला कहा है। अभिप्राय यह है कि उस नायिका का यह अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञानरूप भ्रम जिसे उन्माद भी कहते हैं, वह सादृश्यज्ञान से न होकर वियोग की विह्वलता के कारण है।

भ्रान्तिमान् अलंकार का उदाहरण

कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने॥

सुवर्ण के रस की सी कान्ति से रमणीया सीता से युक्त राम को देखकर, वन में चातकों के बच्चे, विद्युत् से युक्त मेघ के भ्रम से नाचने लगे।

उक्त पद्य में "नाचने लगे" इस उक्ति के द्वारा चातकगत "हर्ष" भाव अभिव्यक्त होता है, और उस हर्षभाव को, चातकनिष्ठ भ्रम (अर्थात् सीतायुक्त राम में विद्युतयुक्त मेघ का ज्ञान) पुष्ट करता है, अतः यहाँ उक्त भ्रम या भ्रान्ति अलंकार है।

यदि उक्त पद्य में **"चपलायुतवारिदभ्रमात्"** की जगह **"परिफुल्लपतत्रपल्लवैर्मुमुदे चातकपोतकैवने"** ऐसा उत्तरार्ध बना दिया जाय तो यही भ्रान्ति ध्वनि हो जायेगी।

अर्थात्—पल्लवों के समान विकसित पंखों वाले चातकों के बच्चे वन में नाचने लगे इत्यादि। इस परिवर्तित पाठ में फिर भ्रम वाचक कोई शब्द नहीं रह गया।

अप्पय्यदीक्षित के भ्रान्तिमान् अलंकार के लक्षण का खण्डन

चित्रमीमांसा में दीक्षित जी ने भ्रान्तिमान् अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

कविसम्मतसादृश्यात् विषये पिहितात्मनि।
अरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः॥

कवि सम्मत सादृश्य द्वारा सिद्ध होने वाले उपमेय में उपमान का अनुभव जिस वाक्य में वर्णित हो उस वाक्य को भ्रान्तिमान् अलंकार कहते हैं।

उक्त लक्षण में दीक्षित जी ने रूपकालंकार में कहीं अतिव्याप्ति न हो, एतदर्थ लक्षण में "पिहितात्मनि" रक्खा है, क्योंकि रूपक में तो विषय उपमेय व विषयी उपमान दोनों ही प्रकट रहते हैं। इस पर पण्डितराज का कथन है कि व्यर्थ में ही दीक्षित जी ने उक्त विशेषण को रखने का प्रयास किया है, क्योंकि अनुभावरूप भ्रान्तिलक्षण का अनुभव में आने वाले अभेदरूप रूपक में अतिप्रसक्ति ही कहाँ है? जिसके लिए आप इतना प्रयास कर रहे हैं। यदि आप रूपकपद का अर्थ रूपकज्ञान करें, तब फिर अपने लक्षणग्रन्थ की सङ्गति करें, क्योंकि रूपक का ज्ञान तो अनुभवरूप हो जाता है तब उक्त अतिव्याप्ति के वारण के लिए भ्रान्ति के लक्षण में "पिहितात्मनि" यह पद देना आवश्यक है, ऐसा माने तो मानते रहें, तब भी आपका लक्षण निर्दुष्ट नहीं कहा जायेगा, क्योंकि उक्त लक्षण सन्देहालंकार में अतिव्याप्त हो जाएगा, अर्थात् "**मरकतमणिमेदिनी धरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः**" इस संशय में जहाँ रामरूप उपमेय छिपा ही हुआ है, अतिव्याप्त होगा। यदि आप "आरोप्य माणानुभावों" में अनुभव का अर्थ निश्चय करें, तो किसी प्रकार संशय से तो लक्षण व्यावृत्त हो जायेगा पर उल्लेखालंकार में अतिव्याप्त हो जायेगा, "**कमलमिति चञ्चरीकाः, चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमभिधावन्ति**" इस भ्रान्तिसमुदायरूप उल्लेख में अतिव्याप्ति होगी, यदि आप यह कहें कि उल्लेख तो भ्रान्ति से सदा संकीर्ण ही है, उसमें यदि भ्रान्ति का लक्षण सङ्गत होता हो तो कोई दोष नहीं, होने दो, तो यह भी ठीक नहीं है।

दूध जलमात्र से मिश्रित ही रहा करता है, एतावता दुग्ध का लक्षण जल में अतिव्याप्त करना उचित नहीं है।

नहि दुग्धजलभागानां व्यामिश्रतास्तीति दुग्धलक्षणं जलांशातिव्याप्तिकं कर्तुं युक्तम्"।

फलतः दीक्षित जी का यह लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट नहीं कहा जायेगा ।

इसी भ्रान्तिमान् अलंकार के निरूपण के अवसर पर, एक जगह दीक्षित जी का कहना है कि कहीं-कहीं भिन्न कर्त्ताओं वाली उत्तरोत्तर भ्रान्ति के निबन्धन में भी चमत्कार पाया जाता है, इसके उदाहरणस्वरूप निम्न पद्य को उन्होंने प्रस्तुत किया है—

शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकैः,
तत्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः ।
तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलौकै-
रित्थं चोलेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम् ।। इति

चोल देश के नरेश की प्रशंसा में किसी कवि ने उक्त पद्य का निर्माण किया है । कवि का कहना है कि हे चोल देश के नरेशों में सिंह के सदृश राजन् ! आपके शत्रुओं की रमणियों की रक्षा करने में अब वन भी असमर्थ है, अर्थात् आपके डर से भागे हुए राजाओं ने वन में शरण ली, वहाँ वे अपने रमणियों के साथ रहने लगे, पर वहाँ के व्यवहार को देखने से ऐसा मालूम हुआ कि वन भी अब उन्हें शरण नहीं दे सकता है, क्योंकि उन रमणियों के लिए वहाँ एक विपत्ति नहीं है, अपितु महाविपत्तियों के जञ्जाल में वे पड़ी हुई हैं । देखिए, गूंजते हुए भौंरे वन में कभी उनके स्तनकलशों को मञ्जरी समझकर चूसने लग जाते हैं, उन भौरों से भयभीत होकर, उन्हें हटाने के लिए जब वे हाथ ऊपर करती हैं, तो नव किसलय समझकर तोते उन्हें काट डालते हैं, उन तोतों को भगाने के लिए ज्यों ही वे चिल्लाती हैं, तो उनकी कोयल जैसी सुरीली आवाज सुनकर कौवे उन्हें चौंच मारना शुरू कर देते हैं, इस प्रकार उन रमणियों के लिए वह जंगल भी मंगलदायक नहीं रहा ।

उक्त पद्य में विभिन्न कर्त्ताओं को उत्तरोत्तर भ्रान्ति हो रही है । भ्रमर उनके स्तनकलश को मञ्जरी समझ बैठे, तोतों ने हाथों को नव किसलय समझ लिया और कौवों को उनकी आवाज में कोकिल की भ्रान्ति हुई, इस प्रकार यह विभिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रान्ति का उदाहरण है ऐसा दीक्षित जी का कथन है ।

उक्त पद्य पर पण्डितराज की समालोचना इस प्रकार है—उनका कथन है कि स्तनकलशयुगल में मञ्जरी का सादृश्य कवि समय सिद्ध नहीं है, जिसको आधार मानकर भ्रान्ति का उपनिबन्धन किया जाए । यदि सादृश्य के बिना किसी अन्य आधार से उसका उपनिबन्धन किया गया है तब तो वह दोषान्तर मूलक है अलंकार नहीं है, फिर जब आप स्तनों में कलश का आरोप कर रूपकालंकार बना रहे हैं, पुनः उसी में अलंकारान्तर का बन्धन, तो सहृदयों के लिए उद्वेजक ही होगा, जैसे कोई कहे कि तुम्हारा मुखकमल चन्द्र की तरह है—एक सादृश्यमूलक अलङ्कार का

निरूपण कर फिर उसी में दूसरा सादृश्यमूलक अलङ्कार का वर्णन करना अनुचित ही है।

"कीरदष्टाः" यह पद विधेयाविमर्श दोष से दुष्ट है। "कीरैर्दष्टाः" ऐसा होना चाहिए था। समस्त यह "कीरदष्टा" पद तो विधेयान्तर की आकांक्षा रखता है। तृतीय चरण में फिर कोकिल की आवाज के भ्रम से कौवों ने उन्हें चोंच मारना शुरू किया इत्यादि में यद्यपि कोयलों की आवाजें तो ताड़नयोग्य नहीं होती है, पर कोयलों की आवाज करने वालियों को कौवे परेशान कर सकते हैं। परन्तु कोकिलों का भ्रम उन रमणियों में कौवों को कैसे हो सकता है जिससे कि उनकी आवाज सुनकर उन्हें ताड़ित करें। कथञ्चित् भ्रमवश मान भी लें कि कोकिल जैसी आवाज द्वारा उन्हें भी कोकिल समझ लिया, अतएव कौवे उनपर झपट पड़े।

परन्तु "चौरबुद्ध्या हत साधुः" इत्यादि स्थलों की तरह यहाँ वाक्यार्थों में पुनः कार्यकारणभाव भी प्रतीति सिद्ध नहीं है। फिर दूसरी बात यह है कि कोकिलों का तो कूजन ही प्रसिद्ध है, न कि निनदन् इत्यादि। इस प्रकार उक्त पद्य किसी अव्युत्पन्न कवि द्वारा निर्मित है। दीक्षित जी ने तो केवल भ्रान्ति अलंकार के उदाहरण मात्र के लिए इसका उपयोग किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त पद्य में कई जगह गड़बड़ी है, जिसका कारण है उस कवि का अज्ञान, जिसने इस पद्य का निर्माण किया है, दीक्षित जी की तो सिर्फ इतनी ही गलती है कि उन्होंने यह सब कुछ न देखते हुए, केवल अपने लक्षण के लक्ष्य की पूर्ति हेतु उक्त पद्य को अपने ग्रन्थ में रख दिया।

"विभक्तिविपरिणतावपि प्रक्रमभङ्गासष्ठुलत्वाभ्यां स्थितमेवेति पद्यमव्युत्पन्न-निर्मितमेव, दीक्षितैस्तु भ्रान्त्यालंकारांशमात्रमादायोदाहृतमिति दिक्।"

भ्रान्ति अलङ्कार में साधारण धर्म की स्थिति

भ्रान्ति अलंकार में भी साधारण धर्म अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे पूर्वोक्त पद्य में **"कनकद्रवकान्तिकान्तया"** में सीता और विद्युत् में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है, और युतत्व व मिलितत्व में वस्तुप्रतिवस्तुभाव है।

सामान्य अनुगामी धर्म का उदाहरण

रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः॥

अर्थात् मयूर वन में, अतिस्निग्ध श्याम वर्णवाले रामचन्द्र को देखकर, मेघ के भ्रम से मन्द मन्द नाचने लगे। उक्त पद्य में "स्निग्धता" और श्यामता ये दो धर्म अनुगामी हैं, अर्थात् ये दोनों धर्म उभयसामान्यरूप से राम तथा मेघ में अन्वित होने वाले हैं।

उल्लेख

भ्रान्तिमान् अलंकार के बाद अब निमित्त भेद से एक ही वस्तु में अनेक गृहीताओं के अनेक प्रकार के ज्ञान वाले उल्लेखालङ्कार का वर्णन करते हैं। यहाँ निमित्त अनेक रहते हैं—गृहीताओं की अपनी अपनी रुचि, अर्थित्व, व्युत्पत्ति एवं भय आदि।

स्वतन्त्ररूप से पदार्थों में विकल्पना करना रुचि कहा जाता है। अर्थित्व का अर्थ है लिप्सा, और व्युत्पत्ति का अर्थ ज्ञान है। जैसा कि उत्पलाचार्यप्रणीत ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा में कहा है—

यथा रुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिननुसन्धानसाधिते॥

अनुसन्धानपूर्वक जाने हुए एक ही पदार्थ में रुचि, लिप्सा एवं व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न प्रतीतियाँ हो जाती हैं इत्यादि।

उल्लेखालंकार में भी ठीक यही दशा होती है एक ही पदार्थ में अनेक गृहीताओं की रुचि भेद के कारण अनेक प्रकार की प्रतीति होती है। जैसा कि पण्डितराज के लक्षण से अवगत होता है—

"एकस्य वस्तुनो निमित्तवशादनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः।"

एक ही वस्तु का निमित्त भेद से, अनेक गृहीताओं के द्वारा अनेक प्रकार से जो ग्रहण (ज्ञान) है। उसे उल्लेख कहते हैं, वही जब कवि प्रतिभोत्थापित होता है तो वह अलंकार कहलाता है।

उक्त अलंकार में विशेष्यरूप से प्रस्तुत वस्तु एक ही रहती है, अतः भ्रान्ति-समुदाय में उक्त लक्षण की अति प्रसक्ति नहीं होगी, यद्यपि यह ज्ञान भी अनेकप्रकारक अनेक गृहीताओं द्वारा गृहीत होता है, जिसमें भ्रान्ति के कारण अनेक विशेष्यक वस्तुओं का आभास होता है, परन्तु प्रस्तुत अलंकार में विशेष्यरूप में कल्पित वस्तु एक ही होती है। मालारूपक में जहाँ एक ही गृहीता अनेक प्रकारक ज्ञान का गृहीता होता हैं, वहाँ उल्लेख में अनेक गृहीता होते हैं।

उदाहरण

नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापगे,
न्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसंघैरपि।
हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसङ्गैरियं,
तनोतु मम शं सतनोः पदि शन्तनोरङ्गना॥

कवि गङ्गा जी की स्तुति करता है—हे गङ्गे! आपको मनुष्यों ने उत्तम

गति (मोक्ष) देने-वाली है, इस धारणा से अपनाया, देवताओं ने अपनी नदी (मन्दाकिनी) है, इसी कारण से अपनाया, सिद्धों ने अत्यन्त उदार सिद्धि देने वाली है इसलिए अपनाया, निःसङ्ग मुनियों ने हरि का स्वरूप या शरीर है यह इसलिए, आपका सहारा लिया है, ऐसी आप शन्तनु की अङ्गना (गङ्गा जी) मेरे शरीर का शीघ्र कल्याण कर, उसको नीरोग करें।

उक्त पद्य में एक गङ्गा रूप वस्तु में अनेक गृहीताओं के द्वारा अपने-अपने रुचि व लिप्सा के भेद से अनेक प्रकार का ज्ञान किया, यह अनेक प्रकार का ग्रहण समुदाय रूप उल्लेख, कविनिष्ठ गङ्गा विषयक भाव का उपस्कारक है, अतः यह उल्लेखालङ्कार है।

यह शुद्ध उल्लेखालङ्कार का उदाहरण है। उल्लेखालङ्कार अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण (मिश्रित) भी रहता है, जैसे—

आलोक्य सुन्दरि! मुखं तव मन्दहासं,
नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः ।
किञ्चालि पूर्णमृगलाञ्छनसम्भ्रमेण,
चञ्चूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोराः ॥

हे सुन्दरि ! मन्दमुसकान से युक्त तुम्हारे मुख को देखकर ये भ्रमर अरविन्द समझकर खूब मस्त हो रहे हैं, और हे सखि ! ये चकोर (तेरे मुख को) पूर्ण चन्द्र समझकर, देर तक अपनी चौंच को चञ्चल कर रहे हैं।

उक्त पद्य में मुख विशेष्यक कमलत्व प्रकारक मिलिन्द कर्तृक एक प्रकार का ज्ञान है, और मुख-विशेष्यक चन्द्रत्वप्रकारक चकोर कर्तृक दूसरे प्रकार का ज्ञान है, ये दोनों प्रकार के ज्ञान भ्रमरूप होने से भ्रान्ति अलङ्कार का समुदाय है। यह भ्रम समुदाय ही अपने अपने रुचि भेद से एक विशेष्यक अनेक प्रकारक, अनेक कर्तृक ज्ञानसमूहरूप उल्लेखालङ्कार का जनक है, फलतः यह उल्लेख शुद्ध न होकर भ्रान्तिमान् से संङ्कीर्ण है, अतः यह संङ्कीर्ण उल्लेखालङ्कार का उदाहरण है।

अप्पय्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में उल्लेखालङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा ।
उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते ॥

जब एक पदार्थ का अनेक व्यक्तियों के द्वारा निमित्त भेद से, अनेक प्रकार का वर्णन हो, तो वहाँ उल्लेख अलङ्कार होता है।

कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित् सौरभेणाब्जं परे ।
वक्त्रं तव वयं ब्रूमस्तपसैक्यं गतं हयम् ॥

कुछ लोग भ्रान्ति के कारण तुम्हारे मुख को चन्द्रमा समझते हैं, और कुछ लोग सुगन्धि के कारण उसे कमल समझते हैं, पर हम तो कहते हैं कि वे दोनों (चन्द्र व कमल) तप करके, एकता को प्राप्त कर लिए हैं। अतः तुम्हारा मुख चन्द्र व कमल का मिश्रित रूप है---उक्त पद्य में अपह्नुति अलंकार है, पर यहाँ अनेककर्तृक अनेक प्रकारक एकवस्तु विषयक ज्ञान का वर्णन होने से उल्लेखालङ्कार की भी प्रसक्ति है।

दीक्षित जी का कथन है कि यदि उल्लेखालङ्कार के लक्षण में "अनेकप्रकारक उल्लेखन का विशेषण "निषेधास्पृष्टत्वम्" अर्थात् जो अनेकप्रकारक ज्ञान निषेध से स्पष्ट-(समन्वित) न हो, ऐसा कर दिया जाय फिर तो उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति नहीं होगी ?

इस पर पण्डितराज का कथन है कि लक्षण में उक्त विशेषण के निवेश की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उल्लेखालङ्कार अपह्नुति आदि अलङ्कारों से मिश्रित भी होता है।

यदि आप अपह्नुति अलङ्कार में उक्त विशेषण द्वारा उल्लेख की अतिप्रसक्ति का वारण कर भी देंगे, तो स्वयं आपके ही द्वारा उदाहृत इस भ्रान्तिमान् अलङ्कार में लक्षण की अतिप्रसक्ति हो जायेगी। "कपाले मार्जारः पय इति करांल्लेढि शशिनः" इत्यादि पद्य भ्रान्तिमान् अलङ्कार का है, यहाँ कवि ने स्वच्छ धवल चन्द्र की चाँदनी में अनेक व्यक्तियों के भ्रम का उल्लेख किया है। कवि कहता है कि **"प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति"** आश्चर्य की बात है कि अपनी चाँदनी के नशे में चूर यह चन्द्रमा सारे संसार को भ्रम में डाल रहा है। कहीं तो बिल्लियाँ खप्परों पर पड़ी हुई चाँदनी को दूध समझकर चाट रही है, कहीं हाथी पेड़ों की झुरमुट में पड़ी हुई चाँदनी को स्वच्छ कमलनाल समझ रहे हैं, और कहीं कोई रमणी पलङ्ग पर बिखरी हुई चाँदनी को स्वच्छ चादर समझकर उसे उठाने को तैय्यार है।

यहाँ क्रमशः चाँदनी में बिल्ली, हाथी व रमणी को दूध, कमलनाल व स्वच्छ वस्त्र की भ्रान्ति हो रही है, अतः यह भ्रान्तिमान् अलङ्कार है, साथ ही साथ यहाँ अनेक गृहीताओं के द्वारा एक चाँदनी रूप वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण किया जा रहा है, अतः ऐसे संङ्कीर्ण अलङ्कारों की संकीर्णता के वारण के लिए कहाँ तक विशेषण योजना करेंगे, अर्थात् अलङ्कारान्तर वारण के लिए यह विशेषण निवेश का प्रयास आपका व्यर्थ ही है।

पण्डितराज ने दूसरे प्रकार से भी उल्लेखालङ्कार का लक्षण किया है, वह इस प्रकार है—

"यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्"।

ज्ञाताओं के अनेक न होने पर भी, जहाँ विषय, आश्रय अथवा समानाधिकरण सहचर (साथ रहने वाले) आदि सम्बन्धियों में से, किसी की भी अनेकता के कारण, एक वस्तु अनेक प्रकार की हो जाय, वहाँ भी (अन्य प्रकार का) उल्लेख होता है।

यह भी दो प्रकार का होता है—शुद्ध व संङ्कीर्ण।

शुद्ध द्वितीय उल्लेख का उदाहरण

दीनव्राते दयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किं च मृद्वी,
काव्यालापेषु तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्वं दधाना।
लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि परविपद्दर्शने कांदिशीका,
राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति वहुविधा तावकी चित्तवृत्तिः॥

हे राजन्! दीनों के समुदाय पर दया से आर्द्र, समस्त शत्रुसमूह पर निर्दय, काव्यों की कथा करने में कोमल, तर्कों के उत्तर देने में कठोरता को धारण करने वाली धर्म में लोभयुक्त, धन में लोभरहित, और अन्य की विपत्ति का दर्शन करने में भयभीत, अतएव अनेक प्रकार की सहज सुन्दर आपकी चित्तवृत्ति स्फुरित हो रही है, चमक रही है।

उक्त पद्य में राजा की एक चित्तवृत्ति को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझनेवाला ज्ञाता (कवि) यद्यपि एक ही है, और एक ही चित्तवृत्ति को, दया से सहित व रहित आदि अनेक प्रकार से समझता है, उक्त चित्तवृत्ति का अनेक प्रकार का होना रूप जो उल्लेख हैं, वह कविनिष्ठ राजविषयक रति (भाव) को पुष्ट कर रहा है, अतः अलङ्कार है।

संङ्कीर्ण (मिश्रित) द्वितीय उल्लेख का उदाहरण

गगने चन्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले।
पृथिव्यां सागरायन्ते भूपाल! तव कीर्तयः॥

हे राजन्! आपकी कीर्तियाँ आकाश में चन्द्रमा का सा, हिमालय में हिम का सा, और पृथिवी में समुद्र का सा आचरण करती है। उक्त पद्य में एक व्यक्ति (कवि) द्वारा कीर्तिरूप एक वस्तु को गगन आदि आश्रय के भेद चन्द्रिकात्वादि अनेक प्रकार का वर्णन किया है। अतः उल्लेखालङ्कार है।

यह उल्लेख आचारार्थक "व्यङ्" प्रत्यय से प्रतीयमान उपमा की आपाततः प्रतीति से सङ्कीर्ण मालूम पड़ता है, परन्तु अनुसन्धान करने पर पर्यन्त में सम्भावना की प्रतीति ही कवि को अभीष्ट है, अतः उत्प्रेक्षा से यह सङ्कीर्ण है।

उल्लेख के दोनों लक्षणों में भेद

प्रथम प्रकार के उल्लेख में भिन्न-भिन्न ज्ञाताओं के द्वारा विभिन्न प्रकारक

ज्ञानों के समुदाय में ही चमत्कारोत्पादकता होने से, उन्हीं ज्ञानों को अलङ्कार कहा गया है ।

जैसे—**"यं महाविष्णुरिति वैष्णवाः शिव इति शैवाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, स्वभाव इति लौकायतिकाः, ब्रह्मेत्यौपनिषदाः, वदन्ति सोऽयमादिपुरुषो हरिः"**, इत्यादि में वर्णनीय किसी राजा के विषय में भिन्न-भिन्न ज्ञाताओं के द्वारा किये गये विभिन्न प्रकारों के (वर्णनों के) ज्ञानों का चमत्कार ही सहृदयों के लिए आनन्ददायक होने से अलङ्कार है ।

द्वितीय उल्लेख में—तो विषय भेद प्रयुक्त एक व्यक्ति के वर्णनीय विभिन्न प्रकारों में ही चमत्कार का अनुभव होता है, अतः उन प्रकार विशेषों को ही अलङ्कार माना जाता है ।

जैसे—**"यः शिष्टेषु सदयः, दुष्टेषु करालः, इत्यादौ"** जो वर्णनीय राजा, शिष्टों के विषय में दयायुक्त है, दुष्टों के विषय में भयंकर है, इत्यादि में ।

उल्लेख ध्वनि का उदाहरण

अनल्पतापाः कृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः ।
विलोक्य गङ्गां विचलत्तरङ्गामसौ समस्ताः सुखिनो भवन्ति ॥

कवि गङ्गा का वर्णन कर रहा है—अत्यधिक तापवाले करोड़ों पाप करने वाले, रोगों से शीर्ण और संसार के दुःखों से जीर्ण, ये सबके सब लहराती हुई गङ्गा जी को देखकर सुखी होते हैं । उक्त पद्य के पूर्वार्ध में वर्णित चारों प्रकार के दर्शकों के सुखी होने की बात से, चारों प्रकार के ज्ञाताओं के द्वारा किये गये, गङ्गा तापनाशिनी है, गङ्गा रोगनाशिनी है, गङ्गा शोक (भवप्रपञ्च) नाशिनी है, ये चार प्रकार के ज्ञान ध्वनित होते हैं, ऐसे ज्ञानों का समूह ही उल्लेख है, अतः यह पद्य उल्लेखध्वनि का उदाहरण है ।

अपह्नुति

उल्लेखालङ्कार के निरूपण के पश्चात् अब अपह्नुति अलङ्कार का निरूपण कर रहे हैं । अपह्नव का अर्थ है गोपन अर्थात् उपमेय को छिपाकर या निषिद्ध कर उपमान की जहाँ स्थापना की जाती है, वहाँ अपह्नुति होती है । अलङ्कार सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक ने अपह्नुति को भी सादृश्यमूलक अलङ्कारों में ही सन्निविष्ट किया है । अतः एव उन्होंने उक्त अलङ्कार में सादृश्यनिबन्धन या सम्बन्धान्तर निबन्धन आरोप आवश्यक माना है, वे प्रकृत में अपह्नव का अभिप्राय आरोपविषय (उपमेय) के अपह्नव में आरोप्यमाण उपमान की प्रतीति मानते हैं, इस अलङ्कार की बन्धच्छाया वे तीन तरह से मानते हैं—(1) अपह्नवपूर्वक आरोप (2) आरोपपूर्वक अपह्नव, (3) छलादि शब्दों से अपह्नव का निर्देश ।

"आरोपप्रस्तावादारोपविषयापह्नुतावारोप्यमाणप्रतीतावपह्नुत्याख्योऽलंकारः, तस्य च त्रयी बन्धच्छाया—अपह्नवपूर्वक आरोपःआरोपपूर्वकोऽपह्नवः, छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैवापह्नवनिर्देशः, पूर्वोक्तभेदद्वये वाक्यभेदः, तृतीयभेदे त्वेकवाक्यम्" । (अलंकार सर्वस्व)

अप्पय्यदीक्षित ने भी इसी सरणि का अनुसरण किया है। वे इस विषय में अधिक स्पष्ट हैं—अर्थात् वे भी उक्त अलङ्कार को सादृश्यमूलक मानते हैं। चित्रमीमांसा में आपका अपह्नुति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् ।
साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ।।

अर्थात् उपमेय का निषेध करके सादृश्य के कारण अन्यत्व कल्पना अर्थात् उपमान की कल्पना को अपह्नुति अलंकार कहते हैं। उक्त लक्षण से दीक्षित जी का सादृश्य निबन्धन तथा अन्यत्वप्रकल्पन पर ज्यादा बल है। ऐसा प्रतीत होता है यद्यपि अपह्नव है, पर वह उतना प्रबल नहीं प्रतीत होता है, कुवलयानन्द में यह आरोप पक्ष और भी स्पष्ट शब्दों में उभर आता है, वहाँ अपह्नुति का लक्षण इस प्रकार है—

"शुद्धापह्नुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिह्नवः"

अर्थात् शुद्धापह्नुति वहाँ होती है, जहाँ अप्रकृत के आरोप लिए प्रकृत का निषेध किया जाय।

इन लक्षणों से यह बात साफ झलकती है कि दीक्षित जी भी उक्त अलंकार में आरोप, साम्य व अपह्नव, इन तीन चीजों को स्वीकार करते ही हैं, पर उनके शब्दों से साम्यमूलक आरोप पर जितना जोर है उसकी अपेक्षा अपह्नव या निषेध शिथिल है। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में उक्त अलंकार के सादृश्यमूलक होने का निषेध किया है, आपका कथन है **"अपह्नतिरपह्नुय किञ्चिदन्यार्थसूचनम्"** अर्थात् किञ्चित्-(उपमेय) या किसी पदार्थ का निषेध कर अन्य पदार्थ (या उपमान) का आरोप अपह्नुति है। दण्डी को किञ्चित् निषेधपूर्वक आरोप अभीष्ट है। आचार्य मम्मट ने भी अपह्नुति अलंकार में ठीक दण्डी का ही अनुसरण किया है, मम्मट का लक्षण इस प्रकार है—

"प्रकृतं यन्निषिध्यात् साध्यते सा त्वपह्नुतिः" अर्थात्—**"उपमेयं असत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत् स्थाप्यते सा तु अपह्नुतिः"**

विश्वनाथ कविराज ने भी आचार्य मम्मट के ही लक्षण का अनुसरण किया। आपका भी अपह्नुति का लक्षण मम्मट से मिलता जुलता है—

"प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः"

बस यहाँ से अपह्नुति की साम्यमूलकता पर खास कोई ध्यान नहीं दिया गया है, फलतः इस अलंकार के साम्य की जगह वैषम्य की झलक दिखलाई देने लगी, यद्यपि विश्वनाथ एक संग्राहक होने के नाते, एक बार मम्मट के अनुसार लक्षण को उपस्थित कर पुनः अलंकार-सर्वस्वकार के अनुसार भी लक्षण रखने की इच्छा करते हैं, जिसके लिए वे पुनः प्रकारान्तर से अपह्नुति का लक्षण बताते है ।

गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्नुतिः ॥ इत्यादि

जिसमें निषेध व आरोप का कोई ज्यादा बखेड़ा भी न रहे, यह लक्षण इनका मम्मट व रुय्यक के मध्य का है, पर बाद में अधिक आलंकारिकों ने मम्मट के ही लक्षण का अनुसरण किया है, जिसका सुन्दर परिष्कार हमें पण्डितराज के लक्षण में मिलता है जो इस प्रकार है—

"उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुतिः" ।

जिस मुख आदि अधिकरण में, उपमेयवृत्ति असाधारण धर्म (मुखत्व आदि) का निवेध शब्दतः अथवा अर्थतः किया जाता है, उसी (मुख आदि) में आरोपित किया जाता हुआ, उपमान (चन्द्र आदि) का अभेद अपह्नुति अलंकार है ।

यस्मिन् अधिकरणे मुखत्वादेर्निषेधः शब्दतोऽर्थतो वा प्रतिपाद्यते, तस्मिन्नेवाधिकरणे (मुखादावुपयमेयभूतपदार्थे) चन्द्रादेरुपमानस्य तादात्म्यारोप्यमाणमपह्नुतिरिति भावः ।

रूपक में उपमेयतावच्छेदक का निषेध नहीं किया जाता है, जबकि अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध होने से, उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का परस्पर विरोध अभिव्यक्त होता है, जिसकी झलक **"नेदं मुखम्, किन्तु चन्द्रः"** इत्यादि में होती है । इतना तो यहाँ साफ मालूम पड़ता है कि मुखत्व तथा चन्द्रत्व परस्पर विरोधी पदार्थ हैं ।

इसी "उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्य" अंश से भ्रान्तिमान् में भी उक्त लक्षण की प्रसक्ति का वारण हो जाता है, वहाँ न तो इन दोनों का विरोध ही होता है, और न भ्रान्त प्रमाता को उपमेयतावच्छेदक की प्रतीति ही होती है ।

उदाहरण

स्मितं नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं ।
मुखं वृते मूढः, कुमुदमिदमुद्यत्परिमलम् ॥
स्तनद्वन्द्वं मिथ्या कनकनिभमेतत्फलयुगं ।
लता रम्या सेयं भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥

यह मन्द-हास नहीं है, अपितु स्वभावतः सुन्दर विकास है। मूर्खजन इसे मुख कहता है, वस्तुतः यह तो सुगन्ध को बिखेरता हुआ कुमुद पुष्प है। स्तनयुगल कहना तो ठीक नहीं, ये तो सुवर्ण के से दो फल हैं। अतः यह भ्रमर समूह से झुकी हुई लता है, न कि रमणी।

उक्त पद्य में जिस अधिकरण में स्मितत्वादि उपमेयतावच्छेदकों का निषेध किया जाता है, उन्हीं में विकास आदि उपमानों का तादात्म्य आरोपित किया जाता है, अतः यह लता के सम्पूर्ण अवयवों में होने से या अपह्नुति समुदाय होने से सावयवा अपह्नुति है। पूर्व तीन चरणों में वर्णित सारी अपह्नुतियाँ चतुर्थ (लतारूप) अपह्नुति का समर्थन करती हैं।

निरवयव अपह्नुति का उदाहरण

श्यामं सितञ्च सुदृशो न दृशो स्वरूपं,
किन्तु स्फुटं गरलमेतदथाऽमृतं च।
नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव,
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः॥

(अभी हलाहल मद भरे,
श्याम श्वेत रतनार
जियत मरत झुकि झुकि परत,
जिन चितवहिं एक बार)

कवि का कथन है कि यह श्याम व श्वेत सुनयना के नयनों का स्वरूप नहीं है किन्तु स्पष्ट है कि यह विष तथा अमृत है। यदि ऐसा न होता तो इन आँखों के निपतन से, तत्काल ही युवकगण मोह और हर्ष को कैसे प्राप्त करते ? क्योंकि मूर्च्छित करना और आनन्द देना यह तो विष और अमृत का ही काम है।

उक्त पद्य में श्यामत्व आदि उपमेयतावच्छेदकों का निषेध करके विष आदि उपमान के तादात्म्य का आरोप किया गया है। अतः यह अपह्नुति है, यहाँ अपनुह्नुति समूह के सामर्थ्य व समर्थकभाव का अभाव है। अतः यह निरवयवा अपह्नुति है। उक्त पद्य में आखों के श्यामत्व व श्वेतत्व में विष व अमृत होने की जो प्रतिज्ञा की गई है, "उसके विपरीत पक्ष में" "नो चेत्" इत्यादि द्वारा बाधक हेतु का वर्णन किया गया है। अतः इसे हेत्वपह्नुति भी कह सकते हैं।[1]

---

1. यदि गरलममृतं च न स्यात्, तदा गरलकार्यं मोहः, अमृतकार्यं मोदश्च, न स्यादिति, गरलामृतसाधनाय मोहमोदरूपहेतूपन्यासाद्धेत्वपह्नुतिः
(सरला टीका)

इस अपह्नुति में जब नञ् (निषेध) आदि साक्षात् शब्दों द्वारा अथवा "दूसरे ऐसा कहते हैं मैं ऐसा नहीं कहता हूँ-- परे त्वेवं वदन्ति, नाहमेवं वदामि" इत्यादि रीति से, या किसी भ्रान्त्यादि अलंकारान्तर से व्यवहित करके उपमेय का निषेध बतलाया जाता है तब प्रायः वाक्यभेद हुआ करता है। अर्थात् उपमेय का निषेध एक वाक्य में और उपमान का तादूरूप्य दूसरे वाक्य में। परन्तु जब उपमेय का निषेध कहीं मिष, छल, छद्म, व्याज, कपट, आदि शब्दों द्वारा अवगत कराया जाता है, तब वाक्य भेद नहीं होता है। अर्थात् एक वाक्य में यह सब वाक्यार्थ रहता है।

कहीं निषेध पूर्वक आरोप होता है, और कहीं आरोपपूर्वक निषेध होता है। कहीं उपमान का तादात्म्य तथा उपमेय का निषेध एक शब्द द्वारा तथा द्वितीय अर्थ द्वारा होता है, अर्थात् कोई शाब्द और कोई आर्थ होता है। कहीं वे निषेध व आरोप दोनों विधेय होते हैं, कहीं दोनों अनुबाद्य होते हैं। इस तरह से अपह्नुति के अनेक भेद हो सकते हैं परन्तु इनमें कोई विशेष चमत्कार न होने से इन सब भेदों के आधार पर इनकी पृथक् पृथक् गणना नहीं की।

एक ही वाक्यगत निषेध व तादूरूप्य का आर्थत्व व अनुवाद्यत्व जैसे—

वदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा।
अनया कथमन्यथाऽवलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः॥

विधाता ने जिह्वा के बहाने चुगुलखोरों के मुंह में सर्पिणी रख दी है। यदि यह बात न होती तो इस जिह्वा से चाट लिए गये निरुपाय प्राणी कैसे मर जाते। (सर्प से काटा हुआ व्यक्ति बिना मन्त्र या उपचार के जैसे नहीं जी सकता है) उसी प्रकार चुगुलखोरों के इस जिह्वा रूपी सर्पिणी से आस्वादित अर्थात् इनके शिकायत का शिकार हुआ व्यक्ति भी यदि प्रतीकार में असमर्थ होता है तो मृत्यु का ग्रास बनता है।

उक्त पद्य में उपमेय जिह्वा का निषेध और उपमान सर्पिणी का तादूरूप्य दोनों एक ही वाक्य में आये हैं। ये दोनों निषेध व तादूरूप्य अर्थतः प्राप्त हैं और दोनों अनुबाद्य-उद्देश्य ही हैं, क्योंकि आगे विनिवेशन का विधान किया गया है।

इस अपह्नुति के लक्षण में आये हुए "आरोप्यमाण" अर्थात् आरोपित किया जाने वाला उपमान तादूरूप्य में आरोप्यमाण शब्द का अर्थ है "आहार्य निश्चय का विषय किया जाना।" तात्पर्य यह है कि वह पदार्थ (जिसको आरोपित किया जा रहा है) ऐसा होना चाहिए जिसका निश्चय वक्ता ने अपनी इच्छा से कर लिया हो, (भले ही वह झूठा ही क्यों न हो)।

यदि कोई प्रिया विरहवेदना से व्यथित हो और नीली छाया युक्त चन्द्र

को देखकर उन्माद "नायं चन्द्रः किन्तु सविवरः सूर्यः" ऐसा कहने लगे, तो उक्त विरहजन्य दोष विशेष के कारण अनाहार्य होने से उक्त अपह्नुति अलंकार नहीं हो सकता है। क्योंकि अपह्नुति के लक्षण में आये हुए अरोप्यमाण पद का अर्थ है बाध-कालीन इच्छाजन्य ज्ञान, यहाँ तो वक्ता ने किसी दोष विशेष के कारण सकलंक चन्द्र को विवरयुक्त सूर्य कहा है न कि अपनी इच्छा से इसका निश्चय किया है।

अपह्नुति के विषय में दीक्षित जी की कुछ नई धारणाओं पर विचार—

दीक्षित जी ने अपने कुवलयानन्द नामक अलंकार ग्रन्थ में अपह्नुति अलंकार की चर्चा करते हुए इसके कई भेद प्रदर्शित किये हैं जैसे पर्यस्तापह्नुति छेकापह्नुति व कैतवापह्नुति आदि।

यद्यपि उक्त अपह्नुतियों में से बहुतों का वर्णन प्राचीनों के द्वारा किया जा चुका है। जैसे—कैतवापह्नुति इत्यादि का अन्य आचार्यों ने छल, छद्म, कैतव आदि शब्दों के द्वारा इसका निरूपण किया है और छेकापह्नुति को कुछ विद्वान अलग से अलंकार नहीं मानते हैं। इसे व्याजोक्ति में ही गतार्थ कर लेते हैं। परन्तु पर्यस्ता-पह्नुति दीक्षित जी की एक अभिनव उद्भावना है जिसकी चर्चा पूर्वाचार्यों में नहीं की है। अपह्नुति के प्रसङ्ग में प्रकृत अलंकार में किसी वस्तु के धर्म का निषेध कर, उस धर्म का आरोप वर्णनीय वस्तु पर किया जाय तो वहाँ पर्यस्तापह्नुति होती है। एक प्रकार से उक्त अपह्नुति में विषय का परिवर्तन भी हो जाता है, यहाँ उपमेय के धर्म का निषेध न होकर उपमान के धर्म का निह्नव किया जाता है। जैसे—चन्द्र में चन्द्रत्व का निषेध करके वर्णनीय मुख में उसका आरोप कर दिया जाता है। कुवलयानन्द में इसका लक्षण व उदाहरण इस प्रकार है—

अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्॥

उक्त अपह्नुति के भेद को पण्डितराज नहीं मानते हैं। आपका कहना है कि उक्त अपह्नुति का भेद विशेष अपह्नुति के सामान्य लक्षणा से चरितार्थ नहीं है, अतः **"नाम सुधांशुः किं तर्हि-सुधांशुः प्रेयसीमुखम्"** इत्यादि स्थलों में हठारोप नामक रूपकालंकार ही है। न कि अपह्नुति,[1] पण्डितराज उक्त अपह्नुति का निषेध तीन प्रतिष्ठित आचार्यों की साक्षिता में कर रहे हैं। आपका कथन है कि यह दीक्षित जी का कल्पित अपह्नुति का भेद न तो काव्यप्रकाशकार मम्मट के लक्षणा का अनुसरण

---

1. अत्र चिन्त्यते-नायमपह्नुतेर्भेदो वक्तुं युक्तः, अपह्नुतिसामान्यलक्षणाक्रान्तत्वाद्, तस्यात् "नायं सुधाशु·····"इत्मन्न हठारोपं रूपकमेव भवितुमर्हति, नापह्नुतिः। (रस गं० हि० आ०)

करता है ।[1] और न अलंकार सर्वस्वकार के लक्षण का अनुसरण करता है ।[2] और न उनके टीकाकार जयरथ के ही अनुकूल पड़ता है । जयरथ ने अलंकार-सर्वस्व की विमर्शिनी टीका में इस प्रकार के वाक्यार्थों में हठारोप नामक रूपक ही माना है । विमर्शिनी में जयरथ का इस विषय में इस प्रकार का लेख है—

"आरोपेत्यादिना— विषयस्यापह्नुवे विषयिणोऽन्यस्य विधिरित्यर्थः । तेन "न विषं विषमित्याहुः, ब्रह्मस्वं विषमुच्यते, विषयेकाकिनं हन्ति, ब्रह्मस्वं तु ससन्ततिम् ।" इत्यत्र विषस्य निषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषय आरोप्यमाणत्वाद् हठारोपं रूपकमेव नापह्नुतिः ।"

अतः ऐसे स्थलों में प्राचीन आचार्य मम्मट, रुय्यक व जयरथ की प्रामाणिकता के आधार पर स्वयं पण्डितराज ने भी अपह्नुति के उक्त भेद को पृथक् न मानकर हटारोप नामक रूपकालंकार में ही उसे गतार्थ किया है ।

उत्प्रेक्षा

अपह्नुति अलंकार के निरूपण के बाद अब उत्प्रेक्षा अलंकार का निरूपण किया जाता है । उत्प्रेक्षा की व्युत्पत्ति काव्यप्रकाश के उद्योत टीका में नागेश ने इस प्रकार की है **"उत्+प्र+ईक्षा=उत्कटा प्रकृष्टस्य उपमानस्य ईक्षा ज्ञानमुत्प्रेक्षा"** इसमें स्पष्ट है कि उत्प्रेआ प्रकृत की अप्रकृत के रूप में उत्कृष्ट सम्भावना है । जैसा कि विश्वनाथ कविराज का साहित्य दर्पण में उत्प्रेक्षा के विषय में कहना है—**"भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।"** अर्थात् उपमेय की उपमान के रूप में जो उत्कट-एककोटिक-सम्भावनात्मक ज्ञान, उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं । यह सम्भावना एक प्रकार का ज्ञान है जो न तो भ्रम है, और न संशय, ना ही निश्चय है । अतः इसकी उक्त भ्रान्तिमान्, सन्देह व निश्चय अलंकारों में अतिप्रसक्ति नहीं हो सकती है । क्योंकि भ्रान्तिमान् में भ्रान्त व्यक्ति को विषय का समुचित ज्ञान ही नहीं होता है और इसमें क्रियाकारिता या प्रवृत्ति भी देखी जाती है । जैसे—**"शुक्तौ इदं रजतम्"** इत्यादि स्थल में चाकचिक्यादि दोषवश रततार्थी की शुक्ति के ग्रहण करने की ओर प्रवृत्ति हो जाती है भले ही बाद में **"नेदं रजतम्"** इत्याकारक बाधज्ञान हो जाय, परन्तु भ्रम तद्वस्तुविषयक अज्ञान एक बार तो प्रवृत्ति करा ही देता है । ठीक यही दशा भ्रान्तिमान् अलंकार में भी है, "स्वच्छ दुग्ध धवला पूर्णिमा की चाँदनी छिटकी हुई है, दुग्ध धारा के भ्रम से ग्वाले गायों के थनों के नीचे घड़ा रख रहे हैं कहीं दूध जमीन में न बिखर जाय ।

---

1. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सात्वपह्नुतिः । (काव्य प्र० द० उ०)
2. विषयापह्नुवे वस्त्वन्तरप्रतीतावपह्नुतिः । (अलंकार सर्वस्व)

"मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानद्यो बल्लवाः ।" इत्यादि में विषय चाँदनी में दूध का भ्रम हो रहा है क्योंकि उन्हें विषय का ज्ञान ही नहीं है । सन्देह में उभय कोटिक ज्ञान समकक्ष ही रहा है तभी वह सन्देह का विषय बनता है । निश्चय तो प्रमात्मक ज्ञान या यथार्थज्ञान ही जिसके विषय किसी प्रकार के तर्क या सम्भावना की जरूरत ही नहीं है । सम्भावना भी यद्यपि संशय व तर्क की तरह एक प्रकार का अनवधारणात्मक ज्ञान ही है । पर यह सब होते हुए भी सम्भावनात्मक ज्ञान उनसे कुछ भिन्न ही है । क्योंकि **"स्थाणुर्वा पुरुषो वा"** इत्याकारक संशब्दयोल्लेखात्मक ज्ञान संशय है, और **"पुरुषेणानेन भवितव्यम्"** इत्याकारक एकतर पक्षानुकूल कारण को दिखलाते हुए पक्षान्तर का बाधरूप तर्क है, और **"पुरुष एवायम्" इति ।** एकता पक्ष का निर्णय, और पक्षान्तर अस्पर्श रूप ज्ञान निश्चय है । इस प्रकार से सहृदय लोग ज्ञान को तीन प्रकार का मानते हैं, पर सम्भावना इन तीनों प्रकार की कोटियों से पृथक् और संशय व निश्चय के अन्तरालवर्ती एक विलक्षण उत्कटैक-कोटिक सम्भावनात्मक ज्ञान है । ऐसा ही अलंकार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ का अपनी विमर्शिनी टीका में उल्लेख है—

"अनवधारणाज्ञानत्वाविशेषेऽपि संशयतर्कयोर्भिन्नरूपत्वात्, तथा हि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सामान्येन पक्षद्वयोल्लेखः संशयः । पुरुषेणानेन भवितव्यमिति, एकतर-पक्षानुकूलकारणदर्शनेन पक्षान्तरबाधनमिव तर्कः । पुरुष एवायमिति, पक्षान्तरा-संस्पर्शेन, एकतरपक्षनिर्णयो निश्चय इत्यास्ति सहृदयसाक्षिकं प्रत्ययानां त्रैविध्यम् । अनियतोभयपक्षावलम्बी किं स्विदिति विमर्शः सन्देहः, एकतरपक्षावलम्बी तु तर्क इति । तेन सन्देहनिश्चयान्तरलवर्ती तद् विलक्षणः सम्भावना प्रत्ययस्त्रिशंकुरिव लम्बमानोऽवश्याभ्युपगन्तव्यः ।"

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति ये दोनों अलंकार अध्यवसायमूलक हैं परन्तु इन दोनों में दो प्रकार का अध्यवसाय रहता है । उत्प्रेक्षा में जो अध्यवसाय अर्थात् विषय निगरण रहता है, वह साध्य होता है । साध्य का मतलब है कि सम्भावना-विषय में सम्भाव्यमान वस्तु या धर्म की असत्यता, जबकि अतिशयोक्ति में यह अध्यवसाय या विषय निगरण, सिद्ध रहता है अर्थात् बिषय निगरण द्वारा विषयी के साथ विषय की अभेद प्रतिपत्ति वहाँ सत्य सी प्रतीत होती है । परन्तु पर्यवसान में उसकी असत्यता मालूम होती है किन्तु उत्प्रेक्षा में तो यह अध्यवसाय प्रतीति-काल में ही असत्य मालूम पड़ता है । इस तरह उत्प्रेक्षा वह ज्ञान है जिसमें प्रकृष्ट की उत्कट ईक्षा होती है । इस प्रकृष्ट धर्म के ही विषय में उत्कट ईक्षा या सम्भावना किया जाना उत्प्रेक्षा है । इसमें निमित्त जिसके जरिये सम्भावना की जाती है, और विषय जिसमें यह सम्भावना हो और विषयी जिसकी सम्भावना हो और इन दोनों के मध्य का कोई तादात्म्य या तदितर समवायादि-सम्बन्ध जिसके द्वारा

इनको मिलाया जाता है, उत्प्रेक्षा की यह सब आवश्यक सामग्री है।

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

"तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्ति-तत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावन-मुत्प्रेक्षा।"

जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ की उस पदार्थ के रूप में, दोनों पदार्थों में रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मान कर की जाने वाली सम्भावना, उत्प्रेक्षा कहलाती है। अथवा जिस धर्म का अभाव जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ में उस धर्म से मुक्त होने की ऐसी सम्भावना, जो उस धर्म के साथ रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो, उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं।

यहाँ उत्प्रेक्षा के दो तरह के लक्षण किये गये हैं। एक तो अन्योन्याभाव घटित और दूसरा अत्यन्ताभावघटित लक्षण। चन्द्रिका संस्कृत टीका में उक्त दोनों लक्षणों को पृथक् पृथक् इस प्रकार दिखलाया है—

"तद्भिन्नत्वेन प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा।" "तदभावत्त्वेन प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीय-तत्समानाधिकरणतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तद्वत्त्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा।"

इन दोनों लक्षणों में प्रथम तत् शब्द के द्वारा विषयी (उपमान) का ग्रहण होगा, द्वितीय तत् शब्द द्वारा विषय (उपमेय) का ग्रहण होगा। तृतीय तत् शब्द के द्वारा पुनः विषयी (उपमान) का ग्रहण होगा। सम्भावना एक प्रकार का ज्ञान विशेष है। अथवा "सम्भावनम्" का अर्थ है कि विषय मुख में चन्द्रत्व योग्यता का अभाव नहीं है। अपितु तादृश योग्यता चन्द्रगत आह्लादकता आदि की मुख में भी सत्ता है इस प्रकार का अनुसंधान करना। सरला टीकाकार ने इसे इस प्रकार समझाया है—

सम्भावनं च अयोग्यत्वाभावानुसन्धानविषयीकरणम्, (मुखे चन्द्रत्व-योग्यताया अभावो न, अपितु तादृशयोग्यता अस्तीत्यनुसन्धानम्)।

उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है धर्मी उत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा। **धर्मी-उत्प्रेक्षा** में प्रथम लक्षण का सङ्गमन करते हैं तत्त्वेन अर्थात् चन्द्र से भिन्न भी मुख में चन्द्रत्वेन जो सम्भावना है, वही उत्प्रेक्षा है। यहाँ मुख में चन्द्र की सम्भावना अभेद सम्बन्ध से की गई है, और मुख में विद्यमान आह्लादकत्वादि धर्म के निमित्त की गई है। यहाँ धर्मी-उपमेय-मुख में धर्म चन्द्रत्वादि की सम्भावना की गई है, अतः यह धर्मी उत्प्रेक्षा है।

धर्मोत्प्रेक्षा—तदभाववत्त्वेन अर्थात् जो धर्म जिस पदार्थ में नहीं है। ऐसे पदार्थ में उस धर्म की सम्भावना करना उत्प्रेक्षा है। जैसे—**"निधि लावण्यानाम्"** इत्यादि पद्य में धर्मी ब्रह्म में मोहरूप धर्म नहीं है। तथापि मोहवत्त्वेन सम्भावना करना यह धर्मोत्प्रेक्षा है। यहाँ उक्त धर्म की सम्भावना समवाय-सम्बन्ध से की गई है। यहाँ निमित्त है, उत्प्रेक्ष्यमाण धर्म-मोह उसका सहवासी अविचार्यकारित्व-रूप धर्म। अतएव यह धर्म मोहसमानाधिकरण धर्म है, यही धर्मोत्प्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा में यह सम्भावना आहार्या होनी चाहिए, अर्थात् तद् भिन्न रूप में निश्चित पदार्थ को पुनः तद्रूप समझना आहार्य ही हो सकता है। अतः एव **"लोकोत्तरप्रभावं त्वां मन्ये नारायणं परम्"** इत्यादि में लोकोत्तर प्रभावशाली राजा में जो नारायणत्व की सम्भावना है। वह आहार्य नहीं है, अर्थात् सम्भावनामात्र है, न कि बाधकालिक इच्छा जन्य।

इसी प्रकार **"रामं स्निग्धतरश्यामम्"** इत्यादि[1] पद्य में राम में धाराधर अर्थात् मेघ की सम्भावना भी अनाहार्या होने से उक्त उत्प्रेक्षा की प्रसक्ति नहीं हुई उक्त पद्य में भ्रान्तिमान् अलंकार है, इसीलिए तो मयूरों के नृत्यरूप कार्य का वर्णन है। उत्प्रेक्षा का निमित्त धर्म भी उभयनिष्ट अर्थात् विषय व विषयी दोनों में रहना चाहिए, इसीलिए हे बाले ! तुम्हारे स्मित-सुषमालेश से ही यह पञ्चबाण संसार को जीत लेता है हो मानो। इत्यादि वाक्यों में स्मित अवश्य सम्भावना का उत्थापक है, परन्तु वह न तो जगत् विषय में है और न ही विजितत्वरूप विषयी में ही है। अतः **"तद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकम्"** इस विशेषण के द्वारा उक्त पद्य **"वदनकमलेन बाले"** में अतिव्याप्ति नहीं हुई।[2]

इसी प्रकार **"प्रायः पतेद् द्यौ"** इत्यादि[3] पद्य में भी द्रौपदी के रोदन का करणीभूत केश ग्रहणादि तज्जन्य पापरूप निमित्त के द्वारा विवक्षितार्थ की सम्भावना की गई है, पर वह निमित्तभूत धर्म यहाँ भी उभयनिष्ट नही हैं, **"दूरस्थोऽयं देवदत्त इवाभाति"** इत्यादि वाक्यों में निश्चलत्व चञ्चलत्वादि सामान्य धर्म निमित्तकसम्भावना में अतिप्रसक्ति वारण के लिए लक्षण में निमित्तभूत धर्म का रमणीयत्व विशेषण लगाया है।

---

1. रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
   प्रायो धाराधरोऽयं स्यादिति नृत्यन्ति केकिनः॥
2. वदनकमलेन बाले ! स्मितसुषमालेशमावहसि चेत्।
   जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितमिति॥
3. प्रायः पतेद् द्यौः शकलीभवेद् ग्लौः सहाचलैरम्बुधिभिः स्खलेद् गौः।
   नूनं ज्वलिष्यन्ति दिशः समस्ता यद् द्रौपदी रोदिति हा हतेति॥

(रस ग० दि० आ०)

रूपक के ज्ञान में अतिव्याप्ति के वारण के लिए लक्षण में "सम्भावनमुत्प्रेक्षा" कहा गया है, क्योंकि रूपक का ज्ञान सम्भावनारूप न होकर निश्चयरूप होता है।

उत्प्रेक्षा का विभाग

यह उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है, एक वाच्या और दूसरी प्रतीयमाना, (यहाँ प्रतीयमाना का अर्थ व्यङ्ग्या नहीं है, अपितु अर्थतः जहाँ उत्प्रेक्षा की प्रतीति हो)।

(1) वाच्या उत्प्रेक्षा—जहाँ इव, नूनं, मन्ये, शंके, जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, उत्प्रेक्षे और अचारार्थक क्यङ् और क्विप् आदि सम्भावना प्रतिपादक शब्दों का उल्लेख हो, उसे वाच्योत्प्रेक्षा कहते हैं। इस विषय में किसी प्राचीन विद्वान् की उक्ति इस प्रकार है—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्यवेमादयः।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः॥

(2) प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा—जहाँ केवल उत्प्रेक्षा की सामग्री समग्ररूप में रहे, अर्थात् सम्भावना के रूप में आवश्यक विषय, विषयी, धर्म निमित्त आदि। परन्तु उस सम्भावना के प्रतिपादक पूर्वोक्त शब्द न रहे, वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है, उक्त प्रतिपादक शब्दों के अभाव में भी अर्थात् उनका आक्षेप हो जाता है।

(3) जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री तो न रहे, अर्थात् कविप्रतिभोत्थित सम्भावना के स्वरूप निष्पादक वे तत्त्व न रहें, केवल मन्ये, शंके इत्यादि सम्भावना प्रतिपादक शब्दमात्र रहें, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार न होकर सम्भावनामात्र समझा जायेगा।

पुनः यह दो प्रकार की उत्प्रेक्षा वाच्या व प्रतीयमाना, स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा व फलोत्प्रेक्षा के भेद से प्रत्येक तीन प्रकार की होती है। पुनः धर्मिगत एवं धर्मगत होने से यह सब बारह प्रकार की होती है।

संसार में सभी प्रकार के पदार्थों के विषय में प्रायः यह उत्प्रेक्षा की जाती है, ये पदार्थ चार प्रकार के होते हैं, जाति, गुण, क्रिया व द्रव्य (संज्ञाशब्द) उत्प्रेक्षा के विषयीभूत ये पदार्थ यद्यपि अपने विषयरूप में स्वतः सम्भव भी रहेंगे परन्तु सम्भावित विषयीरूप में इनकी लौकिक स्थिति नहीं रहती है। अतः केवल कविप्रतिभोत्थित होने के कारण उत्कटसम्भावना के पक्ष में इनकी भौतिक सत्ता न रहने से, अभावरूप इन पदार्थों का भावरूप उन उपमेयभूत पदार्थों से या द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति से तादात्म्य सम्बन्ध या इतर किसी सम्बन्ध से सम्भावना की जाती है। इन जाति गुण क्रिया द्रव्यों की तदभावरूप उन्हीं से तादात्म्य या तदितर सम्बन्ध द्वारा जो सम्भावना की जाती है, उसे स्वरूपोत्प्रेक्षा कहते हैं। इसी प्रकार इन्हीं में से

किसी को निमित्त बनाकर अहेतु में हेतु की सम्भावना हेतूत्प्रेक्षा होती है, और अफल में फल की सम्भावना फलोत्प्रेक्षा है ।

पुनश्च ये उत्प्रेक्षायें कहीं सिद्धस्वरूप वाली अर्थात् स्वतः सम्भवी पदार्थों को लेकर होती हैं, और कहीं साध्यस्वरूपवाली अर्थात् कविकल्पित पदार्थों के विषय में होती है । इस प्रकार उत्प्रेक्षा के विषय में अत्यधिक विकल्प होने से, (जैसा कि अलंकार सर्वस्वकार के मत में, और साहित्यदर्पणकार के मत में) । प्रकृत में उनका वर्णन उतना चमत्काराधायक भी नहीं है, अतः पण्डितराज ने यहाँ केवल उत्प्रेक्षा के बारह भेदों का ही वर्णन किया हैं, जो इस प्रकार है—

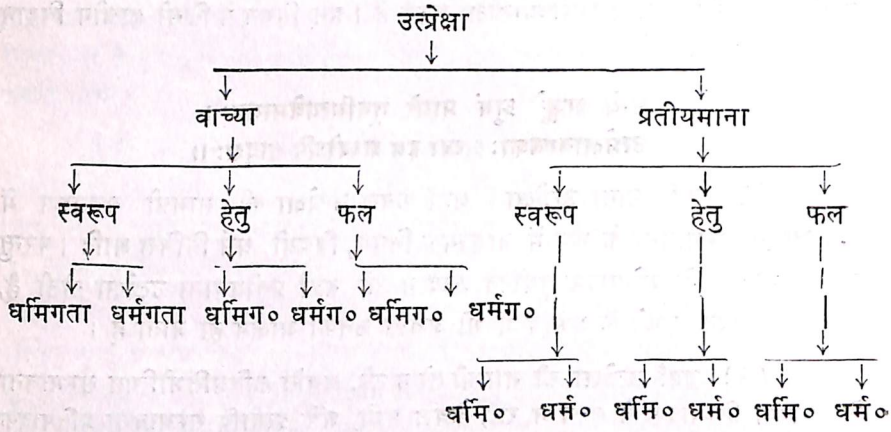

स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण

भगीरथी द्रव्य अथवा जाति में भुजत्व जाति से अवच्छिन्न, हिमालय के भुजा की तादात्म्येन उत्प्रेक्षा—

"तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानायाभगवत्यो भगीरथ्याः सखी" इति ।

यह वाक्यसन्दर्भ पण्डितराज के **"यमुनावर्णनम्"** नामक काव्य से उद्धृत है—यह यमुना उस ऐश्वर्यशालिनी गङ्गा की सखी है । जो अपने पुत्र मैनाक (एक पर्वत) को ढूँढ़ने के लिए लम्बी की हुई और समुद्र के मध्य में प्रविष्ट हुई हिमालय पर्वत की भुजा का सा आचरण करती है ।

उक्त गद्य खण्ड में भगवती भागीरथी में तादात्म्येन हिमालय के भुजा की उत्प्रेक्षा की गई है । यह उत्प्रेक्षा द्रव्योत्प्रेक्षा भी हो सकती है, और जात्युत्प्रेक्षा भी है । यदि भगीरथ पद को यहाँ एक व्यक्तिवाचक माना जाय अर्थात् केवल संज्ञा शब्द माना जाय, तब तो यह गङ्गारूप द्रव्य में उत्प्रेक्षा हुई, यदि कल्पभेद से

भागीरथीपद को अनेक व्यक्ति वाचक समझा जाय तब जाति में, अर्थात् हिमालय से सम्बन्ध रखने वाले, भुजत्वजात्यवच्छिन्न, हिमालय के भुज की अभेद सम्बन्ध द्वारा उत्प्रेक्षा की जाती है। इस उत्प्रेक्षा में श्वेतता, शीतलता, लम्बता और समुद्रोदर-प्रविष्टता ये चार धर्म साधारण हैं, जो गङ्गा तथा भुज दोनों में रहते हैं और उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त होते हैं।

यद्यपि गङ्गा में ये चारों धर्म स्वतः सिद्ध हैं, और भुज में हिमालय सम्बन्धी होने से श्वैत्य व शीतलत्व, वाक्य में अनुक्त होने पर भी सिद्ध हो जाते हैं। और ये दो धर्म, लम्बता व समुद्रोदर प्रविष्टता भी गङ्गागत ही हैं भुजगत नहीं, परन्तु इन्हें भुजगत सिद्ध करने के लिए तनय मैनाक गवेषणरूप फल की उत्प्रेक्षा की गई है। उक्त फल के उपाय रूप में स्वीकृत किये गये ये दोनों धर्म अब भुजगत भी हो जायेंगे, अन्यथा तो गवेषण दुःशक्य हो जायेगा। इसीलिए अतिशयोक्ति द्वारा उक्त सभी धर्मों का जो कि उत्प्रेक्षा के निमित्त हैं, अध्यवसान किया जायेगा जिससे कि विषय गङ्गागत वे सब धर्म विषयी भुज में भी सिद्ध हो सकें।

यदि कोई कहे कि इसमें तो तनयगवेषणरूप फल भी जब निर्दिष्ट है तो फिर इसे स्वरूपोत्प्रेक्षा न मानकर फलोत्प्रेक्षा ही क्यों न मानी जाय, इसका समाधान इस प्रकार है कि उक्त उत्प्रेक्षा में गवेषण फल के द्वारा ही तो लम्बत्व तथा समुद्रोदर प्रविष्टत्व रूप निमित्त सिद्ध हो रहा है। यही निमित्त गङ्गा में हिमालय भुजत्व की सम्भावना की गई है। अतः स्वरूपोत्प्रेक्षा में फलोत्प्रेक्षा स्वयं उपपादक होने से गौण-अप्रधान है। और फिर "भुजायमान" पद में व्यङ्ग्य प्रत्यय फल के साथ अन्वित न होकर, भुज के साथ है। अतः वह प्रत्यय भी गङ्गागत जाति की भुजगत जाति भुजत्व के रूप में सम्भावना करता है। अतः परस्पर जाति की जाति के रूप में उत्प्रेक्षा होने से यह स्वरूपोत्प्रेक्षा है, चमत्कार की विश्रान्ति भी इसी में है।

इसी प्रकार द्रव्य, गुण व क्रिया की भी उत्प्रेक्षा होती है, विस्तार के भय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है, जिज्ञासु मूल ग्रन्थ से उनका अवगम कर लें।

हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण

जाति-हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं —

त्वत्प्रतापमहादीपशिखाविपुलकज्जलैः ।
नूनं नभस्तले नित्यं नीलिमा नूतनायते ॥

कवि किसी राजा से कहता है—

हे राजन्! आपके प्रतापरूप महादीपक की शिखा के विपुल काजलों से आकाश में नीलिमा मानों नित्य नयारूप धारण करती जा रही है।

उक्त पद्य में दो उत्प्रेक्षायें हैं, एक नीलिमा की और दूसरी काजलों की, ये दोनों उत्प्रेक्षायें आकाशरूप एक आधार में हुई है। इनमें "नीलिमा" की उत्प्रेक्षा प्रधान है और काजलों की उत्प्रेक्षा उसके हेतुरूप में की गई है। इसी अप्रधान उत्प्रेक्षा को लेकर यह पद्य हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण होता है, इसीलिए यह उदाहरण जाति-हेतूत्प्रेक्षा का है। क्योंकि "कज्जल" जातिवाचक शब्द है। इसी पद्य में यदि **"विपुलकज्जलैः"** की जगह "कज्जललेपनैः" कर दिया जाय तो यही पद्य क्रिया हेतूत्प्रेक्षा का हो सकता है। क्योंकि "लेपन" एक क्रिया है।

फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण

जाति-फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

दिवानिशं वारिणि कण्ठदघ्ने दिवाकराराधनमाचरन्ती।
वक्षोजतायै किमु पक्ष्मलाक्ष्यास्तपश्चरत्यम्बुजपङ्क्तिरेषा॥

कवि का कहना है कि—दिन रात (गले तक) पानी में सूर्य की आराधना करती हुई, यह कमलों की पंक्ति, क्या सघनपक्ष्मयुक्त आखों वाली नायिका का स्तनत्व प्राप्त करने के लिए तप कर रही है।

उक्त पद्य में स्तनत्व जातिरूप अर्थ की प्राप्तिरूप फल के लिए ही, कमलों की पंक्ति स्वाभाविकजल मग्न होते हुए भी, उसमें तपश्चरण क्रिया का अभेदेन अध्यवसान किया गया है। उस तपश्चरण क्रिया की स्तनत्वप्राप्तिरूप फल में उत्प्रेक्षा की गई है। अतः यह पद्य जाति फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण है। प्रकृत पद्य में "वक्षोजतायै" में "वक्षोजता" एक जाति है, जो वक्षोजरूप एक अङ्ग में रहती है। त्व और तल प्रत्यय का विधान जाति में ही है। अर्थात् ये प्रत्यय जिस शब्द से विहित होते हैं। उस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्तरूप अर्थ भाव ही होता है। अतः स्तन का भी प्रवृत्तिनिमित्तरूप अर्थ यहाँ "स्तनत्व" जाति ही है।

नैय्यायिकों के मत से जाति तो नित्य पदार्थ है, क्योंकि "नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्" यह उनका जाति का लक्षण है, "फल" का अर्थ है उत्पत्ति घटितत्व, अर्थात् जो किसी व्यापार से जन्य हो, मतलब यह है कि जाति तो नित्य पदार्थ है वह फल हो नहीं सकता। क्योंकि फल तो जन्य—अनित्य होता है। अतः उक्त पद्य में तपश्चरण क्रिया का फल, प्राप्ति क्रिया को ही क्यों न मान लिया जाय। इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रकृत पद्य में प्राप्ति क्रिया सम्बन्ध रूप में भासित होती है। अतः उसके माध्यम से अर्थात् तद्द्वारा नित्य पदार्थ जाति भी फलरूप हो सकता है। फलतः इस पक्ष में "वक्षोजता" पद की वक्षोजता प्राप्ति में लक्षणा नहीं करनी पड़ेगी। उसी को फल मानकर ही उसमें फलत्वार्थक चतुर्थी विभक्ति का विधान सङ्गत होगा। प्राचीनों ने भी इसी तरह का प्रयोग किया है। जैसे—बालरामायण में—**"ब्राह्मण्याय तपस्तेपे विश्वामित्रः सुदारुणम्"** अर्थात् विश्वामित्र

जी ने जो कि जन्मना क्षत्रिय थे "ब्राह्मणत्व" के लिए अति दारूण तपस्या की, यहाँ भी ब्राह्मणत्व जाति रूप फल को मानकर उसी में फलत्वार्थक चतुर्थी है। उसी के प्राप्ति के लिए दारूण तपश्चर्यारूप क्रिया है।

उत्प्रेक्षा के वर्णन के प्रसङ्ग में यह समझना चाहिए कि वास्तविक उत्प्रेक्षा चमत्कार तो पूर्वोक्त स्वरूप हेतु एवं फलगत ही है। इसलिए यहाँ इन्हीं तीन भेदों के उदाहरण प्रदर्शित किये हैं। यही पण्डितराज का भी मत है। यद्यपि उन्होंने रस गङ्गाधर में जाति, गुण, द्रव्य व क्रिया के भेद से भी प्रत्येक के भेदों के उदाहरण दिखलाये हैं पर यह सब उन्होंने प्राचीन आचार्य अलंकार-सर्वस्वकारादि के अनुरोध से दिखलाये हैं न कि स्वेच्छा से। जैसा कि उनका कथन है—

"इह जात्यादयो हि भेदाः प्राचामनुरोधादुदाहृताः। वस्तुतस्तु नैषां चमत्कारे वैलक्षण्यमस्तीत्यनुदाहार्यतैव। चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफलस्वरूपात्मकानां त्रयाणां प्रकाराणामेवेति।"

उत्प्रेक्षा के विषय में प्राचीनों का मत

उत्प्रेक्षा के विषय में प्राचीन मम्मटादि आचार्यों का मत है कि विषय में विषयी की अभेद रूप में सम्भावना की जाती है और किसी समवायादि सम्बन्धान्तर से नहीं। जैसे धर्मी स्वरूपोत्प्रेक्षा स्थल में—**"मुखं चन्द्रं मन्ये"** इत्यादि में विषयी (उपमान) चन्द्र की विषय (उपमेय) मुख में अभेद सम्बन्ध से सम्भावना की गई है, यह स्पष्ट ही है। क्योंकि दो नामार्थों का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध निषिद्ध है **"नामार्थयोभेदेन साक्षात् सम्बन्धोऽव्युत्पन्नाः"** यह उपात्तविषया है क्योंकि यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय मुख शब्दतः उपात्त है।

धर्म-स्वरूपोत्प्रेक्षा जैसे—

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे,
भृगुर्महान् यत् कुचशैलशीली।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरु-
व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः॥

यह पद्य "नैषधीयचरितम्" महाकाव्य के सप्तमसर्ग का है, इसमें दमयन्ती का वर्णन है—

दमयन्ती के विषय में मुनिवृन्द भी मोह में पड़ा है ऐसा मेरा (उत्कटैक-कोटिक विचार है) तर्क है। क्योंकि पूजनीय भृगु महर्षि, या एक प्रकार से विनातट पर्वत का ढलाव इसके कुचरूप का सेवन कर रहा है। और नाना—अनेक दाँतों से सुन्दर इसका मुख जिससे नारद मुनि तक सन्तुष्ट हैं, महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का निर्माण करने वाले व्यास मुनि इसकी जङ्घाओं का आश्रय लिये हैं अथवा

अत्यन्त कान्ति से युक्त इसके उरू रति की सृष्टि करने के योग्य है।

उक्त पद्य में मुनिसम्बन्धी धर्मान्तिर-दर्शनादि विषय में दमयन्ती विषयक मोहरूप विषयी का अभेदेन अर्थात् अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की गई है। यह उत्प्रेक्षा साध्यवसाना मूलक होने से विषय दर्शनादि के अनुपात्त होने से अनुपात्त विषया होना उचित ही है और उत्प्रेक्षा का निमित्त है—मुनियों की तत्तत् अङ्गों में चित्तवृत्ति का आसक्त होना। कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त पद्य में मुनिकर्तृक जो दर्शन विषय है, वह शब्दतः उपात्त न होने से अनुपात्त विषया तथा मुनि सम्बन्धी दर्शनरूप विषय में मोहरूप विषयी की उत्प्रेक्षा समवायादि सम्बन्धों से न करके तादात्म्य अभेद सम्बन्ध से ही की गई है। इसी प्रकार मृच्छकटिक नाटक के इस पद्य में भी—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव, दृष्टिर्विफलतां गता॥

काली रात का यह सुन्दर वर्णन है—

अन्धकार अङ्गों को लीप रहा हो मानो अथवा आकाश (काले) अञ्जन की वर्षा कर रहा हो। इस समय असत् पुरुष सेवा की तरह, दृष्टि भी व्यर्थ हो गई है।

उक्त पद्य में प्रथमान्तार्थ कर्ता में लेपनकर्तृत्व की उत्प्रेक्षा नहीं की गई। क्योंकि वैय्याकरणों के अनुसार तिङ् के अर्थकर्त्ता आदि तो वाक्यार्थ में विशेषण ही होते हैं **"तिङर्थस्तु विशेषणम्"**। क्रिया व्यापार ही प्रधान होता है। **"भावप्रधानमाख्यातम्"** के अनुसार क्रिया की ही प्रधानता होती है, कर्त्ता आदि तो उसके विशेषण ही होते हैं अतः वह विधेय नहीं हो सकता है क्योंकि विशेषण अप्रधान होता है। अतः उत्प्रेक्ष्यमाण पदार्थ ही यहाँ विधेय होगा। प्रकृत में नभःकर्तृक अङ्गकर्मक लेपन की ही उत्प्रेक्षा होगी और नभःकर्तृक अङ्गकर्तृक वर्षण की उत्प्रेक्षा होगी। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में विषय जो तमःकर्तृक व्यापन है, और नभःकर्तृक अद्यःप्रसरण है, वह क्रमशः विषयी लेपन व वर्षण के द्वारा निगीर्ण है, अतः अनुपात्त विषया ये उत्प्रेक्षायें हैं। इन उत्प्रेक्षाओं का जो निमित्त है "श्यामीकारकत्व" अर्थात् काला कर डालना रूप वह भी अनुपात्त है। पूर्वपद्य **"अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे"** इत्यादि में निमित्तधर्म गुण था, पर यहाँ वह निमित्तधर्म क्रिया है।

इस प्रकार धर्मीस्वरूपोत्प्रेक्षा हो चाहे धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा दोनों जगह मम्मट ने विषय में विषयी के अभेदसम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा मानी है।

"अतएव—"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्" इति लक्षणं विधायोक्तम्—व्यापनादि-लेपनादिरूपतया सम्भावितम्" इति मम्मटभट्टैः।
इसी प्रकार—

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशायाम्,
इन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥

अर्थात् जात्या वैरी जो चन्द्र रात्रि में मेरे विकास को सहन नहीं करता है। उस चन्द्र का सौन्दर्याभिमान, इस कमलपत्राक्षी ने अपनी मुखकान्ति से बलात् शान्त कर दिया है। मानो इसी हर्ष के कारण, हे सुन्दराङ्गि! कमल की शोभा तेरे पैरों पर लगी है।

उक्त पद्य में जो कि हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण रूप में सर्वत्र प्रस्तुत किया गया है—शोभारूप विषय में केवल हर्षरूप हेतु की ही उत्प्रेक्षा नहीं की गई है किन्तु हर्ष जिसका हेतु है, (ऐसे स्वाभाविक शोभा रूप विषय में) कल्पित शोभा की सम्भावना की गई है। तात्पर्य यह है कि पद्म की शोभा की तरह स्वाभाविक शोभा पैरों में पहिले से ही विद्यमान है। पुनः हर्षरूप हेतु के द्वारा उस कल्पित शोभा की संलग्नता का अभेद सम्बन्ध से, स्वाभाविक संलग्नता में उत्प्रेक्षा की गई है।

जो लोग कार्य को निमित्त मानते हैं, अर्थात् हर्षहेतुक कल्पित पादलग्न को निमित्त व उत्प्रेक्ष्यमाण विषयी मानते हैं उनके मत में भी विषय लक्ष्मी में रहने वाले हर्षहेतुक पादलगनरूप कर्म का अपने समान जातीय स्वाभाविक लगन के साथ अभेदाध्यवसान करना पड़ेगा। अन्यथा स्वाभाविक लगन के साथ एकता नहीं करेंगे तो उत्प्रेक्षा नहीं होगी। क्योंकि वह कार्यरूप निमित्त हेतुरूप भी है। विषयी उत्प्रेक्षा माण भी है। इस हर्ष और हर्षहेतुक कार्य लगन विषय स्वाभाविक लगनरूप एकाधिकरण में रहना आवश्यक है क्योंकि यह नियम है, हेतु व कार्य का समान अधिकरण में रहना।

"कार्यस्य निमित्तता वादिनामपि विषयगततत्समानजातीयेनाभेदाध्यवसानस्या-
वश्यवाच्यत्वात्।"

इसी प्रकार—

चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः।
अद्यापि किं वानुभविष्यतीति व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥

जिस वर्णनीय राजा के डर से भागे हुए चोल नरेश के ललाट की त्वचा को, कटीले वन प्रदेशों ने "न जाने अब भी यह क्या अनुभव करेगा"—इस प्रकार ललाट स्थित विधाता द्वारा लिखी गई भाग्य पंक्ति को सभी अक्षरावली देखने के लिए उधेड़ दिया। उक्त पद्य जिसे फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण मानते हैं, कटीले

वनप्रदेश रूप विषय में ललाट की त्वचा के उधेड़ने से होने वाले ललाटगत विधि वर्णावली के दर्शनरूप फल की उत्प्रेक्षा नहीं है। किन्तु ललाटगत विधि वर्णावली दर्शन जिसका फल है, उस ललाटत्वचोत्पाटन रूप विषयी की, कण्टक से होने वाले अतएव निष्फल और स्वाभाविक ललाटत्वचोत्पाटनरूप विषय में अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है।

तात्पर्य यह है कि उक्त उत्प्रेक्षा में कण्टकाकीर्ण वन प्रदेश विषय नहीं है, अपितु वह कर्त्ता है। राजा कण्टकाकीर्ण वन प्रदेशों में घूम रहा है, जगह-जगह कटीले वृक्ष लता व गुल्म उसके ललाट देश को उधेड़ रहे हैं। यह तो वन प्रदेश में घूमने वालों की स्वाभाविक दशा है। कवि इसमें उत्प्रेक्षा कर रहा है कि उक्त राजा को एक तो यह विपत्ति आई है कि वह पराजित होकर अतएव भयभीत जङ्गलों की शरण ले रहा है। वहाँ भी इधर-उधर घूमते-घामते समय कांटे उसके जो ललाट स्थल की चमड़ी उधेड़ रहे हैं, मानों यह देखने के लिए कि आगे फिर इसके भाग्य में क्या लिखा है, अर्थात् स्वाभाविक जो त्वचोत्पाटन है जो कि जिस किसी के भी जङ्गल में हो सकता है। उस विषय में ललाटाक्षर दर्शनफलक ललाटत्वचोत्पाटनरूप विषयी की अभेदेन उत्प्रेक्षा की गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन आचार्यों ने ऐसे स्थलों में सर्वत्र विषय में विषयी की अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा की है, इस विषय में यही प्राचीनों का सिद्धान्त है।

रस गङ्गाधर के चन्द्रिका टीकाकार ने इस विषय को अच्छी तरह समझाया है, जो इस प्रकार है—

"चोलस्य इत्यत्र कण्टकाकीर्णवनप्रदेशात्मके विषये भालत्वगुत्पाटनहेतुक-ललाटाक्षरदर्शनरूपफलस्योत्प्रेक्षा न, अपि तु कण्टकाकीर्णवनप्रदेशकर्तृकनिष्फलत्वग्-विपाटनात्मके विषये, ललाटाक्षरदर्शनफलकभालत्वग्विपाटनरूपस्य विष-यिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षेति भावः। उपसंहरति इति सर्वत्र। इत्थञ्च सर्वत्राभेदेन विषये विषयिण उत्प्रेक्षेति प्राचां मतं व्यवस्थितम्।"

प्राचीनों के मत पर पण्डितराज का विचार

प्राचीनों ने जो सर्वत्र अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है, ऐसा नियम बनाया है, वह कोई प्रमाणसिद्ध नहीं है। क्योंकि उदाहरणों को देखने से पता चलता है कि भेद सम्बन्ध से भी उत्प्रेक्षा होती है। **"अस्यां मुनिनामपि मोहमूहे"** इत्यादि स्थलों में जो मुनिसम्बन्धी "दर्शन" आदि में मोह की अभेद सम्बन्धेन उत्प्रेक्षा की गई है वह अन्यथा भी हो सकती है। अर्थात् मुनि आदि में मोह आदि की उत्प्रेक्षा समवाय सम्बन्ध से भी हो सकती है। यह कोई वेदवोधित नियम नहीं है कि अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा की जाय। इस आशय से लक्षणों का

तदनुकूल निर्माण किया जा सकता है। क्योंकि लक्षण कोई परायत्त वस्तु तो है नहीं, वह तो पुरुषतन्त्र है।

द्वितीय उदाहरण जो **"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः"** इत्यादि में भी तमः-अन्धकार आदि विषयों में लेपनादि क्रिया के कर्तृत्व अर्थात् लेपनानुकूल व्यापार की उत्प्रेक्षा की जायेगी। क्योंकि **"भावप्रधानमाख्यातम्"** इत्यादि नियम के अनुसार अनुकूल व्यापारात्मक कर्तृत्व ही आख्यात का अर्थ है। उस लेपनानुकूल कर्तृत्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से, लेपनाश्रय (कर्ता) तम में अन्वय होने से कोई दोष नहीं है। फलतः यहाँ प्रथमान्तार्थक मुख्य विशेष्य बोध होगा, जबकि वैय्याकरणों की मान्यता इसके विपरीत है, वे लोग धात्वर्थक व्यापार मुख्य विशेष्यक बोध स्वीकार करते हैं। इस नियम के अनुसार तिङर्थ कर्म व कर्ता तो उस व्यापार के विशेषण माने गये हैं। जैसा कि वैय्याकरण भूषणसार में लिखा है **"तिङर्थस्तु विशेषणम्"** तिङ् के अर्थ जो फलाश्रय कर्म व व्यापाराश्रयकर्ता है, वे शाब्दबोध में विशेषणरूप में उपस्थित होते हैं। इस व्याकरणसिद्धान्त से आपका मतभेद हो रहा है। इस पर पण्डितराज का उत्तर है कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि आलंकारिकों का अपना एक स्वतन्त्र प्रस्थान है। हम हर बात पर वैय्याकरणों का ही अनुसरण करें यह कोई आवश्यक नहीं है। इस विषय पर हम विस्तार से आगे चर्चा करेंगे। (परन्तु पण्डितराज ने सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थ में फिर आगे इस विषय में कोई विशेष चर्चा नहीं की है। सम्भवतः वे इससे आगे इस विषय पर एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखना चाहते हों, जो किसी अन्तराय के कारण न हो सका, ठीक यही हाल गुणीभूत व्यङ्ग्य के विषय में भी है, जिसका केवल जगह जगह पर संकीर्तनमात्र किया गया है। सम्भवतः वे उसके विषय में भी आगे कुछ विचार करना चाहते हैं)। जैसा कि प्रकृत विषय में यहाँ उनका उल्लेख है—

"प्रपञ्चमिष्यते चैतदधिकमुपरिष्टादिति प्रकृतमनुसरामः"।

प्राचीन आचार्य उक्त उत्प्रेक्षा में जो "व्यापन" विषय है, उसको लेपनात्मक-व्यापार द्वारा निगीर्ण कर लेते हैं, अर्थात् धात्वर्थ लिप् धातु के अर्थ लेपनात्मक व्यापार की, (उस लेपन द्वारा निगीर्ण) व्यापनात्मक विषय में जो उत्प्रेक्षा करते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि सम्भावना वाचक इव शब्द की सम्भावना के विषयीभूत लेपनादि के साथ प्रतीत होने वाली जो विधेयता है, वह नहीं बन पायेगी, उद्देश्यभूत विषय का विषयी के द्वारा निगरण हो जाने से, यदि निगीर्ण विषयक स्थल में भी उद्देश्य-विधेयभाव स्वीकार किया जाय, अर्थात् **"तमःकर्तृकं लेपनमिव"** ऐसा वाक्यार्थ बोध स्वीकार कर लिया जाय अर्थात् उस व्यापन निमित्त के ही बिना उद्देश्य विधेयभाव स्वीकार कर लिया जाय तब तो, अनुक्तनिमित्तक रूपक में भी आप उत्प्रेक्षा मानिए, क्योंकि आपके विचार से निमित्त के अनुपात्त से और अध्यवसान-

मूलक होने मात्र से विषय का अनुपात्त होना और अलङ्कार का अध्यवसानमूलक होना माना जाता है, तो रूपक को भी अनुपात्त निमित्तक तथा अध्यवसानमूलक मानिए **"लोकान् हन्ति खलो विषम्"** अर्थात् खलरूपी विष लोगों को मारता है। इत्यादि रूपक में भी खल का दुःख देना रूप निमित्त अनुपात्त है, और विष-कर्तृक हनन रूप से उस निमित्त का अध्यवसान भी हो रहा है। यही नहीं, प्रसिद्ध रूपक के उदाहरण **"मुखं चन्द्रः"** इत्यादि में भी वही स्थिति होगी क्योंकि आह्लादकत्वरूप निमित्त तो वहाँ भी अनुपात्त है, और वह निमित्तमूल आह्लादकत्व चन्द्रगत आह्लादकत्व से अध्यवसित है। क्योंकि इस साधारण धर्म रूप निमित्त के साधारणता के अभाव में तो उसका निमित्त ही नहीं बन सकता है। इस प्रकार इन प्रसिद्ध रूपकों को भी अनुदात्त विषय, तथा अध्यवसानमूलक मानना पड़ेगा, जो कि किसी को भी इष्ट नहीं है। इसलिए उत्प्रेक्षा स्थल **"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि"** इत्यादि में जिस निमित्त अंश का अध्यवसान हुआ है उसमें अतिशयोक्ति मानकर, उसके द्वारा उक्त निमित्त को तैय्यार करके तन्निमित्तक अन्धकार में लेपनकर्तृक की भेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा करनी चाहिए।

इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा स्थल में भी भेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा समझनी चाहिए जैसे पूर्वोदाहृत—**"उन्मेषं यो मम न सहते"** इत्यादि, इसमें "चन्द्र के पराजय के कारण उत्पन्न हर्ष से कमल की लक्ष्मी नायिका के पैरों में लग गई—यहाँ पर यद्यपि नायिका के पाद स्वाभाविक सुन्दर-लक्ष्मी सम्पन्न हैं, पर कवि उनमें उत्प्रेक्षा कर रहा है कि मानो चन्द्र के पराजय के हर्ष से कमल की लक्ष्मी नायिका के पैरों पड़ गई। यहाँ पर स्वाभाविक पादशोभा से अध्यवसित हर्षहेतुक पादशोभा में जब तक अतिशयोक्ति मानी जायेगी तब तक हर्ष हेतुक पादलगान-या शोभा निमित्त नहीं हो सकती है। अर्थात् स्वाभाविक पादसंलग्न शोभा में हर्ष हेतुक पद्मलक्ष्मी का अध्यवसान है। इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा का ही अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां,
भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द—
विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥

लङ्का से लौटते हुए रामचन्द्र जी सीता जी से कहते हैं कि हे सीते! यह वही स्थान है, जहाँ तुझे ढूंढ़ते हुए मैंने, पृथिवी पर गिरा हुए तेरा एक "नूपुर" देखा था, जो मानो तेरे चरण-कमल के वियोग के दुःख से एकदम मौन साधे हुए था।

उक्त पद्य में भी मौन के हेतुरूप से नूपुर में वियोगजन्य दुःख की उत्प्रेक्षा की जा रही है। अर्थात् यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है "नूपुर" और विषयी है "वियोगजन्य दुःख"। इस उत्प्रेक्षा में निमित्त है निःशब्दता के कारण जो निश्चलता, उसमें

तादात्म्येन अध्यवसित "मौन" अर्थात् दुःख-हेतुक मौन ही जो यहाँ पद्य में उक्त है वही निमित्त है, पर उसका निश्चलता हेतुक मौन में तादात्म्येन आरोप किया गया है, तभी यह मौन एक रूप होकर वियोगजन्य दुःख के साथ रहते हुए नूपुर के साथ भी रहेगा। इस प्रकार इस उत्प्रेक्षा में मौनकारणतया स्वीकृत वियोगजन्य दुःख विषय-नूपुर में समवायसम्बन्ध से रहेगा इसीलिए यहाँ उत्प्रेक्षा भी भेद सम्बन्ध से मानी जायेगी। यदि यहाँ प्राचीनों की तरह निश्चलता के कारण होने वाले शब्द राहित्यरूप विषय में वियोगजन्य दुःख के कारण होने वाले "मौन" की अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की जाय तो, उक्त विषय के निगीर्ण या अनुपात्त होने से, तब विषयी वियोगजन्य दुःख के कारण होने वाला मौन विधेय न हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि उत्प्रेक्षा में इव शब्द का अन्वय जिसके साथ हो, उसी की उत्प्रेक्षा मानी जाती है, यहाँ इव शब्द का अन्वय है वियोगजन्य दुःख के साथ, उसी की उत्प्रेक्षा होनी चाहिए। इसी प्रकार फलोत्प्रेक्षा **"चोलस्य यद् भीतिपलायितस्य"** में भी समझना चाहिए, अर्थात् वहाँ भी भेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा होगी, न कि अभेद सम्बन्ध से, वहाँ भी ललाटाक्षर दर्शनरूप फल के साधक विपाटनादि का विषय के साथ भेदेन ही अन्वय होगा।

अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक का मत

अलंकार सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार किया है—

"विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः।

विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) के निगरण (अन्तः प्रविष्ट) कर लेने पर, विषयी का विषय के साथ जो अभेद (एकरूपता) ज्ञात होता है, उसे अध्यवसाय कहते हैं। वह अध्यवसाय दो प्रकार का होता है—एक सिद्ध दूसरा साध्य।

इन दोनों में से जहाँ अध्यवसान की साध्यता प्रतीत हो रही हो, सिद्ध न हो चुका हो, किन्तु विषय जहाँ निगीर्यमाण प्रतीत हो रहा हो, अर्थात् विषय वाचक शब्द के रहते हुए भी, विषयी के द्वारा निगीर्ण सा लग रहा हो और व्यापार-अध्यवसान क्रिया की प्रधानता हो, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। इसीलिए रुय्यक ने उत्प्रेक्षा का मूल लक्षण इस प्रकार लिखा है—**"अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा"** अध्यवसाय का अर्थ है विषय के द्वारा विषय का निगरण, इस प्रकार के अध्यवसान व्यापार की जहाँ प्रधानता हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है और जहाँ यह अध्यवसाय सिद्ध होता है, अर्थात् विषयी के द्वारा विषय कुक्षिस्थ हो चुका हो, वह सिद्ध कहा जाता है, जैसे अतिशयोक्ति अलंकार में। परन्तु जहाँ अध्यवसान क्रिया या व्यापार की

प्रधानता रहती है, विषय निगीर्यमाण हो, अर्थात् विषय वाचक पद भी उपात्त हो, पर वह विषयी द्वारा निगरण किया जाता सा प्रतीत हो रहा हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। ऐसा उत्प्रेक्षा का लक्षण बना कर, और उक्त उत्प्रेक्षा को अभेद सम्बन्ध से ही स्वीकार कर, **"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम्"** इत्यादि में नूपुर गत मौनित्व के हेतु दुःखगुण की उत्प्रेक्षा की है। अर्थात् विश्लेषजनित दुःख ही नूपुर के चुप होने का हेतु है ऐसी हेतूत्प्रेक्षा की गई है। इसमें नूपुरगत शब्दाभाव के रूप में समझा गया मौनित्व ही निमित्त है। अर्थात् मौन मुनि का भाव, जो हलचल से शून्य रहना और शब्द से भी संयमित रहना, नूपुर का मौन रहना है उसमें छमाछम शब्द का न होना, अर्थात् निश्चलता, इसी नूपुरगत निःशब्दता का मौन पद द्वारा अध्यवसान किया गया है।

और दूसरी जगह जहाँ धर्म ही धर्मी में उत्प्रेक्षित है, इस प्रकार के धर्मोत्प्रेक्षा के प्रसंग में—

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽञ्जनं नभः" इत्यादि में, लेपन क्रिया के कर्तृत्व के उत्प्रेक्षण में "व्यापन" (व्याप्त होना) निमित्त है, (जो कि अनुपात्त है) ऐसा कहा है।

यह सब परस्पर विरुद्ध बातें हैं। दुःखगुणोत्प्रेक्षा में कहीं भी अभेदगर्भ अध्यवसाय नहीं है, यद्यपि मौनांश में वह है, परन्तु वहाँ सिद्ध होने से अतिशयोक्ति का ही वह प्रयोजक है, न कि उत्प्रेक्षा का, क्योंकि सर्वस्वकार के मत में मौन उत्प्रेक्षा का विषय न होकर निमित्त है। इसी प्रकार **"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि"** इत्यादि में भी लेपन क्रिया के कर्तृत्वेन उत्प्रेक्षा होने से, तद्विषयक अध्यवसाय की प्रतीति नहीं होती है, तद्यपि उत्प्रेक्षा के निमित्त व्यापन का अध्यवसान किया गया है, पर उसको विषय मान लेने पर भी, अन्य किसी निमित्त की गवेषणा करनी पड़ेगी, यह बाधक युक्ति स्वयं ग्रन्थकार रुय्यक के द्वारा कही गई है। फिर उत्प्रेक्षा के जो प्रसिद्ध उदाहरण **"नूनं मुखं चन्द्रः"** इत्यादि हैं, इनमें कहाँ अध्यवसाय है, यदि यह कहा जाय कि **"सिद्धेऽध्यवसाये विषयस्य जठरवर्तित्वम्, साध्ये तु निगीर्यमाणत्वात् पृथगुलपब्धिरिति"** अर्थात् यदि अध्यवसाय सिद्ध हो तो वहाँ विषय विषयी के अन्तर्गत समझा जाता है, पर जहाँ अध्यवसाय साध्य है ऐसे उत्प्रेक्षा के स्थलों में तो विषय निगीर्यमाण-निगरण होता हुआ सा प्रतीत होता है, अर्थात् विषय वाचक शब्द की भी पृथक् उक्ति रहती ही है, परन्तु विषयी की ही उत्कट सम्भावना के कारण वह भी निगीर्ण सा प्रतीत होता है, तो यह भी ठीक नहीं है, इस तरह से यदि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय मानेंगे तब तो रूपकादि अलंकार भी अध्यवसायगर्भ माने जायेंगे, फलतः उन सब अलंकारों में उत्प्रेक्षा ही माननी पड़ेगी, जो कि किसी को भी अभिमत नहीं है। पुनश्च यह अध्यवसान तो लक्षणा का भेद है, उक्त उत्प्रेक्षा

में जिसका उपयोग आवश्यक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में अभेदादि सम्बन्धों द्वारा आहार्य बोध को ही सबने स्वीकार किया है, न कि लक्षणा को। फिर **"मुखं चन्द्रो नूनम्"** इत्यादि चन्द्ररूप विधेयांश में लक्षणा का कथमपि प्रवेश नहीं हो सकता है, शास्त्रकारों का यह वचन है कि **"न विधौ परः शब्दार्थः"** अर्थात् विधेयांश में अभिधा से अन्य शब्दार्थ विषयक व्यापार जो लक्षणा है, उसका उपयोग नही होता है।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा के विषय में प्राचीन आचार्य मम्मट, रुय्यक आदि व तदनुयायी आधुनिकों अप्पय्यदीक्षित व अलंकार-रत्नाकरकारादि के सिद्धाँत विचारार्थ नहीं हैं अर्थात् सर्वथा चिन्तनीय हैं।

उक्त प्राचीन व नवीन मतों का सुधार

प्राचीनों ने उत्प्रेक्षा अलंकार की व्याख्या के प्रसङ्ग में जो अनेक युक्तियों व कल्पनाओं का वर्णन किया है वे सभी युक्तियाँ व कल्पनायें पण्डितराज को मान्य नहीं हैं, जैसे यह नियम सा बना दिया कि उत्प्रेक्षा केवल अभेद सम्बन्ध से ही होगी और उसमें अतिशयोक्ति की तरह अध्यवसान साध्य रहेगा इत्यादि। पण्डितराज ने इन सब युक्तियों का प्रत्याख्यान किया। वस्तुतः वे युक्तियाँ उक्त अलंकार की सर्वविध प्रतिष्ठा में शिथिल ही थी। पण्डितराज के अपने विचार इस विषय में सयुक्तिक तथा विचारोत्तेजक हैं, आपका कहना है कि **"वियोगदुःखादिव बद्धमौनम्"** इत्यादि हेतूत्प्रेक्षा स्थलों में वियोगजन्य दुःख के कारण मानो वह नूपुर निशब्द—मौन था, इस प्रकार के वाक्य निर्माण करने पर "मौन" रूप विषय में (पक्षभेद से) वियोगदुःखाभिन्न हेतु की प्रयोज्यता सम्बन्ध से अथवा वियोगदुःख निरूपित प्रयोज्यता की आश्रयता सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा मानी जायेगी, क्योंकि "मौन" दुःख प्रयोज्य है ही, अर्थात् दुःखसाध्यता मौन में साक्षात् ही है, अतः प्रयोज्यता सम्बन्ध से साक्षात् ही दुःख का अन्वय मौन में होगा, बीच में किसी झमेले (लक्षणा द्वारा अध्यवसानादि) की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् निःशब्दत्व के बिना अध्यवसान किये ही दुःखनिरूपित प्रयोज्यता सम्बन्ध का अन्वय सीधे मौन में हो जाता है।

इस उत्प्रेक्षा में यह "मौनत्व धर्म" इसलिये उत्प्रेक्षा का निमित्त है, क्योंकि यह उत्प्रेक्ष्यतावच्छेदक सम्बन्धेन उत्प्रेक्ष्य समानाधिकरण है, अर्थात् प्रयोज्यता सम्बन्ध से या आश्रयता सम्बन्ध से मौन में मौनत्व स्वतः सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि यह मौनत्व धर्म प्रयोज्यता सम्बन्ध से विषयी दुःख गुण में भी है, और आश्रयता सम्बन्ध से विषय नूपुर में भी है।

इसी प्रकार फलोत्प्रेक्षा में **"व्यापादयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि"** इत्यादि स्थलों में भी, यहाँ "वनान्त" जो धर्मीरूप है, (विषय है) उसमें प्रयोजकता सम्बन्ध से ललाटाक्षर-दर्शनाभिन्न फल की उत्प्रेक्षा होती है। यद्यपि उक्त फल का साक्षात्

प्रयोजक वृतान्त नहीं है, अपितु ललाटत्वक् विपाटन है, अतः उस फल का अन्वय उसी में होना उचित है, परन्तु वह एकदेश है, (पदार्थ का एकदेश है) अतः गौण अप्रधान होने से उसमें फल का अन्वय न होकर, उक्त धर्म (विपाटन) द्वारा धर्मी (विषय) वृतान्त में ही फल का अन्वय तथा उत्प्रेक्षा माननी चाहिए। और जहाँ अनेक उत्प्रेक्षाओं का साङ्कर्य हो वहाँ जिस विषयी की उत्प्रेक्षा विधेय रूप से भासित हो, उसी उत्प्रेक्षा से व्यवहार करना चाहिए। जैसे—**"विश्लेषदुःखादिव बद्धमौन्मम्"** यहाँ यद्यपि नूपुरगत दुःख की भी उत्प्रेक्षा है, परन्तु वह अनुवाद्य होने से व्यवहार के योग्य नहीं है, अपितु पञ्चम्यर्थ द्वारा दुःखगुण की ही उत्प्रेक्षा करनी चाहिए, क्योंकि वही इव शब्द से वेद्य है, तथा साध्य है, जब कि नूपुरगत दुःखोत्प्रेक्षा सिद्ध होने से अनुवाद्य है।

इसी प्रकार **"चोलस्य यद्भीति पलायितस्य"** इत्यादि में भी, वनप्रदेशरूप विषय में ललाटाक्षर दर्शन की उत्प्रेक्षा होती है, पर वह अनुवाद्य है, इसलिए "तुमुन्" प्रत्यय के अर्थ फलोत्प्रेक्षा से ही व्यवहार होता है, भालत्वक्-विपाटन निमित्तक, ललाटाक्षर-दर्शनरूप वाक्योत्प्रेक्षा से ही व्यवहार होता है। इसी प्रकार क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा के विषय में भी—

कलिन्दजानीरभरेऽर्धमग्ना वकाः प्रकामं कृतभूरिशब्दाः।
ध्वान्तेन वैराद् विनिगीर्यमाणाः क्रोशन्ति मन्ये शशिनः किशोराः॥

यमुना वर्णन प्रसङ्ग में कवि यमुना जल के भीतर शरीर के आधे भाग को डुबोकर तैरते हुए वकों का वर्णन करता है—यमुना के जल में आधे डुबे हुए, और अत्यन्त कोलाहल करते हुए बगुले ऐसे मालूम पड़ते है, मानो द्वेष के कारण, अन्धकार द्वारा निगले जाते हुए चन्द्रमा के बच्चे चिल्ला रहे हों।

उक्त पद्य में अन्धकारकर्तृक, वैरहेतुक निगरण के कर्मत्वेन उत्प्रेक्षित जो शशि-किशोर हैं, उनकी वकों से तादात्म्येन उत्प्रेक्षा की गई है। अर्थात् विषय बकों में विषयी शशिकिशोरों की अभेद सम्बन्ध से सम्भावना की गई है। यही मूलभूत उत्प्रेक्षा, है अर्थात् धर्मी उत्प्रेक्षा है। तदनन्तर **"क्रोशन्ति मन्ये शशिनः किशोराः"** इत्यादि वाक्य से चन्द्रकिशोरों से अभिव्यक्त बकों में क्रोशन-कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा की जाती है। द्वितीय यह धर्मोत्प्रेक्षा समवायादि-सम्बन्धों से होगी, यह क्रोशन-कर्तृत्व धर्म समवाय-सम्बन्ध से शशि-किशोरों में रहेगा। इस क्रोशन में निमित्त है निगरण-कर्तृत्व, पर यह तब तक निमित्त नहीं बन सकता है, जब तक कि विषय बकों में भी उसकी स्थिति न हो जाय, अतः उक्त निमित्त को उभयसाधारण बनाने के लिए गौणरूप से बकों में चन्द्रमा के बच्चों की तादात्म्येन उत्प्रेक्षा की जाती है।

उक्त पद्य में यद्यपि वकरूप विषय में चन्द्रकिशोरों की अभेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होती है, और इसी उत्प्रेक्षा के बल से चन्द्रकिशोररूप विषय में

अन्धकारकर्तृक वैरहेतुक निगरण कर्म की अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा भी व्यङ्ग्य होती है, तथापि इन दोनों में से किसी भी उत्प्रेक्षा से व्यवहार नहीं होता है, अपितु बकरूप विषय में तादात्म्येन आरोपित विषयी चन्द्रकिशोरों की ही क्रोशनकर्तृत्वेन या क्रोशनक्रियोत्प्रेक्षा होती है।

प्रकृत पद्य के शाब्दबोध के विषय में ग्रन्थकार ने प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक बोध को मानने वाले नैय्यायिकों का मत प्रस्तुत कर, पुनः धात्वर्थ व्यापारार्थ मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध को मानने वाले वैय्याकरणों के मत का भी निरूपण किया है।

नैय्यायिक लोग शाब्दबोध में प्रथमान्त पद के अर्थ को प्रधान मानते हैं, अतः उनके अनुसार यहाँ यमुना के जल में आधे डूबे हुए, और कोलाहल करने वाले, इन दो अर्थों से युक्त वक रूप विषय में क्रोशनकर्तृत्व अर्थात् क्रोशन क्रिया के कर्ता होने वाले धर्म की अर्थात् कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा होगी।[1] जैसा कि पण्डितराज ने लिखा है—

"कलिन्दजानीरार्धमग्नकृतभूरिशब्दोभयविशिष्टेषु, बकेषु विषयेषु ध्वान्त-कर्तृकवैरहेतुकनिगरणकर्मामिन्नोत्प्रेक्षितशशिकिशोरतादात्म्योत्प्रेक्षणपूर्वक-क्रोशनकर्तृत्वं धर्म उत्प्रेक्षते।"

जो लोग व्यापारमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं, अर्थात् तिङन्त पदयुक्त वाक्यार्थ के बोध में क्रिया को प्रधान मानते हैं, उन वैय्याकरणों के मत में उक्त पद्य का शाब्दबोध इस प्रकार होगा।

वैय्याकरणों के मत से यहाँ अभेद सम्बन्ध से क्रोशन क्रिया की उत्प्रेक्षा होगी, उनके मत से यहाँ 'वक' विषय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि द्रव्य व क्रिया का अभेद बाधित है। अतः "कृतभूरिशब्दाः" वाले कोलाहल को ही विषय माना जायेगा, यद्यपि "शब्दन" कोलाहल पृथक् निर्दिष्ट नहीं है, अपितु वह वकों के विशेषणरूप में आया है, इसलिए विषय नहीं बन सकता है, तथापि **"मञ्चाः क्रोशन्ति"** की तरह अर्थात् मञ्चस्थ जनों का जिस प्रकार विषयी मञ्च के साथ अभेदाध्यवसान होता है, उसी प्रकार यहाँ भी, शब्द करने वाले वकों में "शब्दन" कोलाहल का आरोप किया जायेगा तब उक्त उत्प्रेक्षा की सिद्धि होगी। फलतः यह उत्प्रेक्षा अर्थतः ज्ञात होने वाली है।

इस प्रकार शाब्दबोध में कृतभूरिशब्दाऽभिन्न बकों का अब अध्यवसान द्वारा

---

1. इत्थञ्च, यमुनाजलार्धमग्नाभिन्नास्तथा कृतभूरिशब्दाभिन्नाश्च वकाः ध्वान्त-निगीर्यमाणाभिन्नाः शशिकिशोराभिन्नाश्च सन्तः क्रोशनक्रियानुकूलव्यापार-वन्तश्च इति बोधः। (रस ग० चन्द्रिका टीका)

साक्षात् क्रोशन क्रिया में अन्वय हो जायेगा, बक के विशेषण बनेंगे शशिकिशोर, इस प्रकार परम्परया अन्वय होगा, तब बोधाकार इस प्रकार होगा—

अन्धकार से निगले जा रहे शशिकिशोरों से अभिन्न तथा यमुना जल में आधे डूबे हुए, और कोलाहल करते हुए इन दोनों से अभिन्न बगुले जिसके कर्ता हैं, वह क्रोशनरूप क्रिया उत्प्रेक्षित होगी ।[1] पण्डितराज के शब्दो में यह इस प्रकार है—

"क्रोशनक्रियायाञ्च तादृशा बका विशेषणम् तादृश-बकेषु चाभेदेन तादृश-शशिकिशोराः, न तु शशिकिशोरा एव साक्षात् क्रियायाम्, एवञ्च वकाना-मनन्वयापत्तेः । विषयविषयीविशेषणानां प्राग्वदेव विम्बप्रतिविम्बभावेना-भेदप्रतिपत्तिः ।"

पूर्वोक्त क्रिया स्वरूपोत्प्रेक्षा के व्याख्यान प्रसङ्ग में पण्डितराज ने नैय्यायिकों व वैय्याकरणों के पृथक् पृथक् शाब्दबोधों का प्रकार दिखलाया है । शाब्दबोध के विषय में मुख्यत नैय्यायिक, वैय्याकरण व मीमांसकों के अपने अपने सिद्धान्तानुसार अलग अलग विचार हैं, जिनका संक्षेप में दिग्दर्शन करा देना कोई अनुचित या बहुत अप्रासङ्गिक न होगा ।

वाक्य से वाक्यार्थ-बोध के विचार की प्रक्रिया इन शास्त्रकारों की अपने ढङ्ग से परस्पर कुछ विलक्षण ही है, समान आनुपूर्वी वाले समानपदों के समुदायरूप वाक्यार्थ के बोध की प्रक्रिया कुछ तत्तत् शास्त्रों के आधारभूत मूल सिद्धान्तों की भिन्नता के कारण भिन्न सा मालूम पड़ता है, यह एक बड़े आश्चर्य की बात है । समानाकार वाले समान अर्थों वाले वाक्यों से विभिन्नाकार बोधों का आविष्कार हो, यह एक विचित्र विलक्षणता भी संस्कृतवाङ्मय की ही विशिष्ट देन है, जब कि अन्य भाषाओं में समानार्थक पदों के समानवाक्यों में अर्थबोध की दिशा में इतना वैचित्र्य नहीं प्रतीत होता है । यह तो सभी जानते हैं कि वाक्यार्थ ज्ञान में पदार्थ ज्ञान कारण होता है । अर्थात् आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशात् पद-पदार्थ परस्पर सम्मिलित होकर वाक्यार्थ ज्ञान कराते हैं । ये पद सुबन्त व तिङन्त समुदायरूप रहते हैं, इनमें भी अर्थपरिसमाप्ति तिङन्त में ही मानी जाती है, अर्थात् आसत्ति व योग्यता समन्वित वाक्य क्रिया में ही विश्रान्त होता है, बिना तिङन्त या क्रिया के वह अपूर्ण सा रहता है । अतः वाक्यार्थ सम्पन्न करने का अधिक श्रेय क्रिया को दिया जाता है, उसी को मुख्य माना जाता है, जो मुख्य है, वही विधेय भी है । इसी विधेयभूत क्रिया के ही वाच्यवाचकभाव के वैचित्र्य से बोध में भी विचित्रता आती है । अतः उक्त शास्त्र

---

1. एवञ्च ध्वान्तकर्तृकवैरहेतुकनिगरणकर्माऽभिन्ना ये शशिकिशोरास्तदभिन्ना, अथ च यमुनाजलार्धमग्नकृतभूरिशब्दाभिन्ना ये बकास्तत्कर्तृका क्रोशनक्रिया इति बोधः । (रस ग० चन्द्रिका टीका)

सम्प्रदायों का अपना अपना विचित्र दृष्टिकोण इस क्रिया के अर्थ को समन्वित करने में है।

वैय्याकरणों का मत

वैय्याकरणों के सिद्धान्तानुसार "धातु" का अर्थ फल और व्यापार है, तथा कर्त्ता व कर्म को तिङ् का वाक्य (अर्थ) बतलाया गया है, अर्थात् फलाश्रय—कर्म व व्यापाराश्रय कर्ता के वाचक तिङ् है। यद्यपि धातु के अर्थ फल और व्यापार होते हैं, परन्तु फलांश उसमें विशेषण और व्यापारांश ही उसमें मुख्य या विशेष्य होता है। तिङ् के अर्थ (कर्ता, कर्म, संख्या, व काल) सदा विशेषण ही होते हैं। **"वैय्याकरणभूषणसार"** में कौण्डभट्ट ने उक्त अर्थ को "धात्वर्थनिर्णय" प्रकरण की द्वितीय कारिका के द्वारा दर्शाया है, वह कारिका इस प्रकार है—

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम् ॥

उक्त सभी पदार्थों में व्यापार की ही प्रधानता है, अतः वैय्याकरणों के मतानुसार धात्वर्थ व्यापार मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध माना जाता है, फलतः **"देवदत्तः पचति"** इत्यादि वाक्यों में वैय्याकरणों के अनुसार व्यापार विशेष्य का बोध ही होगा, अन्य सब धातु वाच्य फल व तिङ् वाच्य कर्ता कर्म आदि उसके विशेषण होंगे, जिस बोध का आकार होगा—"देवदत्तनिष्ठो विक्लित्यनुकूलो व्यापारः"।

मीमांसकों का मत

मीमांसक लोग धातु का अर्थ केवल फल मानते हैं न कि फल और व्यापार। वे तिङ् का अर्थ व्यापार मानते हैं, इसमें निरुक्तकार का **"भावप्रधानमाख्यातम्"** यह वचन प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं। आख्यात अर्थात् तिङ् व्यापारप्रधान होते हैं। इस प्रकार धातु का केवल फल अर्थ कर, आख्यात या क्रिया का व्यापार अर्थ करते हैं, कर्ता तथा कर्म का तिङ् द्वारा ही आक्षेप मानते हैं। मीमांसकों के यहाँ तिङ् द्वारा कर्ता व कर्म आदि को उपस्थित करने के तीन उपाय हैं, लक्षणा, आक्षेप या अर्थापत्ति, और प्रथमान्त पद द्वारा।

(1) **लक्षणा**—जैसे "गङ्गायां घोषः" इत्यादि स्थलों में लक्षणा द्वारा तट अर्थ का बोध हो जाता है, वैसे ही यहाँ भी, यद्यपि तिङेति का अपना अर्थ "भावना" व्यापार ही है, पर लक्षणा द्वारा कर्ता व कर्म आदि अर्थ भी लिए जायेंगे।

(2) **अर्थापत्ति**—अर्थापत्ति अर्थात् आक्षेप के द्वारा भी तिङो के कर्ता व कर्म अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। जैसे—**पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते**, इत्यादि

में **"येन विना यदनुपत्रं तत्तेनाक्षिप्तते"** अर्थात् जिसके बिना जो कार्य सिद्ध न हो सके, उस कार्य की सिद्धि में, उसका आक्षेप कर लिया जाता है, जैसे—देवदत्त के पीनत्वरूप कार्य की रात्रिभोजनरूप उपपादक, के बिना अनुपपन्न है, अतः पीनत्वरूप उपपाद्य द्वारा रात्रिभोजनरूप उपपादक की कल्पना कर ली जाती है, इसी प्रकार यहाँ भी 'भवति' आदि तिङो द्वारा (कारक) कर्ता व कर्म की कल्पना कर ली जाती है, क्योंकि कर्ता व कर्म के बिना "भवति" इस क्रिया की उपपत्ति नहीं होती है ।

(3) **प्रथमान्त पद के द्वारा—"देवदत्तः पचति"** इत्यादि में पचति के साथ प्रथमान्त पद "देवदत्तः" आदि लगा रहता है । इससे भी हम कर्ता आदि की कल्पना कर लेते हैं । अतः उक्त उपायों द्वारा कर्ता व कर्म आदि की प्रतीति हो जाती है, अतः तिङ् का केवल भावना, व्यापार अर्थ करना ही उचित है न कि कर्ता व कर्म । विवरण द्वारा भी मीमांसक लोग यह सिद्ध करते हैं कि तिङ् का अर्थ कर्ता व कर्म न होकर भावना ही है, क्योंकि "पचति" इसका विवरण है "पाकं करोति" इसमें "पाकम्" तो धातु के अर्थ फल को द्योतित करता है, और "करोति" में "ति" प्रत्यय भावना को व्यक्त करता है, अतः तिङों का भावना अर्थ ही मानना उचित है ।

नैय्यायिकों का मत

नैय्यायिक लोग "पचति" आदि आख्यातों में भावना (व्यापार) की प्रधानता नहीं मानते हैं, अर्थात् वैय्याकरण व मीमांसकों की तरह व्यापार मुख्य विशेष्य बोध नहीं मानते हैं, वे इन स्थानों पर "तिङ्" का अर्थ "कृति" मानते हैं, इसी को "यत्न" भी कहते हैं । कृति आश्रय के बिना नहीं रह सकती है, अतः उसके आश्रयभूत देवदत्तादि प्रथमान्त कर्ताओं में कृति का अन्वय किया जाता है । इस प्रकार नैय्यायिकों के मत से "पचति" आदि तिङन्त-आख्यात देवदत्त आदि प्रथमान्त कर्त्ताओं के विशेषण होते हैं । फलतः प्रथमान्त देवदत्तादि कर्ता ही वहाँ विशेष्य होते हैं, इसीलिए इनके बोध को प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक बोध माना जाता है, अर्थात्—जिस बोध में प्रथमान्त पद का अर्थ, मुख्य विशेष्य हो । **"देवदत्तः पचति"** इस वाक्य का नैय्यायिकों के मत में शाब्दबोध इस प्रकार होगा—**"पाकानुकूल-वर्तमानकालिक-कृत्याश्रयो देवदत्तः"** अर्थात्— विक्लितिरूप-पाक को उत्पन्न करने वाली, वर्तमानकालिक जो कृति, उसका आश्रय देवदत्त है । (भावना) व्यापार मुख्य विशेष्यक बोध को मानने वाले वैय्याकरणों के मत में उक्त वाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होगा—**"देवदत्त-कर्तृक-वर्तमानकालिक-पाकानुकूलो व्यापारः-"** (देवदत्त जिसका कर्ता है, ऐसी जो विक्लिति, उसको उत्पन्न करने वाला वर्तमान कालिक व्यापार) ।

नैय्यायिकों के मत में दोष दिखलाते हुए, वैय्याकरणों का कथन है कि यदि आप **"प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः पुनः प्रत्यार्थस्यैव प्राधान्यम्"** अर्थात् प्रकृति

और प्रत्यय एक साथ अर्थ को कहते हैं, परन्तु उनमें प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता होती है, इस नियम का तिङन्त स्थलों में सङ्कोच नहीं करोगे, अर्थात् उक्त नियम को तिङन्त स्थल में भी मानोगे तो—"**पश्य मृगो धावति**" (देखो मृग दौड़ता है) इस वाक्यार्थ में दोष आ जायेगा, क्योंकि आपके अनुसार प्रत्यार्थ की प्रधानता होने पर यहाँ दो वाक्य माने जायेंगे। "**एकतिङ् वाक्यम्**" इसके अनुसार यहाँ दो वाक्य बन जायेंगे, एक तो—"**वर्तमानकालिकधावनानुकूलकृत्याश्रयो मृगः**" यह "**मृगो धावति**" का वाक्यार्थ होगा, और "**पश्य**" का वाक्यार्थ होगा—"**तत्कर्मकदर्शनाश्रयस्त्वम्**" जब कि महाभाष्यकार ने इसमें एक वाक्यता ही मानी है, जो इस प्रकार है—

"**मृगकर्तृकधावनानुकूलव्यापारकर्मकत्वत्कर्तृकदर्शनम्**" इत्यादि, इस प्रकार प्रत्यार्थ प्रधान मानने से एक वाक्यता नहीं रहेगी, "तम्" इत्यादि के अध्याहार करने से भी वाक्यभेद वैसा ही रहेगा, क्योंकि एक वाक्य में मुख्य विशेष्य एक ही हुआ करता है, "**मृगो धावति**" में मुख्य विशेष्य होगा "मृग," तथा "तं पश्य" में मुख्य विशेष्य होगा "त्वम्" इस प्रकार आपके मत में वाक्य भेद प्रसक्त होगा, जो कि महाभाष्य के विरुद्ध है। और वक्ता अभीष्ट भी अन्वित नहीं होगा, जब कि वक्ता अभीष्ट अर्थ है मृग के धावन की विशेषता का प्रतिपादन, उसकी गति की रमणीयता का प्रदर्शन, जिसको वह "**पश्य मृगो धावति**" "मृग के दौड़ने को देखो" इन शब्दों द्वारा कह रहा है। परन्तु नैय्यायिकों की प्रक्रिया के अनुसार तो वाक्य भेद व वाक्यार्थ भेद हो जाने से केवल "मृग को देखो" यही पार्यन्तिक बोध कथञ्चित् गृहीत होगा, इस विषय में अब अधिक विस्तार प्रसङ्ग सङ्गत नहीं है, जिज्ञासु पाठक "वैय्याकरणभूषणसार" आदि ग्रन्थों से स्वयं अवगम कर लें। प्रकृत में यह विचार करना है कि वैय्याकरण जहाँ व्यापार मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं, वहाँ मीमांसक भावनात्मक विशेष्यक शाब्दबोध मानते है, उनके अनुसार "**देवदत्तः पचति**" का शाब्द बोध होगा—"**दैवदत्ताभिन्नैककर्तृकवर्तमानकालिकपाकानुकूला भावना**" सामान्यतः यह भी वैय्याकरणों की ही तरह है, थोड़ा अन्तर यह है कि वैय्याकरण का "व्यापार" धातु से बोधित है, जब कि मीमांसक की भावना आख्यातार्थ या तिङर्थ है। अतः शाब्दबोध में भी मीमांसक का धात्वर्थ मुख्य विशेष्यक बोध नहीं है। मीमांसा में यह भावना भी शाब्दी व आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है, आर्थी भावना आख्यातांश बोधित होती है, और शाब्दी भावना केवल लिङ्ग में रहती है। "**स्वर्गकामो यजेत**" इत्यादि वैदिक वाक्यों को सुनकर यागादि में प्रवृत्ति होती है, लिङ्ग के सुनने से नियमतः यह प्रतीति होती है कि "**अयं मां प्रवर्तयति**" इसलिए पुरुष प्रवृत्यनुकूल व्यापार विशेष ही शाब्दी भावना है, और फल की इच्छा से जो कर्ता का क्रिया में फलविषयक व्यापार है, उसको आर्थी भावना कहते हैं। शाब्दी भावना का फल या साध्य आर्थी भावना होती है, और वह

आख्यातार्थ है । नैय्यायिक के मत में यत्न ही आख्यात का अर्थ है और इनका शाब्द-बोध मीमांसा के समानयत्न या भावनामुख्यविशेष्यक नहीं है, अपितु प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक होता है, अर्थात्—वाक्य में जो प्रथमान्त पद होता है, वही शाब्द बोध में मुख्य विशेष्य बनता है ।

आख्यातार्थ के विषय में भी मीमांसक व नैय्यायिक तो दोनों क्रमशः भावना व यत्न को आख्यातार्थ मानते हैं, जो लगभग समानार्थक हैं, परन्तु वैय्याकरण व्यापार को आख्यातार्थ नहीं मानते, वे कर्ता व कर्म को आख्यातार्थ मानते हैं और धात्वर्थ को व्यापार मानते हैं ।

अतिशयोक्ति

सादृश्यगर्भ अध्यवसानमूलक अर्थालङ्कारों में अब उत्प्रेक्षा के वर्णन के बाद अतिशयोक्ति का निरूपण करते हैं, उपमा से यह सादृश्य प्रारम्भ होता है, जहाँ इसका स्थूलरूप सर्वसाधारण की प्रतीति का विषय होता है । रूपक में आकर वह सादृश्य विषय व विषयी के सौन्दर्यगर्भ में समाने की कोशिश करता है, फलतः अभेदप्रतिपत्ति की छाया से ही वह अपनी छटा बिखेरता है । उत्प्रेक्षा में उस सादृश्य की इतनी धीमी गति हो जाती है कि मानो वह आधार सहित उपमान को ही अपना विश्राम धाम बना लेना चाहता हो, अतिशयोक्ति में आते आते वह सादृश्य अपने समस्त उपादानों सहित उत्कर्ष की अत्युत्कर अभिव्यक्ति के लिए सर्वात्मना (आश्रय सहित) उपमान में समा जाता है, यही इसका चरम उत्कर्ष है । जहाँ एकत्व की स्थिति में ही अपना समस्त सौन्दर्य प्रकाशित करता है, इस सादृश्यात्मक सौन्दर्य विधान का उपमा जहाँ अथ है, तो चरम उत्कर्षरूप अतिशय, या अतिशयोक्ति इस की इति है, जहाँ हमें विषयगत व विषयीगत उभयविध चमत्कार का साक्षात्कार एकत्व में मिलता है, इसी अतिशय को देखकर भामह ने ठीक ही कहा **"कोऽलङ्कारोऽनया विना"** दण्डी ने अपने काव्यादर्श में इसका समर्थन खुले शब्दों में इस प्रकार किया—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशसहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने उक्त अतिशय को सभी अलङ्कारों का प्राण बतलाया है—

"सर्वत्रैवं विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते । तां विना प्रायेणालङ्कारत्वाभात् ।

उपमा का भेदघटितसादृश्य तो प्रसिद्ध ही है, और रूपक का साम्यसौन्दर्य प्राचीनों के अनुसार गौणीसारोपा लक्षणा द्वारा प्रस्फुटित होता है और नवीनों के अनुसार वह संसर्ग विधया अभेदप्रतिपत्ति द्वारा होता है । शब्दतः वहाँ विषय तथा

विषयी उपात्त रहते हैं, उत्प्रेक्षा में भी विषय तथा विषयी की अभिन्नता होती है, पर वह साध्य होती है, अर्थात् प्राचीनों के अनुसार उत्प्रेक्षा में भी अध्यवसान रहता है पर वह साध्य है, अर्थात् सम्भावनापरक होने से निश्चित नहीं रहता है, अतिशयोक्ति में अध्यवसान सिद्ध रहता है, अर्थात् यहाँ विषयी द्वारा जो विषय का निगरण रूप अध्यवसान होता है वह सम्भावना परक न होकर निश्चयरूप में होने से सिद्ध माना जाता है, ऐसी मान्यता मम्मटादि प्राचीन आलङ्कारिकों की है, पर पण्डितराज उत्प्रेक्षा व अतिशयोक्ति के विषय में उक्त मान्यता से सहमत नहीं है। आपके मतानुसार न तो उत्प्रेक्षा में ही अध्यवसान होता है, जैसा कि पहिले दिखलाया जा चुका है, और न अतिशयोक्ति में ही अध्यवसान होता है, कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त दोनों अलंकारों में साध्यवसाना लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है। पण्डितराज के अपने शब्दों में अतिशयोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

"विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः, तस्योक्तिः" अर्थात् विषयी-उपमान के द्वारा, जहाँ विषय-उपमेय का निगरण (अन्तर्भाव) हो, उसे "अतिशय" कहते हैं, ऐसे अतिशय का जहाँ कथन हो, उसे अतिशयोक्ति कहते हैं। निगरण पदार्थ को और स्पष्ट करते हैं—**"तच्च स्ववाचकपदेन शक्यतावच्छेदकरूपेणैवान्यस्यबोधनम्"**। अर्थात्—उपमानवाचक चन्द्रादि पद द्वारा, शक्यार्थवृत्ति असाधारण धर्मरूप से, अर्थात्—उपमान वाचक चन्द्रादि पदों का (मुख्यार्थवृत्ति जो असाधारण धर्म) चन्द्रत्वादि के द्वारा ही "अन्यस्य" उपमेय मुख का बोध होना ही निगरण कहलाता है। जैसे—**"पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते"** इस नगर के ऊपर की अट्टालिका में चन्द्रपंक्ति सुशोभित हो रही है।

यहाँ रमणीय रमणियों के मुखपंक्ति का निगरण कर उपमान वाचक चन्द्रराजी शब्द से ही उनको भी कहा गया है। कुछ लोगों का यहाँ कहना है कि **"चन्द्रराजी विराजते"** यहाँ पर चन्द्रपद की चन्द्रत्वविशिष्ट में लक्षणा की जायेगी अथवा चन्द्रादिपदों की तादृश मुखत्वादि विशिष्ट मुख में लक्षणा की जायेगी, तो तादृश लक्षणा के विषयीभूत चन्द्रादि पदों से तादृश मुखत्वादि विशिष्ट रमणियों के मुखों की उपस्थिति हो जायेगी, अतः उक्त अतिशयोक्ति अलंकार में सादृश्यवसाना लक्षणा मानी जाय, उपस्थिति व बोध को समानाकार रूप में मानने वालों के मत में यह बात सङ्गत भी हो जायेगी। इस प्रकार से मत मतान्तरों का निरास करते हुए पण्डितराज का यह कथन है कि अतिशयोक्ति में उपमान तथा उपमेय इन दोनों की उपस्थिति, एक उपमान बोधक पद से ही हो जाती है, उसी उपमान वाचक चन्द्र पद में निगीर्ण उपमेय वाचक मुखादि पद के होने से उक्त स्थल में रूपक की तरह उद्देश्य-विधेयभाव नहीं होता है।

उदाहरण

कलिन्दगिरिनन्दिनीतटवनान्तरं भासयन्,
सदा पथि गतागतक्लमभरं हरन् प्राणिनाम् ।
स्फुरत्कनककान्तिभिर्नवलताभिरावेल्लितो,
ममाशु हरतु श्रमानतितमां तमालद्रुमः ॥

यमुना के तट-प्रान्तभाग को भूषित करने वाला, मार्ग में आने जाने वाले प्राणियों के थकावट को दूर करने वाला, देदीप्यमान सुवर्णकान्ति के समान लताओं से परिवेष्टित तमालवृक्ष शीघ्र मेरे श्रमों को सर्वथा दूर करे ।

उक्त पद्य में तीन चरणों में अङ्गभूत तीन अतिशयोक्तियाँ है, और एक अतिशयोक्ति चतुर्थ चरण में है, जो मुख्यरूप में है । उक्त तीन अतिशयोक्तियाँ इसी के अवयव होने से यह अतिशयोक्ति सावयवा है । अचेतन तमाल का व चेतन भगवान का कोई साधारण धर्म नहीं हो सकता है । अतः शब्दात्मक साधारण धर्म ही यहाँ माने जायेंगे । कहने का तात्पर्य यह है कि तमालतरु के द्वारा यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण को निगीर्ण किया गया है, पूर्व तीन चरणों में उभय साधारण विशेषण व उभय साधारण धर्म भी अपेक्षित है । परन्तु तमालतरु अचेतन है, अतः उसके सारे धर्म अचेतनानुरूप होंगे जबकि अध्यवसित भगवान् के सारे धर्म चेतनानुकूल होने चाहिए । अतः जैसे उपमा आदि में शब्दात्मक भी साधारण धर्म होते हैं, वैसे ही यहाँ भी माने जायेंगे । प्रथम चरण में उक्त तमालतरु के यमुनातीर वनान्त के प्रकाशन ने भगवान के द्वारा यमुनातट के प्रकाशन का निगरण किया गया है । द्वितीय चरण प्राणियों के उच्चावच जन्म को तथा सन्तापों का निगरण किया गया है । तृतीय चरण द्वारा (लताओं से) गायिकाओं का निगरण किया गया है । ये सब अवयवभूता अतिशयोक्तियाँ मुख्य अङ्गभूत तमालद्रुम के द्वारा निगीर्ण श्रीकृष्ण मूर्ति के अनुग्राहक है ।

निरवयवा अतिशयोक्ति

नयनानन्दसन्दोहतुन्दिलीकरणक्षमा ।
तिरयत्वाशु सन्तापं कापि कादम्बिनी मम ॥

आँखों के आनन्द समुदाय को पुष्ट करने में समर्थ, कोई मेघमाला मेरे सन्ताप को शीघ्र शान्त करे ।

उक्त पद्य में भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति जो कि उपमेय है, और जिसका निगरण उपमान कादिम्बिनी द्वारा किया गया है, उक्त अतिशयोक्ति को सिद्ध करने के लिए पद्य में किसी अन्य अतिशयोक्ति का वर्णन नहीं किया गया है, इसीलिए यह निरवयवा शुद्ध अतिशयोक्ति अलंकार है ।

अतिशयोक्ति में अभेदाभाव

कुछ आचार्य अतिशयोक्ति अलंकार में भी रूपकालंकार की तरह विषय व विषयी में अभेद मानते हैं जैसे अप्पय्यदीक्षित और उनके टीकाकार इत्यादि। इसी आधार पर दीक्षित जी ने अपने कुवलयानन्द नामक ग्रन्थ में **"रूपकातिशयोक्ति, अभेदातिशयोक्ति व तादरूप्यातिशयोक्ति"** नामक अतिशयोक्ति के भेद माने हैं। परन्तु नव्य आलंकारिक पण्डितराजप्रभृति उक्त मत से सहमत नहीं हैं। आपके मत में अतिशयोक्ति में खास चीज है कि विषयी के द्वारा विषय का निगरण होना। अतः निगरण में सर्वत्र विषय की प्रतीति विषयितावच्छेदक धर्म के रूप में ही होती है। जैसे मुख की प्रतीति चन्द्रत्वावच्छेदकधर्मरूप में ही होगी न कि विषयी की अभिन्नता से। अतः अभेद मानकर दीक्षित का अतिशयोक्ति के विषय में अन्यान्य भेदों की कल्पना करना उचित नहीं है।

"एवं च निगरणे सर्वत्रापि विषयितावच्छेदकधर्मरूपेणैव विषयस्य भानम्, न विषय्यभिन्नत्वेनेति स्थिते, "रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः" इत्युक्त्वा, "अत्रातिशयोक्तौ रूपकविशेषणं रूपके दर्शितानां विधानामिहापि संभवोऽस्तीत्यतिदेशेन प्रदर्शनार्थम्, तेनात्राप्यभेदातिशयोक्तिस्तादूप्यातिशयोक्तिरिति" कुवलयानन्दे यदुक्तं तन्निरस्तम्" इति नव्याः।

प्राचीनों का मत

प्राचीन आलंकारिकों का कथन है कि रूपक के समान अतिशयोक्ति में भी विषयों (उपमान) का विषय (उपमेय) में अभेद भासित होता है, परन्तु यहाँ प्रधानता निगरण की ही होती है, जबकि रूपक में विषय व विषयी दोनों उपात्त ही होते हैं। अतएव वहाँ निगरण (अध्यवसान) नहीं होता है, यही रूपक से इसकी विशेषता है और उत्प्रेक्षा में अध्यवसान निगीर्यमाण अर्थात् सम्भावनामात्र होता है जबकि अतिशयोक्ति में अध्यवसान सिद्ध, अर्थात् निश्चयात्मक होता है। **"कमलमिदमनम्बजातं जयतितमां कनकलतिकायाम्"** (अर्थात् सुवर्ण की लता में बिना जल का यह कमल सर्वोत्कृष्ट है)

उक्त वाक्य में "इदम्" पद के द्वारा जब विषय का निर्देश किया जा रहा है तब यहाँ अतिशयोक्ति का व्यवहार कैसे होगा ? अर्थात् यहाँ विषय का निगरण न होकर विषय का निर्देश ही हो रहा है। बात यह है। कि "इदम्" पद को जब हम विषयबोधक न मानकर विषयी का विशेषण मानते है तब "इदम्" पद का अन्वय उपमान वाचक कमलपद के साथ होगा। तभी कमल के द्वारा मुख का निगरण व तन्मूलक अतिशयोक्ति का व्यवहार होगा। "इदम्" पद को विषय वाचक मानने पर तो यहाँ फिर रूपकालंकार ही होगा। यही बात "गौरयम्, आयुरेवेदम्,"

इत्यादि स्थलों में भी समझना चाहिए, अर्थात् जब "अयम्" व "इदम्" पदों को विषयी का विशेषण बनायेंगे तब अतिशयोक्ति और जब विषय बोधक उन्हें मानेंगे तो रूपकालंकार होगा। रूपक में विषय को उद्देश्य मानकर विषयी के साथ उसका अभेद विधान किया जाता है, जबकि अतिशयोक्ति में विषय के तात्पर्य से उक्त विषयी के साथ पूर्वसिद्ध उसका अभेद केवल अनुवाद्य ही रहता है।

अतिशयोक्ति के भेद

यह अतिशयोक्ति पाँच प्रकार की होती है। (1) भेदेऽप्यभेदः (2) अभेदेऽपि भेदः (3) असम्बन्धेऽपि सम्बन्धः, (4) सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः (5) पौर्वापर्यविपर्ययः।

(1) भेद रहने पर भी किसी अतिशय के कारण जहाँ अभेद का प्रतिपादन किया जाय, यह अतिशयोक्ति का प्रसिद्ध प्रकार है, जिसका अधिकतर कवि लोग उपयोग करते हैं जैसे—**"पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते"** इत्यादि।

(2) अतिशयोक्ति का दूसरा प्रकार है, जहाँ अभेद में भी भेद का वर्णन किया जाता है। यहाँ वर्णनीय वस्तु की लोकोत्तरता की प्रतीति के लिए अभेद रहने पर भी भेद का वर्णनी किया जाता है। काव्यप्रकाशकार ने अतिशयोक्ति के इस भेद को **"प्रस्तुतस्य यदन्यत्वम्"** कहा है, अर्थात् प्रस्तुत प्रकरण प्राप्त सामान्य पदार्थ का भी, उसके उत्कर्षहेतु भिन्नरूप से या विशेष रूप से उसका वर्णन किया जाय। जैसे पण्डितराज ने इसका उदाहरण दिया—

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
रत्यैव कापि रचना वचनावलीनाम्।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्यहृद्या,
विद्यावतां सकलमेव चरित्रमन्यत्॥

संसार के हित का सम्पादन करने वाली मन प्रवृत्ति कुछ और ही है और वचन परिपाटी की रचना भी कोई साधारण नहीं है। बाह्य चेष्टा व आर्यजन के लिए प्रिय आकार भी लोकोत्तर हैं। फलतः विद्वानों के सारे कार्यकलाप सामान्य जनों से कुछ विलक्षण ही हुआ करते हैं। (यद्यपि विद्वानों की भी सामान्यतः वे ही प्रवृत्तियाँ रहती हैं, जो कि सर्वसाधारण में देखी जाती है परन्तु उनके "उत्कर्ष के प्रतिपादन हेतु" उनकी प्रवृत्तियों को भी कुछ विलक्षण ही कहा गया है)।

(3) अतिशयोक्ति का तीसरा प्रकार है, जहाँ सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्ध का वर्णन किया जाय। यह भी वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष के लिए ही किया जाता है अर्थात् काल्पनिक सम्बन्ध का जहाँ वर्णन किया जाता है।

(4) अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है, जहाँ सम्बन्ध में भी असम्बन्ध का वर्णन किया जाता है ।

(5) पाँचवाँ प्रकार है पौर्वापर्यविपर्यय, यह प्रयोजन कारण के अथवा प्रयोज्य कार्य के विपर्यय से हो सकता है । यह दो तरह से होता है अर्थात् कारण व कार्य एककालावच्छेदेन, (सहभाव से) अथवा कारण का कार्य के बाद होने से ।

इन पाँचों में से किसी एक का होना ही अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण है, यह प्राचीन का मत है ।

उक्त पाँचों भेदों में अन्य विद्वानों की असहमति

अन्य विद्वानों का कहना है कि अतिशयोक्ति के ये **"सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः"** तथा **"असम्बन्धेऽपि सम्बन्धः"** वाले जो भेद हैं । उनमें खास कोई अतिशय नहीं है । इस प्रकार का अतिशय तो स्वभावोक्ति से भिन्न और रूपक दीपक उपमा आदि अलंकारों में भी विद्यमान है । इस प्रकार के वस्तु के वर्णन फिर कोई चमत्कार भी नहीं है । दूसरी बात यह है कि यह जो अतिशयोक्ति का पाँचवां भेद पौर्वापर्यरूप है, वह भी तो एक प्रकार से कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध में उसके अभाव असम्बन्ध का ही वर्णन है । अतः उक्त भेद का अन्तर्भाव उसी 'सम्बन्धे असम्बन्धोक्ति' में हो सकता है । तस्मात् विषयी के द्वारा विषय का जहाँ निगरण हो, ऐसे भेद व वर्णनीय का अन्यथा वर्णन, यदि शब्दादि द्वारा असम्भावित वस्तु का वर्णन व पौर्वापर्य-विपर्यय का वर्णन, इन्हीं में से अन्यतम की उक्ति को अतिशयोक्ति कहनां उचित है अर्थात् काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के द्वारा स्वीकृत अतिशयोक्ति वर्णन ही उचित है ।

मम्मट का अतिशयोक्ति वर्णन इस प्रकार है—

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्,
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्य विपर्ययः,
विज्ञेयातिशयोक्ति सा ॥

प्रकृतविषय में नवीन विद्वानों का मत

इस विषय में नवीन विद्वानों का मत है कि **"निगीर्याध्यवसानमेवाति-शयोक्तिः"** अर्थात् निगरणपूर्वक अध्यवसान-भेद में अभेद प्रतिपत्ति ही अतिशयोक्ति है । अर्थात् प्रथम जो भेद में अभेदरूप अतिशयोक्ति का भेद है, वही अतिशयोक्ति है न कि अभेद में भेद व सम्बन्ध में असम्बन्ध रूप इत्यादि भेद । क्योंकि ऐसे सभी भेदों के अतिशयोक्ति मानने के लिए, इन सब में एक अनुगत सामान्यधर्म चाहिए

जो कि नहीं मिलता है। तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ का उसका असाधारण धर्म ही लक्षण है। इसी प्रकार अतिशयोक्ति का भी जो अपना असाधारण धर्म है, वह उसके सभी प्रकारों में अनुगत होना चाहिये। जैसा कि प्राचीनों ने अतिशयोक्ति के अभेद में भेद, सम्बन्ध में असम्बन्ध इत्यादि भेद दिखलाये हैं। इनमें प्रत्येक का तो अपना अपना असाधारण धर्म अवश्य है परन्तु अतिशयोक्ति सामान्य का एक ऐसा धर्म जो सभी में अनुगत हो वह नहीं दिखाई देता है। जब ऐसा कोई अनुगत धर्म है ही नहीं तो फिर उन सभी पदार्थों को अतिशयोक्ति कहना गलत है। निगरणपूर्वक अध्यवसान वाले केवल एक ही भेद में उक्त धर्म प्राप्त होता है, अतः वही अतिशयोक्ति है। यदि अन्य भेदों में भी अलंकृत करने की क्षमता हो, अर्थात् उनमें भी यदि उपस्कारकत्वपूर्वक चमत्कार हो तो उन्हें भी तत्तत् नामों से अलंकार रूप में कहिये। तात्पर्य यह है कि जहाँ विलक्षण प्रकार का चमत्कार प्राप्त होता है वहाँ "अन्यतमत्वेन" उन सभी भेदों का संग्रह एकत्र या किसी एक अलंकार में कर देना उचित नहीं है। इस तरह तो केवल एक अतिशयोक्ति ही अलंकार होगा अन्य सब उपमादि उसके ही भेद हो जायेंगे, यदि आप इन सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति के अवान्तर भेदों में नहीं मानते हैं, तो फिर अतिशयोक्ति के उन और भेदों को भी उक्त अलंकार मत मानिए, जिनमें उसका असाधारण धर्म अनुगत न होकर अन्यान्य प्रकार से पिच्छिति होती है। अर्थात् उन भेदों में भी अलंकारान्तर से ही व्यवहार कीजिए।

यदि पूर्वपक्ष की तरह से यह आपत्ति की जाय कि उक्त प्रभेदों के अलग-अलग नामकरण से तो एक प्रकार का गौरव होगा, इसलिए उक्त सभी भेदों को एक अतिशयोक्ति अलंकार के नाम से ही क्यों न कहा जाय तो इसके उत्तर में कहना है कि उक्त गौरव दोषाधायक नहीं होगा, क्योंकि प्रधान वाक्यार्थ का उपस्कारकत्वरूप जो अलंकार का सामान्य लक्षण है उसमें तो आपकी व हमारी किसी की भी विमति नहीं है। रही बात उक्त अलंकारों के नामकरण की वह तो कोई वैदिक विधि है नहीं, अपितु यह सब कार्य पुरुषतन्त्र है।

अतिशयोक्ति का अपना सामान्य व विशेष

अतिशयोक्ति अलंकार के लक्षण में भी अलंकार सामान्य का लक्षण चरितार्थ होना चाहिए, इस बात का संकेत पण्डितराज इन शब्दों से कर रहे हैं—

"सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वमलङ्कारसामान्यलक्षणमिहापि न विस्मरणीयम्"।

अर्थात् सुन्दर होते हुए मुख्य वाक्यार्थ का उत्कर्षक हो, यह अलंकार सामान्य का लक्षण यहाँ भी नहीं भुलाना चाहिए। अर्थात् अतिशयोक्ति के केवल अपने

स्वलक्षण्य विशेष से या उसके अपने निजी "अतिशय" को देखकर उसी के चकाचौंध में आकर विद्वानों को अलंकार सामान्य लक्षण को भुला नहीं देना चाहिए, उसका कवितात्पर्यविषयीभूत जो निजी "अतिशय" है, वह उसका असामान्य रमणीय अर्थ है, एतावता अलंकार सामान्य से प्रयुक्त रमणीयत्व व उपस्कारकत्व की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए। इसी प्रसङ्ग में पण्डितराज यह निर्देश कर रहे हैं कि अलंकारों में प्रयुक्त होने वाला यह अतिशय चिरन्तन है, जो किसी न किसी रूप में सभी अलंकारों में अनुस्यूत हैं। यहाँ तक कि वैदिक ऋषियों ने भी जिसका उपयोग, प्रकृति जीव, परमात्मा आदि निगूढ़ पदार्थों को समझाने के लिए प्रचुरमात्रा में किया है। अर्थात् यह अतिशयोक्ति की कल्पना केवल लौकिक साहित्य की ही चीज नहीं है, अपितु भारतीय वाङ्मय के निधानभूत वेदों में भी इसका वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में जैसे अतिशयोक्ति द्वारा प्रकृत मन्त्र में ईश्वर, जीव, प्रकृति, इन तीन अनादि अनन्त मौलिक तत्त्वों का वृक्ष व पक्षी के प्रतीक द्वारा सुन्दर वर्णन किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति-अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

अर्थात् साथ साथ जीवन विताने वाले भिन्नभूत समान आकार प्रकार वाले जीवात्मा व परमात्मा दो पक्षी एक ही प्रकृतिरूपी विशाल पिप्पल वृक्ष पर आश्रयण कर रहे हैं। उन दोनों में एक जीवात्मा सुस्वादु अपने कर्मरूपी फल भक्षण कर रहा है अर्थात् जीवात्मा अपने द्वारा किये गये कर्मों का सुखदुःखादि फल भोग रहा है। और दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा किसी प्रकार का भोग न करता हुआ भी अपने सौन्दर्य को प्रकाशित कर रहा है।

उक्त पद्य में वृक्ष व पक्षी विषयी के द्वारा प्रकृति व जीवात्मा और परमात्मा का अध्यवसान किया गया है। अतः यह अतिशयोक्ति का सुन्दरतम उदाहरण है।

स्मृति ग्रन्थों में भी यत्र तत्र अतिशयोक्ति का वर्णन मिलता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अर्थात् सभी प्राणियों के लिए जो रात है, संयमीजन उसी में जागता है, और सामान्य प्राणी जिसमें जागते हैं, ज्ञानी मुनिजन के लिए वह रात हैं।

यहाँ पूर्वार्ध में निशा से परमार्थ चिन्तारूप, और जागरण से साधनतारूप, और उत्तरार्ध में जागरण से विषयप्रवृत्तिरूप, और निशा से निवृत्तिस्थानरूप विषय निगीर्ण हैं। सामान्यजन तत्त्वचिन्तन में असावधान रहते हैं, और ज्ञानी पुरुष उसी

तत्त्वार्थ चिन्तन में जागरूक रहते हैं, अर्थात् साधारणजन यहाँ विषय भोग में रत रहते हैं, वहाँ ज्ञानी जन उससे सदा विमुख रहते हैं। अतिशयोक्ति का यह कितना सुन्दर उदाहरण है।

अतिशयोक्ति ध्वनि का उदाहरण

देव त्वद्दनर्शादेव लीयन्ते पुण्यराशयः।
किं चादर्शनतः पापमशेषमपि नश्यति ।।

हे राजन्, आपके दर्शन से ही पुण्यों का समूह लीन हो जाता है, और आपके अदर्शन से ही सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

यह किसी चाटुकार की किसी राजा के प्रति उक्ति है। **"कृतकर्मणां भोगादेव क्षमः"** इस सिद्धान्त के अनुसार किये हुए कर्मों का तत्कर्म जन्य फल के भोग से ही होता है, यह भी निश्चित ही है कि पुण्य का नाश सुखभोग से और पाप का नाश दुःखभोग से ही होता है, अन्यथा नहीं। ऐसी स्थिति में उक्त पद्य में जो दर्शन से पुण्यनाश की और अदर्शन से पाप नाश की बात कही गई है, वह दर्शन का दर्शनजन्य सुख व अदर्शन का अदर्शनजन्य दुःख अर्थ करने पर ही सङ्गत होती है, तात्पर्य यह है कि यहाँ दर्शन पद से दर्शनजन्य सुख व अदर्शन पद से अदर्शनजन्य दुःख का बोध होता है।

इसी प्रकार राशि और अशेष पदों से क्रमशः सौजन्यों में भोगने योग्य सुख और सौजन्यों में भोगने योग्य दुःख का बोध होता है, फलतः यहाँ जन्मशतोपभोग्य सुख से राजदर्शनजन्य सुख का और जन्मशतोपभोग्य दुःख से राज-अदर्शनजन्य दुःख का निगरण ध्वनित होता है।

पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

उपपादयति—"पुण्यपापयोः सुखदुःखभागमात्रनाश्यतया दर्शनादर्शनाभ्यां तज्जन्यसुखदुःखयो राश्यशेषशब्दाभ्यां च जन्मशतोपभोग्ययोस्तयोरेवाक्षेपादग्रिमाभ्यां स्वर्योर्निगरणं व्यज्यते।"

"एतेन "तदप्राप्तिमहादुःख" इत्यादि काव्यप्रकाशो व्याख्यातः।"

तुल्ययोगिता

अतिशयोक्ति अलंकार के निरूपण के बाद अब तुल्ययोगिता नामक अलंकार का निरूपण कर रहे हैं,—तुल्ययोगिता में पदार्थों का परस्पर समानधर्म-सम्बन्ध से अन्वय होता है, अतएव इसे अन्वर्थनामा तुल्ययोगिता अलंकार कहते हैं। अलंकार सवस्वकार रुय्यक के अनुसार उक्त अलंकार में औपम्य या उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य रहता है, **"औपम्यस्यगम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्मा-**

भिसम्बन्धे तुल्ययोगिता, इवाथप्रयोगैः ह्योपम्यस्य गम्यत्वम् ।'' अलंकार-विमर्शिनी टीका में जयरथ ने उक्त अलंकार की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

''तुल्यधर्मेण योगो (सम्बन्धो) जातोऽस्यामिति, अन्वर्थनामा तुल्ययोगिता''

तुल्ययोगिता अलंकार के विषय में इतना स्पष्ट व सरल लक्षण अन्य आचार्यों का नहीं है, इस विषय में रुय्यक व पण्डितराज करीब करीब नजदीक हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डितराज रुय्यक के तुल्ययोगिता के लक्षण से अत्यन्त प्रभावित हैं। वस्तुतः बात ऐसी है कि मम्मट, विश्वनाथ, व दीक्षित प्रकृत अथवा अप्रकृत पदार्थों के एक धर्माभिसम्बन्ध की चर्चा तो करते हैं, पर ''औपम्य'' के विषय में स्पष्ट शब्दों में किसी ने भी नहीं लिखा है, पण्डितराज भी उक्त प्रसङ्ग को लक्षण में तो नहीं ला सके, परन्तु वृत्ति (व्याख्या) में इसका निर्देश इन्होने अवश्य किया है।

पण्डितराज के अनुसार तुल्ययोगिता का लक्षण इस प्रकार है--

प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपेकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता।''

प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत पदार्थों का गुण, क्रिया या अन्य किसी एक धर्म के साथ जो सम्बन्ध वर्णित होता है, उसे तुल्ययोगिता अलंकार कहते हैं।

''औपम्यं चात्र गम्यम्, तत्प्रयोजकस्य समानधर्मस्योपादानात्। वाचकाभावाच्च। अत एवालङ्कारिकाणामपि सादृश्यं पदार्थान्तरम्, न तु साधारणधर्मरूपमिति विज्ञायते, अन्यथा चौपम्यस्यात्र गम्यत्वोक्तेरनुपपत्तेः।''

तुल्ययोगिता अलंकार की व्याख्या के प्रसङ्ग में पण्डितराज की यह टिप्पणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उक्त अलंकार में औपम्य (सादृश्य) नियमतः व्यंग्य रहता है। क्योंकि औपम्य का प्रयोजक साधारण धर्म यहाँ उपात्त रहता है, पर औपम्य का वाचक इवादि शब्द यहाँ उपात्त नहीं रहते हैं।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसक व वैय्याकरणों की तरह आलंकारिक भी सादृश्य को पदार्थान्तर मानते हैं नैय्यायिकों की तरह समानधर्मरूप नहीं, अन्यथा समानधर्मरूप में ही यदि सादृश्य को मानते तो फिर ''औपम्य व्यंग्य रहता है'' यह उक्ति असङ्गत हो जाती। तात्पर्य यह है कि तुल्ययोगिता में समानधर्म वाच्य ही रहता है। यदि तद्रूप ही सादृश्य को मान लिया जाय, तब तो सादृश्य को भी वाच्य मानना पड़ेगा, फिर वह सादृश्य व्यंग्य होता है, यह कहना अनुचित सा होता।

कुछ लोगों का कहना है कि ''सादृश्य का भाव'' अर्थात् ''सादृश्यत्व'' ही अतिरिक्त पदार्थ है, न कि समानधर्मरूप सादृश्य और इवादि पद का शक्यतावच्छेदक वही सादृश्यत्व है जो उक्त अलंकार में गम्य रहता है, अर्थात् व्यङ्ग्य औपम्य,

और साधारण धर्मवाचक पद यदि यहाँ रहें भी तो वे अपने शक्यतावच्छेदक यत् किञ्चित् धर्म रूप से उक्त वाच्य साधारण धर्म के बोधक होते हैं ।

इस मत को 'केचित्तु' से कहकर पण्डितराज ने इस मत में अपनी अरुचि प्रदर्शित की । पण्डितराज का कथन है कि आखिर आपको भी जब अन्तेरण्डा-विवाहन्याय से सादृश्य न सही, सादृश्यत्व को एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करना ही है, तो फिर सादृश्य को ही एक अतिरिक्त पदार्थ क्यों नहीं मान लेते ।

तुल्ययोगिता का उदाहरण

प्रिये विषादं जहिहीति वाचं प्रिये सरागं वदति प्रियायाः ।
वारामुदारां विजगाल धारा विलोचनाभ्यां मनसश्च मानः ॥

पति ने, हे प्रिये ! विषाद छोड़ो यह वचन जब प्रेमपूर्वक कहा, तब प्रिया के आखों से आंसू की विशाल धारा के वमन से मान का विगलन हुआ । उक्त पद्य में वर्णनीय मानिनी नायिका है । अतः वह प्रस्तुत है, उसी से सम्बद्ध कर्तृकारकभूत अश्रु तथा मान और अपादानकारकभूत नेत्र तथा मन भी प्रस्तुत ही समझे जायेंगे ।

यहाँ अश्रु और मानरूप कर्तृकारकों का अन्वय जिस प्रकार विगलन क्रिया के साथ होगा, उसी प्रकार नेत्र व मनरूप अपादान कारकों का भी, अर्थात् वह विगलन क्रिया रूप धर्म जिस प्रकार कर्त्ताओं का समानधर्म है, उसी प्रकार अपादानों का भी समान धर्म है । यद्यपि यह विगलन क्रियान्वयित्वरूप कारकत्त्व यहाँ चारों के साथ प्रतीत हो रहा है, यह एक सामान्यरूप है । अन्ततः इसका पर्यवसान विगलन क्रिया कर्तृत्व तथा विगलन क्रियाऽपादानत्वरूप विशेष में ही होता है । अतः यहाँ यह कहना पड़ेगा कि दो कारकों के समानधर्मरूप सम्बन्ध से दो औपम्प अभिव्यक्त हुए ।

उपमा में अतिप्रसक्ति का कारण

"चन्द्र इव सुन्दरं मुखम्" इत्यादि उपमा में भी तो चन्द्र और मुख का जो कि प्रस्तुत है, सौन्दर्यरूप एक धर्म के साथ अन्वय होने से, उक्त लक्षण की अतिप्रसक्ति हो जाएगी । यदि लक्षणोक्त **"प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव"** इत्यादि पदों के द्वारा प्रस्तुत अनेक पदार्थों की तथा अप्रस्तुत अनेक पदार्थों के एक धर्म के साथ अन्वय होने पर तुल्ययोगिता होती है ऐसा कहा गया है । उक्त उपमा में तो प्रस्तुत मुख व चन्द्र केवल एक ही पदार्थ हैं, अतः उक्त लक्षण की अतिप्रसक्ति नहीं होगी, ऐसा कहा जाय, तो भी पूर्वोक्त तुल्ययोगिता वाले पद्य में अर्थात् **"प्रिये-विषादम्"** इत्यादि पद्य के कुछ पाठ परिवर्तित कर देने से **"जगाल मानो हृदयादमुष्याः"** इत्यदि पाठ कर देने से, अर्थात् जिस तरह इस नायिका के अश्रु गिरे उसी तरह इसका मान भी गिरा" इत्यादि उपमा स्थल में विगलनरूप एक क्रिया से अन्वय होने से उक्त तुल्ययोगिता की अतिप्रसक्ति बनी ही रहेगी ।

पुनश्च **"चन्द्र इव सुन्दरं मुखम्"** इत्यादि उपमा में दीपकालंकार का लक्षण भी अतिप्रसक्त हो जाएगा। क्योंकि दीपकालंकार का लक्षण है—प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का एक धर्म के साथ अन्वय होना।

उत्तर में कहते हैं कि यदि तुल्ययोगिता व दीपक के लक्षण में **"औपम्ये गम्ये सति"** अर्थात् "सादृश्य के व्यंग्य होने पर" इतना विशेषण और जोड़ दिया जाय, तो फिर तुल्ययोगिता व दीपक का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होगा।

यह सब करने पर भी रूपकालंकार में उक्त लक्षणों की अतिप्रसक्ति पुनः वैसी ही रहेगी, क्योंकि रूपक में हमेशा औपम्य गम्य ही रहता है। इसके समाधान में कहते हैं कि यह सब निर्णय चमत्कार के आधार पर किया जायेगा, अर्थात् जहाँ एकधर्मान्वय प्रयुक्त चमत्कार हो वहाँ तुल्ययोगिता व दीपकादि अलङ्कार होंगे, और जहाँ अभेद-आरोप व सादृश्य प्रयुक्त चमत्कार होगा वहाँ रूपक व उपमादि अलंकार होंगे।

अर्थान्तरन्यास से मिश्रित तुल्ययोगिता

दूरीकरोति कुमतिं विमलीं करोति,
चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति।
भूतेषु किं च करुणां बहुलीकरोति,
सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति॥

सज्जनों की सङ्गति किस कल्याण का विस्तार नहीं करती, अपितु सभी प्रकार के कल्याणों का विकास करती है। देखिए, कुबुद्धि को दूर करती है और मन को विमल बनाती है, पुराने पापों की विनष्ट कर देती है और प्राणियों पर दया का सञ्चार करती है।

उक्त पद्य में दूरीकरण आदि अनेक प्रस्तुत क्रियाओं का सत्सङ्गरूप एक कर्ता के साथ अन्वय होने से, कारक तुल्ययोगिता है। साथ ही साथ चतुर्थकरण के सामान्यार्थ के द्वारा विशेष के समर्थन से यहाँ अर्थान्तरन्यास का भी मिश्रण है। इसी प्रकार अप्रकृतों के भी एक धर्माभिसम्बन्ध को तुल्ययोगिता कहते हैं।

दीपक

तुल्ययोगिता से ही मिलता-जुलता दीपकालंकार है। दीपक को इसलिए दीपकालंकार कहते हैं, कि यह प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक के बीच कहीं एक के साथ भी निर्दिष्ट गुण या क्रियारूप धर्म दूसरे के साथ उसी प्रकार समन्वित हो जाता है, जिस प्रकार एक स्थान में रक्खा हुआ दीपक उस स्थान के साथ साथ अन्य स्थान को भी प्रकाशित करता है। **"प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्यादेकत्र निर्दिष्टः**

समानो धर्म प्रसङ्गेनान्यत्रोपकाराद् दीपनाद् दीपकसादृश्येन दीपकाख्यालङ्कारोत्थापकः ।" (अलंकारसर्वस्व)

दीपकालंकार को प्रायः सभी आलंकारिकों ने माना है। भामह से लेकर अप्पय्य दीक्षित तक सभी आचार्यों ने इस अलंकार के विषय में थोड़ी बहुत चर्चा की है। भामह ने इसे "आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते," कह कर तीन प्रकार का माना है। दण्डी ने भी इसे **"अर्थावृत्तिपदावृत्तिरुभयावृत्तिरित्यपि"** कहकर आवृत्ति दीपक को तीन प्रकार का माना है। दण्डी का ही अनुसरण दीक्षित जी ने भी किया है। अपने कुवलयानन्द नामक ग्रन्थ में इन्होंने दीपकसामान्य का लक्षण प्रदर्शित कर पुनः अर्थावृत्ति, पदावृत्ति व उभयावृत्ति के भेद से तीन प्रकार के दीपक को "आवृत्तिदीपक" नाम से कहा है—

"त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम्" इत्यादि ।

मम्मट ने दीपक वमालादीपक के भेद से दो प्रकार का दीपकालंकार माना है, विश्वनाथ ने एक ही प्रकार का माना है।

पण्डितराज दीपकालंकार को मानने के पक्ष में नहीं हैं, वे इसे तुल्ययोगिता का ही एक तीसरा भेद मानते हैं। पर प्राचीनों के अनुरोध से उन्होंने रसगङ्गाधर में इसका लक्षण व अनेक उदाहरणों को दिखलाया है।

दीपकालंकार का लक्षण रसगङ्गाधर में इस प्रकार है—

प्रकृतानामप्रकृतानां चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम् ।

प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थों का गुण या क्रिया आदि एक साधारण धर्म के अन्वय का जहाँ वर्णन किया जाता है, उसे दीपक अलंकार कहते हैं।

तुल्ययोगिता की ही तरह दीपक में भी औपम्य गम्य रहता है। तुल्ययोगिता में जहाँ केवल प्रकृतों का या केवल अप्रकृतों का एक धर्म के साथ सम्बन्ध वर्णित रहता है और उपमानोपमेय भाव ऐच्छिक रहता है, वहाँ दीपक में प्रकृताप्रकृत उभयविध पदार्थों का एक धर्म के साथ वर्णन रहता है। प्रायः इसमें अप्रकृत उपमान रहता है, यह निश्चित है। प्रकृत दीपकाऽलंकार प्रकरण में "दीपक" पद यहाँ योग रूढ़ है, इस बात को ग्रन्थकार दीपक के दृष्टान्त से समझा रहे हैं—

"प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसङ्गादप्रकृतमपि दीपयति, प्रकाशयति, सुन्दरीकरोतीति दीपकम् । यद्वा दीप इव दीपकम्, संज्ञायां कन् । दीपसादृश्यं च प्रकृताप्रकृतसादृश्येन बोध्यम् ।

अर्थात् प्रस्तुत वस्तु के लिए ग्रहण किया गया धर्म प्रसङ्गात् अप्रस्तुत वस्तु को भी दीपित करता है, प्रकाशित करता है, सुन्दर बनता है, इसलिए इस प्रकार के धर्म वाले इस अलंकार को दीपक कहते हैं। अथवा दीप की तरह प्रकृताप्रकृत

सर्वत्र प्रकाशक होने से भी इसे दीपक कहते हैं। दीप शब्द से **"संज्ञायां कन्"** इस पाणिनिसूत्र से संज्ञा में कन् प्रत्यय करके "दीपक" शब्द की निष्पत्ति होती है।

उदाहरण

अमृतस्य चन्द्रिकाया ललितायाश्चापि कवितायाः।
सुजनस्य च निर्माणं जनयति नहि कस्य सन्तोषम्॥

अमृत, चाँदनी, ललितकविता, और सज्जन की सृष्टि, किसको सन्तोष नहीं देता है, अर्थात्—उक्त वस्तुओं का निर्माण सभी के लिए सुखदायक होता है।

उक्त पद्य में सज्जन के वर्णन का प्रसङ्ग है, अतः सज्जनरूप प्रस्तुत और अमृत चन्द्रिका आदि अप्रस्तुतों का "निर्माण" एक क्रियारूप साधारण धर्म के साथ अन्वय होने से दीपकालङ्कार है। अमृत आदि के समान सज्जन का निर्माण सर्वजन-सन्तोषदायक होता है, इस प्रकार की उपमा भी पर्यन्त में व्यंग्य होती है।

यथा

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा कुमार्गगायाश्च रतिः स्वकान्तेः।
सर्पस्य शान्ति कुटिलस्य मैत्री विधातृसृष्टौ नहि दृष्टपूर्वा॥

मरे हुए व्यक्ति लिप्सा अर्थात् कुछ प्राप्त करने की इच्छा, कृपण मनुष्य की दान करने की इच्छा, परपुरुष में रत नारी की अपने पति में प्रीति, सर्प की शान्ति, और कपटी मनुष्य की मित्रता, विधाता की सृष्टि में कभी नहीं देखी गई।

उक्त पद्य में नारी की स्वकान्तगत प्रीतिरूप प्रस्तुत वस्तु का मृत व्यक्ति की लिप्सा आदि अप्रस्तुत वस्तुओं का पूर्वकालिक दर्शनाभावरूप एक साधारण धर्म के साथ अन्वय होने से दीपकालङ्कार है और भी कहीं विम्बप्रतिविम्बभावापन्न दीपकालङ्कार के सुन्दर उदाहरण हैं—

शीलभारवती कान्ता, पुष्पभारवती लता,
अर्थभारवती वाणी, भजते कामपि श्रियम्।
लता कुसुमभारेण शीलाभरेण सुन्दरी,
कविता चार्थभारेण, श्रयते कामपि श्रियम्॥

प्रकृत में दोनों पद्यों का अर्थ एक सा है, केवल कहने का तरीका कुछ भिन्न है, प्रथम पद्य में प्रथमान्त पदों से विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्मों का निर्देश किया गया है, और द्वितीय पद्य में उन धर्मों का निर्देश तृतीयान्त पदों द्वारा किया गया है। उक्त शब्दभेद से अलंकार में कोई फर्क नहीं होता है, किन्तु वाक्यार्थ बोध में कुछ अन्तर हो जाता है। पूर्वोक्त पद्यों में वर्णित लता, सुन्दरी व वाणी, में से यदि एक को प्रस्तुत और अन्य दो को अप्रस्तुत माना जाय तब तो दीपकालङ्कार होगा, अन्यथा

सबको प्रस्तुत ही या सबको अप्रस्तुत ही माना जायेगा तब तुल्ययोगिता नामक अलंकार होगा ।

यहाँ साधारण धर्म भी दो प्रकार के हैं, एक तो एक ही शोभा को प्राप्त करने रूप धर्म को शब्दभेद के द्वारा प्रदर्शित किया गया है, जो वस्तुप्रतिवस्तु-भावापन्न अनुगामी धर्म है, दूसरा विम्बप्रतिविम्ब भावापन्न धर्म जैसे, शीलभार पुष्पभार व अर्थभार ये भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, परन्तु सादृश्यवश वे सब एक समझ लिए जाते हैं ।

उक्त वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न अनुगामी धर्म के चमत्काराधायक ये विम्ब-प्रतिविम्ब भावापन्न धर्म ही है, परन्तु ये धर्म उक्त अनुगामी धर्म की अपेक्षा रखते हैं । पण्डितराज दीपक को पृथक् अलङ्कार न मानकर इसे तुल्ययोगिता का ही एक प्रकार वैचित्र्य मानते हैं—

"तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति, धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्ते-रपि शेषात् । विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यैवालङ्कारविभागहेतुत्वात् ।"

प्रतिवस्तूपमा

'वस्तु' शब्द यहाँ वाक्यार्थ का वाचक है, इस प्रकार प्रत्येक वाक्यार्थों में (वस्तुप्रतिवस्तु भावापन्न) समान धर्म के सम्बन्ध के कारण **"प्रतिवस्तूपमा"** का आकार निष्पन्न होता है । प्रतिवस्तूपमा अलंकार के ज्ञान के लिए उसके भूमिकारूप में वर्णित पूर्व सादृश्यमूलक सभी अलंकारों का ज्ञान आवश्यक है । सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा अलंकार सभी अलंकारों की प्रसवभूमि है, इसीलिए विद्वानों ने उपमा को अलंकारों की माता कहा है । उपमा के उन सभी प्रकार के साधारण धर्मों का जैसे—अनुगामी, वस्तुप्रतिवस्तुभाव व विम्बप्रतिविम्बभावादि का ज्ञान प्रकृत अलंकार के समझने में उपयोगी है । उपमा में जैसे केवल सादृश्य चमत्कार का आधार होता है, यहाँ उस प्रकार का सादृश्य चमत्काराधायक नहीं होता है, अपितु यहाँ सादृश्ययुक्त कोई अन्य वस्तु ही चमत्काराधायक होती है । उपमा जहाँ पदार्थगत होती है, वहाँ प्रतिवस्तूपमा वाक्यार्थगत होती है, और इसमें रहने वाला साधारण धर्म भी वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न होता है । उपमा से प्रतिवस्तूपमा का केवल पदार्थ व वाक्यार्थगत भेद ही नहीं और न ही केवल दो वाक्यार्थों में निष्पन्न होने वाला सामान्य एक धर्म जो पृथक् पृथक् शब्दों से अभिहित होने से वस्तुप्रतिवस्तु भावापन्न होता है, अपितु दो वाक्यार्थों में सम्पन्न होने वाली ऐसी आर्थी उपमा को प्रतिवस्तूपमा कहेंगे । क्योंकि **"दिवि भाति यथा भानुस्तथात्वं भ्राजसे भुवि"** इत्यादि वाक्यार्थोपमा में तो औपम्य यथा-तथा शब्द से प्रतिपाद्य है । यदि आप कहें कि उक्त वाक्यार्थोपमा में तो उक्त अलंकार की अतिव्याप्ति नहीं होगी पर दृष्टान्तालंकार में

जहाँ दो वाक्यार्थों का अर्थतः औपम्य प्रतीत होता है, वहाँ प्रतिवस्तूपमा की अतिव्याप्ति हो जायेगी ।

यदि आप उक्त अलंकार की अतिव्याप्ति को यह कहकर टाल दें कि प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म वस्तुप्रतिवस्तु भावापन्न रहता है, और दृष्टान्तालंकार में तो वह विम्बप्रतिविम्ब भावापन्न रहेगा, अतः उक्त प्रतिवस्तूपमा की दृष्टान्त में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो भी वस्तुप्रतिवस्तु भावापन्न सामान्य धर्म वाली अप्रस्तुत प्रशंसा में लक्षण की अतिव्याप्ति सम्भावित है, जैसे—

तावत् कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे वसन् ।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ।।

अर्थात्—हे कोकिल ! तुम तब तक किसी वनमध्य में निवास करते हुए विरस दिनों को बिताओ, जब तक मधुकरमाला से मण्डित कोई आम्रतरु पुष्पित नहीं होता है ।

उक्त अप्रस्तुत उपमान कोकिल व प्रस्तुत किसी सज्जन के साथ उक्त वाक्यार्थ चरितार्थ होता है, अप्रस्तुत प्रशंसा में तो वाच्य केवल अप्रस्तुत होता है, और प्रस्तुत पदार्थ तो उसमें व्यंग्य ही होता है, अतः उक्त धर्म का तो सम्बन्ध वहाँ केवल वाच्य अप्रस्तुत ही है, न कि प्रस्तुत भी, अतः वहाँ का धर्म भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा निर्दिष्ट नहीं हो सकता है, जिससे कि वहाँ वस्तुप्रतिवस्तु भाव माना जा सके । अतः अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रतिवस्तूपमा की अतिव्याप्ति नहीं होगी ।[1] तस्मात् लक्षण में वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न साधारण धर्म तथा आर्थ औपम्य इसका निवेश अवश्य करना चाहिए ।

तब उक्त लक्षण इस प्रकार सम्पन्न होगा—**"वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारण-धर्मकवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा ।"**

अर्थात्—वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त साधारण धर्म वाले दो वाक्यार्थों में अर्थतः (न कि शब्दतः) प्रतीत होने वाले औपम्य अर्थात् सादृश्य को प्रतिवस्तूपमा अलंकार कहते हैं ।

---

1. यत्र अप्रस्तुतस्यैव मुखतः कीर्तनं भवति, प्रस्तुतं तु व्यञ्जनया प्रतीयते, तस्यामेक एव धर्मो भिन्नभिन्नशब्दाभ्यां न निर्देष्टुं शक्यते, द्वयोर्वाच्यत्वे एव तथा निर्देशस्य शक्यत्वात्, ततश्च "वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारण-धर्मकम् (आर्थमौपम्यत्र) इति विशेषिते अप्रस्तुतप्रशंसाया नातिव्याप्तिः" ।
(सरला टीका)

उदाहरण

आपद्गतः खलु महाशय चक्रवर्ती,
विस्तारयत्पकृतपूर्वमुदारभावम् ।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ता-
ल्लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति ।।

महामना मनुष्य विपत्तिग्रस्त होने पर भी पूर्वापेक्षया अधिक उदारता को दिखलाता है। अगुरु नामक धूप अग्नि में जलने से और अधिक सौरभ को फैलाता है।

उक्त पद्य में "**विस्तारयति**" तथा "**प्रकटीकरोति**" इन दोनों भिन्न पदों के द्वारा एक ही अवगत होना रूप धर्म प्रकाशित होता है, अतः यह वस्तुप्रतिवस्तु भावापन्न धर्म है। उपमेय "महाशय चक्रवर्ती" और उपमान "कालागुरु" इनके विशेषण क्रमशः "**आपद्गत**" और "**दहनमध्यगतः**" ये भिन्न भिन्न होते हुए भी सादृश्यवश बिम्बप्रतिबिम्बभाव को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार विपन्न महापुरुष उसी प्रकार उदारता को प्रकट करता है, जिस प्रकार दहनमध्यगत कालागुरु सौरभ को प्रकट करता है। इन दो वाक्यार्थों का औपम्य अर्थतः ज्ञात होता है। अतः यह प्रतिवस्तूपमा अलंकार का उदाहरण है।

वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा

गीर्भिर्गुरुणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणां नृपाणां ना जातु मौलौ मणयो वसन्ति ।।

कठोर वर्ण वाली गुरुओं की वाणी से तिरस्कृत होकर मनुष्य महत्त्व को प्राप्त करते हैं, ठीक ही है कि बिना शाण पर चढे मणि राजाओं के मुकुट में किसी तरह भी नहीं पहुंच पाते हैं।

उक्त पद्य में "सान पर चढ़े मणि ही राजा के मुकुट में स्थान पा सकते हैं" ऐसा न कहकर इसके विपरीत "बिना सान पर चढ़े मणि राजा के मुकुट में स्थान नहीं पाते है" इस वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा से—जैसे सान में चढ़े मणि ही राजमुकुट पर स्थान पाने के अधिकारी होते हैं, वैसे ही गुरुओं की कठोर वाणी से भर्त्सित मनुष्य ही महत्त्वलाभ के अधिकारी होते हैं, यह उपमा अर्थतः प्रतीत होती है।

यहाँ राज, मुकुट, निवास, व महत्त्वलाभ वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न होने से साधारण धर्म है। इसी प्रकार निम्न पद्य भी वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा अलंकार का उदाहरण हो सकता है—

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
नहि बन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ।।

अर्थात् कोई विद्वान् ही विद्वज्जन के परिश्रम को जानता है। बाँझ स्त्री महती प्रसवपीडा को नहीं जानती है।

दृष्टान्त

साधर्म्य वैचित्र्यमूलक अलंकारों के वर्णन के प्रसङ्ग में अब दृष्टान्तालंकार का निरूपण करते हैं, दृष्टान्तालंकार प्रतिवस्तूपमा अलंकार से लगभग मिलता जुलता सा है, प्रतिवस्तूपमा में जहाँ साधारण धर्म वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न होता है, वहाँ दृष्टान्त में वह विम्बप्रतिविम्ब भावापन्न होता है। आचार्य मम्मट का कथन इस विषय में इस प्रकार है, **"दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिविम्बनम्"**—अर्थात् जहाँ वाक्यार्थों में उपमान उपमेय व साधारण धर्म इन सबका विम्बप्रतिविम्बभाव झलकता हो, उसे दृष्टान्तालंकार कहते हैं। आचार्य रुय्यक का भी दृष्टान्तालंकार का लक्षण करीब करीब इसी प्रकार का है—

"तस्यापि विम्बप्रतिविम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः"

अर्थात् न केवल उपमान व उपमेय का ही अपितु साधारण धर्म का भी जहाँ बिम्वप्रतिबिम्बभाव द्वारा निर्देश हो उसे दृष्टान्तालंकार कहते हैं। प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्तालंकार में परस्पर भेद दिखलाते हुए अलंकार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ का कथन है कि प्रतिवस्तूपमा में अप्रकृत का उपादान, प्रकृत के सम्बन्ध में किसी विशेष कथन पूर्वक सादृश्य प्रदर्शनार्थ है, और दृष्टान्त में अप्रकृत का उपादान प्रकृत अर्थ की विशदप्रतीति के लिए है, अर्थात् ऐसा ही अर्थ अन्यत्र भी है, (न कि सादृश्य प्रतिपत्ति के लिए)।

"यतोऽस्याः प्रकृतार्थस्य विशेषाभिधित्सया सादृश्यार्थमप्रकृतमर्थान्तरमुपादीयते, अतएव चात्र प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः। दृष्टान्ते पुनरेतादृशो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतार्थस्याविपष्टा प्रतीतिर्माभूदिति, प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते।"

पण्डितराज के मत में दृष्टान्त व प्रतिपस्तूपमा में यद्यपि उभयत्र सादृश्य समानधर्म का वर्णन रहता है। पर एक जगह दृष्टान्त में वह साधारण धर्म दोनों वाक्यों में बिम्वप्रतिबिम्बभावापन्न रहता है, और प्रतिवस्तूपमा में वह एक ही धर्म विभिन्न शब्दों द्वारा प्रतिपादित होने से वस्तुप्रतिवस्तु भावापन्न ही रहता है। यह बात नहीं है कि दृष्टान्त में साधर्म्य की प्रतीति न हो, जैसा कि जयरथ ने उक्त दृष्टान्तालंकार में साधर्म्य के लिए ताटस्थभाव अपनाया है। **"अस्य चालंकारस्य प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यत्तस्यां धर्मो न प्रतिबिम्बितः किन्तु शुद्धसामान्यात्यनैव स्थितः। इह तु प्रतिबिम्बितः।"**

तुल्ययोगिता व दीपक की तरह पण्डितराज प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त को

भी पृथक् पृथक् अलंकार मानने के पक्षपाती नहीं हैं। आपका कथन है कि यदि इनमें साधर्म्य विषयक परस्पर कुछ वैलक्षण्य है तो वह एक दूसरे के अवान्तर भेदों में समाहित हो सकता है। पर प्राचीनों के अनुरोध पर हम भी दृष्टान्त को एक पृथक् अलंकार के रूप में निरूपण कर रहे हैं।

"यदि तु न तेषां दाक्षिण्यं तदैकस्मैवालङ्कारस्य द्वौ भेदौ, प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्तश्च। यच्चानयोः किञ्चिद् वैलक्षण्यं तत्प्रभेदताया एव साधकम्, नालंकारताया इति, सुवचम्।"

दृष्टान्तालंकार का लक्षण

"प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीनां साधारणधर्मस्यैव बिम्बप्रतिबिम्ब-भावे दृष्टान्तः।"

अर्थात् वाक्यार्थों में अर्थों के अवयवभूत उपमान, उपमेय व साधारण धर्म आदि यदि बिम्बप्रतिबिम्बभाव से युक्त हों तो वहाँ दृष्टान्तालंकार होता है।

उदाहरण

सत्पूरुषः खलु हिताचरणैरमन्दमानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव।
आराधितः कथय केन करैरुदारैरिन्दुर्विकासयति कैरविणी कुलाले॥

बिना किसी के प्रेरणा की सज्जन पुरुष समस्त संसार को अनुकूल आचरणों के द्वारा अत्यधिक आनन्दित करता है। कहो, चन्द्रमा किससे प्रार्थित होकर, अपनी उदार किरणों-के द्वारा कुमुदिनियों को विकसित करता है।

उक्त पद्य में, सत्पुरुष व चन्द्र का, हिताचरण व किरण का, समस्तलोक व कुमुदिनी समूह का तो बिम्बप्रतिबिम्बभाव है ही पर आनन्दित करना व विकसित करना इनमें भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अतः यहाँ दृष्टान्तालंकार है।

वैधर्म्यमूलक दृष्टान्तालंकार

तापत्रयं खलु नृणां हृदितावदेव,
यावन्न ते वलति देव कृपाकटाक्षः।
प्राचीललाटपरिचुम्बिनि भानुबिम्बे,
पङ्के सहोदरगतानि कुतस्तमांसि॥

हे राजन्, जब तक आपकी दया दृष्टि नहीं होती तभी तक मनुष्यों के हृदय में (आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक) वे सांसारिक ताप रहते हैं। जब सूर्यमण्डल प्राचीदिशा के ललाटतट पर उदित होता है, तब कमलों के अन्दर अन्धकार कैसे रह सकता है?

उक्त पद्य में तापत्रय की स्थिति तथा अन्धकारभाव का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव वैधर्म्य के द्वारा होता है।

निदर्शना

विम्बप्रतिबिम्बभावों की विचित्रता का वर्णन कर अब उन बिम्ब व प्रतिबिम्ब विधानों की सार्थकता या विचित्रता का किसी पर्यवसित औपम्य के द्वारा (निश्चय पूर्वक) वैचित्र्य दिखलाया जा रहा है। निरपेक्ष वाक्यों का परस्पर विम्बप्रतिबिम्ब भाव जहाँ होता है, वहाँ दृष्टान्तालंकार होता है परन्तु जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ पर अप्रकृत वाक्यार्थ का समानाधिकरण्य पूर्वक आरोप में दोनों के सम्बन्ध की अनुपपत्ति का निवारण यदि किसी "सादृश्य" कल्पना में किया जाय तो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। यही मत अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक का भी है—

"निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्हि बिम्बप्रतिविम्बभावो दृष्टान्तः। यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र सम्बन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता, न दृष्टान्तः।

अप्पय्य दीक्षित ने दो समान वाक्यार्थों में ऐक्यारोप को निदर्शना कहा है— **"वाक्यार्थयोः सहसयोरैक्यारोपो निदर्शना"** इसका उदाहरण दिया है—**"यद्दातु सौम्यतां सेयं पूर्णेन्दोरकलंकता।"**

यहाँ दानी व्यक्ति की सौम्यतारूप उपमेय वाक्यार्थ तथा पूर्णेन्दु की निष्कलङ्कतारूप उपमान वाक्यार्थ में "यत्-तत्" इन दो पदों द्वारा ऐक्यारोप किया गया है अतः यहाँ निदर्शना अलंकार है। ऐसे स्थलों पर, अलंकार रत्नाकरकार शोभाकर मिश्र निदर्शना नहीं मानते हैं। वे इस प्रकार के अप्पय्य दीक्षित द्वारा उदाहृत मालानिदर्शना **"अरण्यरुदितं कृतम्"** इत्यादि में निदर्शना न मानकर मालावाक्यार्थ रूपक ही मानते हैं। उनका कहना है कि यहाँ यत् व तत् शब्द के प्रयोग से विषय व विषयी का सामानाधिकरण्य शाब्द ही पाया जाता है, जबकि यह आरोप आर्थ होना चाहिए।

"अरण्यरुदितं·····सेवितः, इत्यादौ सामर्थ्यलभ्यस्य तच्छब्दस्य यच्छब्देन सामानाधिकरण्याच्छाब्दं मालावाक्यार्थरूपकम्।"

यही बात अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक द्वारा उदाहृत पद्य की है जिसमें उन्होंने वाक्यार्थ निदर्शना को माना है, वह पद्य इस प्रकार है—

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥

इस उदाहरण को अलंकार-रत्नाकरकार शोभाकर मिश्र ने वाक्यार्थ रूपक का माना है। वे कहते हैं कि यहाँ पादनखों का अलक्तकमार्जन तथा चन्द्रमा का श्रीखण्डलेपन इन दोनों वाक्यार्थों में "इदम्" के द्वारा श्रौत समानाधिकरण्य पाया जाता है। अतः वह वाक्यार्थरूपक ही है, निदर्शना नहीं; यदि ऐसी जगह रूपक नहीं मानेंगे तो **"मुखं चन्द्रः"** जैसे पदार्थरूपक में भी निदर्शना का प्रसङ्ग हो जायेगा। फलतः रूपकालङ्कार का विषय ही नहीं रह जाएगा **"त्वत्पादनखरत्नानां··· विधोः" इत्यादौ वाक्यार्थयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशाच्छ्रौतारोपसद्भावेन वाक्यार्थरूपकं वक्ष्यते, इति निदर्शनाबुद्धिर्न कार्या, अन्यथा "मुखं चन्द्रः" इत्यादौ पदार्थरूपकेऽपि निदर्शना प्रसङ्ग इति रूपकाभावः स्यात्।"**

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उक्त शोभाकर मिश्र की ही युक्ति से अलंकार-सर्वस्वकार का खण्डन किया है। आपने बीच में पुनः अलंकार-सर्वस्वकार की तरफ से एक आशङ्का उठाई है, कि निदर्शना में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है, और वह रूपक में नहीं होता है, अतः बिम्बप्रतिबिम्बभाव के होने से यहाँ निदर्शना ही होगी न कि रूपक। इस पर पण्डितराज का समाधान है कि रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता है, ऐसा जान पड़ता है कि इस विषय में तुमको किसी ने बहका दिया है, कि रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता है।

"रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीति, केनाप्यालंकारिकम्मन्येन प्रतारितोऽसि" इत्यादि।

पण्डितराज की सम्मति में निदर्शना में आर्थ अभेद होना जरूरी है, और जहाँ शाब्द अभेद पाया जाता है, वहाँ रूपक ही होता है और अतिशयोक्ति में तो अध्यवसान होता है जबकि निदर्शना में आर्थ अभेद होता है,—**"एवं चारोपाध्यवसानमार्गबहिर्भूत आर्थ एवाभेदो निदर्शनाजीवितम्।"** पण्डितराज का निदर्शना का लक्षण इस प्रकार है—

"उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना।"

अर्थात् वर्णित दो अर्थों (वाक्यार्थों या पदार्थों) की अर्थतः ज्ञात होने वाली, वह अभिन्नता, जिसका पर्यवसान सादृश्य में होता हो उसे निदर्शना कहते हैं। तात्पर्य यह है कि निदर्शना में ऐसे दो वाक्यार्थों या पदार्थों का वर्णन होता है जिनका अभेद अर्थतः प्रतीत होता हो और वह अभेद भी पुनः सादृश्य में (उपमा में) पर्यवसित होता हो।

उदाहरण

त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्तमज्ञा-
स्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक शोधयन्तः।

विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्तं,
चिन्तामणिं क्षितिरजस्तु गवेषयन्ति ॥

भगवान् शंकर के प्रति किसी भक्तजन की यह उक्ति है। हे मदनान्तक, शिव, अन्तहीन आप तो सर्वदा प्राणियों के अन्तरात्मा में शोभित होते रहते हो, फिर भी अज्ञ, मूढ़लोग, तीर्थों में तुम्हें ढूढ़ते हुए, अपने कण्ठस्थित चमकते हुए चिन्तामणि धर को भूल से पृथिवी की धूल में ढूंढ़ते हैं।

उक्त पद्य में दो वाक्यार्थ हैं, एक तो हृदयस्थ शिव का हृदय से भिन्न तीर्थ स्थानों में अज्ञजन द्वारा शोधन-अन्वेषण, और दूसरा कण्ठस्थित चिन्तामणि का धूलियों में तादृशजन द्वारा गवेषण, इन दोनों वाक्यार्थों में अत्यधिक समता है। अर्थात् प्राथमिक शाब्दबोध के पश्चात् इन दोनों वाक्यार्थों का अभेद अर्थतः ज्ञात होता है अर्थात् शिव का अन्यत्र गवेषण और कण्ठस्थिति चिन्तामणि का धूलि में गवेषण अभिन्न हैं, एक है, इस तरह का बोध होता है।

इस अभेद बोध का पर्यवसान पुनः वास्तविकता के अनुरोध से औपम्यबोध में मानना पड़ेगा अर्थात् शिव का अन्यत्र अन्वेषण करना, कण्ठस्थित चिन्तामणि का धूलि में अन्वेषण के समान है, यही निष्कर्ष निकलता है। फलतः अभेद का पर्यवसान औपम्य में होता है।

व्यतिरेक

भेद प्रधान सादृश्यगर्भ अलंकारों की श्रेणी में व्यतिरेकालंकार भी है। सादृश्याश्रित चमत्कार का उपमानपरक अतिशय उपमा में प्रेक्षणीय है, तो अनन्वय में उसका चरम उत्कर्ष है, इसी तरह सादृश्याश्रित अभेद का उत्कर्ष हमें अतिशयोक्ति में मिलता है। प्रतिवस्तूपमा-दृष्टान्तादि में फिर सादृश्य की छाया के आधार उन वस्तुप्रतिवस्तुओं में अथवा प्रतिबिम्बों में ही वह उक्त उत्कर्ष प्राप्त होता है। एक ऐसी स्थिति आती है, जब यह उत्कर्ष उपमान से खिसकते खिसकते उपमेय तक चला आता है। उस स्थिति में उपमेय प्रकर्ष के द्वारा उपमान की प्रतिस्पर्धा करता है। यह बात हमें प्रतीपालंकार में मिलती है क्योंकि उपमेय वहाँ उपमान तक पहुँचने की होड़ में रहता है। इससे भी आगे की स्थिति है व्यतिरेक की, जहाँ उपमेय कुछ नीची नजर से उपमान को देखता है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय में व्यतिरेक अर्थात् आधिक्य बतलाया है। यह आधिक्य गुणविशेषकृत उत्कर्ष ही है। इसलिए **"उपमेयस्य विशेषण अतिरेकः, आधिक्यम्। गुणविशेषकृत उत्कर्ष एव व्यतिरेकः"** यह योगार्थलम्भ व्युत्पत्ति ही व्यतिरेक का लक्षण है। जैसा कि मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में लिखा है। **"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।"** मम्मट केवल उपमेय के आधिक्य में ही व्यतिरेक मानते हैं।

जबकि अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक उपमान से उपमेय के आधिक्य व न्यूनता दोनों परिस्थिति में व्यतिरेक मानते हैं। रुय्यक ने व्यतिरेक का लक्षण इस प्रकार किया है—

"भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः" इसकी व्याख्या में उन्होंने लिखा है **"स च द्विधा भवति, उपमानादुपमेयस्याधिक्यगुणत्वे विपर्यये वा भावात्, विपर्ययो न्यूनगुणत्वम्।"**

ठीक इसी का अनुसरण कविराज विश्वनाथ ने भी किया है। इन्होंने साहित्य दर्पण में व्यतिरेक का लक्षण इस प्रकार किया है—**"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्यूनताऽथवा व्यतिरेकः।"**

मम्मट ने जहाँ व्यतिरेक के **"त्रिरष्ट तत्"** कहकर चौबीस भेद माने हैं, वहाँ विश्वनाथ **"अष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः"** कह कर इसके अड़तालीस भेद मानते हैं। और उपमेयगत में भी व्यतिरेक होता है। इसकी पुष्टि में ये काव्यप्रकाशीय उदाहरण की व्याख्या भी कुछ अपने ढंग से करते हैं। काव्यप्रकाश में व्यतिरेक का उदाहरण इस प्रकार है—

क्षीण क्षीणोऽपि शशि भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि, यौवनमनिवर्ति यातं तु॥

हे सुन्दरी, यह तो सच है कि यह चन्द्रमा बार बार क्षीण (अस्त) होता है, और बार बार बढ़ता है अर्थात् उदय होता है। परन्तु यौवन यदि एकबार चला गया तो फिर लौटने का नहीं।

यहाँ उपमेयभूत यौवन के न्यूनत्व का वर्णन होने से व्यतिरेकालंकार है। आचार्य रुय्यक ने उक्त उदाहरण का उपमेयगत न्यूनत्व का लक्ष्य माना है। आपने लिखा है—

"चन्द्रापेक्षया च यौवनस्य न्यूनगुणत्वम्।

अर्थात् उपमानगत आधिक्य होने से, उपमानभूत चन्द्र की अपेक्षा यौवन में न्यूनत्व अपकर्ष है, क्योंकि उनके लक्षण में उपमेयगत न्यूनत्व में भी उक्त अलंकार होता है। इसी बात को आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्यप्रकाश में भी कहा है, **"क्षीण क्षीण·····इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तम्, तदयुक्तम्। अत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम्"** मालूम पड़ता है कि काव्यप्रकाशकार के पहिले भी उक्त **"उपमेयगत न्यूनत्व"** रूप व्यतिरेक के भेद की मान्यता थी, जिसके खण्डन में उन्हें यह सब लिखना पड़ा। विश्वनाथ भी उक्त पद्य में काव्यप्रकाशकार का ही अनुसरण करते हैं। परन्तु वे अपना व्यतिरेक का लक्षण रुय्यक के अनुसार बना चुके हैं। अब उन्हें अलङ्कार-सर्वस्वकार का पक्ष पुष्ट करना

है, आपका कथन है कि उपमानगत आधिक्य के रूप में यहाँ स्थैर्य का प्रतिपादन करना है, और उपमेयगत न्यूनत्व के रूप में अस्थैर्य का प्रतिपादन करना है, फिर यह तो सभी जानते हैं कि चन्द्रमा की अपेक्षा यौवन अस्थिर है, जिससे यहाँ उपमेयगत न्यूनत्व निःसन्दिग्ध सिद्ध है। इतने पर भी यदि किसी (काव्यप्रकाशकारादि) का दुराग्रह ही हो कि यहाँ उपमेयभूत यौवन के अस्थैर्याधिक्य का ही वर्णन है, तो फिर इस निम्नपद्य में क्या उपाय होगा अर्थात् नैषधीयचरित के निम्न पद्य में तो **"हनुमदाधैर्यशसा मया पुनर्द्विषां ह्रासैर्दूतपथः सितीकृतः"** राजा नल जब इन्द्रादि के दूत बनकर दमयन्ती के निवास स्थान पर जाकर दमयन्ती को उन्हें वरण करने के लिए कहते हैं तो दमयन्ती के नलविषयक दृष्टानुराग को दूर करने में असमर्थ से रहते हैं, तब उन्हें अपने इस दौत्यकर्म के उपर कुछ ग्लानि सी होती है। वे कहते हैं हनुमान् आदि ने तो दूतमार्ग को अपने उज्वल यश से शुभ्र बनाया, परन्तु मैंने इस मार्ग को शत्रुओं के ह्रास से शुभ्र बनाया। ऐसे पद्यों में आपको भी उपमेयगत न्यूनत्वरूप व्यतिरेक भी मानना उचित ही है। उपमान की अपेक्षा उपमेयगत न्यूनत्व गुण में व्यतिरेक के समर्थन में अलङ्कार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ के "विमर्शिनी" टीका में ये जोरदार शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"शशियौवनयोर्हि समाने गत्वरत्वे शशिनः पुनरागमनमपि संभवति न तु यौवनस्येति, ततोऽस्य न्यूनगुणत्वम्। नन्वत्र विपर्यये वेति सूचितं भेदान्तरमयुक्तम्—उपमानदुपमेयस्य न्यूनगुणत्वे वास्तवत्वात् तत्त्वे चालङ्कारानुपपत्तेः। यौवनस्य चात्रास्थिरत्वे प्रतिपाद्ये चन्द्रापेक्षयाऽधिकगुणत्वमेव विवक्षितम्। यदेतत् चन्द्रवद्यातं सन्न न पुनरायाति इति। असदेतत्—यतोऽत्र चन्द्रवद् गतं सद्यौवनं यदि पुनरप्यागच्छेत् तत् प्रियं प्रति चिरमीर्ष्यानुबन्धो युज्येत। कालान्तरेऽपि ह्यस्य तदवलोकनादिना सफलीकारः स्यात्। इदं पुनर्हतयौवनं यातं सत् पुनर्नागच्छतीति ईर्ष्याद्यन्तरायपरिहारेण निरन्तरतयैव प्रियेण सह सफलयितव्यमिति "धिगीर्ष्याम्" त्यज प्रियं प्रति मन्युं, कुरू प्रसादम्, इत्यस्मिन् प्रियवयस्योप देशे प्रियं प्रति कोपोपशमनाय चन्द्रापेक्षया यौवनस्यापुनरागमनं न्यूनगुणत्वेनैव विवक्षितमिति वाक्यार्थविद एव प्रमाणम् न चैतद् वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम्। तस्यैव सातिशयत्वेन प्रतिपद्यत्वात् प्रकृतार्थोपरञ्जकत्वे हि सर्वथा कवेः संरम्भः, तच्चाधिकगुणमुखेन भवत्वितरथा वेति को विशेषः। तस्माद् युक्तमेव विपर्यये वेति सूत्रम्।"

इस समस्त प्रघट्टक का तात्पर्य यह है कि उपमेय का न्यूनगुणत्व भी प्रकृत अर्थ का एक शोभाधायक तत्त्व ही है, इसलिए व्यतिरेक के एक भेद के रूप में इसे मानना उचित ही है।

परन्तु उपमान में उपमेय की न्यूनता में व्यतिरेक मानने के पक्ष में पण्डितराज नहीं हैं। आपका कथन है कि इस विषय में मूलकार सर्वस्वकार रुय्यक का व

विमर्शिनी टीकाकार जयरथ दोनों का पक्ष आलोचनीय है—

क्योंकि उक्त पद्य में प्रियतम का हित करने वाली सखी को "**क्षीणः क्षीणोऽपि**" इस वचन में चन्द्र से यौवन की अधिक गुणवत्ता दिखलाना ही अभीष्ट है, न्यून गुणवत्ता दिखलाना अभीष्ट नहीं है। कारण यह है कि चन्द्रमा बार बार आने के कारण संसार में सुलभ है, अतएव उतना महत्त्वशाली नहीं है, परन्तु यह यौवन तो लौटता नहीं, अतएव अति दुर्लभ होने के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट है, इसीलिए मान आदि विघ्नों के द्वारा, जो कि शठजनों का स्पृहणीय है, आप जैसी चतुरनायिका का यौवन को व्यर्थ बिता देना उचित नहीं है। इस तरह का पद्य में जो उक्त है, तन्मूलक चन्द्र से अधिक उत्कर्ष यौवन में स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त यौवन का उत्कर्ष भी, "सफल गुणों का मूल होना आदि" जो कि पद्य में अनुक्त है, वाक्यार्थ को पुष्ट करने के लिए सहृदयों के हृदय में भी आता है। अन्यथा तो प्रतिकूल उपस्थिति के कारण प्रकृत अर्थ की पुष्टि नहीं हो सकेगी।

पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

तदुभयमप्यसत्। अस्मिन् हि प्रियहितकारिण्या वचने चन्द्रादप्यधिकगुणत्वमेव विवक्षितम्, न न्यूनगुणत्वम्। चन्द्रो हि पुनः पुनरागमनेन लोके सुलभः, अतएव न तादृशमाहात्म्यशाली। इदं च पुनः यौवनमपुनरागमनेनातिदुर्लभतरत्वादत्युत्कृष्टमिति, मानादिभिरन्तरायैः शठजनश्लाघनीयैर्विदग्धया भवत्या मुधा गमयितुमसाम्प्रतमिति तावदुपात्तगुणकृतमुत्कृष्टत्वं स्फुटमेव। सकलसुखनिदानत्वाद्यनुपात्तगुणकृतोऽप्युत्कर्षोऽत्र वाक्यार्थपरिपोषाय सहृदयहृदयसरणिमवतरति। अन्यथा किमित्यस्य कदर्ययौवनस्य कृते मया मानाद् विरंस्यते, "यातु नाम यौवनमिति" प्रतिकूलेनार्थेन प्रकृतार्थस्यापुष्टतापत्तेः।"

अतः उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनत्व में व्यतिरेक की स्थिति तो बनती ही नहीं, क्योंकि उपमान से उपमेय की निकृष्टता तो एक वास्तविक स्थिति है, फिर उसको अलंकार कैसे कहा जाय। अलंकार के लिए तो कविप्रतिभाप्रसूतत्व होना अपेक्षित है। अतः केवल सादृश्याभाव मात्र को व्यतिरेक न मानकर कविकल्पित उपमेयोत्कर्ष को ही व्यतिरेक मानना उचित है।

पुनः व्यतिरेक का लक्षण इस प्रकार का होना चाहिए—

उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषत्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।

किसी गुणविशेष से युक्त रहने के कारण वर्णित उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष व्यतिरेकालंकार है।

उदाहरण

अनिशं नयनाभिरामया रमया संमदिनो सुखस्य ते।
निशि निःसरदिन्दिरं कथं तुलयामः कलयापि पङ्कजम्॥

रातदिन नयनों की सुन्दर शोभा से प्रसन्न तेरे मुख की अंशमात्र की भी तुलना रात में नि.श्रीक उस कमल से कैसे करें । कहने का तात्पर्य यह है कि किसी सुन्दरी का अभिराम मुख, जो कि चञ्चल नयनों से सदा युक्त रहता है ऐसे मुख की रात को मुद्रित होने वाले कमल से कैसे की जा सकती है । उस मुख के एक अंश से भी तुलना जब नहीं हो सकती है, तब सारे मुख की तुलना करना तो बहुत दूर है ।

यहाँ उपमेयभूत मुख के निरन्तर सम्मद (हर्षयुक्त) रहने रूप गुणवत्व के कारण उपमानभूत कमल से उत्कर्ष का प्रतिपादन किया गया है ।

कहीं कहीं व्यतिरेक में उपमेय का उत्कर्ष, उपमान का अपकर्ष और सादृश्य का अभाव ये तीनों भी आक्षिप्त होते हैं—

अपारे किल संसारे विधिनैकोऽर्जुन कृतः ।
कीर्त्या निर्मलया भूप, त्वया सर्वेऽर्जुनाः कृताः ।।

कवि किसी राजा की प्रशंसा कर रहा है—हे राजन्, अपार संसार में विधाता ने एक अर्जुन (धवल या पाण्डव) बनाया, यह निश्चित है, पर आपने अपने निर्मल यश के द्वारा सबको अर्जुन (धवल) बना दिया ।

उक्त पद्य में न तो उपमेय का उत्कर्ष शब्दतः दिखलाया है, और न उपमान का अपकर्ष, सादृश्याभाव को भी कहीं नहीं दिखलाया है, परन्तु ये सब उपमेय व उपमान आदि के विशेषणों अर्जुनीकरण आदि से आक्षिप्त हो जाते हैं । शब्दतः प्रतिपादित न होने से यहाँ व्यतिरेकध्वनि होगी ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए । क्योंकि अंशतः उक्त पदार्थों को कह भी दिया है । उक्त पद्य को राजा की स्तुतिपरक भी नहीं मान सकते हैं, जिससे कि कविनिष्ठ राजविषयरति मानी जाय, अपितु शुद्ध राजा के उत्कर्ष के प्रतिपादन में ही यह पद्य है अर्थात् वास्तविक उत्कर्षपरक है ।

सहोक्ति

व्यतिरेकालङ्कार के निरूपण के बाद अब सहोक्ति अलंकार का निरूपण कर रहे हैं । व्यतिरेकालङ्कार में जहाँ उपमेयगत उत्कर्ष का निरूपण किसी विच्छित्ति विशेष से किया गया था उसी प्रकार सहोक्ति में भी प्रधानाप्रधान भाव का निर्देश कर उपमेय की प्रधानता का ही प्रायः प्रतिपादन किया जाता है, अतः उपमानोपमेयभाव रूप साधर्म्य का यहाँ कोई खास सम्बन्ध नहीं रहता है, क्योंकि गुणप्रधानभाव में साधर्म्य प्रयुक्त सादृश्य की स्थिति उतनी जमती नहीं है । अलङ्कार-सर्वस्वकार के अनुसार उक्त अलङ्कार में सहार्थ प्रयुक्त गुणप्रधान भाव रहता है, परन्तु यहाँ उपमानोपमेयभाव विवक्षाधीन है, न कि वास्तविक । इसमें तृतीयान्त पद नियमतः गौण

होने से अप्रधान रहता है, परिशिष्ट जो प्रथमान्त पद (उपमेय) है, वह प्रधान रहता है, यह गुणप्रधान भाव यहाँ शाब्द होता है, कहीं कहीं इसका विपर्यय भी हो जाता है। उक्त अलङ्कार के चमत्कारसम्पादन के लिए इसके मूल में अतिशयोक्ति रहना भी आवश्यक है। उक्त अलंकार के परिचय के रूप में रुय्यक का आख्यान इस प्रकार है—

"उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः"

सहार्थप्रयुक्तश्च गुणप्रधानभावः। उपमानोपमेयत्वं चात्र वैवक्षिकम्, द्वयोरपि प्राकरणिकत्वादप्राकरणिकत्वाद् वा, सहार्थसामर्थ्याद्धि तयोस्तुल्यकक्षत्वम्, तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन गुणत्वादुपमानत्वम्, अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम्, शाब्दश्चात्र गुणप्रधानभावः। वस्तुतस्तु विपर्ययोऽपि स्यात्, तत्र नियमेनातिशयोक्ति-मूलत्वमस्याः।

सहोक्ति में अनेक (धर्मी) पदार्थों का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होता है, इसमें प्रधान धर्मी (उपमेय) का प्रयोग कर्ताकारक द्वारा और अप्रधान (धर्मी) उपमान का प्रयोग करणकारक में होता है। इस प्रकार के प्रधानाप्रधानभावमूलक चमत्कारजनक साहित्य या सद्भाव को सहोक्ति कहते हैं। जैसा कि कुवलयानन्द की टीका चन्द्रिका में भी कहा है—**"चमत्कृतिजनकं साहित्यं सहोक्तिः"** यही सहभाव की उक्ति सहोक्ति है, अर्थात्—एकजातीय का एक काल में एक क्रिया से समनियत सम्बन्ध जैसे—**"पुत्रेण सहागतपिता"** यहाँ पर **"आगतः"** यह क्रिया पद पुत्र व पिता दोनों से सम्बन्धित होता हुआ आगमन का बोधक होता है, जिसका शाब्दबोध होगा **"पुत्रप्रतियोगिकसाहित्यवान् पिता"** और इसका मानसबोध होगा **"पुत्रवृत्यागमनसमान कालिकसमानदेशागमनवान्। पुत्रेणसहागतः पिता"** यहाँ पर तृतीयान्त पुत्र शब्द का विशेषण होने से (अप्रधानता) गुणत्व होना उचित है, और प्रथमान्त पिता शब्द का विशेष्य होने से प्रधानत्व होना उचित है, जैसा कि **"सहयुक्तेऽप्रधाने"** (2।3।19) इस पाणिनिसूत्र के द्वारा विहित सहार्थ योग में जो अप्रधान उसी में तृतीया विभक्ति होती है। जहाँ उक्त सूत्र के द्वारा तृतीया का विधान होता है, वहीं उक्त अलंकार भी होता है। अतएव **"हेतौ"** इस पाणिनिसूत्र के द्वारा जहाँ तृतीया का विधान है, ऐसी जगह उक्त अलंकार की प्रसक्ति नहीं होगी, जैसे निम्न पद्य में अन्योन्यालंकार ही होगा, न कि सहोक्ति।

शशिना च निशा निशया च शशि,
शशिना निशया च विभाति नभः।
पयसा कमलं कमलेन पयः,
पयसा कमलेन विभाति सरः॥

उक्त पद्य में भी **"पुण्येन दृष्टो हरिः"** इत्यादि की तरह "हेतौ" इसी सूत्र से

तृतीया हुई है । सहोक्ति का यह सहभाव चमत्कारपूर्ण होना चाहिए जैसा कि अप्पय्य दीक्षित ने भी कहा है—

"सहोक्ति सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः"

अर्थात् जनरञ्जक होता हुआ ही उक्त सहभाव अलंकारत्व का प्रयोजक हो सकता है, अन्यथा नहीं । इस विषय में पण्डितराज का भी यही कथन है, सौन्दर्य सभी अलंकारों का सामान्य लक्षण है, सौन्दर्य के अभाव में अलंकारत्व हो ही नहीं सकता है ।

"हृद्यत्वं चालंकारसामान्यलक्षणमतं सकलालंकारसाधारणमेवेत्यसकृदुक्तम्"

वह हृद्यत्व चाहे कार्यकारण पौर्वापर्यभाव निमित्तक अतिशयोक्तिमूलक हो या श्लेषनिमित्तिक अभेदाध्यवसायमूलक हो, या केवल अध्यवसानमूलक अतिशयोक्ति द्वारा हो, पर अतिशयोक्ति द्वारा सहोक्ति में वह हृद्यत्व अनुप्राणित होता है, ऐसा प्राचीनों का कथन है, पण्डितराज ने **"अतिशयोक्त्याऽनुप्राणने भवतीति वदन्ति"** कह कर यह सारी जिम्मेदारी प्राचीनों के ही मत्थे डाल दी, इसमें अपना तटस्थभाव ही रक्खा, वस्तुतः पण्डितराज तो सहोक्ति को भी स्वतन्त्रतया अलंकार मानने के पक्ष में नहीं हैं । वे केवल प्रकृतों के सहभाव या केवल अप्रकृतों के सहभाव को तुल्ययोगिता में गतार्थ कर देना चाहते हैं, और अप्रकृत व प्रकृतों का जो सहभाव है उसे दीपकालंकार में गतार्थ किया जा सकता है, फिर श्लेषमूलक व अध्यवसानमूलक अतिशयोक्ति के सम्मिश्रण में तो वे अतिशयोक्ति को मानने के पक्ष में हैं, पर प्राचीनों के दाक्षिण्य को अनुसरण करना ही इस विषय में वे अपना भी कर्तव्य समझते हैं, परन्तु युक्ति से प्रदीप्त होकर फिर वे एक बार अपनी निगूढभावना को प्रकट कर ही देते हैं ।

"किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालङ्कारभेदे वचनमङ्गीनामानन्त्यादलङ्कारानन्त्यप्रसङ्गादिति, सत्यम् । गुणप्रधानभावालिङ्गितस्य सहभावस्यालङ्कारान्तरादविच्छित्तिविशेषमनुभवन्तः प्राचीना एव सहोक्तेः पृथगलङ्कारताया प्रमाणम् । अन्यथा एवं जातीयोपप्लवेन बहु व्याकुलीस्यात्, नैव प्रमाणीकुर्महे वयं मृषा मुकुलितविलोचनान् प्राञ्चः निवेश्यतां चेयं (वराकी) अलङ्कारान्तरभवनोदरमिति तु प्रभुतैव केवला न सहृदयत्वम् ।"

रसगङ्गाधर में भी यद्यपि बड़े ऊहापोह के साथ पण्डितराज ने उक्त अलंकार का वर्णन किया है, पर यह सब प्राचीनों के अनुरोध से, जिसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

"गुणप्रधानभावावच्छिन्नसहार्थसम्बन्धः सहोक्तिः"

जिसमें एक गौण हो, और दूसरा प्रधान ऐसे दो पदार्थों (धर्मी) का सहभावात्मक सम्बन्ध ही सहोक्ति है ।

तात्पर्य यह है कि उक्त अलंकार दो पदार्थों के गुणप्रधान भाव में ही हो सकता है, उनके समभाव में नहीं और अभेद में भी नहीं जैसे निम्न पद्य यह अलंकार नहीं हो सकता है—

अनुकूलभावमथवा पराङ्मुखत्वं सहैव नरलोके ।
अन्योन्यविहितमन्त्रौ विधि-दिल्लीवल्लभौ वहतः ।।

इस संसार में जिस मनुष्य के प्रति दिल्लीपति (शाहजहाँ) अपनी अनुकूलता प्रदर्शित करते हैं, उनके प्रति विधाता भी अनुकूलता दिखाते हैं, और जिस मनुष्य के प्रति दिल्लीपति (शाहजहाँ) प्रतिकूलता प्रकट करते हैं, उनके प्रति विधाता भी प्रतिकूलता ही प्रकट करते हैं। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि ये दिल्लीपति और विधाता परस्पर विचार के द्वारा एकवाक्यता कर चुके हों।

उक्त पद्य में सहार्थ के रहने पर भी, दोनों में गुण प्रधानभाव के न होने से, अपितु एक वाक्यता के कारण परस्पर समानरूप या अभेद होने से उक्त अलंकार की यहाँ प्रसक्ति नहीं होगी।

सहोक्ति का उदाहरण

केशैर्वधूनामथ सर्वकोषैः प्राणैश्च साकं प्रतिभूपतीनाम् ।
त्वया रणे निष्करुणेन राजंश्चापस्य जीवा चकृषे जवेन ।।

हे राजन्, युद्ध में निर्दय, तुमने विपक्षी राजाओं के केश, सब खजाने और प्राणों के साथ धनुष की प्रत्यञ्चा को वेग से खींच ली।

उक्त पद्य में जिन चापाकर्षण व केशादि के आकर्षणों का साथ होना वर्जित है, वे वस्तुतः कारण-कार्यरूप होने के कारण पूर्व-पश्चात् भावी हैं, पर यहाँ पूर्व पश्चाद्भाव में विपर्यय कर दिया है, अर्थात् दोनों का साथ साथ होना वर्णित है, यह अतिशयोक्ति का एक प्रकार है, इस अतिशयोक्ति से अनुप्राणित यह सहोक्ति है।

गुणरूप साधारण-धर्म वाली सहोक्ति

मान्थर्यमाप गगनं सह शैशवेन,
रक्तं सहैव मनसाधरबिम्बमासीत् ।
किं चाभवन्मृगकिशोरदृशो नितम्बः,
सर्वाधिको गुरुरयं सह मन्मथेन ।।

कवि किसी सुन्दरी के यौवनागम का वर्णन कर रहा है—"इस हरिणाक्षी की गति बाल्यकाल के बाल्यभाव के साथ साथ मन्द पड़ गयी है, मन के साथ ही अधरबिम्ब भी रक्त (अनुरक्त) हो गया है, और मन्मथ के साथ ही यह नितम्ब भी सबसे गुरु (उपदेशक) अधिक गुरू (भार युक्त) हो गया है।

उक्त पद्य में जिस तरह मन्दता आदि गुण साधारण धर्म माना जाता है, उसी तरह प्राप्ति आदि क्रिया भी साधारण धर्मरूप मानी जा सकती थी, तब इसे गुणरूप साधारण धर्म वाली सहोक्ति क्यों कहा? उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि "क्रिया तो वाक्यार्थ समाप्ति के लिए अनिवार्य तत्त्व है" ऐसी स्थिति में उसके निष्पादन में कवि का खास कोई संरम्भ नहीं है, वह एक सामान्य सी बात है, उसमें उतनी सुन्दरता भी नहीं है, चमत्कार का सारा भार तो आखिर गुण पर ही आता है, इसीलिए इस पद्य को गुणरूप साधारण धर्म का उदाहरण माना है, वैसे यहाँ गुण तीन हैं एक—मान्थर्य, दूसरा—रक्तत्व, तीसरा—गुरुत्व, परन्तु मान्थर्य ही अनायास साधारण धर्म हो जाता है, जब कि उक्त अन्य दो को साधारण धर्म बनाने में काफी आभास करना पड़ता है ।

माला सहोक्ति का उदाहरण

उन्मूलितः सह बलेन बलाद् बलोर-
रुत्थापितो बलभृतां सह विस्मयेन ।
नीलातपत्रमणिदण्डरुचा सहैव,
पाणौ धृतो गिरिधरेण गिरिः पुनातुः ॥

कवि गोवर्धन पर्वत की स्तुति करता है--वह गोवर्धन पर्वत आपको हमको सबको पवित्र करे, जो गिरधर (श्रीकृष्ण) जी के द्वारा इन्द्र के मद के साथ बलात् उखाड़ा गया, बलशालियों के आश्चर्य के साथ उठाया गया, और छत्र के नीलमणि रचित दण्ड की कान्ति के साथ ही हाथों से धारण किया गया । उक्त पद्य में गिरिरूप एक उपमेय में मद विस्मय आदि उपमानों का उन्मूलनादि अनेक क्रिया रूप धर्म के सहभाव के वर्णन से मालासहोक्ति है ।[1]

---

1. (i) गिरिधरेण मणिदण्डकान्त्या सह गिरिः पाणौ धृतः "अर्थात् गिरिरपि पाणौ धृतः, मणिदण्डकान्तिरपि धृता, अङ्गुल्युपरि गिरिधरणकाले उर्ध्वीकृतः कान्तिशाली बाहुस्तथा शोभते स्म, यथा उपरि विस्तारितस्य छत्रस्य मणिदण्डो भवेदित्याशयः, एवञ्च बाहौ मणिदण्डकान्तिरपि स्थिता गिरिश्चापि, किन्तु मणिदण्डकान्तिर्मणिदण्डे तिष्ठेत्, सा कथं पाणौ प्राप्नुयादिति, अन्य (उपमान) धर्मस्य अन्यत्र (उपमेये) आरोपात्पदार्थनिदर्शनेति पण्डितराजाशयः, सदृशवाक्यार्थयोरैक्यारोपो निदर्शनेति । नागेशटीका तु आलङ्कारिकैरुपहसनीयत्वात् फल्गुफुंकारकल्पा । एवमेवास्मिन् पद्ये "उन्मूलितः" इतिपदस्य समूलमुत्खातः (उत्-(उत्खात) मूलं करोतीति उन्मूलयति, णिच्) इति व्याख्या उचिता, "समूलं खण्डितः" इति व्याख्या तु लोकोत्तर आविष्कारः । गोविन्देन गोवर्धनः

विनोक्ति

सहोक्ति के ठीक विपरीत विनोक्ति नामक अलंकार है, सहोक्ति की कल्पना से उसकी प्रतिस्पर्धा में मानो विनोक्ति का जन्म हुआ है।

इसमें "विना" शब्द या तत्समानार्थक शब्द का प्रयोग किया जाता है, कभी कभी विना शब्द के अभाव में भी विनार्थ के विवक्षामात्र से भी विनोक्ति अलंकार का निरूपण होता है। यह विनोक्ति सत्त्वासत्त्वरूप से दो प्रकार की होती है, अर्थात् कहीं किसी वस्तु के विना किसी की सत्ता अर्थात् रमणीयता होती है, और कभी किसी वस्तु के विना किसी की असत्ता अर्थात् अरमणीयता रहती है। इस प्रकार विना अर्थ प्रयुक्त रमणीयता व अरमणीयता के भेद से यह अलंकार दो प्रकार का होता है। जैसा कि अलंकार-सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक का कथन है—

"विना कञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः। सत्त्वस्य शोभनत्वस्य भावः शोभनत्वम्। एवमसत्त्वस्याऽशोभनस्य भावोऽशोभनत्वम्। ते द्वे सत्त्वासत्त्वे यत्र कस्यचिदसंन्निधानान्निध्येते सा द्विधा विनोक्तिः। अत्र च शोभनत्वाशोभनत्वसत्तायामेव वक्तव्यायामसत्तामुखेनाभिधानामन्यनिवृत्तिप्रयुक्ता तन्निवृत्तिरिति ख्यापनार्थम्।"

विनय के रहने पर ही श्रीः (सम्पत्ति) के रहने में सुन्दरता है; विनय असदभाव में तो श्री भी असत् कल्प ही है, अतः श्री की चिन्ता को छोड़कर विनय की ही चिन्ता करनी चाहिए, इस अर्थ को किसी कवि ने अपने पद्य में कितनी सुन्दरता के साथ दर्शाया है—

विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥

अधिकतर आलंकारिकों ने सहोक्ति की तरह विनोक्ति को भी भेद प्रधान अलंकार माना है। सहोक्ति में भेद की प्रधानता होते हुए भी प्रकृत व अप्रकृत अर्थात् उपमान व उपमेयों की रूपरेखा स्पष्ट व शब्दोपात्त रहती है, पर भेद की रेखा इतनी गहरी रहती है कि परस्पर औपम्य धूमिल रहता है। प्रस्तुत विनोक्ति में तो प्रकृताप्रकृत की रूपरेखा भी अस्पष्ट और औपम्य की छाया का भी आभास कम होता है,

---

खण्डित इति क्वापि पुराणे नाद्यवधि श्रुतम्, अहो महाशयत्वमेतस्य।

(ii) पूर्वं गिरिरुत्खातः, ततः पुरन्दरदर्पपरिहार इति क्रमो लङ्घित, इति पौर्वापर्यविपर्ययमूला। मदस्योन्मूलनं मूलतः प्रध्वंसः, गिरेरुन्मूलनं मूलदेशादुत्खननम् भिन्नयोरप्यनयोः स्वस्थानत्यागादिना अभिन्नीकृतयोरुपादानमिति केवलाध्यवसानात्मिका। (सरला टीका)

किसी वस्तु के अभाव में किसी की अरमणीयता व रमणीयता के वैचित्र्य पर विशेष जोर रहता है, अतएव अलंकार-एकावलीकार विद्यानाथ ने उक्त अलंकार को गम्यौपम्याश्रय न मानकर लोकन्यायमूलक माना है।

पण्डितराज ने विनोक्ति अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"विनार्थसम्बन्ध एव विनोक्तिः।"

अर्थात्—बिना शब्द के अर्थ का सम्बन्ध ही विनोक्ति अलंकार है, अन्य अलंकारों की तरह यह भी तभी अलंकार माना जायेगा जब कि विच्छित्ति विशेषोत्पादक होगा, अन्यथा तो "भोजन के बिना ग़रीब दुर्बल हो जाते हैं" इस वाक्य में भी उक्त अलंकार की प्रसक्ति हो जायेगी।

यह विनोक्ति जिस वस्तु के साथ "बिना" शब्द का अर्थ अन्वित हो उसकी रमणीयता तथा अरमणीयता से दो प्रकार की होती है। अभिप्राय यह है कि कहीं तो किसी वस्तु के बिना किसी वस्तु की अरमणीयता रहेगी, और कहीं किसी वस्तु के बिना किसी वस्तु की रमणीयता रहेगी।

अरमणीयता का उदाहरण

सम्पदा सम्परिष्वक्तो विद्यया चानवद्यया।
नरो न शोभते लोके हरिभक्तिरसं विना॥

सम्पत्ति से तथा निर्दोष विद्या से युक्त भी मनुष्य संसार में भगवद्भक्ति रस के बिना शोभित नहीं होता है। उक्त पद्य में हरिभक्तिरस के बिना अर्थात् अभाव में सम्पत्ति व विद्या से विशिष्ट व्यक्ति की अरमणीयता का वर्णन है, अतः यहाँ विनोक्ति अलंकार है।

वदनं विना सुकवितां सदनं साध्वीं विना वनिताम्।
राज्यं च विना धनितां न नितान्तं भवति कमनीयम्॥

मुख उत्तम कविता के बिना कमनीय नहीं होता है, और भवन पतिव्रता पत्नी के बिना भव्य नहीं होता है, राज्य धनसम्पत्ति के बिना सुन्दर नहीं होता। उक्त पद्य में तत्तत् वस्तुओं के अभाव में वदन, सदन तथा राज्य की अत्यन्त अरमणीयता का वर्णन किया गया है, अतः यहाँ विनोक्ति अलंकार है।

रमणीयता का उदाहरण

पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना॥

बिना कीचड़ के सरोवर सुन्दर लगता है, और खलजनों के बिना सभा सुशोभित होती है, विना कटु वर्णों के काव्य सुन्दर होता है, और विषय वासना के बिना मन स्वच्छ व सुन्दर रहता है।

उक्त पद्य में तत्तत् वस्तुओं के बिना (अभाव में) तत्तत् वस्तुओं की रमणीयता का वर्णन किया गया है ।

अरमणीयता पर्यवसायिनी विनोक्ति का उदाहरण

यथा तालं विना रागो यथा मानं विना नृपः ।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः ।।

जैसे राग ताल के बिना, राजा मान के बिना, और हाथी मद के बिना शोभित नहीं होता है, उसी तरह संन्यासी ज्ञान के बिना शोभित नहीं होता है । पूर्व उदाहरण में तो गुण व क्रिया का सम्बन्ध आवश्यक समझकर शब्दतः दिखलाया गया है, परन्तु इस उदाहरण में उपमा की महिमा से ही "नहीं शोभित होता है" इस क्रियांश की प्रतीति होती है ।

"पूर्वं क्रियागुणादिसम्बन्ध आवश्यकः, इह तूपमामाहात्म्यादवगम्यते स इति, न तथा ।"

विनोक्ति ध्वनि का उदाहरण

विशालाभ्यामाभ्यां किमिह नयनाभ्यां फलमसौ,
न याभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनुः ।
अयं तु न्यक्कारः श्रवणयुगलस्य त्रिपथगे,
यदन्तर्यातस्तव लहरिलीला कलकलः ।।

उक्त पद्य पण्डितराज के "गङ्गालहरी" नामक स्तोत्र का है । प्रस्तुत पद्य में पण्डितराज गङ्गा मैय्या की स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि हे मातर्गङ्गे ! इन बड़े बड़े नेत्रों से हमें इस संसार में क्या लाभ है जिनसे परम सुन्दर तुम्हारे स्वरूप का दर्शन न हो सका, और ऐसे कानों को तो धिक्कार ही है, जो आपके तरलतरङ्गों का कलकल रव नहीं सुनते हैं । अर्थात् इस संसार में किसी मनुष्य की आँखों की विशालता व रमणीयता की सार्थकता तभी है जबकि उन आँखों ने कभी आपके मनोहर रूप का साक्षात्कार किया हो । यही बात कानों के विषय में भी है । उक्त पद्य में जो यह कहा गया है कि— **"किमिह नयनाभ्याम्, फलमसौ"** इत्यादि, अर्थात् उन आँखों का क्या फल ? इस प्रकार का प्रश्न किया गया है, इससे यह ध्वनित होता है कि "गङ्गा के दर्शन के बिना विशाल आँखों की रमणीयता भी कुछ नहीं है । इसी प्रकार कानों को भी धिक्कारा है, उससे यह ध्वनित होता है कि गङ्गा जी के उत्तालतरङ्गों के कोलाहल के श्रवण के बिना कानों की कौन सी श्रव्यता या उपयोगिता है ।

फलतः यह पद्य अरमणीयत्वमूलक विनोक्ति ध्वनि का उदाहरण है, इसीलिए तो पण्डितराज का कहना है—

"अत्र त्वद्दर्शनं बिना नयनयोः त्वल्लहरिकोलाहलश्रवणं विना श्रवणयोश्चारमणीयत्वं फलप्रश्नधिक्काराभ्यां व्यज्यते ।"

यद्यपि उक्त पद्य में कविनिष्ठ गङ्गाविषयक रति होने से भावध्वनि ही प्रधानरूप में है, न कि विनोक्ति ध्वनि क्योंकि यह विनोक्ति अलंकारध्वनि भावध्वनि के पोषकरूप में अङ्ग होने से अप्रधान है। ध्वनि व्यवहार तो प्रधानतया होता है, अर्थात् जहाँ पर प्रधानतया वस्तु या रस व अलंकार अभिव्यक्त होंगे, वहीं ध्वनित्वेन व्यवहार होगा, अन्यथा तो वह गुणीभूत हो जायेगा, इसी प्रकार यहाँ भी उक्त अलंकार ध्वनि के अङ्ग हो जाने से प्रधानभूत भावध्वनि से ही व्यवहार होना चाहिए, फिर यह विनोक्ति ध्वनि का उदाहरण कैसे होगा।

इस पर पण्डितराज का यह समाधान है कि यह उक्त अलंकारध्वनि यद्यपि प्रधान भाव के अनुग्राहक पोषक होने से अङ्ग है, परन्तु अङ्गरूप अर्थात् गौणरूप में होने पर भी, उक्त व्यङ्ग्य के आधार पर ध्वनि का व्यवहार किया जाना चाहिए। यदि ऐसा न किया जायेगा तो फिर जहाँ दो ध्वनियों में परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव रहता है और तन्मूलक ध्वनि संकर माना जाता है, जिसकी व्यवस्था सभी आलंकारिकों को मान्य भी है, उसका उच्छेद हो जायेगा।

तस्य च भावध्वन्यनुग्राहकत्वेऽपि ध्वनिव्यपदेश्यत्वमब्याहृतम्, अन्यथानुग्राहकत्वलक्षणासंकरोच्छेदापत्तेः"

प्राचीनों के द्वारा स्वीकृत विनोक्ति ध्वनि का इसी प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुविम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥

उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ गया, जिसने शीतकिरण चन्द्रमा का दर्शन नहीं किया और उस चन्द्रमा का आविर्भाव भी निष्फल ही है, जिसने खिली हुई कमलिनी को नहीं देखा। उक्त पद्य में यद्यपि चन्द्र दर्शन के बिना नलिनीजन्म और नलिनी दर्शन के बिना चन्द्र की उत्पत्ति अरमणीय है, यह ध्वनित होता है, परन्तु उक्त अरमणीय-व्यवस्थापक विधाता के प्रति प्राधान्येन अमर्ष भाव की ही अभिव्यक्ति हो रही है, जिसने वाञ्छनीय दर्शन पर प्रतिबन्ध लगाया है, परन्तु फिर भी प्राचीनों ने अनुग्रहणानुग्राहकभाव से या पार्यन्तिक ध्वनि का विचार न करते हुए विनोक्ति ध्वनि से ही व्यवहार किया है।[1]

---

1. विश्वनाथ ने उक्त पद्य को विनोक्ति शब्द के प्रयोगाभाव में भी विनार्थ

समासोक्तिः

"समासेन संक्षेपेण (एकेनैव शब्देन) उक्तिः अर्थद्वयस्य कथनं समासोक्तिः"

जहाँ एक ही विशेष्यवाचक शब्द के द्वारा प्रकृताप्रकृत अर्थद्वय का प्रकाशन होता है, उसे समासोक्ति कहते हैं ।

समासोक्ति अलंकार में केवल विशेषणों के माहात्म्य से प्रकृत प्राकरणिक अर्थ में अप्राकरणिक वस्तु के वृतान्त का समारोप किया जाता है । इस अलंकार में प्रकृत अर्थ वाच्य होता है, और अप्रकृत अर्थ (जिसका समारोप किया जाता है) वह व्यञ्जनावृत्तिगम्य होता है । परन्तु प्रकृत विशेष्य के विशेषण या तो श्लिष्ट (अर्थात् अनेकार्थक जो कि प्रकृताप्रकृतोभयसङ्गत हो सके) होते हैं । अथवा ये विशेषण साधारण होते हैं, जो कि प्रकृताप्रकृत परक समन्वित हो पर विशेष्य यहाँ श्लिष्ट नहीं होता है जबकि श्लेषालंकार में विशेष्य भी श्लिष्ट होता है ।

समासोक्ति ठीक अप्रस्तुत प्रशंसा के विपरीत होती है, क्योंकि अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है, और व्यङ्ग्यार्थ प्रस्तुत होता है । यद्यपि एकदेशविवर्ति नामक रूपक में भी अप्रकृत पदार्थ का आरोप होता है वह भी वाच्य न होकर आक्षिप्त ही होता है । पर यहाँ प्रकृत के किसी एक देश में शब्दतः आरोप होता है, अन्यत्र सहृदय स्वयमेव आरोप का आक्षेप कर लेता है । परन्तु समासोक्ति में तो अप्रकृत व्यवहार, श्लिष्ट विशेषणों के सामर्थ्य से और स्त्रीलिङ्ग व पुल्लिङ्गादि के प्रयोग से गम्य ही होता है । आचार्य मम्मट ने भी श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से अप्रकृतार्थ के कथन को समासोक्ति कहा है । उनका समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।

इसकी व्याख्या में उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार हैं **"प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यत् अप्रकृतार्थस्याभिधानम्, सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयस्य कथनात् समासोक्तिः ।"**

विवक्षा मूलक विनोक्ति वाच्यालंकार माना है । वस्तुतः उक्त पद्य अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार का मालूम पड़ता है, क्योंकि चन्द्र नलिनी के अप्रस्तुत वृतान्त से किसी ऐसे दो व्यक्तियों को कवि ने प्रस्तुत करना चाहा जिनका समागम वाञ्छनीय था, तभी तो असदृशकारी विधाता के प्रति अमर्ष व्यक्त हो सकता है । मूलग्रन्थ में उक्त पद्य का कृष्टा की जगह "कृता" पाठ, तथा सरला टिप्पणी का "पोषकत्वेऽपि चास्य भावध्वनित्वमव्याहतम्" यह चिन्तनीय है ।

अलंकार-सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक के अनुसार जहाँ विशेषणों की समता के कारण, व्यञ्जना व्यापार से अप्रस्तुत अर्थ, प्रस्तुत अर्थ का अवच्छेदक अर्थात् परिचायक हो, अथवा अप्रस्तुतार्थ के व्यवहार का समारोपण हो उसे समासोक्ति कहते हैं ।

उनका समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

"विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः" इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि **"विशेषणसाम्याद्धि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते । अवच्छेदकत्वं च व्यवहारसमारोपो न रूपसमारोपः । रूपसमारोपे, त्ववच्छादितत्वेन प्रकृतस्य तद्रूपरूपित्वादेव रूपकम् ।"**

अर्थात् रूपक में तो प्रस्तुत अप्रस्तुत के रूप से समाच्छादित होकर ही अपने स्वरूप का परित्याग कर देता है । परन्तु समासोक्ति में तो प्रस्तुत अपने स्वरूप में विराजमान रहता हुआ भी प्रतीयमान अप्रस्तुत व्यवहार के समारोप के कारण रमणीय होता है ।

रूपक व समासोक्ति का संक्षेप में अन्तर दिखलाते हुए, अलंकार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ का कथन भी इस विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । आपका कहना है कि समासोक्ति में तो अप्रस्तुत प्रस्तुत का अवच्छेदक अर्थात् वैशिष्ट्याधायक रहता है, जबकि रूपक में अप्रस्तुत प्रस्तुत का आच्छादक अर्थात् अपने रूप में रूपित करनेवाला रहता है ।

"एवं समासोक्तौ व्यवहारसमारोपादप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य वैशिष्ट्यलक्षण-मवच्छेदकत्वं विधीयते, रूपके तु रूपसमारोपाद्रूपरूपितत्वाख्यमाच्छादत्व-मित्यनयोर्भेदः ।"

कविराज विश्वनाथ ने भी आचार्य रुय्यक का ही अनुसरण किया है । रुय्यककृत भेदोपभेदों को अपने लक्षण में समेटते हुए समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ।।

अर्थात् जहाँ समान कार्य लिङ्ग व विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप हो उसे समासोक्ति कहते हैं ।

रुय्यक के ही अनुसार आपने भी—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रेवभ्यधिकं चकार ।।

इस पद्य में एकदेशविवर्तिनी उपमा न मानकर समासोक्ति अलंकार को ही

माना है। पूर्वपक्ष की तरफ से उक्त पद्य में एकदेश-विवर्तिनी उपमा की आशङ्का कर पुनः कथञ्चित् समासोक्ति की ही पुष्टि की है।

उक्त पद्य में इन्द्रधनुष में नखक्षत का सादृश्य और मेघ में कुच का सादृश्य तो शाब्द है, परन्तु शरद् में नायिका का व चन्द्रमा में उपनायक का और सूर्य में नायक का औपम्य अर्थ सामर्थ्य सिद्ध है, जिससे स्पष्ट ही यहां एकदेश-विवर्तिनी उपमा है, जैसा कि **"आर्द्रनखक्षताभम्"** में औपम्प की प्रतीति शब्दतः सिद्ध है, परन्तु उक्त पद्य को रुय्यक के अनुसार समासोक्ति का उदाहरण मानने के लिए विश्वनाथ भी उन्हीं की प्रक्रिया को अपनाने के लिए मजबूर से हैं।

आपका भी वही सुझाव है कि **"नखक्षताभम्"** की उपमानता का सञ्चारण इन्द्रधनुष में कर लिया जायेगा, जिस प्रकार मीमांसा दर्शन में **"दध्ना जुहोति"** इत्यादि स्थलों में **"अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि** प्रमाणान्तरों से ही हवन की प्राप्ति है, विधि का सञ्चारण केवल दधि के लिए ही किया जाता है, वैसे ही यहाँ भी **"आर्द्रनखक्षताभम् ऐन्द्रं धनुर्दधाना"** का अभिप्राय **"ऐन्द्रं चापाभं नखक्षतं दधाना"** है।

"नन्वु "आर्द्रनखक्षताभम्" इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे धनुषि सञ्चारणीयम्, यथा "दध्ना जुहोति" इत्यादौ हवनस्यान्यथासिद्धेर्दध्नि सञ्चार्यते विधिः।

"एवञ्चेन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति प्रतीतिर्भविष्यति इति चेत्, न एवंविध-निर्वाहे कष्टसृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्तिन्युपमाङ्गीकारस्येव ज्यायस्त्वात्। अस्तु वात्र यथाकथञ्चित् समासोक्तिः।"

अप्पय्यदीक्षित ने समासोक्ति का निर्वचन इस प्रकार किया है—

"समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्।"

जहाँ प्रस्तुतवृत्तान्त के वर्णन से अप्रस्तुत वृत्तान्त की परिस्फूर्ति (व्यञ्जना) हो उसे समासोक्ति अलंकार कहते हैं। इसका उदाहरण है—

"अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः।"

देखो यह रक्तवर्ण का चन्द्रमा पूर्वदिशा के मुख का चुम्बन कर रहा है, (अर्थात् पूर्वदिशा में रक्तमण्डल चन्द्रमा का उदय हो रहा है) इसका अप्रस्तुत अर्थ है कि यह अनुरक्त (चन्द्रमा) उपनायक पूर्वदिशारूपी नायिका का अथवा (ऐन्द्री) इन्द्र की पत्नी के मुख का चुम्बन कर रहा है।

उक्त पद्य में रक्त मुख व चुम्बनादि विशेषण व क्रिया पदों से तथा "ऐन्द्री" व चन्द्रमा, के स्त्रीलिङ्ग व पुलिङ्ग वाचकपदों की विशेषता से अप्रस्तुत परवनिता प्रेमरूप वृत्तान्त की प्रतीति हो रही है, इसीलिए यह समासोक्ति का उदाहरण है, जैसा कि कुवलयानन्द में स्वयं दीक्षित जी ने लिखा है—

"अत्र हि चन्द्रस्य प्राचीप्रारम्भलक्षणमुखसम्बन्धलक्षणे उदये वर्ण्यमाने "मुखशब्दस्य" प्रारम्भ वदनसाधारण्यात्, "रक्त"- शब्दस्यारूणकानुकसाधारण्यात् "चुम्बति" इत्यस्य प्रस्तुतार्थसम्बन्धमात्रपरस्य शक्यार्थान्तरसाधारण्याच्च, "चन्द्रमः" शब्दगतपुलिङ्गेन "ऐन्द्री" शब्दगतस्त्रीलिङ्गेन तत्प्रतिपाद्येन्द्रसम्बन्धित्वेन चोपस्कृतादप्रस्तुतापरवनितासक्तपुरुषवृत्तान्तः प्रतीयते ।"

इस प्रकार श्लिष्ट विशेषण व साधारण विशेषणों के द्वारा उपस्कृत अप्रस्तुत वृत्तान्त प्रतीतिरूप समासोक्ति का निरूपण कर, पुनः कुवलयानन्द में कहा कि **"सारूप्यादपि समासोक्तिर्दृश्यते"**—अर्थात् कहीं कहीं सारूप्य या सादृश्य से भी समासोक्ति देखी जाती है, जैसे उत्तररामचरित के वनवर्णन-परक निम्न पद्य में—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां,
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं,
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ।।

महाकवि भवभूति विरचित उत्तररामचरित के द्वितीय अङ्क में, जब राम एकबार फिर दण्डकारण्य में प्रवेश करते हैं, तो उक्त वन के महान् परिवर्तन का वर्णन करते हैं—

जिस (दण्डकारण्य) वन के प्रदेश में पहिले नदी का स्रोत बहता था, अब उस जगह पर नदी का तट हो गया है, और वृक्षों की भी सघनता व विरलता में बहुत बदलाव आ गया है, अर्थात् जहाँ पहिले घने वृक्ष थे, वहाँ अब कोई कोई ही बहुत कम वृक्ष दिखाई दे रहे हैं और जहाँ वृक्ष बहुत कम थे, इस समय वहाँ सघन वृक्ष पंक्ति है । बहुत समय बाद आज मैं इस वन को देख रहा हूँ, इसलिए यह वही वन है, ऐसा मुझे विश्वास नहीं हो रहा है, अर्थात् कुछ दूसरा ही वन सा मुझे यह प्रतीत हो रहा है, परन्तु यह सब होने पर भी पर्वतों की स्थिति मुझे विश्वस्त कर रही है कि यह वही वन है ।

उक्त पद्य में वनवर्णन प्रस्तुत है, इस वन के सारूप्य के कारण, किसी ऐसे ग्राम या नगर का अप्रस्तुत वृत्तान्त प्रतीत हो रहा है, जहाँ के निवासी समृद्धि तथा असमृद्धि की दृष्टि से बदल गये हैं । तात्पर्य यह है कि वनवर्णन में प्रयुक्त वन व्यवहार के सारूप्य के कारण समृद्ध कुटुम्बियों की ऋद्धि का ह्रास और असमृद्ध कुटुम्बियों की ऋद्धि की वृद्धि का होना उनकी स्थिति का विपर्यास होना व्यञ्जित होता है ।

"अत्र वनवर्णने प्रस्तुते तत्सारूप्यात्कुटुम्बिषु धनसंतानादिसमृद्ध्यसमृद्धिविपर्यासं प्राप्तस्य तत्समाश्रयस्य ग्रामनगरादेर्वृत्तान्तः प्रतीयते ।" इत्यादि ।

उत्तररामचरित के उक्त पद्य में बहुत से विद्वान समासोक्ति अलंकार नहीं

मानते हैं। स्वयं कुवलयानन्द के टीकाकार "गंगाधराध्वरी" ने उक्त पद्य में उपमा-ध्वनि मानी है, आपका कहना है कि वृक्षों की सघनता व विरलता के कारण होने वाले विपर्यास से वनान्यता की प्रतीति को पुनः पर्वतों की स्थिति निरस्त कर देती है, और विश्वास दिला देती है कि "यह वही वन है"। यह प्रत्यभिज्ञा पुनः उपमा ध्वनि को ही पुष्ट करती है। गंगाधराध्वरी ने अपनी 'रसिकरञ्जिनी टीका' में इस बात को बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है, जो इस प्रकार है—

"अत्रेदं विचारणीयम्। "पुरा यत्रेत्युदाहरणे सारूप्यनिबन्धना समासोक्तिरिति तावदयुक्तम्। प्रस्तुतविशेषणसदृशतया अप्रस्तुतवृत्तान्तावगतिर्हि विशिष्टयोरौपम्यगमिका पर्यवस्यतीति, यथा ग्रामनगरादिः पूर्वदृष्टश्चिरकालव्यवधानेन पश्चादवलोक्यमानः प्राग्दृष्टविपरीततया सम्पत्तिदारिद्र्यगृहादिविरलाविरलभावादिना अन्य इव प्रतीयमानः, तद्गतचिरकालालुप्यमानप्राकारदीर्घिकातटाकादिभिः स एव ग्रामः तदेवेदं नगरम्, इति प्रतीयते। तथेदमपि वनं प्राग्लक्ष्मणसहितेन मया दृष्टं सम्प्रति चिरकालपरावृत्तेन परिदृश्यमानं वनगतनदीस्रोतपुलिनविपर्यासघनविरलभावादिमत्तया अन्यदिव प्रतीयमानं तदवस्थ एवायं शैलसन्निवेशः, तदेवेदमिति प्रतिभिज्ञायते, इत्युपमाध्वनेरेवोन्मेषात् समासोक्तिगन्धस्यैवाभावात्। अत एव प्राचां ग्रन्थेषु विशेषणसाधारण्यश्लिष्टत्वसमासभेदाश्रयणैरप्रस्तुतव्यक्तौ, एव तस्या लक्षणं वर्णितमुपपद्यते।"

इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ भी कुवलयानन्दकार दीक्षित जी के इस मत से सहमत नहीं हैं, वे भी उक्त पद्य में सारूप्यनिबन्धना समासोक्ति को न मानकर अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार मानते हैं, क्योंकि समासोक्ति का जीवातुभूत विशेषण-साम्य का यहाँ अभाव है—

"समासोक्ति जीवातोर्विशेषणसाम्यस्यात्राभावेन समासोक्तितायां एवानुपपत्तेः।"

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में समासोक्ति अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहार साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिताप्रस्तुतधार्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः।"

जहाँ वर्णनीयवस्तु संबद्ध व्यवहार ऐसा हो, जो केवल साधारण विशेषणों के द्वारा (न कि विशेष्य के द्वारा) उपस्थित कराये गये अप्रस्तुत वस्तु से सम्बद्ध व्यवहार से अभिन्नरूप में प्रतीत होता हो, तो यहाँ उस (वर्णनीय वस्तु सम्बद्ध) व्यवहार को समासोक्ति अलंकार कहते हैं।

समासोक्ति में केवल साधारण विशेषणभाव से ही अप्रस्तुत अर्थ उपस्थापित

होता है, जबकि शब्दशक्तिमूलकध्वनि में केवल विशेषणमात्र से नहीं अपितु विशेष्य द्वारा ही अप्रस्तुत अर्थ उपस्थित किया जाता है, जैसे पूर्वोक्त पद्य—

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम् ।
बाले वारय पान्थस्य वासदानविधानतः ।।

यहाँ "प्रतिकूल राजा" इसमें विशेष्यभूत राजन् शब्द से भी अप्रस्तुत चन्द्र अर्थ उपस्थित होता है, अन्यथा तो प्रस्तुत राजा के व्यवहार से अप्रस्तुत चन्द्र व्यवहार का अभेद होने से यहाँ भी समासोक्ति की अतिप्रसक्ति हो सकती है ।

इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा में भी जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार केवल विशेषण से ही नहीं अपितु विशेष्य से भी उपस्थित किया जाता है, जैसे इस पद्य में—

मलिनेऽपि रागपूर्णा विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि ।
त्वयि चपलेऽपि सरसां भ्रमर कथं वा सरोजिनी त्यजसि ।।

हे भ्रमर ! तुम उस कमलिनि को कैसे छोड़ रहे हो, जो तेरे को काला या मन का मैला समझकर भी तेरे में अनुरक्त है, अत्यधिक वाचाल समझकर भी, प्रसन्न मुख बनी रहती है, और चञ्चल जानकर भी सरसता नहीं छोड़ती है ।

उक्त पद्य अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलंकार का है, इसमें उक्त अप्रस्तुत भ्रमर वृत्तान्त से उस प्रस्तुत नायक वृत्तान्त की प्रतीति ही रही है, जो चञ्चलचित्त होने पर भी प्रेयसी के द्वारा सर्वतोभावेन स्वीकृत रहता है । यहाँ भी उक्त समासोक्ति का प्रसङ्ग इसीलिए नहीं होता है कि अप्रस्तुत भ्रमर का व्यवहार केवल विशेषणों से ही नहीं उपस्थित होता है, बल्कि विशेष्य से भी उपस्थित कराया जाता है, क्योंकि विशेष्यरूप में भ्रमर साक्षात् शब्दोपात्त है ।

यदि जलक्रीडादि में सम्मुखागत भ्रमर को उद्धेश्य करके प्रस्तुतभ्रमर व्यवहार से मलिनरागादि विशेषणों के द्वारा अप्रस्तुत नायक के व्यवहार का अभेदारोप किया जाय, तब यह पद्य भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का न होकर समासोक्ति का ही उदाहरण माना जायेगा ।

समासोक्ति अलङ्कार के वर्णन प्रसङ्ग में एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त अलङ्कार में जो प्रस्तुत व अप्रस्तुत उभयविध अर्थों का सम्मिश्रण रहता है उनका बोध किस तरह होता है । इस विषय में कुछ प्राचीन विद्वानों का मत है कि उसी एक ही अभिधा से प्रस्तुत व अप्रस्तुत उभयविध अर्थों की प्रतीति हो जाती है ।

अन्य विद्वानों का कथन है कि प्रथम अर्थ जो अभिधा द्वारा उपस्थित होता है वह प्रकरण से नियन्त्रित हो जाता है, पुनः पदज्ञान व संस्कारादि जब सब वर्तमान है, तो फिर द्वितीय अर्थ भी द्वितीय अभिधा व्यापार द्वारा ही उपस्थित हो

जायेगा। अन्य ध्वनिवादी आचार्य जिनमें पण्डितराज भी सम्मिलित हैं, उनके मत में प्रस्तुत अर्थ अभिधा के द्वारा उपस्थित होगा, जिसे प्रकरणादि नियन्त्रित कर लेंगे पर द्वितीय अर्थ पुनः व्यञ्जना व्यापार द्वारा ही कराया जाएगा।

इस विषय में भामह व भट्टोद्भट्टादि का मत कुछ विलक्षण ही हैं। ये लोग ध्वनिसिद्धान्त में स्वीकृत व्यञ्जना वृत्ति को नहीं मानते हैं, रस, वस्तु अलङ्कारादि ध्वनियों को ये रसवदादि अलङ्कारों में ही गतार्थ कर लेते हैं। अतः व्यञ्जना वृत्ति के अभाव में इनके मत में प्रकृत अर्थ अभिधा शक्ति के द्वारा उपस्थित होगा और अप्रकृत अर्थ आक्षेप द्वारा उपस्थित होगा। समासोक्ति में जो अप्रस्तुत अर्थ होता है वह ध्वनिवादी आचार्यों के मत में सर्वथा व्यञ्जनाव्यापार गम्य ही होता है, अर्थात् व्यङ्ग्य होता है। परन्तु व्यङ्ग्य होते हुए भी वह ध्वनि के व्यवहार का प्रयोजक नहीं होता है क्योंकि वह प्रकृत का उपस्कारक होता है, अतएव प्रधान न होकर अप्रधान गौण होता है, इसीलिए इस व्यङ्ग्य को गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं। अतएव वाच्य समासोक्ति अलंकार से ही उसका व्यवहार होता है।

पण्डितराज ने समासोक्ति के विशेषणसाम्य के भी अनेक प्रकार दिखलाये हैं। ये विशेषण कहीं श्लिष्ट रहते हैं, कहीं साधारण, इसमें भी अन्य धर्मों से समन्वित और कहीं कार्यरूप धर्म के द्वारा तथा यह व्यवहार समारोप भी कहीं शास्त्रीय होता है, और कहीं लौकिक इत्यादि प्रकारों से समासोक्ति के अनेक भेद रसगङ्गाधर में वर्णित है।

परिकर

विशेषण वैचित्र्य के वर्णन प्रसङ्ग में समासोक्ति के बाद अब परिकरालंकार का वर्णन करते हैं। इस अलंकार में कवि ऐसे विशेषणों का प्रयोग करता है जो कि साभिप्राय होते हैं। अर्थात् जिन विशेषणों से कोई व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो इसीलिए मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में साभिप्राय विशेषणों की उक्ति को परिकर कहा है। "परिकर" का शब्दार्थ भी उपस्करण, या प्रकृतार्थ का उपकार करना है, अर्थात् विशेषणों के व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का उपकार करना, **"परिकरः परिस्करणम्, विशेषणव्यङ्ग्यार्थेन वाक्यार्थस्योपस्करणात्परिकरः केचित्तु "परिकरोति प्रकृतार्थ-मुपकरोति इति परिकरः साभिप्रायशब्दः, सोऽस्मिन्नस्तीति परिकरः"**। काव्यप्रकाश की वामनी टीका में इस प्रकार की व्युत्पत्ति परिकर शब्द की दी गई हैं और मम्मट का लक्षण परिकर का इस प्रकार है—**"विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः"** इसी का अनुसरण अलंकार-सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक ने भी किया है। रुय्यक का लक्षण इससे भी संक्षिप्त है। वह इस प्रकार है—

"विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकरः"

ये सभी आचार्य मम्मट से लेकर विश्वनाथ तक अनेक विशेषणों की साभिप्रायता में ही परिकरालंकार को मानते हैं। स्वयं मम्मट ने उक्त अलंकार के वर्णन प्रसङ्ग में वृत्ति में कहा है—

"यद्यपि अपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थः स्वीकारः कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलंकार मध्ये गणितः" अर्थात् काव्य में निष्प्रयोजन विशेषण को अपुष्टार्थत्व दोष माना है। अतः सप्रयोजन विशेषण का होना तो अलंकार न होकर केवल अपुष्टार्थत्व दोषाभावमात्र है, अतः इस प्रकार के (साभिप्राय) अनेक विशेषणों के उपन्यास में ही कुछ वैचित्र्य आ सकता है। इसीलिए अनेक विशेषणों की साभिप्रायता में ही परिकर को अलंकार कोटि में प्रविष्ट किया है। मम्मट की इसी बात की पुष्टि अलंकार-सर्वस्वकार के टीकाकार जयरथ ने अपनी विमर्शिनी टीका में की है, आपका कथन इस प्रकार है—

"विषशेणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम्। अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषत्वाभिधानात्तन्निराकरणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्यायं विषयः स्यात् एवमेवंविधानेकविशेषणोपन्यासद्वारेण वैचित्र्यातिशयः सम्भवतीत्यस्यालंकारत्वम्।"

इस प्रसङ्ग में कविराज विश्वनाथ भी इन्हीं आचार्यों के अनुयायी हैं, परन्तु अप्पय्यदीक्षित इन प्राचीनों के मत से सहमत नहीं हैं, आपका कहना यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि अनेक साभिप्राय विशेषणों में ही परिकर को माना जाय, अपितु कुछ श्लेष व यमकादि में जहाँ अपुष्टार्थत्व दोष नहीं रहा है, वहाँ एक विशेषण के भी साभिप्रायता में परिकर देखा जाता है। कुवलयानन्द में उन्होंने इस बात को स्पष्ट कहा है—

"वस्तुतस्त्वनेकविशेषणोपन्यास एव परिकर इति न नियमः। श्लेषयमकादि स्वपुष्टार्थदोषाभावेन तत्रैकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्य विन्यासे विच्छित्तिविशेषसद्भावात् परिकरत्वोपपत्तेः।"

विशेषणों की अनेकता मानी जाय या केवल एक भी विशेषण चमत्कारा-धायक हो सकता है—इस विषय में पण्डितराज भी अप्पय्यदीक्षित के ही अनुयायी हैं। वे एक साभिप्राय विशेषण में भी परिकर की अलंकारता को मानने के पक्ष में हैं। परन्तु अप्पय्यदीक्षित के इस वर्गीकरण से असन्तुष्ट हैं कि एक विशेषण की साभिप्रायता केवल श्लेष व यमकादि शब्द चित्र जैसे इने गिने अलंकारों में ही मानी जाय। दीक्षित जी के द्वारा परिगणित उक्त यमकादि अलंकारों में इसलिए साभिप्राय एक विशेषण की विचित्रता है, क्योंकि उन स्थलों में अपुष्टार्थत्व दोष

अकिञ्चित्कर है । अन्यथा तो वहाँ भी सम्भवतः केवल एक ही विशेषण की विचित्रता दीक्षित जी को स्वीकृत न हो ।

इस प्रसङ्ग में पण्डितराज का समाधान उक्त दोष व अलंकार के विषय-विभाग की व्यवस्था को प्रदर्शित करते हुए इस प्रकार है—

"तस्मात् पुष्टार्थतारूपेण दोषाभावेन परिकरालंकारस्य विषयविभागो दुःशक इति प्राप्ते ब्रूमः ।

सुन्दरत्वे सति, उपस्कारकत्वमलङ्कारत्वम् । चमत्कारापकर्षकाभावत्वं च दोषाभावत्वम् । तदेतद्धर्मद्वयं विविक्तविषयं यदि दैवादेकस्मिन् विषयविशेषे समाविशेत्तदा का हानिः स्यात् ? उपधेयसंकरेऽप्युपाधिक-असंकरात् । यथा ब्राह्मस्य मूर्खत्वं दोषः, विद्यातु दोषाभावश्च, भवति गुणश्च तथेहाप्युपपत्तिः । न च दोषाभावतया प्राप्तस्यापि परिकरस्य किमित्यलंकारेषु गणनागौरवमिति वाच्यम् । उभयात्मकत्वेनेतरवैलक्षण्यज्ञापनार्थतया गणनोपपत्तेः । यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यतया संगृहीताऽपि समासोक्तिरलंकार गणनायां पुनर्गण्यते, यथा वा प्रासादवासिषु गणितोऽपि उभयवासी भूमिगणनायाँ पुनर्गण्यते तथेहापीति न कश्चिव् दोषः ।"

अर्थात्—दोषाभावरूप पुष्टार्थता व परिकर अलंकार का विषय विभाग पृथक् करना मुश्किल है, अतएव ये एक ही हैं । इस विषय में हमारा विचार इस प्रकार है—

सुन्दर होकर उपस्कारक होना अलंकार का लक्षण है और चमत्कार के अपकर्ष का न होना दोषाभाव का लक्षण है । इन दोनों के लक्षण अलग अलग हैं । अर्थात् इनका विषयविभाग लक्षणों के द्वारा विलकुल पृथक् पृथक् प्रतीत हो रहा है । फिर भी यदि संयोगवश ये दोनों धर्म किसी एक विषय विशेष में समाविष्ट हो जायें, तो क्या हानि है ? फलतः उपधेय के साँकर्य होने पर भी उपाधि में सांकर्य नहीं होगा । अर्थात् पुष्टार्थतारूप दोषाभाव व परिकर अलंकार (रूप उपधेय) की एकता होने पर भी दोषाभावत्व व अलंकारत्व की एकता नहीं सिद्ध हुई । जैसे ब्राह्मण के लिए मूर्खता दोष है किन्तु विद्या तो उसके लिए दोषाभाव भी है और गुण भी है, वैसा ही यहाँ भी है । अर्थात् परिकर में दोषाभावत्व व गुणत्व दोनों समाविष्ट हैं । पुनश्च यदि आप दोषाभावरूप से प्राप्त परिकर के अलंकार कोटि में गणना गौरव की आशङ्का करें तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि समासोक्ति भी जब गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रभेदों में संग्रहीत है ही, तो फिर उसे अलंकार कोटि में गिनने का प्रयास क्यों किया गया है । यही हाल काव्यालङ्गालंकार का भी है । जब वह निर्हेतुतारूप दोषाभाव से गतार्थ ही है तो उसे अलंकारों में गिनने की क्या आवश्यकता थी ? उक्त निदर्शन से परिकर को भी अलंकार कोटि में प्रविष्ट होने से कोई मुशीबत नहीं है ।

परिकर का लक्षण रसगङ्गाधर में इस प्रकार है—

"विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः"

अर्थात् विशेषणों की साभिप्रायता को परिकर कहते हैं। यहाँ **"विशेषणानाम्"** में बहुवचन अविवक्षित है। साभिप्रायत्व का अर्थ प्रकृतार्थोपपादकत्व है। यह उपपादकता भी दो प्रकार की होती है—एक तो उपस्कारक अर्थात् पोषक। दूसरी निष्पादक अर्थात् सम्पादक।

प्रकृत में उपस्कारकत्व रूप उपपादकता ही अपेक्षित है, क्योंकि परिकर में व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ का उपकारक होता हुआ अप्रधान रहता है।

उदाहरण

मन्त्रैर्मीलितमौषधैर्मुकुलितं त्रस्तं सुराणां गणैः,
स्रस्तं सान्द्रसुधारसैर्विदलितं गारुत्मतग्रावभिः।
वीचिक्षालित कालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि,
त्वं तापं तिरयाधुना भवभयव्यालावलीढात्मनः॥

भक्त गङ्गा से प्रार्थना करता है—

हे स्वर्गलोक में कलकलनाद करके बहने वाली गङ्गे! मन्त्रों ने आखें मूंद ली हैं, औषधियाँ कुम्हला गई हैं देव समूह डर गये, और सघन सुधारस बह गये, गारूड़ मणियाँ टूट गयीं, अर्थात् ये सब पदार्थ विषज्वाला की शान्ति करने में यद्यपि प्रसिद्ध हैं परन्तु मेरे विलक्षण विषताप को शान्त करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए हैं। अतः अब हे तरङ्गों से कालियनाग के शत्रु भगवान् कृष्ण के चरणों को धोने वाली गङ्गे! भवभयरूप सर्प से जिसका हृदयग्रस्त हो गया है, ऐसे मेरे ताप को आप ही दूर करो।

उक्त पद्य में **"वीचिक्षालितकालियाहितपदे"** यह साभिप्राय विशेषण है। यद्यपि भगवान् के हजारों नाम हैं, परन्तु कवि ने यहाँ उनमें से किसी और का ग्रहण न कर केवल "कालियाहित" शब्द जो भगवान के लिए चुना है, उसका अभिप्राय यह है कि कालिय नाग के फण में नाचकर जब उसे भगवान ने निर्विष बना दिया, तो उससे यह सिद्ध है कि उन चरणों में विषहरण की लोकोत्तर शक्ति है। और गङ्गा जी जब उन चरणों का प्रक्षालन अपनी भक्ति भरी तरङ्गों से करती हैं, तो उन गङ्गा जी की तरङ्गों में उस विषहरणरूपी शक्ति का अवश्य संक्रमण होगा, जो कि भक्त के संसाररूपी सर्प के विष को भी शान्त करने में सर्वथा समर्थ हैं।

इस प्रकार यह व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ का उपस्कारक है। इस प्रकार विशेष की जो साभिप्रायता अर्थात् व्यङ्ग्यगर्भता वह प्रकृत वाक्यार्थ की उपकारिका है। इसीलिए

यहाँ परिकरालंकार है। इस प्रकार यह परिकर वाच्योपस्कारक व्यङ्ग्यगर्भ व वाच्यसिद्धयङ्ग व्यङ्ग्यगर्भ इनके गूढागूढरूप से चार प्रकार का पण्डितराज ने रस-गङ्गाधर वर्णित किया है।

श्लेषालंकार

समासोक्ति व परिकर में तो केवल विशेषणों की ही विचित्रता रहती है परन्तु श्लेषालंकार में विशेष्य व विशेषण दोनों की विचित्रता अपेक्षित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि समासोक्ति आदि में केवल विशेषण की साम्यता रहती है। यद्यपि अप्रस्तुतप्रशंसा में विशेष्य की भी साम्यता रहती है, परन्तु वहाँ एक अर्थ प्रस्तुत रहता है व दूसरा अर्थ अप्रस्तुत रहता है। वाच्यार्थ अप्रस्तुत रहता है तथा व्यङ्ग्यार्थ प्रस्तुत रहता है, जबकि श्लेष में दोनों अर्थ प्रस्तुत या अप्रस्तुत और विशेषणों के साम्य से प्रस्तुताप्रस्तुत रहते हैं परन्तु दोनों अर्थ वाच्य रहते हैं, अर्थात् श्लिष्ट पदों की महिमा से दोनों तरह के अर्थ प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार यह श्लेष प्रकृत विषयक तथा अप्रकृत विषयक तथा प्रकृताप्रकृत विषयक होता है, ऐसा अलङ्कार-सर्वस्वकारादिकों का कहना है, जैसा कि रुय्यक ने अलङ्कार-सर्वस्व नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः"

अर्थश्लेष के इस तीसरे भेद के विषय में जो कि प्रकृताप्रकृतविषयक है उसमें अधिकतर विद्वानों का विवाद है। मम्मट ऐसे स्थलों में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानते है, जहाँ एक अर्थ प्रकृत हो और दूसरा अर्थ अप्रकृत हो। पर यह सब वे उस स्थिति में मानते हैं जहाँ यह प्रकृताप्रकृतार्थ की साम्यता विशेष्यपरक हो। विशेषणों की समता में भी समासोक्ति आदि में यह अप्रकृत अर्थ व्यङ्ग्य होता है, पर वहाँ अर्थ प्रकृत का ही उपस्कारक होता है, इसलिए वहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का अवसर नहीं है। परन्तु ऐसे स्थलों में जहाँ श्लिष्ट शब्दों के बल पर प्रकृताप्रकृत उभयधर्मिक अर्थ समान कोटि के हों, और ये केवल विशेषणों के ही अर्थ हों ऐसी स्थिति के लिए मम्मटादियों ने कोई व्यवस्था नहीं की है। रुय्यक ने ऐसे ही स्थलों में प्रकृता-प्रकृत विषयक श्लेष माना है, रुय्यक की ही इस मान्यता को और पल्लवित करते हुए अप्पय्यदीक्षित ने भी इस प्रसङ्ग को लेकर अधिक स्पष्टता दिखलाने की कोशिश की है। वे कुवलयानन्द नामक अपने ग्रन्थ में श्लेषालंकार के इस भेद के निरूपण के प्रसङ्ग में कहते हैं कि ऐसे स्थल हमें समासोक्ति के प्रकरण में मिलते हैं, जहाँ विशेषणों की समता के कारण प्रकृत तथा अप्रकृत उभयविध अर्थ दिखलाई देते हैं। जैसे महाकवि माघ के इस पद्य में—

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति॥

महाकवि माघ के शिशुपालवध महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत का यह वर्णन है—

इस रैवतक पर्वत पर अनेकों ऐसी तलहटियाँ हैं, जो अत्यन्त कठोर, विशाल एवं प्रलम्ब मेघों के द्वारा अवरूद्ध हैं, जिन पर दिग्गज अपने दाँतों से टेड़ा प्रहार करते रहते हैं, तथा जो प्राणियों के लिए आगम्य है। (तटी पक्ष)

यहाँ ऐसी अनेकों वृद्धायें हैं, जो अत्यधिक वृद्धा एवं स्थूलकाय हैं, जिनके स्तन लटक गये हैं, तथा जिनके दशनक्षत व नखक्षत प्रकट हो रहे हैं और जो युवकों के लिए अगम्या है।

शिशुपालवध महाकाव्य के टीकाकार मल्लिनाथ ने उक्त पद्य में प्रकृत तटी अर्थ में अप्रकृत वृद्धा स्त्री के व्यवहार के समारोप के कारण इसमें समासोक्ति अलङ्कार बतलाया है। दीक्षितजी भी इसके विषय में लिखते हैं कि इस प्रकार के अलङ्कारों के विषय में समासोक्ति तथा अभङ्गश्लेष सभी आलङ्कारिकों ने माना है **"तत्र समासोक्तिरभङ्गश्लेष इति सर्वेषामभिमतम् एवमन्यत्रापि गूढश्लेषे ध्वनिबुद्धिर्न कार्या।"** इस प्रकार के गूढश्लेष के विषय में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि को नहीं मानना चाहिए।

मल्लीनाथादि प्राचीन विद्वानों से, तथा दीक्षितजी के उक्त **"समासोक्तिरभङ्गश्लेष इति सर्वेषामभिमतम्"** उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्य भी ऐसे स्थलों में जहाँ विशेषणों के द्वारा प्रकृताप्रकृत अर्थद्वय की उपस्थिति होती है वहाँ अप्रकृत अर्थ को व्यङ्ग्य मानकर, तथा प्रकृत में अप्रकृत के व्यवहार का समारोप कर समासोक्ति मान लेते हैं। वस्तुतः मम्मटादिकों ने अलग से ऐसे स्थलों का विचार न करके समासोक्ति की ही तरह प्रकृताप्रकृतार्थों में अप्रकृत को व्यङ्ग्य मानकर, प्रकृत में उसके व्यवहार का समारोप करके समासोक्ति ही मान ली है।

आगे रुय्यक ने इसे श्लेष का एक प्रकृताप्रकृत विषयक अलग भेद माना है, अप्पय्यदीक्षित ने प्राचीनों के मतों को दिखलाते हुए, इसे गूढश्लेष का विषय माना है।

पण्डितराज ने भी उक्त स्थलों में प्रकृताप्रकृत विषयक श्लेष ही माना है। आपका कहना है कि ऐसे स्थलों में समासोक्ति की आशङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि इन विशेषणों में अप्रकृत धर्मी भी यहाँ व्यङ्ग्य न होकर वाच्य ही होता है, जबकि समासोक्ति में अप्रकृत व्यवहार शब्द वाच्य होता हुआ भी अप्रकृतधर्मी शब्द वाच्य नहीं होता है।

प्रकृताप्रकृतोभय विषयक श्लेष का उदाहरण रसगङ्गाधर में इस प्रकार है—

अलं हिमानीपरिदीर्णगात्रः समापितः फाल्गुनसङ्गमेन।
अत्यन्तमाकाङ्क्षितकृष्णवर्त्मा भीष्मो महात्माजनि माघतुल्यः॥

महात्मा भीष्म माघ तुल्य थे, क्योंकि वे अत्यन्त मानी व बाणों से विदीर्णगात्र थे, और अर्जुन के सङ्ग से समाप्त हो गए थे और कृष्ण भगवान् की भक्ति को अत्यधिक चाहते थे।

माघ मास भी अत्यन्त हिम समूह से विदीर्ण गात्र वाला है, (अर्थात् माघ में हिम से अङ्ग फट जाते हैं) और फाल्गुन के प्राप्त होने पर समाप्त हो जाता है, माघ महीने में अग्नि के लिए भी अत्यधिक इच्छा होती है।

इस पद्य में भीष्म व माघ ये दोनों प्रकृताप्रकृत अश्लिष्ट हैं, भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा अवगत होते हैं, और इनके विशेषण **"अलं हिमानी परिदीर्णगात्रः"** आदि श्लिष्ट हैं। अतः यह श्लेष का एक तृतीय भेद अर्थात् प्रकृताप्रकृतोभय विषयक है।

पण्डितराज का श्लेष का लक्षण इस प्रकार है—

"श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः"

एक श्रुति के श्रवण से अर्थात् किसी पद या पदैकदेश के एक वार श्रवण से, अनेक अर्थों के प्रतिपादन को श्लेष कहते हैं।

यह अनेक अर्थों के धर्म भी कहीं अनेक रहेंगे, और कहीं अनेक अर्थों के धर्म एक ही रहेगा इस प्रकार अनेक धर्म पुरस्कार तथा एक धर्म पुरस्कार के भेद से यह श्लेष दो प्रकार का होता है। यह अनेक धर्म पुरस्कार वाला श्लेष पुनः दो प्रकार का होता है, एक अनेक शब्दों के प्रतीमान वाला, दूसरा एक शब्द के प्रतीमान वाला, अर्थात् प्रथम सभङ्ग, तथा दूसरा अभङ्ग होता है। यह सभङ्गाभङ्ग उभयविध श्लेष तो शब्दश्लेष कहा जाता है, और एक धर्म पुरस्कार वाला शब्दश्लेष अर्थश्लेष कहा जाता है, इस प्रकार यह त्रिविध श्लेष पुनः तीन प्रकार का होता है—केवल प्रकृतार्थ के आश्रित, केवल अप्रकृतार्थ के आश्रित और प्रकृताप्रकृतार्थ के आश्रित, इस प्रकार यह सब मिलाकर नौ प्रकार का होता है। जिज्ञासुओं को आकर ग्रन्थ से उक्त सभी उदाहरण जानना चाहिए, केवल दिङ् मात्र उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। जैसे—अनेक धर्म पुरस्कारपूर्वक प्रकृताश्रित।

सभङ्गश्लेष

सम्भूत्यर्थं सकलजगतो विष्णुनाभिप्रपन्नम्,
यन्नालं स त्रिभुवनगुरुर्वेदनाथो विरिञ्चिः।
ध्येयं धन्यालिभिरतितरां स्वप्रकाशस्वरूपम्
पद्माख्यं तत् किमपि ललितं वस्तु वस्तुष्टयेऽस्तु॥

(कमल के पक्ष में)—पद्म-कमल नामक सुन्दर वस्तु आपके सन्तोष के लिए हो, सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति के लिए, विष्णु की नाभि को प्राप्त किये हुए, जिसकी

नाल को जगत् उत्पादक ब्रह्मा भी नहीं जान सके, और जो भाग्यशालियों से ध्यान करने योग्य है, और जो स्वप्रकाशस्वरूप है, अर्थात् जिसके प्रकाशन या विकास के लिए सूर्य की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उस समय तक सूर्य की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी।

(लक्ष्मी के पक्ष में)—लक्ष्मी नामक वह सुन्दर वस्तु आपके सन्तोष के लिए हो, जिस ऐश्वर्यरूप लक्ष्मी की उत्पत्ति में त्रिभुवनगुरु वेदनाथ-वेदों के स्वामी ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं, भगवान् विष्णु से स्वीकृत हुई वह लक्ष्मी—धनिकों के समुदाय से ध्यान करने योग्य किंवा सेवनीय है, और वे स्वयंप्रकाश हैं।

आशीर्वाद के प्रसङ्ग में कहे हुए इस पद्य में लक्ष्मी व भगवान् के नाभिकमल दोनों ही प्रस्तुत हैं। क्योंकि वे दोनों ही सन्तोष को उत्पन्न करने में सपर्थ हैं। अतः "पद्माख्याम्" इस एक श्रुति से कमल व लक्ष्मी इन अनेक अर्थों का प्रतिपादन होने वाला यह प्रकृतमात्राश्रित कहा जायेगा, और यह सभङ्ग भी है, क्योंकि "पद्माख्याम्" इस पद में "पद्म" तथा "पद्मा" इन दो शब्दों का प्रतीमान होता है और "पद्मत्व" एवं "पद्मात्व" इन विभिन्न धर्मों का पुरस्कार-उपस्थापन भी होता है।

इस प्रकार श्लेष समासोक्ति व शब्दशक्तिमूलकध्वनि के विषय में नवीन तथा प्राचीन विद्वानों की मान्यता इस तरह है—

(1) विशेषणों की समता के कारण जहाँ अप्रस्तुत अर्थ भी स्फुरित हो, प्रस्तुत में उसके व्यवहार का समारोप होता हो उसे समासोक्ति अलंकार कहते हैं। इसमें प्रायः सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्य सहमत हैं। पण्डितराज भी किसी हद तक इस बात से सहमत हैं, परन्तु वे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत व्यवहार के अभेद को ही मानते हैं, साथ ही साथ इन्होंने प्रस्तुत में अप्रस्तुत धर्मी के रूप का समारोप भी माना है।

(2) श्लेषालङ्कार में विशेष्य की समता के कारण दोनों अर्थ वाच्य रहते हैं, अर्थात् श्लिष्ट विशेष्य से दोनों वाच्यार्थ कहीं प्रकृत होते हैं, कहीं अप्रकृत होते हैं, और कहीं विशेषणों की साम्यता के कारण प्रकृताप्रकृत भी होते हैं।

प्रकृत व अप्रकृत विषयक श्लेष को मम्मटादि प्राचीन सभी आलङ्कारिकों ने माना है, जिसमें दोनों अर्थ कविविवक्षित रहते हैं, अथवा दोनों विवक्षित नहीं रहते, परन्तु विशेषणों की समता के कारण प्रकृताप्रकृताविषयक श्लेष की चर्चा रुय्यक से प्रारम्भ हुई है, प्राचीन आचार्य जिसे समासोक्ति ही मानेंगे, अप्पय्यदीक्षित ने ऐसी जगह गूढ श्लेष माना हैं। परन्तु वे भी उक्त गूढ श्लेष की आधारभित्ति समासोक्ति ही मानते हैं। सम्भवतः वे इसे गूढ इसलिए बना देते हैं कि अप्रस्तुत अर्थ यहाँ प्रतीयमान रहता है, जिसके कारण वहाँ समासोक्ति भी माननी पड़ती है। ऐसे स्थलों

में जहाँ प्रकृत वाच्यार्थ में अप्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ के व्यवहार का समारोप होता हो, वह स्थल तो साफ ही समासोक्ति का है, उसमें श्लेष मानने का दुराग्रह निर्मूल है, अथवा जहाँ एक अर्थ प्रस्तुत हो और दूसरा अर्थ अप्रस्तुत हो, प्रकरणादि के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का नियन्त्रण हो चुका हो, ऐसी स्थिति में द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ उन्हीं विशेष्य व विशेषणों के द्वारा स्फुरित होता हो तो ऐसी जगह प्राचीनों ने शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानी है। सम्भवतः दीक्षित जी का गूढश्लेष का यही स्थल है, क्योंकि वे द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ को व्यञ्जना व्यापार का विषय न मानकर अभिधा का ही विषय मानते हैं, अतः उक्त विशेष्य व विशेषणों के श्लेष के द्वारा ही द्वितीय अर्थ की भी उपस्थिति मान लेते हैं।

पण्डितराज ने भी उक्त प्रकृताप्रकृत-विषयक श्लेष को माना है। आपने इस प्रकृताप्रकृत विषयक श्लेष में धर्मियों—विशेष्यों की पृथक्सत्ता मानी है, तथा उनके विशेषणों को श्लिष्ट माना है, जब कि रुय्यक के प्रकृताप्रकृतोभयविध श्लेष में विशेष्यों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है, अपितु उसके विशेषण ही प्रकृताप्रकृतार्थ परक होते हैं।

(3) शब्दशक्तिमूलक ध्वनि प्राचीन ध्वनिवादी आचार्य उसे मानते हैं जहाँ एक प्रस्तुत अर्थ प्रकरणादि द्वारा नियन्त्रित हो, और उन्हीं विशेष्य व विशेषणों द्वारा उपस्थित दूसरा अर्थ अप्रस्तुत हो।

अप्पय्यदीक्षित ऐसी जगह दोनों अर्थ श्लेष के द्वारा ही मान लेते हैं, और कथञ्चित् प्राचीनों के अनुरोध से उक्त प्राकरणिक व अप्राकरणिक अर्थ की परस्पर सङ्गति के लिए उपमानोपमेय भाव को व्यङ्ग्य मानते हैं।

इस प्रकार के अप्राकरणिक अर्थ के विषय में पण्डितराज का भी करीब करीब यही विचार है, हाँ वे उपमानोपमेयभाव के व्यङ्ग्य की जगह रूपकालङ्कार को व्यङ्ग्य मानते हैं, परन्तु योगरूढ व यौगिकरूढि स्थलों में वे अवश्य अप्रस्तुत अर्थ को व्यञ्जना व्यापार का विषय मानते हैं। जैसा कि उनका कहना है—

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥

अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा प्रस्तुतवाच्यार्थ का जहाँ उपस्कार होता है, उसे समासोक्ति कहते हैं। ठीक इसके विपरीत प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ का अप्रस्तुत वाच्य के द्वारा जहाँ उपकार हो उसे अप्रस्तुत प्रशंसा कहते हैं। अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ के द्वारा जहाँ प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप हो, उसे अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलङ्कार कहते हैं।

"अप्रस्तुतस्याप्रकृतस्य प्रशंसा वर्णना, अभिधानं या, सा यदि प्रकृतार्थप्रत्ति-पत्तिपरा चेत् अथवा प्रकृताश्रया चेत् तदा अप्रस्तुतप्रशंसा नामकोऽलङ्कारः ।"

अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रशंसा का अर्थ केवल वर्णन है न कि स्तुति (अन्यथा) यदि स्तुति अर्थ यहाँ ग्रहण किया जायेगा तब तो "धिक् तालल्योन्नतताँ यस्य छायाऽपि नोपकाराय" इत्यादि में ।

बड़े हुए तो क्या हुए जैसे पेड़ खजूर ।
पन्थी को छाया नहीं, फल लागें अति दूर ।।

इत्यादि में अप्रस्तुत प्रशंसा की अव्याप्ति होगी, अर्थात् उक्त लक्ष्यैकदेश में अप्रस्तुत प्रशंसा के लक्षण की प्राप्ति नहीं होगी । अतः प्रशंसा शब्द यहाँ केवल वर्णन परक है ।

अप्रस्तुत प्रशंसा में कवि की विवक्षा प्रधानतया प्रकृतव्यङ्ग्यार्थ परक होती है, न कि अप्रकृत वाच्यार्थपरक । अप्रकृत वाच्यार्थ द्वारा वह कभी ऐसे अच्वेन नदी चेत् तडाग वृक्ष वापी आदि अथवा पशुपक्ष्यादि को सम्बोधित करता है, जिसका पर्यवसान या तात्पर्य किसी चेतन् प्राणी की ओर होता है । प्रकृताप्रकृत का बिचार यहाँ प्रकरण द्वारा किया जाता है ।

इस अप्रस्तुत व प्रस्तुत में कहीं सामान्य-विशेषभाव रहता है, और कहीं कार्यकारणभाव रहता है, इसमें भी ये दो दो भेद होते हैं, सामान्य से विशेष ब विशेष से सामान्य, कार्य से कारण व कारण से कार्य, अप्रस्तुत व प्रस्तुत में सारूप्य सम्बन्ध—यही पाँच भेद अप्रस्तुत प्रशंसा के होते हैं, जैसा कि रुय्यक ने अपने अलंकार सर्वस्व नामक ग्रन्थ में लिखा है—

इहाप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तमप्रस्तुतत्वात्, प्रस्तुतपरत्वे तु कदाचित्तद् युक्तं स्यात्, न चाऽप्रस्तुतासम्बन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः अतिप्रसङ्गात् । सम्बन्धे तु भवन्ती न त्रिविधसम्बन्धमतिवर्तते । तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वोपपत्तेः । त्रिविधश्च सम्बन्धः—सामान्यविशेषभावः, कार्यकारणभावः, सारूप्यं चेति ।

और किसी अवस्था विशेष में उक्त अलंकार में अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त की छटा भी सुतरां अवलोकनीय है; अर्थात् जब उक्त कार्यकारणभाव और सामान्यविशेषभाव वाच्यत्व की दशा में रहता है तब अर्थान्तरन्यास अलंकार कहलाता है और जब अप्रस्तुत व प्रस्तुत का सारुप्य वाच्य रहता है, तब वह दृष्टान्त अलंकार कहलाता है । स्वयं रुय्यक ने इस बात को अलंकार-सर्वस्व में कहा है—

"तदत्र सामान्यविशेषत्वेन, कार्यकारणत्वेन, सारूप्येण च यद् भेदपञ्चक-मुद्दिष्टं तत्र द्वयोः सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा वाच्यत्वं भवति,

तदार्थान्तरन्यासाविर्भावः । सरूपयोस्तु वाच्यते दृष्टान्तः । अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वथाऽप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः" ।

पण्डितराज ने भी अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच ही भेद स्वीकार किये हैं--

"इयं च पञ्चधा—अप्रस्तुतेन स्वसदृशं प्रस्तुतं गम्यते यस्यामित्येका, कार्येण कारणमित्यपरा । कारणेन कार्यमिति तृतीया । सामान्येन बिशेष इति चतुर्थी । विशेषेण सामान्यमिति पञ्चमी ।"

इसका स्पष्ट निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है —

(1) अप्रस्तुत व प्रस्तुत का सारूप्य निबन्धन ।
(2) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की व्यञ्जना ।
(3) अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की व्यञ्जना ।
(4) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की व्यञ्जना ।
(5) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की व्यञ्जना ।

पण्डितराज का अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण रसगङ्गाधर में भी इस प्रकार है—

"अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते साप्रस्तुतप्रशंसा ।"

जहाँ सादृश्यादि (उक्त या) वक्ष्यमाण प्रकारों में से किसी एक प्रकार से अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार प्रशंसित हो, उसे अप्रस्तुत प्रशंसा कहते हैं ।

अप्रस्तुत के सारूप्य द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति का उदाहरण--

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः,
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिनन्नुपमशिखानां पुनरयं,
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः ॥

मद से मलिन गण्डस्थलवाले गजगण दिगन्तवासी हैं, ऐसा सुना जाता है, बेचारी हथिनियाँ दया की पात्र हैं, और ये मृग समानशीलवाले नहीं हैं, उन पर आक्रमण कैसे किया जाय ? इस समय इस संसार में यह सिंह अनुपम नोंकोवाले अपने नखों के पाण्डित्य को किस पर प्रकट करे ।

उक्त पद्य में अप्रस्तुत सिंह के वृत्तान्त से तत्सदृश किसी पुरुष विशेष का यह वृत्तान्त प्रतीत हो रहा है, अतः यह सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण है ।

और भी इसी प्रकार का उदाहरण है—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले,
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥

जिसकी अवस्था (जीवन) पहिले मानसरोवर के खिले हुए कमलों के पंक्ति से गिरते हुये पराग से सुरभित जल में व्यतीत हुई, वह हंसों के कुल का अधिपति अब अनेक (झुण्ड के झुण्ड) मेंढकों से गन्दे तलैय्या के जल में कहो कैसे जीवन बितावे ?

उक्त पद्य में अप्रस्तुत मराल के वृत्तान्त से तत्सदृश स्थान भ्रष्ट किसी पुरुष-विशेष की प्रतीति होती है। अतः यह सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। इसी प्रकार अन्य भेदों को भी समझना चाहिए। पण्डितराज ने प्राचीनों के अनुरोध से ही उक्त पाँच भेद अप्रस्तुत प्रशंसा के माने हैं। उनके स्वयं के विचार से तो इसके और भी भेद हो ककते हैं। जैसे स्थलविशेष में दोनों वृत्तान्त प्रस्तुत भी हो सकते हैं। यदि **"मलिनेऽपि रागपूर्णाम्"** इत्यादि पद्य को जलक्रीड़ा वर्णन परक माना जाय तो, यह भी एक नवीन भेद हो सकता है, जिसकी चर्चा प्राचीनों ने नहीं की है। परन्तु यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा इस शब्द का जो अर्थ है, वह सार्थक नहीं होगा, यदि ऐसी आशंका की जाय, तो अप्रस्तुत शब्द का यहाँ मुख्य तात्पर्य विषयीभूतातिरिक्त अर्थ ही लिखा जायेगा। वह कहीं अत्यन्त अप्रस्तुत रहेगा और कहीं प्रस्तुत। यदि यह आशंका की जाय कि प्रस्तुत व अप्रस्तुत के इस प्रकार के अर्थों में उक्त अलंकार को ही मानने से तो फिर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का ही उच्छेद हो जायेगा, तो इसके समाधान में यह कहा जाता है कि सादृश्यादि में अन्यतम के प्रकार रहने पर ही उक्त अलंकार होगा, तदतिरिक्त में तो ध्वनि ही होगी।

"अथात्र कथमप्रस्तुतप्रशंसा ? वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वेन तल्लक्षणानालीढतवादिति चेत्? न, अप्रस्तुतशब्देन हि मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो विवक्षितः। स च क्वचिदत्यन्ताप्रस्तुतः क्वचित् प्रस्तुतश्चेति न कोऽपि दोषः। न च ध्वनिमात्रस्याप्रस्तुतप्रशंसात्वापत्तिरिति वाच्यम्। अतएव तत्र सादृश्यान्यतमप्रकारणेति विशेषणमुपात्तमिति विभावनीयम्।"

पर्यायोक्त

अप्रस्तुत प्रशंसा के बाद अब पर्यायोक्त अलंकार का निरूपण करते हैं, प्राचीन व नवीन सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से उक्त अलकार का निरूपण किया है। प्राचीन आलंकारिकों की दृष्टि में इस अलंकार का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि

ध्वनिकाव्य का जो चमत्कार समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा आदि व्यङ्ग्यार्थ समन्वित अलंकारों में नहीं समा सका वह सब पर्यायोक्त के अन्दर उन्होंने समेटना चाहा, अतः प्राचीनों का पर्यायोक्त अलंकार ध्वनिवादियों के ध्वनिकक्षा तक पहुँचने की क्षमता रखता था, प्रायः वस्तु ध्वनि के यावत् चमत्कार को प्राचीन आचार्य पर्यायोक्त में ही गतार्थ कर लेते थे। इसी प्रसङ्ग में पण्डितराज की यह तथ्योक्ति भी सुतरां माननीय है—

"इदं तु बोध्यम्—ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहभट्टोद्भट प्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दाः न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्यादुनिकानां वाचोमुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्ति व्याजस्तुति अप्रस्तुत प्रशंसाद्यलंकारनिरुपणेन क्रियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरुपिताः। अमरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्चः पर्यायकक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतं शक्यते। ध्वन्यादि शब्दैः परं व्यवहारो न कृतः, न सन्येतावताऽनङ्गीकारो भवति। प्राधान्यादलंकारो हि ध्वनिरलंकारस्य पर्यायस्य कुक्षौ कथंकारं निविशतातु विचारान्तरम्।"

इसी प्रकार प्रस्तुत पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण व स्वरूप में भी शनै-शनै परिवर्तन आता रहा। अलंकारवादियों ने इसका निरूपण अपनी दृष्टि से किया तथा बाद में ध्वनिवादियों ने इसके स्वरूप का संस्कार अपनी दृष्टि से किया।

प्राचीन लक्षण के अनुसार उक्त अलंकार में ध्वनि के चमत्कार को अंतर्मुक्त करने की पूर्ण क्षमता है जैसा कि आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श नामक ग्रन्थ में इसका लक्षण किया—

"अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥[1]

अर्थात् विवक्षित (व्यङ्ग्यार्थ) को साक्षात् शब्द द्वारा न कहकर उसके वैचित्र्य की सिद्धि के लिए जो प्रकारान्तर से कथन है, उसी को पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं।

अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोकलोचन में इस प्रकार का लक्षण उक्त अलंकार का प्रस्तुत किया है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

---

1. विवक्षितमर्थम् (इष्टमर्थम्) साक्षात् स्ववाचकपदेन अकथयित्वा (वैचित्र्य विशेषाय) प्रकारान्तरेण कथनं पर्यायोक्तम्। (काव्य प्र० वामनी टीका)

इसकी व्याख्या करते हुए, उन्होंने लिखा है कि—

"अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद् यदभिधीयते, तदभिधीयमानमुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमित्यभिधीयते, इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम् ।"

इस प्रकार अभिनवगुप्त तक पहुंचते पहुँचते उक्त अलंकार के स्वरूप व व्याख्या में कुछ परिवर्तन आ गया । यह परिवर्तन ध्वनिवादियों के क्षेत्र में उचित भी है, क्योंकि उन्होंने तो ध्वनि की ही सार्वभौमप्रतिष्ठा का ख्याल करना था, व्यङ्ग्योपलक्षित उक्त अलंकार के अभिधान परक व्याख्या करना स्वाभाविक ही था । आगे मम्मट ने भी अभिनवगुप्त के ही मार्ग का अनुसरण किया, पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण की व्याख्या में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि व्यङ्ग्य के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया गया है उसी का प्रकारान्तर से अभिधान या कथन पर्यायोक्त है ।

वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत् प्रतिपादनं तत् पर्यायेण, भङ्ग्यन्तरेण कथनात् पर्यायोक्तम् ।

उक्त मम्मट की व्याख्या का ही संक्षिप्तीकरण स्वरूप रुय्यक के अलंकार सर्वस्व में भी मिलता है—

"गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्"

परन्तु रुय्यक ने इसका विवेचन बड़ी सुन्दर युक्ति से किया है । रुय्यक का कहना है कि जो वस्तु गम्य है उसी का अभिधान यदि पर्यायोक्त है तो फिर कोई भी वस्तु या अर्थ एक ही समय में गम्य और वाच्य दोनों कैसे हो सकती हैं । इसी लिए गम्य अर्थ का वाच्यरूप में अभिधान एक वैचित्र्य है, जैसे कि यदि कारणरूप प्रस्तुत अर्थगम्य है तो उसे कार्यरूप में अभिहित किया जा सकता है । यही अभिधान-वैचित्र्य पर्यायोक्त की रूपरेखा है ।

"यदेव गम्यं तस्यैवाभिधाने पर्यायोक्तम्, गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत्, गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्याभावात् । नहि तस्यैव तदैव तयैव विच्छित्त्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च सम्भवति, अतः कार्यमुखद्वारेणाभिधानम् ।"

कार्य द्वारा कारणरूप व्यङ्ग्यार्थ का अभिधान का उदाहरण रुय्यक ने यह दिया है—

स्पष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥

हयग्रीव के सैनिकों ने, नन्दन वन के पारिजात के वृक्ष की उन मञ्जर्यों का बड़ी अवहेलनापूर्वक स्पर्श किया, जिनसे इन्द्राणी अपने केशों का शृङ्गार करती थी ।

यहां हयग्रीव ने स्वर्ग जीत लिया है, इस व्यङ्ग्यार्थरूप कारण को उक्त सावज्ञापूर्वक स्पर्शरूप कार्यद्वारा वर्णित किया है ।

इस प्रकार के कार्यमुख के द्वारा कारण के अवगमन को अप्पय्यदीक्षित ने "प्रस्तुतांकुर" माना है । मम्मट, रुय्यक आदि प्रस्तुताङ्कुर नामक अलंकार को नहीं मानते हैं । दीक्षित का पर्यायोक्त का लक्षण इस प्रकार है—

पर्यायोक्तं तु गम्यस्या वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम् ।

इसकी व्याख्या करते हुए, वे लिखते हैं कि—

"यदेव गम्यं विवक्षितं तस्यैव भङ्ग्यन्तरेण विवक्षितरूपादपि चारुतरेण केन-चिद्रूपान्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् ।

अर्थात् पर्यायोक्त अलंकार वहाँ होता है, जहाँ विवक्षित गम्य अर्थ की प्रतीति के लिए उस विवक्षित अर्थ का भङ्ग्यन्तर से अर्थात् विवक्षितरूप से भी अधिक सुन्दर (चमत्कार युक्त) किसी अन्य प्रकार से अभिधान किया जाय, (अर्थात् वाच्यवाचक वृत्ति द्वारा जिसका प्रतिपादन किया जाय) ।

इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है—

"नमस्तस्यै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ" ।

उस भगवान विष्णु को नमस्कार है, जिसने राहु (दैत्य) की स्त्री के कुचों को व्यर्थ कर दिया ।

यहाँ कवि यद्यपि भगवान वासुदेव के असाधारण रूप का वर्णन कर सकता था किन्तु उस वासुदेवत्व के असाधारण रूप का वर्णन न कर, राहुवधु के कुचों को व्यर्थ बना देने रूप अन्य अर्थ के द्वारा उन्हीं विष्णु का भङ्ग्यन्तर से अभिधान किया गया है ।

पण्डितराज का पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण इस प्रकार है—

"विवक्षितस्य-अर्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम्" ।

अर्थात् विवक्षित अर्थ का किसी दूसरी शैली के द्वारा प्रतिपादन पर्यायोक्त अलंकार है । भङ्ग्यन्तर का अर्थ है, कवि विवक्षित अर्थ का भिन्न प्रकार से अभिधान करना, अर्थात् कवि विवक्षित या कवि का अभीष्ट जो व्यङ्ग्यार्थ है, उसी का प्रकारान्तर से या और अधिक चमत्कारपूर्ण ढङ्ग से अभिधा द्वारा प्रतिपादन करना ।[1] (अथवा किसी विवक्षित अर्थ का आक्षेप करना[2])

---

1. येन रूपेण बिवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो भङ्ग्यन्तरम् ।
2. आक्षेपो वा ।

उदाहरण

त्वां सुन्दरीनिवहनिष्ठुरधैर्यगर्व-
निर्वासनैकचतुरं समरे निरीक्ष्य ।
केषामरिक्षितिभृतां नवराज्यलक्ष्मीः
स्वामिव्रतात्वमपरिस्खलितं बभार ॥

किसी राजा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि—हे राजन् ! सुन्दरी समूह के निर्दयतापूर्ण धैर्य गर्व को (हम किसी भी पर पुरुष को देखकर विचलित नहीं हो सकती है इस गर्व को) दूर करने में अद्वितीय चतुर आपको युद्ध में देखकर, किन शत्रुभूत राजाओं की नवीन राजलक्ष्मी ने अखण्डित पातिव्रत्य को धारण किया ? अर्थात् किसी ने भी नहीं, युद्ध में अभिनव राजलक्ष्मी आपको देखकर उनको त्याग ही देती है और आपको अपना लेती है ।

उक्त पद्य में कवि का विवक्षित अर्थ है, "शत्रुराजाओं की समग्र राजलक्ष्मी आपको प्राप्त हो गई ।" परन्तु इसी को प्रकारान्तर से, इस रूप में कहा गया है, युद्ध में आपको देखकर शत्रुराजाओं की राजलक्ष्मी का पातिव्रत्य खण्डित हो गया, जो कि अधिक सुन्दर हैं ।

इस प्रकार के कथनप्रकार की पर्यालोचना करने पर एक ही विषय में पर्यायोक्त के अनन्त प्रकार हो सकते हैं । जैसे **"इह भवद्भिरागन्तव्यमिति" विषये, अयं देशोऽलङ्कर्तव्य इति । "पावित्रीकर्तव्य इति ।" "सफलजन्या कर्तव्य इति" प्रकाशनीय इति ।" "देशस्यास्य भाग्यान्युज्जीवनीयानि इति ।" तमांसि तिरस्करणीयानि इति ।" अस्मन्नयनयोः सन्तापो हरणीय इति" मनोरथ पूरणीय इति"** । इत्यादि—अनेक प्रकार से पर्यायोक्त का प्रतिपादन हो सकता है ।

व्याजस्तुतिः

"व्याजेन स्तुतिः" इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास से अथवा "व्याजरूपा: स्तुतिः" इत्यादि कर्मधारय समास के द्वारा भी व्याजस्तुतिः पद बन जाता है । व्याज का अर्थ है कपट । इस प्रकार व्याजस्तुति वह अलंकार है, जिसमें निन्दा रूप वाच्यार्थ से स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ की और स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो ।

इसमें दो अर्थ रहते हैं वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ । यदि वाच्य निन्दा होगी तो उसका स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ में पर्यवसान रहेगा, अथवा वाच्यस्तुति होगी तो उसका निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ में पर्यवसान रहेगा । इसमें दोनों पक्षों में जब वाच्यार्थ बाधित होता है तब उसका पर्यवसान व्यङ्ग्यार्थ में होता है । जैसा कि अलङ्कार-सर्वस्वकार ने व्याजस्तुति के स्वरूप प्रतिपादन के अवसर पर कहा है—

"यत्र स्तुतिरभिधीयमानाऽपि प्रमाणान्तराद् बाधितस्वरूपा निन्दायां पर्यवस्यति, तत्राऽसत्यत्वाद् व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन व्याजस्तुतिः। यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद् बाधितरूपा स्तुतिः पर्यवसिता भवति सा द्वितीया व्याजस्तुतिः व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्या।"

यद्यपि अप्रस्तुतप्रशंसा में भी अप्रस्तुत व प्रस्तुतों का वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ रहता है, परन्तु उनमें सामान्यविशेष कार्यकारण व सारूप्य सम्बन्ध रहता है, जबकि व्याजस्तुति में केवल स्तुतिनिन्दारूप सम्बन्ध वैचित्र्य का ही चमत्कार रहता है, जैसा कि अलङ्कार-सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक में लिखा है—

"स्तुतिनिन्दारूपत्वस्य विच्छित्तिविशेषस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः।"

अप्पय्यदीक्षित ने व्याजस्तुति के चार भेद माने हैं। यदि 'व्याजेनस्तुतिः' यह अर्थ किया जायेगा तो इसका अर्थ होगा निन्दा के द्वारा स्तुति की व्यञ्जना, और यदि व्याजरूपा स्तुति यह अर्थ किया जाये, तब इसके दो भेद होंगे (1) स्तुति के द्वारा निन्दा की व्यञ्जना और (2) स्तुति के द्वारा (अन्य) स्तुति की व्यञ्जना। इसके बाद व्याजनिन्दा नामक फिर एक अलग से अलङ्कार माना है, जिसमें निन्दा से निन्दा की व्यञ्जना मानी गई है। कुवलयानन्द में इनके लक्षण इस प्रकार दिये हैं—

"उक्ति व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।"

प्रथम निन्दा के द्वारा स्तुति का उदाहरण

"कः स्वर्धुनि विवेकस्ते पापिनो नयसे दिवम्।"

हे गङ्गे ! यह तेरी कौन सी बुद्धिमत्ता है, जो कि तू पापियों को स्वर्ग पहुंचा देती है।

यहाँ "तुझे बिल्कुल समझ नहीं है," इस निन्दा द्वारा इस अर्थ की व्यञ्जना कराई गई है कि "गङ्गा पुण्यशालियों की तरह पापियों को भी स्वर्ग पहुंचा देती है।

द्वितीय स्तुति के द्वारा निन्दा की अभिव्यक्ति का उदाहरण यह है—

साधु दूति पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि॥

यहाँ 'साधु' इति इत्यादि के द्वारा "तूने मेरे लिये बड़ा कष्ट पाया" इत्यादि वाच्य स्तुति के द्वारा दूति के कर्त्तव्य विरुद्ध आचरण की निन्दा की गई है।

निन्दा से स्तुति की व्यञ्जना का उदाहरण

कस्ते शौर्यमदो योद्धुं त्वय्येकं सप्तिमास्थिते।
सप्तसप्तिसमारूढा भवन्ति परिपन्थिनः॥

कोई कवि किसी राजा से कहता है कि—हे राजन्, ! तू अपने शौर्य का

गर्व क्यों करता है, तुम्हारा शौर्यमद व्यर्थ है, जब तू युद्ध के लिये एक घोड़े पर सवार होता है, तो तेरे शत्रुराजा सात घोड़ों पर सवार हो जाते हैं।

यहाँ वाच्यार्थ से उक्त राजा की निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु कवि का अभीष्ट अर्थ है—ज्यों ही तुम युद्ध के लिये घोड़े पर सवार होते हो, त्यों ही तुम्हारे शत्रु "सप्तसप्ति" में आरूढ़ हो जाते हैं, अर्थात् युद्ध में वीरगति को प्राप्त कर सूर्य-मण्डल का भेदन करते हैं, अतः तुम्हारी वीरता को धन्य है। इसी प्रकार स्तुति के द्वारा निन्दा की व्यञ्जना का उदाहरण—

"अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतं,
देवेत्थं जगतीतले, स्मरहराभावे समुन्मीलति।
गङ्गा सागरमम्बरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलम्,
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वाम्, मां च भिक्षाटनम्" ॥

कोई निर्धन कवि किसी राजा की कृपणता की निन्दा कर रहा है—हे राजन्, ! शिवाजी के शरीर का जब आधा भाग दैत्यों के शत्रु विष्णु भगवान् ने छीन लिया, और बाकी आधा भाग पार्वती ने ले लिया, तब यह संसार कामदेव के शत्रु शिव से रहित हो गया, शिवजी के अभाव में उनकी बची हुई वस्तुयें भी दूसरे लोगों के पास चली गई, गङ्गा समुद्र में चली गई, चन्द्रमा की कला आकाश में बस गई, सर्पराज पाताल में घुस गया, (शिव विषयक जो) सर्वज्ञत्व और अधीश्वरत्व था, वह आपके पास आ गया, और शिवाजी का जो भिक्षाटन था वह मेरे पास आया।

उक्त पद्य में राजा शिव के समान सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर है, यह वाच्यार्थ स्तुति है, पर इससे यह निन्दा अभिव्यक्त हो रही है कि "तुम मेरी दरिद्रता जानते हुये भी उसे हटाने का प्रयास नहीं कर रहे हो।

पण्डितराज व्याजस्तुति के केवल दो ही भेद मानते हैं, स्तुति से निन्दा व निन्दा से स्तुति।

"एवं स्थिते कुवलयानन्दकर्त्रा स्तुतिनिन्दाभ्यां वैयधिकरण्येन निन्दास्तुत्योः स्तुतिनिन्दयोर्वाविगमे प्रकारचतुष्टयं व्याजस्तुतेर्यदधिकमुक्तं तदपास्तम्।"

साथ ही साथ वे दीक्षित जी के द्वारा उदाहृत "अर्थ दानववैरिणा" इत्यादि पद्य को भी व्याजस्तुति का नहीं मानते हैं। क्योंकि "साधु दूति !" इत्यादि पद्य में जिस प्रकार "साधुकारिणीत्व," बाधित होकर स्तुतिरूप वाच्य से निन्दारूप व्यङ्ग्य की प्रतीति कराने में समर्थ है। इस प्रकार उक्त पद्य में राजा के लिये प्रयुक्त सर्वज्ञत्व तथा अधीश्वरत्व बाधित नहीं जान पड़ता है, अतः इस पद्य से राजा की उपालम्भरूप निन्दा की प्रतीति नहीं होती है।

"साधु दूति पुनः साधु" इति पद्ये साधुकारिणीत्वमिव नास्मिन्पद्ये सर्वज्ञत्व-मधीश्वरत्वं च विद्युद्भङ्गरप्रतिममिति शक्यं वक्तुम्। उपालम्भरूपाया

निन्दाया अनुत्थानापत्तेः प्रतीतिविरोधाच्चेति सहृदयैराकलनीयं किमुक्तं द्रविणपुङ्गवेनेति ।"

नागेश के उक्त प्रसङ्ग में दीक्षितराज के पक्ष का पोषण किया है, जो रसगङ्गाधर के गुरुमर्मप्रकाश में इस प्रकार है—

"अतिचिरकालं कृतया सेवया दुःखितस्य ततोऽप्राप्तधनस्य भिक्षो राजसेवां त्यक्तुमिच्छत ईदृशवाक्ये वक्तृवैशिष्ट्यादिसहकारेणापातप्रतीयमानस्तुतेर्निन्दापर्यवसायितया विद्युद्भङ्गरप्रतिभत्वमस्त्येवेति सम्यगेवोक्तं द्रविडशिरोमणिना ।"

पण्डितराज का व्याजस्तुति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

"आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः ।"

आपाततः प्रतीत होने वाली निन्दा का स्तुति में पर्यवसान होना और आपाततः प्रतीत होनेवाली स्तुति का निन्दा में पर्यवसान होना ये दोनों ही व्याजस्तुति हैं ।

व्याजस्तुति इस समस्तपद में तृतीया तत्पुरुष व कर्मधारय दोनों समास हो सकते हैं । अर्थात् "व्याजेन स्तुतिः" अथवा "व्याजरूपा स्तुतिः" ये दोनों यौगिक अर्थ व्याजस्तुति के सिद्ध होते हैं । आमुख प्रतीत शब्द से वह बतलाते हैं कि प्रथमतः प्रतीत होने वाली निन्दा या स्तुति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित न होकर बाधित हो जाती है । अत एव व्याजस्तुति अलंकार "ध्वनि काव्य" न होकर केवल अलङ्कार की ही श्रेणी में गिना जाता है । क्योंकि ध्वनि में तो वाच्य अबाधित होता हुआ अपने सामर्थ्य की महिमा से ही अन्यार्थ की प्रतीति कराता है ।

"तृतीयातत्पुरुषकर्मधारयाभ्यां योगार्थद्वयेन द्वयोरपि शब्दार्थत्वम् । आमुखेत्यादिविशेषणेन तयोः पर्यवसानाभावं वदन्बाधितत्वमभिप्रैति । अत एव नास्या ध्वनित्वम् । ध्वनौ हि निर्बाधेन वाच्येनाऽऽगूरणमहिम्नार्थान्तरमवगम्यते, न चैवम्, प्रकृते ।"

और यह भी ध्यान रखना चाहिये कि व्याजस्तुति में एक ही अर्थ किसी रूप में पहिले स्तुति अथवा निन्दा का विषय होकर पश्चात् प्रकरण आदि के प्रभाव से दूसरे प्रकार (लक्षण अथवा आक्षेप) से निन्दा अथवा स्तुति का विषय होता है, उस अर्थ में जितना अंश बाधित रहता है, उतना ही दूसरे रूप में पर्यवसित होता है, अन्य अंश तो अपने स्वरूप में ही यथावत् बना रहता है ।

"अत्र चैक एवार्थः केनचिदाकारेणादौ स्तुतेर्निन्दाया वा विषयो भूत्वा प्रकरणादिमहिम्ना प्रकारान्तरेण निन्दायाः स्तुतेर्वा विषयो भवति । तत्र यावानंशो

बाधितस्तावानेवान्यथात्वेन पर्यवस्यति, अंशान्तरं तु स्वभावेनैवावतिष्ठते।

प्रथम—निन्दा द्वारा स्तुति में पर्यवसित होने वाली व्याजस्तुति का उदाहरण—

"उर्वीं शासति मय्युपद्रवलवः कस्यापि न स्यादिति,
प्रौढं व्याहरतो वचस्तव कथं देव प्रतीमो वयम् ।
प्रत्यक्षं भवतो विपक्षनिवहैर्द्यामुत्पतद्भिः क्रुधा,
यद्युष्मत्कुलकोटिमूलपुरुषो निर्भिद्यत भास्करः ॥

कवि किसी राजा की व्याजस्तुति करता हुआ कहता है कि—हे देव ! मेरे पृथ्वी का शासन करते समय किसी को उपद्रव का लेश भी नहीं होगा, ऐसा दृढ़तापूर्वक कहते हुये आपके वचनों का हम विश्वास कैसे करें? क्योंकि आपके सामने मैं ही स्वर्ग की और उछल कर जाते हुये आपके शत्रुओं द्वारा क्रोध से आपकी कुल-परम्परा का मूल पुरुष सूर्य निर्भिन्न किया जाता है ।

यहाँ राज वर्णन प्रस्ताव में "जिसका मूलपुरुष शत्रुओं के द्वारा निर्भिन्न किया जाता है, उस आपको अपने शासन काल में सबके निरुपद्रव रहने का कथन मिथ्या है" यह आपाततः प्रतीत निन्दा बाधित होकर "आपके शत्रु आपके द्वारा हत होकर स्वर्ग सिधारते हैं" इस तरह की स्तुति में पर्यवसित होती है । फलतः यह पद्य निन्दामुख स्तुतिरूपा व्याजोक्ति का उदाहरण है ।

दूसरा—स्तुति से निन्दा में पर्यवसित होने वाली व्याजस्तुति का उदाहरण—

किमहं वदामि खल दिव्यमते गुणपक्षपातमभितो भवतः ।
गुणशालिनो निखिलसाधुजनान्यदहर्निशं न खलु विस्मरसि ॥

हे दिव्य बुद्धिवाले खल ! तुम्हारे सब ओर से गुणों के प्रति पक्षपात को मैं क्या कहूँ? उसका वर्णन क्या किया जाये? क्योंकि तुम गुणशाली सभी सत्पुरुषों को दिनरात कभी भी नहीं भूलते ।

उक्त पद्य में दुश्चरित्र खल के वर्णन के प्रसङ्ग में शब्दतः प्रतीत स्तुति बाधित होकर, निन्दा में पर्यवसित होती है । अतः यह व्याजस्तुति के द्वितीय प्रकार का उदाहरण है ।

आक्षेपा

विवक्षित अर्थ की विशेष प्रतिपत्ति के लिये जो निषेध किया जाता है, अर्थात् विशेष ज्ञान के लिये वह निषेध न होकर निषेधाभास जैसा होता है, अथवा शब्दतः निषेध होने पर भी अर्थतः उससे विधि की ही जहाँ प्रतीति हो, अतएव उसे

निषेधाभास ही कहते हैं। वही निषेध जब किसी विशेष अर्थ का आक्षेप करता है, तो वह आक्षेपालंकार कहलाता है।

यह निषेध कभी उक्त विषय से सम्बद्ध रहता है और कभी वक्ष्यमाण विषय से सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार यह आक्षेपालंकार दो प्रकार का होता है। आक्षेपालंकार में निषेधाभास के द्वारा किसी विशेष अर्थ की व्यञ्जना कराई जाती हैं। इसी व्यङ्ग्यरूप अर्थ के विषय में आनन्दवर्धनाचार्य की ध्वन्यालोक में यह उक्ति है—

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणो वाच्यस्यैव चारुत्वम्। प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्ति सामर्थ्यादेव ज्ञायते। तत्र शब्दोपारूढयो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य ओक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्। चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।

अर्थात् आक्षेप में भले ही व्यङ्ग्यरूप विशेष प्रतीत हो, किन्तु इस अलंकार की रूपरेखा इस व्यङ्ग्यरूप विशेष में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप विशेष के व्यञ्जक वाच्य वैचित्र्य में ही रहती है, इसीलिये आक्षेपालंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव की कोई आशंका नहीं है।

आचार्य रुय्यक ने अपने अलंकार सर्वस्व में आक्षेपालंकार का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

"उक्त वक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रत्तिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः।"

अर्थात् उक्त व वक्ष्यमाण विषयक प्रकराणिक अर्थों की विशेष प्रतीति के लिये जो निषेध जैसा किया जाय उसे आक्षेप कहते हैं।

उक्त सर्वस्वकार के मत का खण्डन अप्पय्यदीक्षित ने कुवलयानन्द में किया है। आपका कहना है कि कुछ विद्वान् अर्थात् अलंकार-सर्वस्वकार आदि केवल निषेधाभास को ही आक्षेप मान लेते हैं।

निषेधाभासमाक्षेपं बुधा केचन मन्वते।
नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः॥

दीक्षित ने स्वयं आक्षेप का लक्षण इस प्रकार किया है—

"आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।"

अर्थात् जहाँ स्वयं कही हुई बात का, किसी विशेष कारण को सोचकर प्रतिषेध किया जाय, उसे आक्षेपालंकार कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

"चन्द्रसन्दर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम्"

यहाँ प्रार्थित चन्द्र-दर्शन की स्थिति प्रियामुख के अस्तित्व में व्यर्थ है, इस बात का विचार कर "अथवा" इत्यादि के द्वारा निषेध सूचित किया गया है, अतः यह आक्षेपालङ्कार है।

इसी प्रसङ्ग में दीक्षित ने कुछ पद्य विल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरित की प्रस्तावना से उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यन्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति॥
गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेच्छं नास्ति क्षति क्वापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः॥

हे कवीन्द्रो, साहित्यरूपी समुद्र के मन्थन से उत्पन्न काव्य की, जो कानों के लिये अमृत के समान है, उसकी बड़ी सावधानी से रक्षा करो, क्योंकि उस काव्यामृत को लूटने के लिये, कई काव्यार्थचोर दैत्यों की तरह आगे बढ़ रहे हैं। अथवा काव्यार्थ चौरों को काव्यामृत चुराने भी दो, वे सब इसका यथेच्छ ग्रहण करें, इसमें श्रेष्ठ-कवियों की कोई हानि नहीं होती, देवताओं व दैत्यों ने समुद्र से अनेकों रत्नों को ले लिया, पर समुद्र तो आज भी रत्नाकर ही है।

उक्त पद्यों में पहिले कवि ने काव्यार्थ-चौरों से काव्यामृत की रक्षा करने की प्रार्थना की थी, किन्तु जब उसने यह सोचा कि उसके द्वारा काव्य में प्रयुक्त अर्थ वैचित्र्य तो समुद्र की रत्नराशि की तरह अक्षय है, तो उसने अपनी प्रथम उक्ति का निषेध कर इस बात का संकेत किया कि काव्यार्थचौर मजे से उसके अर्थ-वैचित्र्य को चुराते रहें, इससे उसके काव्य की कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि वह तो अनेक रत्नों से भरा है, तथा उसके सौन्दर्य-रत्न का लोप होना असम्भव है।

पण्डितराज ने स्वयं आक्षेप का कोई भी लक्षण नहीं बनाया, प्राचीनों के लक्षणों का अनुवाद ही रसगङ्गाधर में रख दिया। प्राचीन आचार्यों के अनेक लक्षण प्रस्तुत किये है, अपनी तरफ से उन सभी लक्षणों के अनुसार उदाहरण उपस्थित किये हैं। प्रसङ्गवश मतमतान्तरों का खण्डन-मण्डन भी किया है। स्वयं उनका अपने अभिमत कौन सा लक्षण है यह सब पाठकों को रसगङ्गाधर के उक्त प्रकरण के अनुसन्धान से अवगत करना चाहिये। परकीय लक्षणों में सर्वप्रथम लक्षण यह है—

"उपमेयस्योपमानसम्बन्धिसकलप्रयोजननिष्पादनक्षमत्वादुपमानकैमर्थ्यमुपमानाधिक्षेपरुपमाक्षेपः।"

अर्थात् उपमानभूत वस्तु के द्वारा सम्पादनीय सभी प्रयोजनों का सम्पादन करने में उपमेयभूत वस्तु के समर्थन होने पर, उपमानभूत वस्तु की किमर्थता अर्थात् उपमानभूत वस्तु किसलिए है, इस तरह की जिज्ञासा के उत्थान के लिये, जिसे

अन्ततः उपमानभूत वस्तु का तिरस्कार कहा जा सकता है, उसको आक्षेप अलङ्कार कहते हैं। (ऐसा किन्ही आचार्यों का मत है)

इस मत में उदाहरण

अभूदप्रत्यूहः कुसुमशरकोदण्डमहिमा,
विलीनो लोकानां सह नयनतापोऽपि तिमिरैः।
तवास्मिन् पीयूषं किरति परितस्तन्वि वदने,
कृतो हेतो श्वेतो विधुरयमुदेति प्रतिदिनम्॥

किसी सुन्दरि के प्रति किसी चाटुकार की यह उक्ति है—हे तन्वि ! तेरे मुख द्वारा चारों ओर अमृत की वृष्टि होती रहने पर कामदेव के धनुष का माहात्म्य निर्विघ्न हो ही गया, अन्धकारों के साथ साथ लोगों के नेत्रों का ताप भी विलीन हो ही गया, फिर यह उज्ज्वल चन्द्र किसलिए प्रतिदिन उदित होता है।

उक्त पद्य में उपमेय मुख के ही द्वारा कामसाम्राज्य आदि सभी चन्द्रकृत्यों का सम्पादन कर दिये जाने पर उपमान चन्द्र किसलिए ? इस अर्थ की प्रतीति होने से, यह आक्षेपालङ्कार है।

विरोधाभास

विरोधमूलक अलङ्कारों में विरोधाभास या विरोध की गणना की जाती है, जहाँ एक ही आश्रय में परस्पर दो विरुद्ध पदार्थों का आपाततः विरोध दिखलाया जाय, और अन्त में, उसका समाधान भी किया जाय वहाँ विरोधाभास नामक अलङ्कार होता है। यह विरोध जाति, गुण, क्रिया व द्रव्यों के साथ होता है, क्योंकि महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त ये चार ही हैं "**चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः**" इति। अतः जाति का जाति, गुण, क्रिया व द्रव्य के साथ विरोध होगा, और गुण का गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ विरोध होगा, और क्रिया का क्रिया व द्रव्य के साथ विरोध होगा, तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ। इस प्रकार प्राचीनों ने इस विरोधाभास को दस प्रकार का माना है।

इनका फिर दुबारा गुण का जाति और क्रिया का जाति आदि के साथ गणना का विचार नहीं किया गया है। क्योंकि जब एक बार यह मालूम हो गया कि जाति का गुण के साथ विरोध है तो फिर यह प्रतीत हो जाता है कि गुण का भी जाति के साथ विरोध है। इसको पुनः शब्दतः कहना काव्य में दोष है, पुनरुक्ति है, जिसे प्ररूढ कहते हैं, जो बाधित नहीं होता है, अर्थात् अन्त तक दोष बना ही रहता है अतः यह दोष का विषय है। जो दोष या पुनरुक्ति इत्यादि या तज्जन्य विरोध आपाततः प्रतीत होता हो, पर पर्यन्त में उसका परिहार भी हो जाता हो, तो वह "अप्ररूढ़" कहा जाता है। ऐसा दोष इस विरोधाभास अलंकार का विषय है।

इस विषय में आचार्य रुय्यक की अलंकार-सर्वस्व में यह उक्ति बड़ी स्पष्ट है—

"इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं तन्मध्य एव सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधिभ्यां सम्बन्धे विरोधः। स च समाधानं विना प्ररूढो दोषः, सति तु समाधाने प्रमुख एवाभासभानत्वाद् विरोधाभासः"।

अर्थात् जाति गुण क्रिया और द्रव्य इन चतुर्विध पदार्थों का अपने परस्पर सजातीय व विजातीय पदार्थों से सम्बन्ध ही विरोध है। यदि इस विरोध का समाधान न किया जाय तो वह "प्ररुढ़" नामक काव्य दोष है। परन्तु जब इसका समाधान कर दिया जाता है, तो आपाततः प्रतीयमान यह विरोध एक नवीन चमत्कार को उत्पन्न कर देता है, जो कि उक्त अलंकार का मूल है। इसी पर्यन्त में समहित विरोध रूप (दोप) का "अप्ररुढ" है, जिसके बल पर विरोध का आभास सा होता है, न कि विरोध। अतः आभासभान, विरोध एक वैचित्र्य विशेष है, न कि दोषाभाव मात्र।

इसीलिये तो इसके विषय में पण्डितराज ने लिखा है—

"आ ईषद् भासते इत्याभासः, विरोधश्चासावाभासश्चेति। आमुख एव प्रतीयमानो झगिति जायमानाविरोधबुद्धितिरस्कृत इति यावत्।

यद्यपि आपाततः प्रतीयमान विरोध तो विभावना व विशेषोक्ति में भी रहता है, परन्तु उनके विरोध की सीमा सीमित है, अर्थात् उक्त अलंकारों में केवल कार्यकारणभाव विषयक विरोध की प्रतीति होनी है, जबकि विरोधाभास में तो कार्यकारणभाव को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र ही विरोध का आभास होता है। जैसा कि पण्डितराज का कथन है—

"तत्रापि कार्यकारणादिबुद्धयनालीढो विरोधाभासो, विरोधालंकारः। तदालीढस्तु विभावनादिर्वक्ष्यमाणः। सुप्तोऽपि प्रबुद्धः। त्रयोऽप्यत्रयः" इत्यादि वाच्य विरोधाभास के उदाहरण हैं।

इस प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्यों के विचार इस प्रकार है—**"सुप्तोऽपि प्रबुद्धः,"** तथा **"त्रयोऽप्यत्रयः"** इत्यादि उदाहरणों में सुप्त तथा प्रबुद्ध इन दो पदों से प्रथमतः सुप्तत्व (सोया हुआ होना) तथा प्रबुद्धत्व (जगा हुआ होना) इन दो धर्मों की उपस्थिति होती है। साथ ही साथ उन दोनों धर्मों में रहने वाले विरोध की भी स्मृति हो जाती है। क्योंकि "एक सम्बन्धी ज्ञान अपरसम्बन्धी का स्मारक होता है"। इस नियम के अनुसार सम्बन्धी के ज्ञान से तथा अपि शब्द की सहायता से शयितत्व व जागरित्व का परस्पर विरोध भी उपस्थित हो जाता है, तब-तब प्रतिबन्धकज्ञान सामग्री की प्रवलता से अर्थात् **"शयितोजागरिताऽभिन्नः"** इत्याकारक प्रतिबध्य ज्ञान का प्रतिबन्धक ज्ञान होगा **"शयितत्व जागरितत्वे"** इति **"इमौ विरुद्धौ धर्मौ"** अर्थात्

शयितत्त्व जागरितत्त्व ये ज्ञान परस्पर विरुद्ध है, अतः इनमें परस्पर अभेद नहीं हो सकता है।

प्रतिबन्धक सामग्री द्वारा जब इस प्रकार का मानसिक बोध या वैयञ्जनिक बोध हो जाता है, तब "प्रबुद्ध" पदगत द्वितीय शक्ति से स्मारित द्वितीय अर्थ जो कि प्रकृष्टज्ञान युक्त है, उसके साथ अन्वय बोध हो जायेगा, अतः तब वाक्यार्थ बनेगा "सोया हुआ व्यक्ति प्रकृष्ट ज्ञान युक्त है, अर्थात्—शयितः प्रकृष्टज्ञानवदभिन्नः यह शाब्द बोध होगा।

यद्यपि पूर्व प्रक्रिया के अनुसार आपाततः प्रतीत विरोध जो कि अपि के द्वारा अभिहित है शान्त हो जाता है, परन्तु कवि का प्रयास उसी विरोध को प्रदर्शित करने में रहता है, क्योंकि विरोधाभास में वही चमत्कार का मूल है।

नवीन आचार्यों का कहना है कि उक्त **"सुप्तोऽपि प्रबुद्धः"** इत्यादि स्थलों में दोनों अर्थों के उपस्थिति के बिना विरोध की प्रतीति ही नहीं हो सकती है। इसमें प्रथम अर्थ तो केवल विरोध का उल्लासक है और दूसरा अर्थ अन्वयबोध का विषय है। इसमें द्वितीय अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान युक्त का पहिले अर्थ के साथ श्लेषमूलक अभेदाध्यवसान (एक प्रकार का आरोप) हो जायेगा, जिसका अर्थ होगा—सोया हुआ जन, जगे हुए से अभिन्न प्रकृष्ट ज्ञानाश्रय से अभिन्न है। अर्थात् **"शयितः प्रबुद्धाऽभिन्नप्रकृष्टज्ञानाश्रयाभिन्नः"** यह शाब्द बोध होगा।

इस प्रकार अविरुद्ध द्वितीय अर्थ को लेकर अन्वयबोध होने पर भी विरोध का आधारभूत जो प्रथम अर्थ है वह सर्वथा निवृत्त नहीं है और न वह अर्थ शिथिल ही होता है, क्योंकि जब उसका मानस बोध नहीं होगा, तभी चमत्कारोदय भी होगा, यही नवीन तथा प्राचीनों की धारणायें विरोधाभास अलंकार के विषय में हैं।

लक्षणा व विरोधाभास में अन्तर

जिस प्रकार **"सुप्तोऽपि प्रबुद्धः"** इत्यादि स्थलों में प्रथम अर्थ के द्वारा विरोध का उत्थान और द्वितीय अर्थ के द्वारा फिर उस विरोध का शमन या सङ्गति होती है, इसी प्रकार लक्षणा स्थलों में भो **"गङ्गायां घोषः"** इत्यादि उदाहरणों में अभिधा द्वारा विरुद्ध अर्थ का उत्थापन तथा लक्षणा द्वारा पुनः उसकी सङ्गति की जाती है। अतः ऐसे सभी लक्षणा के स्थल भी **"गङ्गायां घोषः, मञ्चाक्रोशन्ति, कुन्ताः प्रविशन्ति"** इत्यादि विरोधाभास अलंकार के ही विषय क्यों न मान लिये जायें। यद्यपि दृष्टान्त व दार्ष्टान्तिक में भेद इसलिये नहीं है कि दृष्टान्त लक्षणा में शक्ति व लक्षणा के बल पर दोनों शक्तियों से अर्थोपस्थिति मानी जाती है, परन्तु विरोधाभास में केवल शक्ति से अर्थद्वय की उपस्थिति होती है। यह वैलक्षण्य अवश्य है, परन्तु

विरोधाभास के लक्षण में यह नहीं कहा गया है कि शक्ति के द्वारा ही अर्थद्वय की उपस्थिति हो। फिर भी उक्त लक्षणा स्थलों में उक्त अलंकार की अतिप्रसक्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि लक्षणास्थलों में विरोध के रहते हुए भी वह विरोध कविसंरम्भ का गोचर नहीं है। जिससे कि उक्त विरोध में उस प्रकार के चमत्कार की प्रतीति हो, अतएव वह अर्थ अलंकार सामान्य धर्म से भी अनन्वित होने से भी उक्त अलंकार का लक्ष्य नहीं बन सकता है।

विरोध में कवि का संरम्भ ही इस ओर रहता है कि उसे असामान्य सौन्दर्य का प्रकाशन हो। रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने उक्त विरोधाभास का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम् एकाधिकरणासम्बद्धत्वभानं वा विरोधः"।

किसी एक आश्रय में वर्णित दो पदार्थों की प्रतीत होने वाली असम्बद्धता, अथवा उस तरह के दो पदार्थों के विषय में प्रतीत होने वाला असम्बद्धता का ज्ञान, विरोध कहलाता है। अर्थात् जो दो पदार्थ एकाश्रय में रहने वाले न हों, पर उनका एकाश्रयत्वरूप में वर्णन करना विरोध कहलाता है।

उदाहरण

कुसुमानि शरा मृणालजालान्यपि कालायसकर्कशान्यभूवन्।
सुदृशो दहनायते स्म राका भवनाकाशमथाभवत्पयोधिः॥

कोई दूती किसी नायक के प्रति नायिका की दशा का वर्णन कर रही है—

उस सुनयना नायिका के लिये पुष्प बाण हो गये, कोमल कमलनालों के समूह लोहे के समान कठोर हो गये, पूर्णचन्द्रमा से युक्त पूर्णिमा की रात अग्नि के समान आचरण कर रही है और घर का आकाश समुद्र बन गया।

उक्त पद्य में पुष्पत्व और बाणत्व इन दो जातियों का, मृणालत्व जाति तथा कठोरतारूप गुण का, और पूर्णिमात्व जाति तथा अग्नि के समान आचरणरूप क्रिया का, पयोधित्व जाति व आकाशरूप द्रव्य का विरोध आपाततः प्रतीत होता है, पर शीघ्र ही विरहिणी के विरहजन्य विकलता का विचार करते ही वह विरोध निवृत्त हो जाता है।

विभावना अलंकार

"विभावयति कारणान्तरं कल्पयतीति"—इस व्युत्पत्ति के द्वारा "विभावना" यह अन्वर्थनामा अलंकार है। अर्थात् प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्योत्पत्ति के

विषय में जहाँ कारणान्तर की कल्पना मूल में, सूक्ष्मरूप में हो ।

यह तो सर्वविदित ही है कि कारणाभाव में कार्य की स्थिति नहीं होती है । तब कारण बिना कार्य का वर्णन करना एक असङ्गत सी बात है । परन्तु काव्यलोक में किसी विच्छित्ति विशेष के लिए कविजन ऐसा वर्णन करते हैं । जहाँ कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन वास्तविक न होकर कविप्रतिमोत्थापित होता है ।

यद्यपि कारण बिना कार्य के वर्णन में आपाततः विरोध परिलक्षित होता है, परन्तु जिसका अभाव कहा गया है, उससे भिन्न कारण की कल्पना से वह विरोध निवृत्त हो जाता है ।

वस्तुतः विभावना अलंकार में जिस कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाता है, उसके कारणरूप में सर्वजन विदित कारण का वर्णन नहीं होता है । प्रसिद्धकारण के अभाव का ही वर्णन मिलेगा । और इसके कामांश में दो वस्तुयें रहती हैं । ये दोनों वस्तुयें अतिशयोक्ति के द्वारा इस तरह एक बना दी जाती हैं, जिस तरह खोवा व मावा के दो पिण्ड मिलाकर एक पेड़ा बन जाता है ।

यहाँ कारण के अभाव में कार्य का होना वर्णित होता है, यह एक विरुद्ध बात है । परस्पर कार्यकारण का बाध्यबाधक भाव होना भी यहाँ निश्चित ही है, ऐसी स्थिति में किसको बाध्य माना जाय और किसे बाधक, इस विषय में पण्डितराज ने प्राचीनों का प्रमाण दिया है—

कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः ।
विभावनायामाभाति, विरोधोऽन्योन्यबाधनम् ॥

अर्थात् कारणाभावरूप निषेध के द्वारा कार्यांश ही यहाँ बाधित रहता है । जबकि विरोधाभास अलंकार में परस्पर एक दूसरे के बाधक रहते हैं । विभावना में कार्यांश के कविप्रतिमोस्थित होने से, रूपान्तर में उसकी परिणति होना सम्भव है और कारणभावरूप अंश स्वभावसिद्ध रहता है । सर्वत्र अतिशयोक्ति ही विभावना की अनुगणिका नहीं होती है । अपितु कहीं-कहीं रूपकालंकार भी इसका अनुप्राणक होता है, ऐसा पण्डितराज का कहना है—

भास्य भूत् सर्वत्र विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका । आहार्यभिदबुद्धि-मात्रमेवानुप्राणकम् । तच्च क्वचिदतिशयोत्या क्वचिच्चरुपकेणेति नो दोषः ।

जैसे निम्नलिखित पद्य में—

निरुपादानसम्भारमभित्तावव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने ॥

अर्थात् भित्ति आदि आधार और स्याही आदि उपकरणों के बिना ही जगत्

रूप चित्र के चितेरे उस श्लाघनीय कलाकार भगवान् शङ्कर को नमस्कार है ।

उक्त पद्य में "जगत्चित्रम्" इस कार्यांश में अध्यवसान नहीं है । अर्थात् चित्ररूप उपमान के द्वारा, जगत्रूप उपमेय का निगरण नहीं हुआ है यहाँ तो जगत्-रूप चित्र की भगवान् से उत्पत्ति अभिप्रेत है, केवल चित्र की उत्पत्ति तो स्याही व विविध रङ्ग, आधारभूत भित्ति इत्यादि उपादानों के अभाव में असम्भव ही है, इसी असम्भव की निवृत्ति के लिए ही जगत् में चित्र का आरोप किया गया है । क्योंकि केवल चित्र के कारणों तथा उसके आधार का अभाव रहे तो कोई बात नहीं, परन्तु जगत् का कारण तो एकमात्र परमेश्वर है ही । इस प्रकार की विभावना उक्त पद्य में रूपक के द्वारा अनुप्राणित है । पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में विभावना अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"कारणव्यतिरेकसमानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिर्विभावना" ।

जिस अधिकरण में जो कारण नहीं है, उस अधिकरण में यदि उस कारण के कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय, तो उस कार्योत्पत्ति को विभावना अलंकार कहते हैं ।

इस प्रकार विभावना अलंकार में कारण के न रहने पर भी जो कार्य का वर्णन किया जाता है । वह यद्यपि आपाततः विरुद्ध मालूम पड़ता है, क्योंकि यह नियम है कि "समान अधिकरण में कारण के रहने पर ही कार्योत्पत्ति होती है" परन्तु यहाँ जिसका अभाव कहा जाता है, उससे भिन्न कारण की कल्पना रहती है । यह प्रतीयमान विरोध भी निवृत्त हो जाता है ।

उदाहरण

विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दारयन्त्यः ।
अनन्तमायामयवल्गुलीला जयन्ति नीलाब्जदलायताक्ष्यः ।।

अनन्तमायामय मनोहर लीलाओं से युक्त, नीलकमलदल के समान विशाल नयनों वाली ये रमणियाँ संसार में सब से उत्कृष्ट हैं जो शस्त्र के बिना ही, विवेक, युक्त युवकों के हृदयों को भी विदीर्ण कर देती हैं ।

उक्त पद्य में शस्त्र के बिना भी किया गया विदारण का वर्णन आपाततः विरुद्ध सा लगता है । पर्यवसान में विदारण के कारणरूप में कामिनी के विलासों की कल्पना कर लेने पर विरोध निवृत्त हो जाता है ।

यहाँ "दारयन्त्यः" इस पद से कार्यांश में कामभावजन्य पीड़ा विशेष का बोध करना कवि को अभीष्ट है । यह "दारि" धातु का लाक्षणिक अर्थ हैं । इसका मुख्य अर्थ है, विदारण करना या दो टुकड़े करना । अब विदारणरूप कार्य के प्रति तो

शास्त्र ही मुख्य रूप से कारण होता है, जिसके अभाव का यहाँ वर्णन है। पर मुख्यार्थ व लक्ष्यार्थ का यहाँ अतिशयोक्ति द्वारा अभेदाध्यवसान किया जायेगा, अर्थात् विदारण व कामपीडाविशेष को अभिन्न मान लिया जायेगा। अब ये दोनों कार्य जब अभिन्न हो जायेंगे, तब एक के कारण को दूसरे का भी कारण समझ लिया जाता है। इसीलिए शस्यरूप कारण के बिना ही जो शस्यरूप कारण के कार्य का वर्णन "विदारण" या "द्विधाभवन" किया गया है, वह विभावना अलंकार है।

"मुख्यं हि दारणं द्विधाभवनम्, गौणं च कामादिजनितपीडाविशेषः। तयोर्गौणमुख्ययोर्दारणयोः सादृश्यमूलेनाभेदाध्यवसानरूपेणातिशयेन सति भेदस्थगने, द्विधाभवनकारणमपि शास्त्रं कामपीडाकारणं सम्पद्यते। तदभावे चात्र कार्याभिन्नतयाध्यवसितस्य पीडाविशेषस्योपनिबन्धनान्न दोषः"।

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति अलंकार ठीक विभावना अलंकार का विपरीत रूप है, अर्थात् विभावना में जहाँ कारण के अभाव में भी कार्य का वर्णन रहता है वहाँ विशेषोक्ति में कारण सामग्री के विद्यमान रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति का अकथन किसी निमित्त की अपेक्षा रखता है। वह निमित्त कहीं अनुक्त रहता है, कहीं उक्त रहता है, और कहीं अचिन्त्य रहता है। इस प्रसङ्ग में अलंकार-सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक का व्याख्यान भी मननीय है—

आपका कथन है कि कोई एक कारण कार्य का जनक नहीं होता है, अपितु कारणसामग्री या कारणों की समग्रता ही कार्य की जनिका है। कारण सामग्रो के रहने पर भी यदि कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है तो समझना चाहिये इसमें कोई न कोई विशेष बात है। इसी विशेष रूप वाच्य-वैचित्र्य की जहाँ उक्ति अभिधान प्रतिपादन हो उसे विशेषोक्ति कहते हैं।

"कारणसामग्र्ये कार्यानुपपत्तिविशेषोक्तिः इह समग्राणि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्ति इति प्रसिद्धम्। अन्यथा समग्रत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात् यत्तु सत्यपि सामग्र्ये न जनयति कार्यं सा किञ्चिद् विशेषमभिव्यक्तुं प्रयुज्यमाना विशेषोक्तिः"।

विशेषोक्ति की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

"विशेषं कञ्चित् प्रतिपादयितुमुक्तिः, विशेषोक्तिः"।

अर्थात् कारण सामग्री के सद्भाव में कार्योत्पत्ति के अभाव में निमित्तरूप से किसी विशेष वैचित्र्य की उक्ति जहाँ हो उसे विशेषोक्ति अलंकार कहते हैं। विभावना व विशेषोक्ति ये दोनों विरोधगर्भ कार्यकारणभावमूलक अलंकार है।

विभावना में जहाँ कारणाभाव से कार्योत्पत्ति अंश में चमत्कार पाया जाता है, वहाँ विशेषोक्ति में कारण सामग्री के सद्भाव में भी कार्यानुत्पत्ति अंश में चमत्कार पाया जाता है ।

ये दोनों अलंकार शाब्द तथा आर्थ होते हैं । जिनकी चर्चा पण्डितराज ने अपने रसगङ्गाधर में की है । आपका कहना है जहाँ कारणाभाव व कार्याभाव का प्रतिपादन इनके "प्रतियोगी" के वैशिष्टय के प्रतिपादन पूर्वक अर्थात् शब्दतः किया जाता है वहाँ ये अलंकार शाब्द होते हैं । और जहाँ उन प्रतियोगियों के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन शब्दतः नहीं होता है, वहाँ ये अर्थ होते हैं ।

जैसे "**यः कौमारहरः स एव हि वरः**" इत्यादि में । वरोपकरणादि के अनुपयुक्तत्वरूप कारण के अभाव में उत्कण्ठारूप कार्य के वर्णन से विभावना अलंकार है, और उपयुक्तत्वरूप कारण की समग्रता में भी अनुत्कण्ठारूप कार्य के अभाव में विशेषोक्ति है । यहाँ कार्यकारणों का अभाव कथन आर्थिक होता हुआ भी शब्दतः प्रतिपादित नहीं है । यदि पूर्वोक्त परोपकरकादिकों का नञादि पदों के द्वारा शब्दतः किया जाय स एव हि की जगह "सः पूर्वोपयुक्त एव न इति न" ऐसा कर दिया जाय, और "चेतः समुत्कण्ठते" की जगह "चेतः अनुत्कण्ठितं न" ऐसा कर दिया जाय, तब विभावना व विशेषोक्ति की स्फुटता प्रतीत हो, विभावना विशेषोक्ति इस आर्थिकसद्भाव, और शब्दतः अप्रतिपादन के ही कारण मम्मट का यह कथन "**अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः**" **इति, ठीक ही है ।**

"कारणाभावकार्याभावयोर्यत्र प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्येन श्रुत्या प्रतिपादनं तत्र विभावनाविशेषोक्त्योः शाब्दत्वम् ।.....अनुमेयचार्थं मनसिकृत्यमम्मटभट्टैः "यः कौमारहरः" इति पद्यमुदाहृत्योक्तम् "अत्र स्फुटो न कश्चिद्लंकार इति" ।

पण्डितराज ने विशेषोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

"प्रसिद्धकारणकलापसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः" ।

जिस कार्य का प्रसिद्ध कारण समुदाय वर्तमान हो फिर भी यदि उस कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन हो तो वहाँ विशेषोक्तिनामक अलंकार होता है । इस अलंकार में यद्यपि यह विरोध आयाततः झलकता है कि कारण के रहने पर भी कार्य नहीं होता है । परन्तु अप्रसिद्ध उस कारण के अभाव कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, इस रहस्य को जान लेने से विरोध की निवृत्ति हो जाती है ।

उदाहरण

उपनिषदः परिपीता गीतापि च हन्त मतिपथं नीता ।
तदपि न हा विधुवदना मानससदनाद् बहिर्याति ।।

पूर्णतया उपनिषदों का पान कर लिया, और गीता को भी बुद्धि पथ में गाया तथापि खेद है कि मनमन्दिर से चन्द्रमुखी नहीं निकलती है ।

उक्त पद्य में—उपनिषद् तथा गीता शास्त्र के अर्थों के विचाररूप प्रसिद्ध विराग के कारण के रहने पर भी विरागरूपकार्य की अनुत्पत्ति वर्णित हुई है ।

उक्त विरागरूप कार्य की अनुत्पत्ति में निमित्त है प्रतिबन्धकाभावरूप कारण का अभाव, अर्थात् उक्त विराग कारणों से अतिरिक्त रागाधिक्यरूप प्रतिबन्धक का अभाव भी विराग की उत्पत्ति में एक हेतु है, जो यहाँ नहीं है, अपितु रागाधिक्यरूप प्रतिबन्धक ही है । अतः विराग की उत्पत्ति नहीं हुई । यद्यपि यह प्रतिबन्धक शब्दतः यहाँ उपात्त नहीं है तथापि अन्य कारणों के रहते हुये भी जब कार्य की उत्पति नहीं हुई, तब उक्त प्रतिबन्धक की सत्ता की प्रतीति अर्थात् हो जाती है ।

असंगति

असङ्गति विरोध मूलक अलङ्कारों में अन्यतम है, यद्यपि विभावना विशेषोक्ति व विरोधाभास में भी कार्यकारण का विरोध रहता है, जैसा कि विभावना विशेषोक्ति में प्रसिद्धाप्रसिद्ध कार्यकारणभाव को लेकर विरोध होता है, और विरोधाभास में एकाधिकरण में अवस्थित न होने वाले विभिन्न पदार्थों के एकाधिकरण प्रयुक्त विरोध होता है । परन्तु असङ्गति में तो एकाधिकरण में प्रसिद्ध जो कार्यकारणभाव है, उसका विरूद्ध अधिकरण या भिन्न-भिन्न देशों के वर्णन में जो असङ्गति है उसी को लेकर उस अलङ्कार का वैचित्र्य दिखलाया जाता है ।

जैसा कि आचार्य रुय्यक का कथन है—

"तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः" । तयोरिति कार्यकारणयोः । यद्देशमेव कारणं, तद्देशमेव कार्यं दृष्टम्, न हि महानसस्थो वह्निः पर्वतस्थं धूमं जनयति । यदा तु अन्यदेशस्थं कारणमन्यदेशस्थं वा कार्यमुपनिबध्यते तदोचितसंगतिनिवृत्तेरसङ्गत्याख्योऽलंकारः" ।

अर्थात् लोक में यही देखा जाता है कि जिस प्रदेश में या जहाँ कारण रहता है, वहीं कार्य की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा नहीं होता है कि रसोईघर की आग से पर्वतीय धूम की उत्पत्ति हो, परन्तु जब कवि कार्य व कारण की स्थिति वैयधिकरण्यपूर्वक बतलाता है, अर्थात् भिन्न भिन्न देशों में कार्य व कारण की स्थिति का वर्णन करता है, तब अवश्य कुछ न कुछ वैचित्र्य का विन्यास वहाँ करना चाहता है, यह तभी हो सकता है, जब वह लोकसामान्य स्थिति से उठकर उसका वर्णन करता है, अतएव इस वैयधिकरण्यप्रयुक्त वैचित्र्य से ही वह अलङ्कार चमत्कार का आधान करता है, इसीलिये इस वैयधिकरण्य वर्णन विशेष को असङ्गति अलंकार कहते हैं ।

असङ्गति में रुय्यक ने विरोध परिहार के लिये अतिशयोक्ति का होना आवश्यक बतलाया है। अर्थात् भिन्न भिन्न देश में स्थित कार्य-कारणभाव के अवस्थान में जो विरोध की सम्भावना है, उसका समाधान अभेदाध्यवसानरूपा अतिशयोक्तिद्वारा किया जा सकता है। इसको और स्पष्ट कहते हुये विमर्शिनीकार का कथन है कि—

"अनेनातिशयोक्तिरस्याप्यनुप्राणकत्वेन कटाक्षिता, अन्यथा हि विरोधो दुष्परिहरः स्यात्।"

परन्तु पण्डितराज असङ्गति के लिये अतिशयोक्ति को उतना आवश्यक नहीं मानते हैं, जितना कि "अभेदाध्यवसान" को, जोकि श्लेषमूलक हो—

"न हि "मुच्यन्ते बन्धनात् केशा" इत्यत्र केशबन्धनमुक्त्यंशेऽतिशयोक्तिरस्ति, किन्तु श्लेषभित्तिकाऽभेदाध्यवसानमात्रम्, तस्मात् येन केनापि प्रकारेण कार्यांशेऽभेदाध्यवसानमावश्यकमिति तु सङ्गतम्"।

पण्डितराजनिर्मित असङ्गति का लक्षण —

"विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसङ्गतिः"

कारण और कार्य की उस भिन्नदेशता को असङ्गति कहते हैं जो आपाततः विरुद्ध प्रतीत होती हो।

उदाहरण

अङ्गैः सुकुमारतरैः सा कुसुमानां श्रियं हरति।
प्रहरति च कुसुमबाणो जगतीतलवर्तिनो यूनः॥

वह (वर्णनीय नायिका) अपने अत्यन्त कोमल अङ्गों से पुष्पों की श्री-शोभा (सम्पत्ति) का हरण करती है और कुसुमायुध-कामदेव पृथिवी तल पर रहने वाले युवकों पर प्रहार करता है।

उक्त पद्य में शोभा का हरणरूप अपराध नायिका करती है, परन्तु प्रहार-ताडनरूप कार्य होता है जगतीतल के युवकों पर, जहाँ अपराधरूप हेतु है वहीं उसका ताडनरूप कार्य भी होना चाहिये परन्तु अपराध रूप हेतु का अधिकरण है नायिका और ताडनरूप कार्य का अधिकरण है युवजन। इस प्रकार विरुद्ध अधिकरण का आपाततः ज्ञान होता है। पर्यन्त में तात्पर्य यह है कि नायिका के शोभा विशेष की भावना से युवकों को कामपीडा होती है, इस अर्थ का अनुसन्धान होने पर उक्त विरोध निवृत्त हो जाता है, क्योंकि अब शोभा विशेष ज्ञानरूप कारण और कामपीडा रूप कार्य दोनों की समानाधिकरणता हो जाती है, और कामपीडारूप विषय में अपराधनिमित्तक ताडन का भी अभेदाध्यवसान होता है इस प्रकार असङ्गति में अभेदाध्यवसान अनुप्राणक है और विरोधाभास उत्कर्ष है।

श्लेषनिमित्तक अभेदाध्यवसान का उदाहरण

दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्तं श्रुत्यन्तपरिशीलनी ।
मुच्यन्ते बन्धनात्केशा विचित्रा वैधसी गतिः ।।

मृगनयना इस नायिका की दृष्टि श्रुत्यन्त (वेदान्त) कानों के छोर तक का परिशीलन-अभ्यास व स्पर्श करने वाली है और वन्धन से मुक्त होते हैं केश । यह विधाता की विचित्र गति है ।

इस पद्य में श्रुत्यन्त-परिशीलन कारण है, और बन्ध-मुक्ति कार्य है, परन्तु जिस अधिकरण में श्रुति का परिशीलन हो रहा है, वह है कर्ण, और जिस अधिकरण में बन्धन से मुक्ति हो रही है, वह है केश, । यहाँ श्रुति-बन्धन ये शब्द श्लिष्ट हैं अतः वेदान्तपरिशीलन-निमित्तक भवसम्बन्ध-विच्छेदकरूप-मुक्ति के द्वारा केशों के बन्धनरूप जो कौशेय हैं, सूत्र हैं, उसके श्लशीभाव का अध्यवसान हो जायेगा, पुनः कार्य-कारण के विरोध का भी स्फुरण होगा, परन्तु जब यह ज्ञान हो जायेगा कि उक्त नायिका के नेत्र कर्णपर्यन्त अनुशीलन करने वाले हैं, (अर्थात् विशाल हैं) इससे नायिका के नयनगत सौन्दर्य से उसके प्रिय के मनःसमाकर्षण का विचार होगा, तदनन्तर दूतिप्रवृत्त प्रिय के द्वारा केशबन्धन की मुक्ति का विरोध भी निवृत हो जायेगा । इस प्रकार उक्त अलङ्कार में श्लेषमूलक व शुद्ध अध्यवसान ही होता हैं ।

विषम

विषम अलंकार भी विरोधगर्भ अलङ्कारों की श्रेणी में आता है जिसमें दो विरूपों की संघटना का कविप्रतिभोत्थित वर्णन रहता है, अर्थात् इसमें परस्पर विरुद्ध गुण क्रिया वाले पदार्थों का उपनिबन्धन, वैषम्यप्रयुक्त वैचित्र्य का प्रतिपादक रहता है । विरोधाभास में जहाँ विभिन्न देशस्थ पदार्थों का एकदेशस्थ वर्णन चमत्कारी रहता है, और असङ्गति अलङ्कार में जहाँ एकदेशस्य पदार्थों का भिन्नदेशस्थ वर्णन चमत्कारी रहता है, वहाँ विषम अलंकार में कार्यकारणरूप में स्वीकृत पदार्थों का परस्पर विरुद्ध गुण क्रियारूप संसर्ग का वर्णन चमत्कारी रहता है, आचार्य रुय्यक के शब्दों में विषम अलङ्कार का विवेचन इस प्रकार है—

विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् । विरोधप्रस्तावेनेह लक्षणम् । तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यते, इति प्रसिद्धौ यद्विरूपं कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते तदेकं विषमम् । तथा कश्चिदर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो यावदनर्थप्राप्तिश्चेति द्वितीयं विषमम् । अत्यन्ताननुरूपसंघटनयोर्विरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम् । अननुरूपसंसर्गो हि विषमम् ।

अर्थात् अननुरूप पदार्थों के संसर्ग का परस्पर वर्णन ही विषम है, प्रथम विषय वह है जिसमें कारण-गुण के विरुद्ध कार्य-गुण की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय ।

द्वितीय विषय वह है जिसमें किसी अभीष्ट के सिद्धि के लिए उद्यत व्यक्ति को केवल अभीष्ट की ही अनवाप्ति नहीं होती, अपितु अनर्थ की भी अवाप्ति होती है। तीसरे विषय में अत्यन्त अननुरूप पदार्थों के संसर्ग का वर्णन रहता है।

इस प्रसङ्ग में रुय्यक-निर्मित अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ का कथन भी महत्त्वपूर्ण है, आपका कहना है कि विषमालङ्कार के वाच्यवैचित्र्य में कवि-प्रतिभा का रहना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि स्वभावतः अननुरूप पदार्थों के संसर्ग अथवा कार्यकारणभाव के स्वाभाविक वैचित्र्य में "विषम अलङ्कार" नहीं हुआ करता है। विमर्शिनी में यह कथन इस प्रकार है—

"यद्यपि 'गोमयाद् वृश्चिकोत्पत्तिः' इतिवत् कार्यकारणयोर्वास्तवं विरूपत्वं सम्भवति, तथापीह कविप्रतिभानिर्वर्त्तितमेव तद् ग्राह्यम्"।

पण्डितराज का भी विषम अलङ्कार का लक्षण रुय्यक के अनुसार ही है। रसगङ्गाधर में आपने भी विषम का लक्षण इसी प्रकार किया है—

"अननुरूपसंसर्गो विषमम्"।

अर्थात् अननुरूप सम्बन्ध विशेष को विषम या विषमालङ्कार कहते हैं। अनुरूप का अर्थ है योग्यता, अर्थात् लौकिक व्यवहार द्वारा जहाँ पदार्थों में एक दूसरे के उपयुक्त समझा जाय कि यह इसके उपयुक्त है, या यह इसके योग्य है, अथवा यह इसके अनुरूप है। इस प्रकार का लौकिक व्यवहार जहाँ न हो, उसको हम अननुरूप कहेंगे, ऐसे दो अननुरूप पदार्थों के संसर्ग का जहाँ कविप्रतिभोत्थित वर्णन किया जाता है, वहाँ विषम नामक अलङ्कार होता है।[1]

यह संसर्ग भी दो प्रकार का होता है—एक उत्पत्ति-रूप संसर्ग और दूसरा संयोगादिरूप संसर्ग।

इसमें भी प्रथम उत्पत्तिरूप संसर्ग की भी दो स्थितियाँ होती हैं। एक तो कारण के गुणों से विलक्षण गुणवाले कार्य की उत्पत्ति के वर्णन में। दूसरी इष्ट-साधनरूप से निश्चित कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने पर। इस प्रकार उत्पत्तिरूप संसर्ग के आधार पर विषय के दो भेद हो गये।

संयोगादिरूप संसर्ग के अननुरूपता में होने वाला विषम का तीसरा भेद है, अर्थात् दो संसर्गियों (पदार्थों) में परस्पर जब एक के गुण व स्वरूप से दूसरे संसर्गी के गुण व स्वरूप में अनुरूपता हो। इस प्रकार विषमालङ्कार का सामान्यधर्म है

---

1. अनुरूपमिति योग्यतायामप्ययीभावः, अनुरूपं यत्र न विद्यत इतिविग्रहीतेन-बहुव्रीहिणा योग्यतारहितमुच्यते, योग्यता च युक्तमिदमिति लौकिकव्यवहार-गोचरता। (रस ग० टीका)

"अननुरूप संसर्गता" जिसमें विषम के सभी भेद संगृहीत हैं। वे चाहे फिर प्राचीनों के कहे हुए हों, चाहे अर्वाचीनों से कहे जायें।

पण्डितराज ने पुनः इष्टसाधनरूप कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पति वाले इस द्वितीय भेद के भी कई प्रभेद किये हैं, विज्ञ पाठक जिन्हें रसगङ्गाधर से ही समझ सकते हैं।

उदाहरण

अमृतलहरीचन्द्रज्योत्स्नारमावदनाम्बुजा-
न्यधरितवतो निर्मर्यादप्रसादमहाम्बुधेः।
उदभवदयं देव त्वत्तः कथं परमोल्वण-
प्रलयदहनज्वालाजालाकुलो महसां गणः॥

हे राजन्! आपने अमृत की लहरी, चन्द्रमा की चाँदनी, और लक्ष्मी के मुख-कमल को, अपने सामने तुच्छ कर दिया है, और आप असीम प्रसन्नता के महासमुद्र हैं। ऐसे आपसे यह परम प्रचण्ड प्रलयाग्नि के ज्वाला जाल से परिपूर्ण प्रतापपुञ्ज कैसे उत्पन्न हुआ?

तात्पर्य यह है पूर्वोक्त सभी शीतल पदार्थों को भी मात करने वाले आप जैसे परमशीतलप्रकृति से यह प्रलयाग्नि के समान अत्यन्त उष्ण प्रतापपुञ्ज कैसे उत्पन्न हुआ, अर्थात् उक्त गुणों के विरुद्ध गुण वाले प्रतापरूपी कार्य की उत्पत्ति कैसे हुई?

उक्त पद्य में विषयी प्रताप के द्वारा विषय कोशदण्डादि का निगरणपूर्वक अभेदाध्यवसान हो जाता है। मतलब यह है कि राजा में जो प्रताप है उसका समवायी कारण राजा ही है, और कोशदण्डजन्य प्रताप के प्रति भी कोशदण्ड निमित्त कारण है। इस प्रकार विषयीरूप अंश जो राजा है, उसी में उक्त शैत्य व प्रताप के विरुद्ध संसर्ग का विरोधमूलक वैषम्य स्फुरित होता है। पर उक्त अतिशयोक्ति द्वारा अभेदाध्यवसान करने पर वह विरोध निवृत्त हो जाता है, राजा में समवाय सम्बन्ध निमित्तकस्वभावतः शौर्य के रहने से या कोशदण्ड के सहयोग से समुद्रभूत प्रताप को लेकर चाहे वर्णन हो, इस दशा में कोशदण्ड निमित्त कारण हो जायेंगे, जिनका निगरण राजसमवेत प्रताप के द्वारा होगा।

"अत्र माधुर्य शैत्याद्याह्लादकत्वप्रसादाद्यनेकगुणयुक्तात् कारणात् तद्विरुद्ध-गुणयुक्तस्य प्रतापस्योत्पत्यननुरूपः कार्यकारणभावः।" इत्यादि

विमर्शिनीकार की तरह पण्डितराज ने भी उक्त अलङ्कार को कविप्रतिभोत्थित होना चाहिए इत्यादि निर्देश रसगङ्गाधर में किया है—

"वस्तुवृत्तस्य लोकसिद्धत्वेनालंकारत्वायोगात् । यतो बहिरसन्त कवि-प्रतिभामात्रकल्पिता अर्थाः काव्येऽलङ्कारपदास्पदम् ।

यद्यपि **"यथा पद्मं तथा मुखम्"** इत्यादि सादृश्य भी लोकसिद्ध हैं, तथापि उक्त सादृश्यरूप में अथवा सादृश्योत्थापक अभिन्न धर्म या अभेद में तो कवि का संरम्भ है ही, अतः उक्तस्थलों में अलङ्कारत्व के विषय में किसी प्रकार की आशङ्का नहीं करनी चाहिये ।

न च "यथा पद्मं तथा मुखम्" इत्यादौ सादृश्यस्य लोकसिद्धत्वात् कविप्रतिभा-नुत्थापितत्वेऽपि कथमलंकारत्वमिति वाच्यम् । सादृश्यरूपे सादृश्योत्थापके वा अभिन्नधर्मेऽभेदांशस्य कविप्रतिभामात्राधीनत्वात् ।

वस्तुतः पद्म व मुख का शोभारूप धर्म, जाति आदि की तरह एकरूप है, जात्यादिरूप धर्म जब दो पदार्थों का वर्णन का विषय हो, तो उनमें अलंकार नहीं हो सकता है । जैसे पद्म के समान, इसका मुख भी द्रव्य है **"पद्ममिवास्या मुखं द्रव्यम्"** इत्यादि में उपमा अलंकार नहीं कहा जायेगा ।

समालंकार

विषम से विपरीत अनुरूपसंघटनात्म सम अलंकार है । वर्णनीय किन्हीं दो पदार्थों की जो श्लाघनीय प्रतीति है, वही सम नामक अलंकार है ।

आचार्य मम्मट ने भी समालंकार को माना है, उनका लक्षण भी लगभग इसी प्रकार का है—

"समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्" ।

रुय्यक ने विषय के विपरीत धर्म वाले सम अलंकार का एक ही भेद माना है—

परन्तु पण्डितराज ने विषमालंकार की तरह इसके भी तीन भेद माने हैं ।

(1) प्रथम विषम में जिस प्रकार कारण के गुण से विलक्षणगुण वाले कार्य की उत्पत्ति होती है, वैसे ही यहाँ पर कारण गुण के समान गुणवाले कार्य की उत्पत्ति होती है ।

(2) द्वितीय विषय में जिस प्रकार इष्टसाधनरूप में निश्चित कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार यहाँ भी किसी इष्ट की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त कारण से उस इष्ट की प्राप्ति होती है ।

(3) तृतीय विषय में जिस प्रकार दो संसर्गियों में से एक के गुण तथा स्वरूप से दूसरे के गुण तथा स्वरूप का तिरस्कार होता है, इसी प्रकार यहाँ भी दो

संसर्गियों में एक के गुण तथा स्वरूप से दूसरे के गुण तथा स्वरूप का पोषण होता है।

"एवं यथा विषयालंकारास्त्रिभेदस्तथा तद्विपरीतभेदत्रययुक्तः समालंकारोऽपि प्रपञ्चितः।"

समालंकार का लक्षण पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में इस प्रकार किया है—**"अनुरूपसंसर्गसमम्।"**

अनुरूप (किन्ही दो पदार्थों में योग्य) सम्बन्ध के श्लाघनीय वर्णन को सम अलंकार कहते हैं। यह संसर्ग या सम्बन्ध दो प्रकार का होता है, जैसा कि पहिले विषमालंकार के वर्णन प्रसङ्ग में बतलाया था—उत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध व संयोगादि लक्षण सम्बन्ध। उत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध के तीनों भेदों का स्वरूप पहिले दिखलाया जा चुका है। इनमें से तीसरा भेद संयोगादिरूप संसर्ग का है। पर अनुरूप संसर्गता रूप के सभी प्रभेदों में व्याप्त रहेगी।

उदाहरण

कुवलयलक्ष्मीं हरते तव कीर्तिस्तत्र किं चित्रम्।
यस्मान्निदानमस्यालोकनमस्याङ्घ्रिपङ्कजस्तु भवान्॥

कवि किसी राजा की स्तुति में कहता है कि—आपकी कीर्ति कुवलय (रात्रि में खिलने वाला कमल, और भूमण्डल) की शोभा का हरण करती है। इसमें क्या आश्चर्य, क्योंकि इसके उत्पादक वे आप हैं, जिनके चरण कमल लोकों से नमस्करणीय हैं। अभिप्राय यह है कि जो कीर्ति उक्त कुवलय की शोभा का हरण करती है, अर्थात् शोभा को जीतती है, उस कीर्ति के कारण आप हैं, आप में जब कमलजायित्व गुण हैं तब आप से उत्पन्न हुई (कार्यरूपा) उस कीर्ति में भी इन गुणों का होना उचित ही है। यह कारण से समानगुणवाले कार्य की उत्पत्ति का उदाहरण है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी जानना चाहिए संयोगादि संसर्ग की अनुरूपता कहीं कहीं स्तुति में पर्यवसित होती है जैसे पण्डितराज द्वारा निर्मित गङ्गा-स्तुति के निम्न पद्य में—

अनाथः स्नेहार्द्रां विगलितगतिः पुण्यगतिदाम्,
पतन्विश्वोद्धर्त्रीं गदविदलितः सिद्धभिषजम्।
तृषार्तः पीयूषप्रकरनिधिमत्यन्तशिशुकः
सवित्रीं प्राप्तस्त्वमहमिह विदध्याः समुचितम्॥

हे गङ्गे! अत्यन्त छोटा बालक मैं आपकी शरण में आया हूँ, क्योंकि मैं अनाथ हूँ आप स्नेहार्द्र हैं। मैं गतिहीन हूँ और आप पुण्यगति देने वाली हैं। मेरा पतन हो रहा है, आप संसार का उद्धार करने वाली हैं। मैं रोगग्रस्त हूँ, आप सिद्ध

औषध हैं । मैं तृषार्त हूँ आप अमृत की भण्डार हैं । यह सब जानकर आप जो उचित समझें करें ।

उक्त पद्य में अनाथ के अनुरूप स्नेहार्द्रतादि गुणों से युक्त जो गङ्गा जी का वर्णन हुआ है, वह पर्यन्त में उनकी स्तुति में पर्यवसित होता है ।

उक्त वक्ता का गङ्गा के साथ संयोगरूप सम्बन्ध वर्णित है, क्योंकि उक्त प्रकार को वक्ता के अनाथादि अनुरूपगुण गङ्गाजी के स्नेहार्द्रतादि के पोषक ही हैं ।

विचित्र अलंकार

विचित्रालङ्कार की कल्पना भी विरोधमूलक ही है । सर्वप्रथम इस अलंकार की कल्पना का श्रेय आचार्य रुय्यक को है, उन्होंने इस अलंकार की कल्पना में एक आश्चर्यजनक वैचित्र्य को माना है । यह वैचित्र्य है, अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए तद् विपरीत क्रिया के अनुष्ठान का आग्रह-अलंकार सर्वस्व में रुय्यक ने इसके स्वरूप की मीमांसा इस प्रकार की है—

"स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् । यस्य हेतोर्यत् फलं तस्य यदा तद्विपरीतं भवति तदा तद्विपरीतफलनिष्पत्यै कस्यचित्प्रयत्न उत्साहो विचित्रालङ्कारः, आश्चर्यप्रतीति हेतुत्वात्" ।

इसके बाद विश्वनाथ कविराज व अप्पय्यदीक्षित ने भी इस अलंकार को माना है । पण्डितराज ने भी अपने रसगङ्गाधर में उक्त अलंकार का वर्णन किया है । उनका लक्षण इस प्रकार है—

"इष्टसिद्धयर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विचित्रम् ।"

इष्ट सिद्धि के लिए इष्टाभिलाषी के द्वारा किया जाने वाला इष्ट के विपरीत आचरण विचित्र कहा जाता है । यहाँ विपरीतता प्रतिकूलता समझना चाहिए ।

उदाहरण

बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान्कुर्वते कर्मपाशा-
नन्तः शान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्तां वहन्ति ।
तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः,
सर्वं प्रामादिकमिह भवभ्रान्तिभाजां नराणाम् ।।

संसार में भ्रमयुक्त मनुष्यों के सभी कार्य प्रामादिक ही हुआ करते हैं, क्योंकि ये लोग बन्धन से मुक्ति के लिए यज्ञादिक कर्मपाशों की रचना करते हैं । अन्तःकरण की शान्ति के लिए सैकड़ों मुनियों के मतों (शास्त्रों) की अत्यधिक चिन्ता करते हैं, और अशुभ समुद्र से पार जाने के लिए तीर्थ में डुबकी लगाते हैं ।

उक्त पद्य के तीनों चरणों में तीन विचित्र अलंकार है ।

प्रथम चरणगत जो विचित्रालंकार है वह रूपक से अनुप्राणित है । इसमें यज्ञों में कर्मपाशों का आरोप किया गया है । यदि यज्ञादि कर्मों को पाशरूप न माना जाय तो फिर "यज्ञादि कर्मों के करने को" "बन्ध मुक्ति" के विपरीत कहना सङ्गत नहीं हो सकता है ।[1]

द्वितीय चरण का विचित्र शुद्ध है, क्योंकि चिन्ता स्वरूपतः ही शान्ति के विपरीत है, अतः चिन्ता को शान्ति-विपरीत बनाने के लिए, चिन्ता में किसी भी वस्तु का आरोप नहीं है ।

तृतीय चरणगत का विचित्र है अशुभ समुद्र से पार जाने के लिए तीर्थ में डुबकी लगाना । यह भी रूपक से अनुप्राणित है । क्योंकि अशुभ (अर्थात् संसार) को समुद्ररूप माने बिना, तीर्थ में डुबकी लगाना विपरीत नहीं होता है । विषमालंकार से इसकी विलक्षणता इस प्रकार है, कि विषमालंकार में कारण के विपरीत जो कार्य की उत्पत्ति होती है, उसमें पुरुष प्रयास की अपेक्षा नहीं होती है, जब कि विचित्रालंकार में पुरुष-प्रयास से सिद्ध विपरीत आचरण अपेक्षित होता है ।[2]

अधिक अलंकार

विरोधमूलक अलंकारों की गणना-प्रसङ्ग में अधिक नामक अलंकार का स्वरूप भी आधाराधेयभाव के विरोध में ही पर्यवसित होता है । यह आधाराधेयभाव की अननुरूपता-रूप विरोध, कहीं आधार की अपेक्षा आधेय के अधिक होने से है, और कहीं न्यूनता के कारण है ।

उक्त अलंकार को रुय्यक-विश्वनाथ व अप्पय्यदीक्षित आदि सभी ने माना है, विश्वनाथ तथा दीक्षित जी ने आधार की अपेक्षा आधेय की अधिकता का उदाहरण शिशुपालवध महाकाव्य के प्रथम सर्ग से उद्धृत किया है, जिसमें देवर्षिनारद के आगमन से श्रीकृष्ण के अनुपम आनन्द का वर्णन है —

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ।।

---

1. "यज्ञप्रमृतिकर्मसु पाशत्वाऽऽरोपे एव बन्धोन्मुक्तिरूपस्य इष्टस्यापेक्षया विपरीताचरणं मुमुक्षुकर्तृकं पाशायितानां कर्मणामनुष्ठानं संगतं भवतीति रूपकमज्ञोपर्जाव्यमित्यर्थः ।" (सरला टीका)
2. "तत्र (विषये) कार्यकारणभावः प्राकृतः न पुरुषसम्बन्धजनितः, अत्र तु कल्पितः । किञ्च तत्र कार्यकारणयोर्मिथो गुणवैलक्षण्यमेव विषयः, अत्र तु इष्टसाधनाय विपरीता कृतिः ।" (सरला टीका)

अर्थात् कैटभ नामक दैत्य के शत्रु भगवान् श्री कृष्ण के विष्णुरूप जिस शरीर में प्रलयकाल के समय अपने आप में समेटे हुए समस्त लोक मजे में समाविष्ट हो गये उसी शरीर में देवर्षि नारद के आगमन से उत्पन्न आनन्द न समा सका।

यहाँ भगवान् कृष्ण आधार हैं, और आनन्द आधेय है, प्रलयकाल में जिस विष्णुरूप भगवान् के शरीर में तीनों लोक समा गये, उसी विशाल आधार स्वरूप भगवान् के शरीर में नारदागमजनित आधेय रूप आनन्द के न समाने से, उसकी अधिकता के वर्णन से यहाँ अधिकालंकार है। पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में अधिकालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्यातिन्यूनत्व कल्पनमधिकम्।"

आधार और आधेय में से किसी एक को अतिविस्तृत सिद्ध करने के लिये दूसरे की अतिन्यूनता की कल्पना अधिकालंकार है।

उदाहरण

लोकानां विपदं धुनोषि, तनुषे सम्पत्तिमत्युत्कटा-
मित्यल्पेतरजल्पितैर्जडधियां भूपाल मा गा मदम्।
यत्कीर्तिस्तव वल्लभा लघुतरब्रह्माण्डसद्मोदरे,
पिण्डीकृत्यमहोन्नतामपि तनुं कष्टेन हा वर्तते॥

हे राजन्! आप लोगों की विपत्ति को दूर करते हैं, और अत्यन्त उत्कर सम्पत्ति का विस्तार करते हैं, इस तरह की मूढ़मतियों की बड़ी बड़ी बातों से गर्व न करें क्योंकि आपकी वल्लभा कीर्ति इस छोटे से ब्रह्माण्डरूप गृह के मध्य में अपने अति विशालरूप शरीर को समेट कर बड़े कष्ट से रहती है।

उक्त पद्य में ब्रह्माण्डरूप आधार की अत्यन्त लघुता के रूप में कवि ने जो कल्पना की है, उससे कीर्तिरूप आधेय की अति महत्ता फलित होती है, अतः यहाँ अधिकालंकार हुआ।

(उक्त पद्य में इस अधिकालंकार द्वारा व्याजस्तुति की भी पुष्टि होती है, जिसमें प्रारम्भ में निन्दा व परिणाम में स्तुति प्रतीत हो रही है)

प्रस्तुत अधिकालंकार में आधाराधेयभाव की कल्पना कविप्रतिभाप्रसूत होनी चाहिये (अन्यथा) आधाराधेयों के वास्तविक वर्णन में उक्त अलंकार की प्रसक्ति नहीं होती। जैसे श्रीमद् भागवत के दशमस्कन्ध के चौदहवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में यह अलंकार नहीं माना जायेगा, क्योकि वहाँ ब्रह्मस्तुति होने से, दिशा व काल से भी अनवच्छिन्न परमेश्वर का वेदप्रतिपादित वह ऐश्वर्य कविकल्पनाप्रसूत न होकर वास्तविक है, जो इस प्रकार है—

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्नि वार्भू-संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधा विगणिताण्डपराणुचर्या-वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥
(10 । 14 । 11)

अर्थात्—प्रकृति, महत्तत्व-अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, व पृथिवी, इन आठ आवरणों से वेष्टित इस ब्रह्माण्ड में जिसका केवल सात वितस्ति का यह शरीर है, ऐसा मैं ब्रह्मा कहाँ ?, और ऐसे अगणित ब्रह्माण्डरूप जो परमाणु, उनके परिभ्रमण के लिये गवाक्ष (झरोखा) के समान रोमविवरवाले आपकी महिमा कहाँ ?

"इति श्रीमद्भागवत्दशमस्कन्धगतं ब्रह्मस्तुतिपधमस्यालङ्कारस्यानुदाहरण-मेव, दिक्कालानवच्छिन्नस्य पारमेश्वरस्य भूम्नः सर्ववेदसिद्धत्वेन कविप्रति-भानुल्लिखितत्त्वात् ।"

अन्योन्यालंकार

परस्पर गुण अथवा क्रिया द्वारा जहाँ एक दूसरे का उपकार किया जाय, वहाँ अन्योन्य नामक अलंकार माना जाता है ।

इस प्रसङ्ग में अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक का कथन है कि दो पदार्थों में स्वरूपतः परस्परोपजननरूप उपकार तो युगपत् नहीं हो सकता है, अतः अन्योन्या-लंकार में क्रिया अथवा धर्म द्वारा परस्पर (उपकार) निष्पादन का अभिप्राय विवक्षित है ।

"परस्पर जननस्य विरुद्धत्वात् क्रियाद्वारकं यत्र परस्परोत्पादकत्वं (परस्पर-निष्पादकत्वम्) न स्वरूपनिबन्धनं, स्वरूपस्य तथात्वोक्तिविरोधात् । यत्रा-न्योन्यारव्योऽलङ्कारः ।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने उक्त अलंकार को रसगङ्गाधर में अधिक स्पष्ट कर दिया है, जो इस प्रकार है—

"द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम्

दो वस्तुओं में से एक दूसरे के द्वारा परस्पर विशेष आधान अर्थात् किसी विशेषता के सम्पादन को अन्योन्यालंकार कहते हैं । विशेष आधान या विशेष सम्पादन का अर्थ है क्रिया अथवा गुणादि द्वारा परस्पर वैशिष्ट्य का सम्पादन करना ।

गुण के द्वारा परस्परोपकार का उदाहरण

सुदृशो जितरत्नजालया सुरतान्तश्रमबिन्दुमालया ।
अलिकेन च हेमकान्तिना विदधे कापि रुचिः परस्परम् ॥

सुरतान्त में सुनयना के स्वेदबिन्दुओं की, रत्नसमूह को जीतनेवाली माला ने

और सुवर्ण की सी कान्ति वाले ललाट ने परस्पर किसी अनिर्वचनीय शोभा का सम्पादन किया।

उक्त पद्य में रूचि-शोभा एक गुण है, जिसका सम्पादन सुनयना के माला व ललाट के द्वारा हो रहा है। प्रस्तुत पद्य में यह आशङ्का बनी ही रहती है कि क्या उक्त माला व ललाट ने परस्पर मिलकर उस सुनयना में विशेषाधान किया, अर्थात् सुनयना का उपकार किया, अथवा ये दोनों पदार्थ परस्पर मिलकर ही आपस में एक दूसरे का उपकार अनिवर्णनीय रुचि के द्वारा कर रहे हैं। इस तरह का कोई संकेत न तो पण्डितराज ने किया है नाही टीकाकारों ने किया है।

क्रिया द्वारा परस्परोपकार का उदाहरण

परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता हृदयं प्रियस्य सीता।
अविशत्परकामिनीभुजङ्गीभयतः सत्वरमेव सोऽपि तस्याः॥

पर पुरुष के दृष्टिपात रूप वज्र के आघात से भयभीत सीता अपने प्रिय भगवान् रामचन्द्र के हृदय में प्रविष्ट हुई। और पर स्त्री रूप सर्पिणी के भय से वह (रामचन्द्र) भी तत्काल सीता के हृदय में प्रविष्ट हो गये। इस पद्य में सीता ने राम के हृदय में प्रवेश किया और राम ने सीता के हृदय में प्रवेश किया, अतः परस्पर क्रियारूप विशेष का आधान हुआ है। इसको परस्पर प्रवेशरूप क्रिया से परस्पर उपकार भी कह सकते हैं, परन्तु पण्डितराज ने अपने लक्षण प्रविष्ट "विशेषाधानम्" पद का अर्थ क्रिया या गुणादि का सम्पादन ही किया है। सम्भवतः यह मम्मट के "क्रियया तु परस्परम् वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्" इस लक्षण से प्रभावित होकर दो पदार्थों के परस्पर वैशिष्ट्य के जननरूप कारणत्व की कल्पना के आशय का वर्णन अपने ग्रन्थ में भी किया हो।

मम्मट के टीकाकारों का कथन इस विषय में यह है—,**'सिद्ध्योः वस्तुनोः परस्परं जन्यजनकभावभावेऽपि परस्परगतक्रियाजननमादाय परस्परं जन्यजनकभावः कल्पयते इत्यर्थ।**"

परन्तु अप्पय्यदीक्षित ने स्पष्ट शब्दों में परस्पर उपकार का निर्देश किया है। कुवलयानन्द में आपका लक्षण इस प्रकार—

"अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्।"

उदाहरण

"त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया।"

इसी अन्योन्य अलंकार का द्वितीय उदाहरण उन्होंने इस प्रकार दिया है, जिस पर पण्डितराज की आपत्ति है—

यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलिः ।
तथा प्रपापालिकापि धारां वितनुते तनुम् ॥

पथिक जैसे ही विरल अंगुलियाँ कर, अर्थात् अंगुलियों सटाकर नहीं बल्कि अलग अलग करके, उपर आँखें उठायें पानी पी रहा है, वैसे ही प्रपापालिका भी पानी की धारा को मन्द (और पतली) कर देती हैं ।

यहाँ का प्रकरण इस प्रकार है कि कोई (राहगीर) पथिक पानीयशालिका (प्याऊ) में पानी पी रहा है, वहाँ पानी पिलाने वाली प्रपापालिका कोई रूपवती युवती है, पथिक देर तक उसके सौन्दर्य को देखने की इच्छा से अपने हाथ की अंगुलियाँ एकदम न सटाकर विरल कर देता है, ताकि प्रपापालिका के द्वारा गिराया गया पानी नीचे बहता रहे, इस बहाने वह देर तक उसका मुंह देखता रहे, प्रपापालिका भी उसके इस अभिप्राय को समझ जाती है, वह भी पानी की धारा और मन्द (पतली) कर देतो है, ताकि राहगीर को यथेष्ट दर्शन का अवसर मिले ।

उक्त पद्य की व्याख्या में अप्पय्यदीक्षित का कथन है कि पथिक व प्रपापालिका जब एक दूसरे के अभिप्राय को समझ जाते हैं, तब वे आपस में एक दूसरे को अपना अपना मुंह दिखलाने का प्रयास करते है, इसमें इनके अलग अलग व्यापार हैं, अर्थात् प्रपापालिका पथिक को अपने में आसक्त समझकर वह देर तक अपना मुंह दिखलाने के लिये पानी की धारा मन्द कर देती है, और पथिक यह समझकर कि प्रपापालिका देर तक उसका मुंह देखे, अतः अपने हाथ के अञ्जलि के अंगुलियों को अलग अलग कर देता है, ताकि पानी पीने का व्यापार देर तक चलता रहे । कुवलयानन्द में यह इस प्रकार है—

अत्र प्रपापालिकायाः पथिकेन स्वासक्त्या पानीयदानव्याजेन बहुकालं स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्या विरलाङ्गुलिकरणतश्चिरं पानीयपानानुवृत्तिसम्पादनेनोपकारः कृतः । तथा प्रपापालिकयापि पानीयपानव्याजेन चिरं स्वमुखावलोकनमभिलषतः पथिकस्य धारातनूकरणतश्चिरं पानीयपानानुवृत्तिसम्पादनेनोपकारः कृतेः । अत्रोभयोर्व्यापाराभ्यां स्वस्वोपकारसद्भावेऽपि परस्परोपकारो न निवार्यते ।

इस प्रसङ्ग में पण्डितराज का कथन हैं कि यहाँ पर अन्योन्यालङ्कार का लक्षण जो दीक्षित जी ने परस्परोपकार करना रक्खा है, वह सङ्गत नहीं होता है, क्योंकि उक्त पद्य में तो दोनों का व्यापार अपने अपने स्वार्थ को लेकर हो रहा है पथिक अपने अंगुलियों को इसलिये नहीं सटाता है, क्योंकि वह चिरकाल तक प्रपापालिका के मुख को देखना चाहता है, इसी तरह प्रपापालिका भी धारा को और मन्द इसलिये कर देती है, क्योंकि वह चिरकाल तक पथिक के मुख को देखना चाहती है ।

यहाँ जब अपने अपने व्यापार का अभिप्राय ही स्वस्वकर्तृक चिरकाल दर्शन है, तब फिर अपने अपने व्यापार द्वारा परस्पर कहा हुआ अतः अन्योन्य अलंकार के उदाहरण के रूप में उक्त अलंकार का उपन्यास उचित नहीं है ।

"इह हि धारातनूकरणांगुलिविरलीकरणयोः कर्तृभ्यां स्वस्वकर्तृक-चिरकालदर्शनार्थं प्रयुक्तयोस्तत्रैवौषोपयोगश्चमत्कारी, नान्यकर्तृकचिरकाल दर्शन इत्यनुदाहरणमेवैतस्यालङ्कारस्येति सहृदया विचारयन्तु ।"

दूसरी बात यह है कि पण्डितराज की दृष्टि में दीक्षित जी की पदरचना भी शिथिल है ।

उक्त पद्य के दीक्षितानुसार व्याख्या-ग्रन्थ में प्रथम वाक्य में प्रपापालिका के साथ प्रयुक्त स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्याः में और द्वितीय वाक्य में पथिक के साथ प्रयुक्त स्वमुखावलोकनमभिलषत में, प्रयुक्त "स्व" शब्द का बोधकत्व ठीक नहीं जँचता है । यहाँ प्रक्त 'स्व' शब्द का अन्वय पथिक के साथ जान पड़ता है, और द्वितीय स्वशब्द का अन्वय प्रपापालिका के साथ, जब कि कवि का भाव इससे भिन्न है । फलतः ये वाक्य भी उसी तरह दुष्ट हैं, जिस प्रकार काव्यप्रकाश में अभवन्यत-योग के दोषोदाहरण के प्रसङ्ग में उदाहृत यह पद्य-- **जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरण-लसत् कशेरालीकरालः** । इत्यादि यहाँ निज पद का अन्वय भवानी के साथ अभीष्ट है, जब कि दण्डपाद के साथ प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त पण्डितराज यहां एक नूतन युक्ति के द्वारा पुनः आशङ्का करके समाधान करते हैं, वह यह है कि यदि कदाचित् स्व शब्द के सर्वनाम होने से उक्त वाक्यों में आये हुए 'स्व' शब्द भी सर्वनाम ही है, ।

"सर्वनाम्नां बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिः ।"

अर्थात् सर्वनामों की शक्ति बुद्धिस्थ प्रकार से अवच्छिन्न में होती है, अर्थात् जिस वस्तु को वक्ता बुद्धिस्थ कर लेता है, वही सर्वनाम का अर्थ है, इस नियम के अनुसार दीक्षित जी के पथिकत्व व प्रपापालिकात्व ही बुद्धिस्थ प्रकार हैं, और तदवच्छिन्न हुए पथिक व प्रपापालिका स्व शब्द के द्वारा क्रमशः अभिहित होंगे तो पण्डितराज इस सामान्य नियम को मानने की भी तैय्यार नहीं है ।

आपका कहना है कि **"सर्वनाम्नांबुद्धिस्थ प्रकारावच्छिन्ने शक्तिः"** यह तो एक सामान्य नियम है, इसी से सर्वत्र काम नहीं चलता है । जैसे परोक्षवर्ती तत् शब्द का प्रत्यक्षवर्ती इदम् शब्द का वक्ता अर्थ वाले अस्मद् शब्द का सम्बोधन बोधक युष्मद् शब्द का सर्वनाम होते हुए भी बुद्धिस्थ प्रकारावच्छिन्न अर्थ न होकर तत्तत् विशेष अर्थ होते हैं, उसी प्रकार स्व, निज, आदि शब्द भी केवल बुद्धिस्थप्रकारा-वच्छिन्न में ही शक्त न होकर जिस विशेषण के अन्तर्गत होकर गृहीत हों, उस

विशेषण के विशेष्यभूत वस्तु के बोधक होते हैं ।

"न च सर्वनाम्नां बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तत्वादिष्टबोधोपपत्तिरिति वाच्यम् । तदिदमस्मर्युस्मदादिष्विव तत्तद्विशेषव्युत्पत्तेरपि कल्पनीयत्वात् । सा च प्रकृते यद्विशेषणघटकत्वेन स्वत्रिनादयः शब्दा उपात्तास्तद्बोधका इत्येवंरूपा ।"

विशेषालंकार

प्राचीन आचार्यों ने विशेषालंकार का वर्णन तीन प्रकार से किया है, उन्हीं के आशय को पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में उद्धृत किया है । प्रसिद्ध आधार के विना जहाँ आधेय का वर्णन किया जाता है, वह विशेषालंकार का पहला प्रकार है—

"प्रसिद्धमाश्रयं विना आधेयं वर्ण्यमानमेको विशेषप्रकारः" ।

यह भी पुनः दो प्रकार का होता है—एक तो प्रसिद्ध आधार से भिन्न आधार में आधेय का वर्णन किया जाना । और दूसरा है सर्वथा आधार के बिना ही आधेय का वर्णित होना ।

प्रथम-आधारान्तरगत वर्णन का उदाहरण जैसे—

अये राजन्नाकर्णय कुतुकमाकर्णनयन-
त्वदाधारा कीर्तिर्वसति किल मौलौ दशदिशाम् ।
त्वदेकालम्बोऽयं गुणगणकदम्बो गुणनिधे,
मुखेषु प्रौढानां विलसति कवीनामविरतम् ॥

हे आकर्णनयन, (विशालनेत्र) एक आश्चर्यजनक उक्त बात को सुने, आप जिसके आधार हैं वह कीर्ति दशों दिशाओं के मस्तक पर निश्चितरूप से निवास करती है और हे गुणनिधे ? जिसके एकमात्र आप अवलम्बन हैं, वह गुणावली का समूह प्रौढ़ कवियों के मुखों में निरन्तर क्रीडा करता है ।

उक्त पद्य में जिसका आधार राजा है, उस कीर्ति का दिशाओं के मस्तक रूप अन्य आधार में वर्णन हुआ है । इसी प्रकार जिस गुणसमूह का प्रसिद्ध आधार राजा है, उसका वर्णन कवि मुखरूप अन्य आधार में किया गया है । अतः यह पद्य विशेषालंकार के प्रथम प्रकार के प्रथम उपभेद का उदाहरण है ।

द्वितीय उपभेद आधार के बिना ही आधेय के वर्णन का उदाहरण—

युक्तं तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रितानां यदभूद्विनाशः ।
इदं तु चित्रंभुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्तिः ॥

आसफ खाँ रूप चन्द्रमा के स्वर्ग चले जाने पर उनके आश्रितों का जो

विनाश हुआ यह तो उचित ही था। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि संसार के शून्यभागों में उनकी कीर्ति निराश्रय होकर भी क्रीडा कर रही है। उक्त पद्य में आधार के सर्वथा अभाव में भी आधेयभूत कीर्ति का वर्णन होने से विशेषालंकार के प्रथम प्रकार का द्वितीय भेद है। विशेषालंकार का दूसरा प्रकार वह है जहाँ किसी एक सीमित आधारगत भी जब एक ही समय में अनेक आधारों में वर्णित हो तब वह दूसरे प्रकार का विशेषालंकार माना जाता है—

"यत्त्वैकमाधेयं परिमित यत् किञ्चिदाधारगतमपि युगपदनेकाधारतया वर्ण्यते सोऽपरो विशेषः प्रकारः"।

परिमित आधारगत आधेय का अनेक आधरों में वर्णन का उदाहरण—

नयने सुदृशां पुरो रिपूणां वचने वश्यगिरां महाकवीनाम्।
मिथिलापतिनन्दिनीभुजान्तःस्थित एव स्थितिमाप रामचन्द्रः॥

भगवान रामचन्द्र ने मिथिलेशनन्दिनी सीता के भुजमध्य स्थित रहने पर भी, सुन्दर नयनवाली नायिकाओं के नयनों में, और शत्रुओं के पुरः प्रदेश में, और वश्यवाक् महाकवियों के वचनों में, एक साथ स्थिति प्राप्त की।

उक्त पद्य में सीताभुजमध्यराम परिमित आधार स्थित भी राम रूप आधेय की स्थिति का वर्णन एक साथ नयन आदि अनेक आधारों में हुआ है। अतः यह विशेष अलंकार के द्वितीय भेद का उदाहरण है।

विशेषालंकार का तृतीय प्रकार वह है जहाँ किसी कार्य के आरम्भ करने वाले के द्वारा असम्भावित व अशक्य किसी अन्य वस्तु का निर्माण हो।

"यच्च किञ्चित् कार्यमारभमाणस्यासम्भाविताशक्यवस्त्वन्तरनिर्वर्तनं स तृतीयो विशेषप्रकारः।"

उदाहरण

कोदण्डच्युतकाण्डमण्डलसमाकीर्ण-त्रिलोकीतलं।
रामं दृष्टावतां रणे दशमुखप्राणापहारोद्यतम्।
दुर्दशोऽपि नृणामभूदुरुमरुद्वेगप्रचण्डीकृत-
ज्वालाभिर्जगतीतलं कवलयन्कालानलो गोचरः॥

युद्ध में रावण के प्राणों का अपहरण करने के लिये उद्यत अतएव धनुष से निकले हुये बाण समूह से त्रिलोकीतल को व्याप्त करने वाले राम को जिन मनुष्यों ने देखा उन मनुष्यों ने, मह्यवायु के वेग से प्रचण्ड की गई ज्वालाओं से पृथ्वीतल को कवलित करते हुए दुर्दर्श प्रलयानल को भी नयनगोचर कर लिया।

उक्त पद्य में रावणवध के प्रसङ्ग में विकराल रूपधारी राम के दर्शन करने

वालों के द्वारा प्रलयाग्नि दर्शनरूप अशक्य अन्य वस्तु का सम्पादन वर्णित हुआ है। अतः यह विशेषालंकार के तृतीय प्रकार का उदाहरण है।

पूर्वोक्त इन तीनों में से किसी अन्यतम का वर्णन ही विशेषालंकार का सामान्य लक्षण है। इस प्रकार प्राचीनों के आशयानुसार ही पण्डितराज ने विशेषालंकार का वर्णन किया है, अपना कोई स्वतन्त्र लक्षण इस प्रसङ्ग में नहीं दिया है।

प्राचीनों के इन लक्षणों के विषय में कोई अपनी अरुचि नहीं दिखाई, परन्तु विशेष के इस तृतीय प्रकार के उदाहरण के विषय में तथा लक्षण में भी कुछ अरुचि प्रकट की है। आपका कहना है कि तृतीय प्रकार के विशेष का रूपकादि की तरह कोई निश्चित लक्षण नहीं है। जिससे कि इस अशक्य वस्त्वन्तर करणत्वरूप इस प्रकार का समावेश किया जा सके यदि प्राचीन आचार्य "येन दृष्टोऽसि देव त्वं, तेन दृष्टो हुताशनः" 'तेन दृष्टा वसुन्धरा' इत्यादि में निदर्शना अलंकार स्वीकार करते हैं तब तो विशेषालंकार के उक्त भेद में भी उसी अलंकार को स्वीकार किया जाय, तस्मात् उक्त तृतीय प्रकार के विशेष का उदाहरण इस प्रकार होना चाहिए—

कि नाम तेन न कृतं सुकृतं पुरारे,
दासीकृता न खलु का भुवनेषु लक्ष्मीः।
भोगा न के बुभुजिरे विबुधैरलभ्या,
येनार्चितोऽसि करुणाकर हेलयापि॥

अर्थात् हे करुणाकर शिव ? जिसने खेल-खेल में भी अपकी पूजा करली उसने कौन सा पुण्य नहीं कर लिया ? त्रिभुवन में किस लक्ष्मी को दासी न बना लिया? (अर्थात् कौन सा धन उपार्जित न कर लिया) और देवताओं में अलभ्य कौन से भोग न भोग लिये, उक्त पद्य में सम्पूर्ण त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति "अशक्यकरण" है, और यहाँ भगवान शिव की अर्चना के साथ, सुकृतादि का सादृश्य बतलाना वक्ता का अभीष्ट नहीं है अपितु उक्त अर्चना व अन्य सुकृत में कार्यकारणभाव दिखलाना ही इष्ट है। अतः सादृश्यमूलक निदर्शना का यहाँ प्रश्न ही नहीं है।

व्याघात अलंकार

किसी निष्पादित वस्तु के विघात का नाम व्याघात है। कोई कर्ता जहाँ किसी उपाय के द्वारा यदि किसी कार्य को निष्पन्न करता है, तो अन्य कोई प्रतिद्वन्द्वी उसी उपाय से उसके कार्य को अन्यथा कर देता है उस निष्पादित वस्तु के विघात कर देने के कारण उक्त अलंकार का नाम व्याघात है।

पण्डितराज के शब्दों में उक्त अलंकार का लक्षण इस प्रकार है —

"यत्र ह्यायेकेन कर्त्रा येन कारणेन कार्यं किञ्चिन्निष्पादितं निष्पादयिषितं वा, तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघातः"।

अर्थात् जहाँ एक कर्ता ने जिस कारण से कोई कार्य बनाया हो, अथवा बनाना चाहता हो, यदि वह कार्य उसी कारण द्वारा दूसरे कर्ता के द्वारा अन्यथा कर दिया जाय, उसके विरुद्ध कार्य कर दिया जाय, अथवा अन्यथा कर देने की इच्छा से उक्त कार्य का विघरात कर दिया जाय, तो वहाँ व्याघातालङ्कार होता है।

उदाहरण

"दीनद्रुमान्वचोभिः खलनिकरैरनुदिनं दलितान्।
पल्लवयन्त्युल्लसिता नित्यं तैरेव सज्जनधुरीणाः॥

दुष्टसमूह जिन वचनों के द्वारा दीनजनरूपी वृक्षों को दलित करते हैं। उन्हीं वचनों के द्वारा सज्जनमूर्धन्य भी स्वयं उल्लसित होते हुए उन दोनों को भी पल्लवित अर्थात् प्रसन्न करते हैं। उक्त पद्य में शब्द द्वारा उपात्त "वचोभिः" और "तैरेव" इन पदों के श्रवण से "वचनत्व" रूप जिस एक धर्म का बोध होता है, उस पर विचार करने से पुनः उन वचनों में क्रमशः कठोरत्व और माधुर्य दोनों तरह के गुणयुक्त वचन प्रतीत होते हैं। अर्थात् कठोर वचनों द्वारा दुर्जन दोनों को जहाँ दुःखी करते हैं, वहाँ सज्जन मधुर वचनों द्वारा उन्हें दुःखी कर देते हैं। इस प्रकार मधुर व कठोर वचन वचनत्वेन अभिन्न हो जाते हैं अतः एक ही वचनरूप हेतु से दुष्टों के द्वारा दलन, और सज्जनों के द्वारा पल्लवन होने से आयाततः विरोध मालूम पड़ता है। परन्तु वचनों की कठोरता व मधुरता का विचार करके वह विरोध निवृत्त हो जाता है। फलतः यह व्याघातालङ्कार विरोधमूलक है।

दूसरे प्रकार के व्याघात का उदाहरण

अर्थात् जहाँ किसी अभिलषित कार्य का विघात हो—

विमुञ्चसि यदि प्रिय प्रियतमेति मां मन्दिरे,
तदा सह नयस्व मां प्रणययन्त्रणायन्त्रितः।
अथ प्रकृतिभीरुरित्यखिलभीतिभङ्गक्षमा-
स्म जातु भुजमण्डलादवहितो बहिर्भावय॥

हे प्रिये! मैं आपकी प्रियतमा हूँ, इस कारण यदि आप मुझे घर पर छोड़ना चाहते हैं, तब तो प्रेम की व्यथा से व्यथित आप मुझे साथ ही ले चलिए और यदि स्त्री स्वभावतः भीरू होती है, यह समझ कर आप मुझे घर पर छोड़ना चाहते हैं, तो सावधान होकर, सभी भयों को भङ्ग करने में समर्थ अपने भुजमण्डल से कभी भी

मुझे बाहर मत रखिए। उक्त पद्य प्रकरण सापेक्ष है, अतः इसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—

उक्त पद्य को भगवती सीता श्रीरामचन्द्र जी से उस समय कह रही हैं, जिस समय वे पिता के आदेश का पालन कर दण्डकारण्य वन की ओर प्रस्थान कर रहे थे, और सीता को घर पर ही छोड़ना चाहते थे।

यहाँ जिन "प्रियतमात्व" व "भीरुत्व" हेतुओं के द्वारा भगवान् रामचन्द्र सीता को घर पर ही छोड़ना चाहते हैं, उन्हीं हेतुओं के द्वारा सीता जी भी "घर पर नहीं रहना" सिद्ध कर रही हैं। अतः यह व्याघात के द्वितीय प्रकार का उदाहरण है। प्राचीन आचार्यों ने व्याघात के उदाहरण रूप में एक पद्य प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरुपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः॥

विरूपाक्ष-भगवान् शंकर ने जिस कामदेव को अपने नेत्र (तृतीयनेत्र) से भस्म किया, पुनः उसी अस्त्र द्वारा अर्थात् नेत्र से ही जो वामलोचनायें उसे जीवित कर देती हैं उन विरूपाक्ष को जीतने वाली वामलोचनाओं की मैं (कवि) स्तुति करता हूँ।

यहाँ शिवरूप कर्ता के द्वारा दृष्टि से निष्पन्न किए गये कामदाहरूप कार्य का नायिका रूप कर्ता द्वारा दृष्टि से ही पुनः अन्यथा कर देना अर्थात् उसे उज्जीवितरूप विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति कर देने से यहाँ व्याघात अलंकार है।

पण्डितराज की सम्मति में उक्त पद्य में व्याघात अलंकार न होकर मुख्यरूप में व्यतिरेक अलंकार ही है। क्योंकि पद्य में "विरूपाक्षस्य जयिनीः" "वामलोचनाः" ये पद स्पष्टतः उपात्त है, जो कि व्याघात के लिये अनावश्यक है, और व्यतिरेक की स्पष्टतया पुष्टि कर रहे हैं।

यद्यपि यह व्याघात व्यतिरेक का उत्थापक है, परन्तु तदुत्थापकत्वेनात्र इसे अलंकार मान लिया जाय यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। और व्यतिरेक से स्वतन्त्र कोई इसका लक्ष्य भी उपलब्ध नहीं होता है, अतः व्याघात को स्वतन्त्रतया एक अलंकार मानने में एक बड़ी अड़चन है। पर अलंकार जगत् में प्राचीनों ने इसके लिये एक स्वतन्त्र स्थान दिया है, अतएव किञ्चित् अवान्तर विच्छित्ति विशेष को देखते हुए प्राचीनों के अनुरोध को मान लेना ही उचित है।

विरोधमूलक अलंकारों के प्रसङ्ग में कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ

विरोधाभास अलंकार को लेकर व्याघात अलंकार पर्यन्त सभी विरोध-

मूलक अलंकारों की गणना में है, इनमें आपततः जिस विरोध की प्रतीति होती है, वह विरोध या विरोध-ज्ञान चिरस्थायी न होकर विद्युत्प्रभा की तरह किञ्चित् क्षण स्थायी होता है। इस आंशिक विरोध की प्रतीति श्लेषमूलक या अतिशयोक्तिमूलक अभेदाध्यवसान द्वारा की जाती है।

इस विषय में किन्हीं विद्वानों का कहना है ये विरोधमूलक अलंकार भिन्न-भिन्न विच्छित्ति को धारण करते हुये भी एक विरोधाभास अलंकार के ही अवान्तर प्रभेद हैं, उससे भिन्न नहीं है। जैसे विविध वैचित्र्य को धारण करते हुए भी कङ्कण, कटकादि आभूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार ये भिन्न भिन्न अलंकार विरोधाभास से भिन्न नहीं हैं। अन्य विद्वानों का मत है, कि यदि भिन्न भिन्न इन अलंकारों को केवल विरोध की छाया-मात्र का अनुसरण करने से, वस्तुतः विभिन्न विच्छित्ति विशेष को धारण करने से भी, यदि इनको केवल विरोधाभास के अवान्तर भेद मान लिया जाय, तब तो फिर सादृश्यमूलक रूपक, दीपक आदि सभी अलंकारों को उपमा के प्रभेदमात्र क्यों न मान लिया जाय, परन्तु ऐसा मानने पर आलंकारिकों के सिद्धान्त में वहुत बड़ी खलबली मच जायेगी, अतः परस्पर विचित्र विच्छित्ति का अनुसरण करने वाले अलंकारों को स्वतन्त्र या पृथक्-पृथक् अलंकार मानना ही उचित है।

"ते च नानारूपं वैचित्र्यं भजन्तो विरोधाभासस्यैव प्रभेदाः, न तु ततोऽतिरिक्ताः, काञ्चनस्येव कङ्कणादय इत्येके।

रूपकदीपकादीनामौपम्यगर्भाणामुपमाभेदत्वापत्तेर्बहुव्याकुलीस्यादिति "परस्परच्छायामात्रानुसारिणो भिन्नविच्छित्तयो भिन्ना एवेत्यपरे।"

शृङ्खला

विरोधमूलक अलंकारों का निरूपण कर अब शृङ्खला-मूलक अलंकारों का निरूपण करते हैं।

इस प्रसङ्ग में "पंक्तिरूप से वर्णित अर्थों में से, पूर्व-पूर्व अर्थ अग्रिम-अग्रिम अर्थ में अथवा अग्रिम-अग्रिम अर्थ का पूर्व-पूर्व अर्थ में सम्बद्ध होना शृङ्खला कहलाता है।

यह पूर्व-पश्चात्भावी अर्थों का सम्बन्ध कार्यकारण भाव में या विशेषण-विशेष्यभाव आदि में अनेक प्रकार से हो सकता है। रसगङ्गाधर में यह इस प्रकार है—

"तत्र पंक्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन्, उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन् संसृष्टत्वं शृंखला।"

परन्तु यह कोई स्वतन्त्र अलंकार नहीं है। वक्ष्यमाण कारणमाला आदि में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है, ऐसा प्राचीन आचार्यों का कहना है। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ व दीक्षित आदि आचार्यों ने शृङ्खला नामक अलंकार का अपने अपने ग्रन्थों में कहीं भी निर्देश नहीं किया है, हाँ इस अभिप्राय का कारणमाला नामक अलङ्कार सभी ने माना है।

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में शृङ्खला नामक अलंकार की चर्चा की है। अन्य लोग जहाँ शृङ्खला को कारणमाला में ही गतार्थ मानते हैं वहाँ पण्डितराज इसके विपरीत तर्क देते हैं। आपका कहना है कि कारणमाला आदि अलंकारों को शृङ्खला का ही भेद क्यों न माना जाय इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डितराज शृङ्खला अलंकार के पक्ष में है।

कारणमाला

वही शृङ्खला कारणमाला कही जाती है, जिसका लक्षण पहिले किया जा चुका है। अर्थात् जब पूर्व-पूर्व अर्थ का अग्रिम-अग्रिम अर्थ के साथ, या अग्रिम-अग्रिम अर्थ का पूर्व-पूर्व अर्थ के साथ अनुरूप कार्यकारणभाव सम्बन्ध होता है।

"सैव शृंखला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला"।

पर-पर कार्य के प्रति पूर्व-पूर्व की कारणता का उदाहरण—

लभ्येत पुण्यैर्गृहिणी मनोज्ञा,
तथा सुपुत्रा परितः पवित्राः।
स्फीतं यशस्तैः समुदेति नूनम्,
तेनास्य नित्यः खलु नाकलोकः॥

पुण्यों से सुन्दर पत्नी मिल सकती है, और सुन्दर पत्नी से सर्वथा पवित्र पुत्र प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र पुत्रों से विस्तृत यश उत्पन्न होता है, और यश से स्वर्ग-लोक नित्य सुलभ हो जाता है।

उक्त पद्य में पूर्व-पूर्व कारण है और पर-पर कार्य है, जैसे पुण्य कारण हैं, गृहिणी कार्य, और गृहिणी कारण है, पुत्र कार्य। पुत्र कारण है और यश कार्य। यश कारण है और स्वर्गप्राप्ति कार्य है।

पूर्व-पूर्व कार्य के प्रति उत्तर-उत्तर कारण का उदाहरण—

स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मीर्दानं प्रसूते विपुला समृद्धिः।
समृद्धिरल्पेतरभागधेयं भाग्यं च शम्भो तव पादभक्तिः॥

(दान लक्ष्मी) स्वर्ग व मोक्ष को दान लक्ष्मी उत्पन्न करती है। दान को विपुल समृद्धि सम्पन्न करती है। समृद्धि को महान् भाग्य उत्पन्न करता है, और हे

शम्भो ! भाग्य को आपके चरणों की भक्ति उत्पन्न करती है ।

उक्त पद्य में पूर्व-पूर्व कार्य और उत्तर-उत्तर का कारण है, जैसे—स्वर्गापवर्ग कार्य है, और दान-लक्ष्मी कारण है, दान पुनः कार्य है, और समृद्धि कारण है । पुनः समृद्धि कार्य है, और भाग्य कारण है । पुनः भाग्य कार्य है, और शम्भु के चरणों की भक्ति कारण है । प्राचीनों के इस पद्य में कार्यकारणभाव फलित है साक्षात् नहीं ।

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥

एकावली

एकावली भी कारणमाला की ही तरह शृङ्खला-मूलक अलंकारों में अन्यतम है । इसमें पूर्व-पूर्व पद उत्तरोत्तर पदों के या तो विशेषण होंगे या विशेष्य होंगे ।

रुय्यक व विश्वनाथ के अनुसार पूर्व-पूर्व पदों के प्रति क्रमशः उत्तरोत्तर पदों के विशेषण होने से और उस विशेषणत्व के स्थापन व अपोहन में ही एकावली अलंकार होता है । आचार्य रुय्यक ने अपने अलंकार-सर्वस्व में एकावली अलंकार के लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

"यत्र पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेण परं परं विशेषणत्वमनुभवति स एकावल्यलंकारः । विशेषणत्वं च स्थापनेन निवर्तनेन वा ।"

विशेषण शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए सर्वस्व के टीकाकार जयरथ का कहना है कि—

"स्वरूपमात्रेणावगतस्य वस्तुनो यत्सम्बन्धबलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तद् विशेषणम् । यद्वक्ष्यति (अलङ्कारसर्वस्वकारः) उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रति उत्कर्षहेतुत्वे एकावली इति ।"

अर्थात्—विशेषण वह है जो अपने से सम्बद्ध (विशेष्यरूप) वस्तु की विशेषता बताया करता है, अथवा उत्कर्ष वृद्धि किया करता है ।

पण्डितराज भी उक्त अलंकार को शृङ्खलामूलक ही मानते हैं । इसी शृङ्खला में सन्निविष्ट सम्बन्ध विशेषण-विशेष्यभाव में उपस्थित होता है । जैसा कि रसगङ्गाधर में उन्होंने कहा है—

"सैव शृङ्खला संसर्गस्य विशेषणविशेष्यभावरूपत्वे एकावली ।"

इस तरह यह एकावली अलंकार दो प्रकार का होता है, एक तो उत्तर-उत्तर पदार्थ के प्रति पूर्व-पूर्व पदार्थ जब विशेष्य होता है । दूसरा जब उत्तर-उत्तर पदार्थ के प्रति पूर्व-पूर्व पदार्थ विशेषण होता है । इसमें पुनः प्रथम प्रकार के दो भेद हो

जाते हैं। विशेषणभूत उत्तरोत्तर पदार्थ कहीं स्थापक होता है, और कहीं अपोहक होता है। स्थापक का अर्थ स्पष्ट करते हैं—**"स्वसम्बन्धेन विशेष्यतावच्छेदकनियामकत्वं स्थापकत्वम्"** अर्थात्—उस विशेषण को स्थापक कहा जाता है, जो अपने सम्बन्ध के द्वारा (अपनी स्थिति के द्वारा) विशेष्यतावच्छेदक (विशेष्यगत असाधारण धर्म) का नियमन करता है।[1]

अपोहक का अर्थ

"स्वव्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदकव्यतिरेकबुद्धिजनकत्वमपोहकत्वम्।"

अर्थात्—अपोहक उस विशेषण को कहा जाता है, जो अपने अभाव के कारण विशेष्यतावच्छेदक (विशेष्यगत असाधारण धर्म) के अभाव के ज्ञान को उत्पन्न करता है।

स्थापक विशेषण का उदाहरण

स पण्डितो यः स्वहितार्थदर्शी, हितं च तद्यत्र परानयक्रिया।
परे च ते ये श्रितसाधुभावाः सा साधुता यत्र चकास्ति केशव॥

वह पण्डित है, जो अपने हित को देखता है, हित वह है, जिसमें दूसरे का अपकार न हो, दूसरे वे हैं: जो साधु भाव का आश्रयण करते हैं, और साधुता वह है जिसमें भगवान् केशव का ज्ञान हो।

उक्त पद्य में पूर्व-पूर्व विशेष्य है, और उत्तरोत्तर विशेषण है। जैसे—पण्डित विशेष्य है, और हितार्थदर्शी विशेषण है, इसी तरह आगे भी है। यहाँ उत्तरोत्तर जो विशेषण हैं, वे स्थापक हैं। क्योंकि स्वहितार्थदर्शित्व के सम्बन्ध से पाण्डित्य की स्थिति है और परापकाराभाव के सम्बन्ध से हितत्व की स्थिति है।

अपोह विशेषण का उदाहरण

नार्यः स यो न स्वहितं समीक्षते, न तद्धितं यत्र परानुतोषणम्।
न ते परे यैर्न हि साधुताऽऽश्रिता न साधुता सा न हि यत्र माधवः॥

---

1. पूर्वपूर्वस्य यत्र विशेष्यत्वम्, उत्तरोत्तरस्य च यत्र विशेषणत्वं तत्र तद् विशेषणं स्थापकम् (स्वस्य संयोगे सति विशेष्यतावच्छेदकस्य अर्थात् स्वसाधारणधर्मस्य स्थिरीकरणं भवति) यथा स पण्डितो यः स्वहितार्थदर्शी अत्र पण्डित इति पूर्वं विशेष्यम्, उत्तरं स्वहितार्थदर्शी इति विशेषणम्। (स्थापकम्) यतो हि" "स्वहितार्थदर्शी इति विशेषणस्य यदा सम्बन्धो भवति, तदैव विशेष्यतावच्छेदकस्य पाण्डित्यस्य स्थापनं भवति, अर्थात् हितार्थदर्शी एव पण्डितः, नान्य इति। (सरला टीका)

वह आर्य (सत्पुरुष) नहीं है, जो अपने हित को नहीं देखता है, वह हित नहीं है, जिससे दूसरे का सन्तोष न हो, वे दूसरे नहीं हैं, जिन्होंने साधुता का आश्रयण न किया हो, वह साधुता नहीं जिसमें भगवान् (माधव) का भान न हो।

उक्त पद्य में पूर्व-पूर्व आर्य आदि (विशेष्य) का उत्तर-उत्तर स्वहित समीक्षा आदि विशेषण अपोहक हैं। क्योंकि स्वहित समीक्षा आदि अभाव से आर्यत्व आदि विशेष्यावच्छेदक के अभाव का ज्ञान होता है।[1]

कुछ विद्वान् दीपकालङ्कार व एकावली अलंकार के योग को मालादीपक नाम का एक पृथक् ही अलंकार मानते हैं, पर पण्डितराज उक्त मत से सम्मत नहीं हैं। आप मालादीपक अलंकार को एकावली अलंकार के उस प्रभेद में गतार्थ करते हैं, जिसमें पूर्व-पूर्व पदार्थ के द्वारा उत्तरोत्तर पदार्थ विशिष्ट होता है।

आपका कथन है कि एकावली अलंकार में न तो सादृश्य का योग होता है, और ना ही प्रकृताप्रकृत का योग, जिसका समावेश दीपक में आवश्यक माना जाता है।

"इह च शृङ्खलावयवानां पदार्थानां सादृश्यमेव नास्ति इति कथङ्कारं दीपकतावाचं श्रद्दधीमहि। तेषां प्रकृताप्रकृतात्मकत्वविरहाच्च।

.....एतेन दीपकैकावली योगान्मालादीपकमिष्यते इति यदुक्तं कुवलयानन्दकृता तद् भ्रान्तिमात्रविलसितमिति सुधीभिरालोचनीयम्।"

सार-अलंकार

सार भी शृङ्खलामूलक अलंकार की ही कोटि में है। इसमें ऐसे अनेक पदार्थों का वर्णन रहता है, जो क्रमशः एक दूसरे से उत्कृष्ट होते हैं। यह जिस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्ट-विषयक वर्णनपरक होता है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर अपकृष्ट वस्तु वर्णनपरक भी होता है।

पण्डितराज कारणमाला, एकावली व सार को शृङ्खलामूलक पृथक्-पृथक् अलंकार मानते हैं न कि केवल शृङ्खला के ही भेद। शृङ्खला तो इन अलंकारों

---

1. अपोहकं तु--स्वस्य (विशेषणस्य) व्यतिरेके (अभावे) विशेष्यतावच्छेदकस्यापि अभावबुद्धेर्जनकं भवति। यथा--"नार्यः सः यो न स्वहितं समीक्षते" अत्र पूर्वस्य "आर्यस्य" विशेष्यत्वम्। उत्तरं "यो न हितं समीक्षते" विशेषणम्। (अपोहकम्) यतो हि स्वस्य (स्वहितसमीक्षणरूपविशेषणस्य) अभावे विशेष्यतावच्छेदकस्य आर्यत्वस्यापि, अभावबुद्धिरुदेति। (यो हित-समीक्षको नास्ति स आर्यो नास्ति)। (सरला टीका)

को अनुप्राणित करने वाला या उक्त अलंकारों का उपपादक एक तत्त्व विशेष है, न कि तत्तत् अलंकार-स्वरूप है। जिस प्रकार विरोध, अभेद के साधर्म्य तत्तत् अलंकारों के उपपादक तत्त्व विशेष हैं, न कि स्वयं तत्तत्स्वरूप या उनसे पृथक्-पृथक् अलंकार इसी प्रकार शृङ्खला भी तत्तत् अलंकारों की उपपादिका विच्छित्ति विशेष ही है, जो कि उन अलङ्कारों की निष्पत्ति में उपकारक हैं। वे अलङ्कार शृङ्खलास्वरूप ही नहीं है, क्योंकि उनका अपना निजी वैचित्र्य शृङ्खला से पृथक् है।

"एवं शृङ्खला विषयाणामलङ्काराणां विच्छितिवैलक्षण्यस्यानुभवसिद्धत्वात् पृथगलङ्कारत्वे सिद्धे शृङ्खलाया विरोधाऽभेदसाधर्म्यादिवदनुप्राणकतैवोचिता न पृथगलङ्कारता। तथात्वेऽभेदादीनामपि पृथगलङ्कारतापत्तेः।"

पूर्णा लुप्ता आदि में तो उपमा से कोई विलक्षण विच्छित्ति नहीं है, अपितु उपमा की है विच्छित्ति उन सबमें वर्तमान हैं, अतः वहाँ उपमा ही एक स्वतन्त्र अलंकार है, पूर्णा लुप्ता आदि तो उसके एक प्रभेदमात्र हैं।

अभिप्राय यह है कि अलंकारों का भेदक तत्त्व विच्छित्ति ही है, जो जन्यता-सम्बन्ध से काव्य में रहने वाला कविप्रतिभाविशेष ही है। अथवा कविप्रतिभाजन्य चमत्कृति ही विच्छित्ति है।

"पूर्णा-लुप्तादौ तु न विच्छित्ति-वैलक्षण्यम् अपितु उपमा विच्छित्तिरेवेति सम्प्रदायः।

ननु केयं विच्छित्तिः! उच्यते—अलङ्काराणां परस्पर-विच्छेदस्य वैलक्षण्यस्य हेतुभूता जन्यता-संसर्गेण काव्यनिष्ठा कविप्रतिभा, तज्जन्यत्वप्रयुक्ता चमत्कारिता वा विच्छित्तिः।"

पण्डितराजकृत सार अलङ्कार का लक्षण—

"सैव संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः"

पूर्वोक्त शृङ्खला ही संसर्ग के उत्कृष्ट और अपकृष्टभाव रूप होने पर सार नामक अलङ्कार होता है।

यह सार भी दो प्रकार का होता है, एक तो पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के उत्कृष्ट होने पर और दूसरा पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के अपकृष्ट होने पर।

प्रथम का उदाहरण

संसारे चेतनास्तत्र विद्वांसस्तत्र साधवः।
साधुष्वपि स्पृहाहीनास्तेषु धन्या निराशयाः॥

संसार में चेतन प्राणी, चेतन प्राणियों में विद्वान्, विद्वानों में साधुपुरुष, साधु-

पुरुषों में भी निस्पृहजन, निस्पृहों में भी वासना विहीन जन धन्य हैं। उक्त पद्य में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की उत्कृष्टता स्पष्ट ही है।

एकविषयक उत्तरोत्तरोत्कर्ष का उदाहरण

जम्भीरश्रियमतिलङ्घ्य लीलयैव,
व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ।
नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते,
स्पर्धेते खलु कनकाचलेन सार्धम् ॥

हे नीलकमलनयने ! तेरे स्तनों की लीला से अनायास ही निम्बू की शोभा को जीतकर सुन्दर सुवर्ण कलशों को नीचा दिखाया है। और अब ये निश्चय ही कनकाचल के साथ स्पर्धा कर रहे हैं।

उक्त पद्य में पूर्व-पूर्व अवस्था से युक्त कुचों की अपेक्षा उत्तरोत्तर अवस्थायुक्त कुचों का ही वर्णन किया गया है। अतः इस वर्णन का विषय केवल कुच होने से यह एकविषयक सारालङ्कार है। वेद में भी सार अलंकार का उदाहरण मिलता है—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परां गतिः ॥

महत्तत्व अर्थात् बुद्धितत्त्व से अव्यक्त प्रकृति तत्त्व श्रेष्ठ है, ओर अव्यक्त से पुरुष-आत्मा प्रकृति के कार्यों का दृष्टा, और स्वयं उदासीन रहने वाला श्रेष्ठ है। पुरुष (आत्मा) से श्रेष्ठ फिर कोई पदार्थ नहीं है, वही चरम सत्य है वही शिव तथा सुन्दर है, वही परम गति अर्थात् जीवों का चरम लक्ष्य है।

पूर्व उदाहरणों में तो गुणकृत उत्कर्ष वर्णित था परन्तु प्रस्तुत वैदिक उदाहरण में तो अव्यक्त से परे पुरुष का केवल स्वरूपकृत उत्कर्ष दिखाया जाता है। क्योंकि सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष तो स्वयं निर्गुण है। यदि कदाचित् उसमें भी विनाश-राहित्यरूप गुण की आशङ्का की जाय, अर्थात् अभिव्यक्त हुए उस विनाशराहित्यरूप-गुण के कारण पुरुष का उत्कर्ष कहा जाय, तो यह भी ठीक नहीं है, विनाशराहित्य-रूप गुण को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अभिप्राय यह है कि जब शास्त्रतः पुरुष को निर्गुण सिद्ध किया गया है, तब उसमें आपाततः प्रतीयमान यह गुण-धर्म धर्मी-माला से अभिन्न ही माना जायेगा, अथवा अध्यस्त माना जायेगा, जैसे आकाश में तलमलिनादि का अध्यास होता है। वस्तुतः सांख्य सिद्धान्त के अनुसार तो विनाश-राहित्य ही सर्वत्र है यदि किसी वस्तु का विनाश होता हो, तब उसके अभाव में फिर विनाशराहित्य को गुण माना जाय। सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद सिद्धान्तानुसार तो नाश किसी पदार्थ का होता ही नहीं, 'कथञ्चित् तुष्यतु दुर्जनन्यायेन' उक्त बात मान भी ली जाय, तब भी वह गुण नहीं कहा जा सकता है, सांख्य दर्शन के अनुसार

तो सत्त्व, रज व तम ये तीन ही गुण हैं, जो कि भावरूप हैं न कि तदभावाभाव ।

काव्यलिंग

किसी अर्थ की उपपत्ति के लिए जहाँ वाक्यार्थ या पदार्थ को हेतुरूप में उपस्थित किया जाय वहाँ काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार होता है । काव्यप्रकाश की टीका प्रदीपोद्योत में भी कहा है—**"स्वतोऽनुपपद्यमानार्थोपपादकहेतोर्वचनं काव्यलिङ्गमित्यर्थः ।**

काव्यलिङ्ग का हेतु अनुमानालङ्कार के हेतु की तरह व्याप्ति पक्षधर्मतादि से युक्त हतु नहीं होता है, साथ ही साथ इसका प्रयोग तृतीया या पञ्चमी विभक्ति के द्वारा नहीं किया जाता है । तात्पर्य यह है कि काव्यलिङ्ग में स्पष्टतः हेतु-प्रतिपादक वचन न कहकर हेतुत्व की व्यञ्जना कराई जाती है । यद्यपि काव्यलिङ्ग-अर्थान्तरन्यास व अनुमानालंकार ये समानार्थक जैसे अलंकार मालूम पड़ते हैं । इन तीनों अलंकारों में किसी न किसी रूप में हेतु का निर्वचन भी रहता है, परन्तु इन तीनों अलंकारों के हेतुओं का स्वरूप परस्पर भिन्न रहता है । जैसा कविराज विश्वनाथ का कथन है । साहित्यदर्पण में काव्यलिङ्गालंकार के विवेचन के प्रसङ्ग में उन्होंने उक्त तीनों हेतुओं की विलक्षणता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

> **इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यास नाद्रियन्ते । तदयुक्तम् तथा ह्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति, ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति । तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य ।**

अर्थात् कुछ लोग वाक्यार्थगत काव्यलिङ्गालंकार के द्वारा ही कार्य से कारण व कारण से कार्य के समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास की गतार्थता मान लेते हैं । पर यह बात उचित नहीं है । क्योंकि हेतु तीन प्रकार का होता हैं । ज्ञापक हेतु, निष्पादकहेतु व समर्थक हेतु । इसमें ज्ञापकरूप हेतु अनुमानालंकार का विषय है और समर्थकरूप हेतु अर्थान्तरन्यासालंकार का विषय है । अतः निष्पादक व समर्थक हेतुओं के भिन्न होने से उक्त अर्थान्तरन्यास वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग के द्वारा गतार्थ नहीं हो सकता है ।

वस्तुतः काव्यलिङ्गालङ्कार में श्रोता को अनुमिति का बोध करना कवि को इष्ट नहीं है । जिससे कि वह तदनुकूल हेतु को उपस्थित करे यहाँ तो कवि केवल प्रकृत वाक्यार्थ की उपपत्ति के लिए, उक्त निष्पादक या उपपादक हेतु-जन्य अनुमिति को सहायक रूप में उपस्थित करता है । जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है—**"अपि च कविनिबद्धप्रमात्रन्तरनिष्ठाह्यनुमितिरनुमानालंकृतिं प्रयोजयति । श्रोतृनिष्ठा महावाक्यार्थनिश्चयानुकूला तु काव्यलिङ्गमिति महान्**

विशेषः ।" अभिप्राय यह है कि अनुमान तथा काव्यलिंग में एक यह भी बहुत बड़ा अन्तर है, कि कविनिबद्ध किसी अन्य प्रमाता (ज्ञाता) में रहने वाली अनुमिति अनुमानालंकार का प्रयोजक होती है। अर्थात् कवि ने जहाँ किसी अनुमान करने वाले का भी वर्णन किया हो वहाँ अनुमानालंकार होता हैं। और श्रोता में रहने वाली महावाक्यार्थ के निर्णय में सहायक अनुमिति काव्यलिङ्ग का प्रयोजक होती है, अर्थात् काव्यलिङ्गस्थल में कवि अनुमान का वर्णन नहीं करता है। कवि को यह इष्ट नहीं है कि वहाँ श्रोता को इस प्रकार का ज्ञान करे, इतना अवश्य है कि उक्त उपपादक हेतु के द्वारा श्रोता अर्थोपपत्ति में सहायता के लिए कुछ अनुमान कर लेता है।

कुछ प्राचीन आचार्य (भामह, दण्डी प्रभृति) उक्त काव्यलिङ्गालङ्कार को नहीं मानते हैं। इन लोगों के मत में कविप्रतिभा-निर्वर्तित वैचित्र्य ही अलंकार है। परन्तु काव्यलिङ्ग में तो हेतुहेतुमद्भाव के वस्तुसिद्ध अर्थात् कविकल्पनाजन्य न होने से उसमें वैचित्र्य या चमत्कार भी दुर्लभ है। अतः इसमें किसी प्रकार का अलंकारत्व नहीं है। काव्यलिङ्ग केवल निर्हेतुत्वरूप दोष का अभावमात्र है। रसगङ्गाधर में यह इस प्रकार है—

"अत्र वदन्ति काव्यलिङ्गं नालङ्कारः। वैचित्र्यात्मनो विच्छित्तिविशेषस्याभावात्, स हि जन्यतासंसर्गेण कविप्रतिभाविशेषः। तन्निर्मितत्वप्रयुक्तश्चमत्कृतिविशेषो वेत्युक्तम्। न चानयोरन्यतरस्याप्यत्र सम्भवः हेतुहेतुमद्भावस्य वस्तुसिद्धत्वेन कविप्रतिभानिर्वर्त्ययोगात्। अतएव चमत्कृतिरपि दुर्लभा।".....**तस्मात् "निर्हेतुतारूपदोषाभावः काव्यलिङ्गम्" इत्यपि वदन्ति।"**

पण्डितराज ने काव्यलिङ्गालङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"अनुमितिकारणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिङ्गितः प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिङ्गम्"।

अर्थात् प्रस्तुत अर्थ के उपपादक के रूप में विवक्षित, वह अर्थ-विशेष, जो अनुमिति का कारण न हो सके और सामान्य विशेषभाव से भी युक्त न हो, काव्यलिङ्ग अलंकार कहलाता है। उपपादक का अर्थ है, प्रस्तुत अर्थ के निश्चय में जिसका ज्ञान सहायक हो अर्थात् जिस अर्थ के ज्ञान से प्रस्तुत अर्थ की उपपत्ति होती हो।

उदाहरण

विनिन्द्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै-
रवाच्यानि व्रात्यैः सपुत्रकमपास्यानि पिशुनैः।

हरन्ती लोकानामनवरतमेनांसि कियतां,
कदाप्यश्रान्ता त्वं जगति पुनरेका विजयसे ॥

पण्डितराज जगन्नाथ गङ्गाजी की स्तुति में कहते हैं कि हे मातः गङ्गे! उन्मत्तों से भी निन्दनीय पतितों से भी त्याज्य, व्रात्यों (संस्कार हीनों) से भी अकीर्तनीय और पिशुनों से भी दूर करने योग्य, ऐसे न जाने कितने लोगों के पापों को निरन्तर हरण करती हुई कभी न थकनेवाली आप संसार में सर्वोत्कृष्ट हैं ।

उक्त पद्य में भगवती भागीरथी का उत्कर्ष अनन्यसाधारण रूप में प्रतिपादित हुआ है । अर्थात् भागीरथी को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है । इसी सर्वोत्कृष्टता के उपपादन के लिए, निरन्तर सब लोगों के पापहरण के साथ बिना परिश्रम अर्थात् श्रमाभाव को हेतुरूप, में वर्णित किया है । यही श्रमाभाव ही यहाँ उपपादक अर्थ विशेष है । अतः यह काव्यालिङ्गालङ्कार है ।

अर्थान्तरन्यास

अर्थान्तरन्यास में सामान्य वाक्य का विशेष के द्वारा या विशेष वाक्य का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है । इसलिए यहाँ समर्थ्य-समर्थकभाव रहता है । अर्थात् एक वाक्य समर्थनीय होता है चाहे वह सामान्य हो या विशेष, दूसरा वाक्य सामान्य अथवा विशेष समर्थक रहता है । समर्थ्य या समर्थनीय वाक्य हमेशा प्रकृत रहता है, और समर्थक वाक्य अप्रस्तुत रहता है ।

अर्थान्तरन्यास शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अभिप्राय व्यक्त होता है । जो इस प्रकार है—

"अर्थ्यत इति अर्थः प्रस्तुतः इति यावत्, अन्यः, अर्थः, अर्थान्तरं तस्य न्यासः" ।

अर्थात् प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ का ऐसा उपनिबन्धन जो पर्यन्त में प्रस्तुत का समर्थक हो उसे अर्थान्तरन्यास कहते हैं ।

काव्यप्रकाश के प्रदीप के "उद्योत" टीकाकार नागेश के अनुसार उक्त अलंकार का विवरण इस प्रकार है—**"अनुपपद्यमानतया सम्भाव्यमानस्यार्थस्योपपादनार्थं यदर्थान्तरं न्यस्यते सोऽर्थान्तरन्यासः"**

अर्थात् सामान्यरूप में सम्भाव्य अर्थ के समर्थन के लिए विशेषरूप अर्थान्तर का, और विशेषरूप में सम्भाव्य अर्थ के समर्थन के लिए जहाँ सामान्यरूप अर्थान्तर का उपन्यास किया जाता है उसे अर्थान्तरन्यास अलंकार कहते हैं । और दृष्टान्त से इसका भेद बतलाते हुये कहा है—**"दृष्टान्ते तु सामान्यं सामान्येन, विशेषो विशेषेण समर्थ्यते इति ततो भेदः" ।**

पण्डितराज जगन्नाथ ने अर्थान्तरन्यास अलंकार में उक्त समर्थ्य व समर्थकभाव जो कि प्रकृत अलंकार का नियामक है, उसे शाब्द व आर्थ दोनों माना है। जहाँ हि यत् यतः, इत्यादि समर्थ समर्थकभाव प्रतिपादक शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ वह शाब्द माना जाता है, और जहाँ इन पदों का अभाव रहता है वहाँ यह आर्थ रहता है। जबकि काव्यलिङ्गालङ्कार में हेतुहेतुमद्भाव केवल आर्थ ही होता है—**"अस्मिन्नलंकारे समर्थ्यसमर्थकभाव आर्थः शाब्दश्चालङ्कारता प्रयोजकः न तु काव्यलिङ्गे हेतुहेतुमदभाव इवार्थ एव।"**

रुय्यक ने ऐसी जगह भी अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार माना है, जहाँ कार्य के द्वारा कारण का समर्थन किया जाता है, अथवा कारण के द्वारा कार्य का भी समर्थन किया जाय, आगे विश्वनाथ ने भी इसी का अनुसरण किया है। परन्तु मम्मट व अप्पय्यदीक्षित आदि उक्त परिस्थिति में अर्थान्तरन्यास नहीं मानते है। व ऐसी जगहों पर काव्यलिङ्ग अलंकार मानते हैं। इस विषय में पण्डितराज ने मम्मट का ही अनुसरण किया है। और निम्न शब्दों में रुय्यक का खण्डन किया है—

"यत्तु "कारणेन कार्यस्य कार्येण वा कारणस्य समर्थनम्" इत्यपि भेदद्वय-मर्थान्तरन्यासस्यालंकारसर्वस्वकारो न्यरुपयत्, तत्र, तस्य काव्यलिङ्गविषय-त्वात्, अन्यथा "वपुः प्रार्दुभावात्" इति सकलालङ्कारिकसिद्धं काव्यलिङ्गो-दाहरणमसङ्गत स्यात्"।

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने अर्थान्तरन्यास अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"सामान्येन विशेषस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत् समर्थनं तदर्थान्तरन्यासः"। सामान्य अर्थ से विशेष अर्थ को, अथवा विशेष अर्थ से सामान्य का जो समर्थन किया जाता है (इस तरह के समर्थन को) अर्थान्तरन्यास अलंकार कहते हैं।

समर्थन का अर्थ है यहाँ दृढ़ प्रतीति, या निश्चय, जो किसी वस्तु के विषय में होनेवाले "यह ऐसा होगा, अथवा ऐसा नहीं होगा" इस प्रकार के सन्देह को, रोकने के लिए "ऐसा ही है" इस रूप में होती है—**"समर्थनं चेदमेवमनेवं वा स्या-दिति संशयस्य प्रतिबन्धक इदमित्थमेवेति दृढप्रत्ययः, निश्चय इति यावत्"।**

इस प्रकार रसगङ्गाधर में उक्त अलंकार के सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन और विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन, साधर्म्य व वैधर्म्य के द्वारा समर्थन इत्यादि अनेक भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन —

उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूच्छां गतो मृतो वा रोगानपहरति पारदः सकलान्॥

सद्गुणयुक्त पुरुष विपत्ति में पड़कर भी दूसरों का उपकार ही करता है। मूर्च्छित अथवा मृत भी पारद (पारा) सब रोगों का अपहरण करता है। उक्त पद्य में मूर्च्छित पारद से जो कि अप्रस्तुत है, रोगापहरणरूप विशेष द्वारा विपद्गत सद्गुण पुरुष के द्वारा किये जाने वाले उपकार-रूप प्रस्तुत सामान्य अर्थ का समर्थन किया जा रहा है।

साधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन—

अहन्नेको रणे रामो यातुधाननेकशः।
असहाया महात्मानो यान्ति कांचन वीरताम् ।।

"अकेले रामचन्द्र जी ने युद्ध में अनेक राक्षसों को मारा। महापुरुष असहाय होकर भी अनिर्वचनीय वीरता को प्राप्त कर लेते हैं"। उक्त पद्य में अकेले राम द्वारा अनेक राक्षसों के हननरूप प्रस्तुत विशेष का समर्थन, असहाय महापुरुष द्वारा वीरताप्राप्तिरूप अप्रस्तुत सामान्य से हुआ है।

यदि उक्त पद्य में ही उत्तरार्ध का अर्थात् तृतीय व चतुर्थ चरण का परिवर्तन कर दिया जाय "असहायाः" इत्यादि की जगह "नूनं सहाय सम्पत्तिमपेक्षन्ते बलोज्झिताः" इत्यादि कर दिया जाय, तो यही पद्य वैधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष के समर्थन का उदाहरण हो जाता है। अर्थात् निश्चय ही सहायसम्पत्ति की अपेक्षा निर्बल किया करते हैं। तब पूर्वार्धगत "एकाकी राम द्वारा सकल, राक्षस, हनन" इस विशेष का "निर्बल को सहायक की अपेक्षा होती है" इस सामान्य (वैधर्म्य) द्वारासमर्थन हो जाता है। अतः यह परिवर्तित पद्य ही वैधर्म्य का भी उदाहरण बन जाता है।

अनुमान

अनुमान शास्त्र तथा काव्य दोनों के क्षेत्र में इसका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। अथवा इसको हम इस तरह भी कह सकते हैं कि अनुमान दर्शनशास्त्र,लोकव्यवहार व काव्यक्षेत्र में समानरूप से उपयोगी है। लोक व शास्त्र में इसका स्वरूप सीधा होता है, पर कार्यक्षेत्र में यह अनुमान कविप्रतिभोत्थित होता है। तभी उसमें विलक्षणता भी आती है। जैसा कि कविराज विश्वनाथ का कथन है—**"अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्"**।

अर्थात् अनुमान वह अलंकार है, जहाँ विचित्रता के साथ हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान कराया जाता है। मम्मट ने भी अपने काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ में, इसी प्रकार का लक्षण किया है—

"अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः"। अर्थात्—**"साध्यत्वेन साधनत्वेन च यत् प्रतिपादनं तदनुमानम् उक्तम्"**।

वृत्ति में उन्होंने इसे और स्पष्ट किया है—

पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम् ।
धर्मिणि, अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम् ।

अर्थात् पक्षधर्मत्वेन, अन्वयित्वेन, व्यतिरेकित्वेन यह हेतु तीन प्रकार का होता है । इसी को हम क्रमशः पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, तथा विपक्षासत्त्व भी कह सकते हैं । तात्पर्य यह है कि जहाँ साध्य वह्न्यादि का सन्देह होता है, अर्थात् जिसमें साध्य का अनुमान किया जाता है, वह पर्वतादि **पक्ष** कहलाता है ।[1] उस पर्वतादि पक्ष में हेतु धूमादि की वृत्तिता अर्थात् वर्तमानता ही **पक्षधर्मत्व** है । और निश्चित साध्यवाले महानसादि पाकशाला आदि सपक्ष में हेतु धूम की वृत्तिता ही सपक्षान्वयित्व या **सपक्षसत्त्व** है । और निश्चितसाध्याभाव वाले जगहों में अर्थात् जलह्रदादि में हेतु धूम का न रहना ही व्यतिरेकित्व या **विपक्षासत्त्व** है ।

इस प्रकार धर्मी, हेतुमान् पक्ष पर्वतादि में, व्यापक-अर्थात् हेतु की अपेक्षा अधिक देश में रहने वाले अभाव का अभाव-अवश्यसत्तारूप वह्न्यादि का अयोगव्यवच्छेद, अर्थात् नियत सम्बन्ध से वर्तमानता, ही साध्यता है ।[2] परन्तु इस प्रकार का अनुमान काव्यजगत् में तब माना जाता है, जब कि वह कवि-प्रतिभा से चमत्कृत हो, अन्यथा तो वह अनुमान ही है न कि अनुमानालङ्कार, जैसा कि अलंकारसर्वस्व की विमर्शिनी टीकाकार का कथन भी है—

"अतश्चास्य (अनुमानालङ्कारस्य) कवि-कर्मैव वैलक्षण्यनिमित्तमिति भावः एवं च कविकर्माभावाद् यद् विच्छित्तिविशेषाश्रयणं न स्यात्, तत्र नायमलङ्कारः ।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में अनुमानालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—**"अनुमितिकरणमनुमानम्"** । अर्थात् अनुमितिरूप ज्ञान विशेष के कारण को अनुमान कहते हैं । इस संक्षिप्त लक्षण का विशदीकरण इस प्रकार है—

अनुमितिश्चानुमितित्ववती । अनुमितित्वं चानुमिनोमीति मानससाक्षात्कारसाक्षिको जातिविशेषः । व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मतानिश्चयजन्यज्ञानं वानुमितिः ।

---

1. सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः (तर्कसंग्रह) अथवा यज्ञानुमिनोति सः पक्षः यथा "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यादौ पर्वतादि, पक्षः ।

2. यथा "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यादौ पर्वते पक्षे धूमस्य हेतोर्वृत्तित्वमस्ति, एवं वह्निरूपसाध्यनिश्चयवति महानसेऽपि धूमस्य हेतोर्वृत्तित्वमस्ति, तथा वह्निरूपसाध्याभावनिश्चयवति जलह्रदे धूमस्य हेतोर्वृत्तित्वं नास्तीति त्रिरूपेण धूमेन हेतुना पर्वते पक्षे साध्यस्य वह्नेरनुमानं भवति ।"

तस्याश्च कारणं व्याप्तिप्रकारकलिङ्गनिश्चय इत्येके । व्याप्यत्वेन निश्चीयमानं लिङ्गमित्यपरे, इदं च साधारणमनुमानम् । अस्य च कविप्रतिभोल्लिखित्वेन चमत्कारित्वे काव्यालङ्कारता ।

अर्थात्---अनुमितित्व से युक्त ज्ञान को अनुमिति कहते हैं । और यह अनुमितित्व एक प्रकार की जाति है, जिसमें प्रमाण है, "मैं अनुमिति करता हूँ" इस प्रकार का मानस साक्षात्कार या मानस बोध अथवा अनुव्यवसाय ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि व्याप्ति प्रकारक पक्षधर्मता के निश्चय से होने वाला जो ज्ञान अर्थात् "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञान ही अनुमिति है और इसका कारण अर्थात् असाधारण कारण है लिङ्ग (हेतु) का निश्चय जिसमें व्याप्ति प्रकार हुई हो, अर्थात् "धूमो वह्निव्याप्यः" इत्याकारक निश्चय, ऐसे निश्चय का विषयीभूत धूम लिङ्ग जिसमें कारण हो ।

तात्पर्य यह है कि "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः" इत्याकारक धूमवह्नि के अथवा साध्य व हेतु के नियत-सहचार को विशेषण बनाकर पक्ष पर्वतादि में धूम की सत्ता को जानकर, इस पक्षधर्मता के ज्ञान के बल से तद्व्याप्य—अर्थात् धूम की व्याप्ति का आश्रय वह वह्नि भी पर्वत में होगी, अतः यह पर्वत वह्निवान् है ऐसा ज्ञान ही अनुमान है ।[1]

अन्य विद्वानों का कहना है कि व्याप्यरूप से निश्चित किया जाने वाले हेतु ही अनुमिति का कारण है ।

उक्त दोनों कथनों का सारांश टीकाकारों की दृष्टि में इस प्रकार है—

पूर्वमत में हेतुज्ञान को अनुमिति का कारण माना है, जो कि सर्वसम्मत है । पर दूसरे मत में ज्ञायमान हेतु को अनुमिति का कारण माना है, जो उचित नहीं है, क्योंकि इससे अतीत व अनागत हेतु जन्य अनुमिति न हो सकेगी । इस विषय में कारिकावली का यह वचन प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं "अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा" इत्यादि । परन्तु पण्डितराज का काव्यालङ्कार-विषयक अनुमान के प्रसङ्ग में अपना कुछ विचित्र ही सिद्धान्त है, न तो यहाँ ज्ञायमान लिङ्ग ही अनुमिति का कारण है और न लिङ्गज्ञान ही । यदि ज्ञायमान लिङ्ग को अनुमिति का कारण माना जाय तब तो उक्त अलंकार के प्रसङ्ग में केवल वाच्य अनुमानालङ्कार ही हो सकता है, न कि लक्ष्य व व्यङ्ग्य, क्योंकि लिङ्ग वाच्य ही होता है । यदि लिङ्गज्ञान

---

1. व्याप्तिम् (साध्यहेत्वोः सहचारम्) विशेषणीकृत्य पक्षस्य पर्वतादेः, धर्मोऽयमिति, (धूमः पर्वतेऽस्ति ततस्तद्व्याप्योवह्निरपि साधयितुं शक्यः) निश्चायाज्जनितं (पर्वतो) वह्निमान्, इत्यादि ज्ञानम् । (सरला टीका)

को ही अनुमिति का करण माना जाय तब, वाच्य व लक्ष्य अनुमानालंकार नहीं हो सकते हैं, क्योंकि लिङ्गज्ञान का वाचक व लक्षक पद कहीं नहीं रहता है, अपितु अनुमान के प्रतीयमान व ध्वन्यमान ये दो ही भेद हो सकेंगे।

अतः अनुमिति ही अनुमान है, न कि अनुमिति का करण, अर्थात् जहाँ कवि-प्रतिभाजन्य अनुमिति हो वहीं अनुमानालंकार होता है।

यहाँ यह अनुमान पद भी इसी अनुमिति अर्थ में प्रयुक्त है। जिस प्रकार अनु पूर्वक मा धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय होता है, उसी प्रकार भाव में भी ल्युट् प्रत्यय हो सकता है—अत एव अनुमान शब्द का अनुमिति व अनुमितिकरण ये दोनों अर्थ हो सकते हैं।

"एवमेषा व्यवस्था न प्रागुक्ते करणमनुमानमिति नये सङ्गच्छते। करणस्य ज्ञायमानलिङ्गत्वपक्षे वाच्यतायाः केवलाया आपत्तेः, लिङ्गज्ञानत्वपक्ष वाच्यत्वलक्षत्वयो सापत्तेः। अतोऽनुमितीरेवानुमानम्। तस्याश्च वाच्यत्व-लक्षत्वं-प्रतीयमानत्व-ध्वन्यत्वानां साम्राज्यम्, ल्युटश्च करण इव भावे-ऽपीति।"

अनुमानालंकार का उदाहरण

तस्मिन्मणीव्रातहतान्धकारे पुरे नीशालोपविधानदक्षे।
सद्यो वियुक्ता दिवसावसानं कोकाः सशोकाः कथयन्ति नित्यम्॥

कवि किसी समृद्ध नगर का वर्णन कर रहा है—मणि समूह से अन्धकार के विनाश हो जाने के कारण रात्रि का नाम निशान तक मिटा देने वाले उस नगर में नित्य शोकसहित तत्काल वियुक्त चकवा-चकवी दिवस का अवसान कहते हैं, अर्थात् निरन्तर मणिमय प्रचुर प्रकाश रहने से, उस नगरी में अन्धकार कभी ठहरता ही नहीं है, अतः रात और दिन में कोई अन्तर मालूम नहीं पड़ता है, जनसाधारण को दिन के अवसान का ज्ञान चकवा-चकवी के वियोग से ही होता है।

उक्त पद्य में "कथयन्ति" इस पद का अर्थ है स्पष्ट बोध होता है और वह अनुमितिरूप है। यह बोध अनुमित्यात्मक है, क्योंकि जब जब चकवा-चकवी का वियोग होता है, तब तब दिवस का अवसान होता है, इस व्याप्ति के निश्चय से चकवा-चकवी के वियोगरूप हेतु से दिवसावसानरूप साध्य की अनुमिति होती है।[1]

---

1. यदा यदा कोक-वियोगो भवति, तदा तदा दिवसानं दृश्यते। इति कोकवियो-गस्य लिङ्गस्य दिवसावसानव्याप्यत्वनिश्चयः। एतद् रूपात् लिङ्गात् (हेतो) सम्प्रति दिवसावसानम्, कोकयोः सशोकत्वात् (वियोगात्) इति स्फुटबोधो जातः, इत्यलङ्कारः। (सरला टीका)

यद्यपि मणिव्रात के द्वारा यत्किञ्चित् अन्धकार विशेष का नाश किया जाता है, न कि अन्धकारत्वेन यावत् अन्धकार का, अथवा अन्धकारावच्छेदन यावत् अन्धकार का, परन्तु यहाँ यत्किञ्चित् प्रदेश या यत्किञ्चित् कालवर्ती अन्धकार के अभाव को अन्धकार-सामान्य के अभाव से जब तक अध्यवसित नहीं किया जायेगा तब तक उक्त नगर की निशालोप-विधान-दक्षता सिद्ध नहीं होगी, अत सामान्य के द्वारा विशेष का अध्यवसान करना पड़ेगा। अतः उस विशेष सहित अशेष अन्धकार के अभाव में तत् सहचरित अर्थात् तत्सम्बन्धी निशा का भी अभाव रहेगा, जब इस प्रकार निशा का अभाव रहेगा, तब दिवस के अवसान का भी पता नहीं चलेगा, अतः कोक-वियोगरूप लिङ्ग से दिवसान की अनुमिति हो जायेगी।

यथासंख्य

पूर्व-निर्दिष्ट पदार्थों का पश्चात् निर्दिष्ट पदार्थों के साथ सम्बन्ध-विशेष को यथासंख्य अलंकार कहते हैं। उक्त अलंकार के विवेचन के प्रसङ्ग में आचार्य रुय्यक की यह उक्ति बहुत सुन्दर मालूम पड़ती है—

"उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानूद्देशो यथासंख्यम्"

अर्थात् उद्दिष्ट पदार्थों का पश्चात् निर्दिष्ट पदार्थों के साथ क्रमान्वय ही यथासंख्य है। उक्त लक्षण की उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

"उर्ध्वं निर्दिष्टाः, उद्दिष्टाः। पश्चान्निर्देशो अनुद्देशः। स चार्थादर्थान्तरर्गतः सम्बन्धश्चात्र सामर्थ्यात् प्रतीयते। उर्ध्वं निर्दिष्टानामर्थानां पश्चान्निर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण सम्बन्धो यथासंख्यमिति वाक्यार्थः"

अप्पय्यदीक्षित ने कारक अथवा क्रियाओं के परस्पर क्रमिक अन्वय को यथासंख्य अलंकार कहा है। इनके द्वारा प्रस्तुत सरल लक्षण तथा उदाहरण इस प्रकार है—

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।
शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय॥

पण्डितराज का लक्षण इस प्रकार है—

"उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम्"

जिस क्रम से शब्दों का उच्चारण किया जाय उसी क्रम से होनेवाला उन शब्दों के अर्थों का परस्पर अन्वय यथासंख्य नाम का अलंकार है। "यथासंख्यम्" इस पद की यौगिक व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुये लिखते हैं—**"पदार्थानतिवृत्तिरूपे यथार्थेऽव्ययीभावः। संख्याया अनतिवृत्तिश्च प्रथमस्य प्रथमेनैव द्वितीयस्य द्वितीयेनैवेत्यादिक्रमेण सम्बन्धे भवतीति योगार्थ एव लक्षणम्।**

अर्थात् "यथासंख्यम्" इस शब्द में "अव्यय विभक्ति" इत्यादि पाणिनि सूत्र से यथा के अर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ है। यद्यपि व्याकरण-शास्त्र के अनुसार "यथा" शब्द के चार अर्थ होते हैं— "योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति व सादृश्य" परन्तु यहाँ यथा शब्द का अर्थ पदार्थानतिवृत्तिरूप ही है। अभिप्राय यह है कि यहाँ उक्त समास के अनुसार 'यथा' शब्द का पदार्थानतिवृत्तिरूप ग्रहण करते हुए, "यथासंख्यम्" शब्द का विग्रह इस प्रकार होगा—

"संख्यामनतिक्रम्य प्रवर्तते इति यथासंख्यम्"

अर्थात् संख्या का अतिक्रमण न करके प्रवृत्त होने वाला, संख्या का अनतिक्रमण यहाँ प्रथम का प्रथम के साथ और द्वितीय का द्वितीय के साथ सम्बन्ध का होना है। फलतः यथासंख्य शब्द का यौगिक अर्थ ही यथासंख्य अलंकार का लक्षण बन जाता है।

उदाहरण

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः ॥

युवावस्था के प्रादुर्भाव से अत्यन्त शङ्कित और शील, शूरता, बल तथा कान्ति से क्षुब्ध सीता जी के नेत्र कमलों की शोभायें, भगवान् रामचन्द्र जी के विषय में संकुचित तथा विकसित हो रही हैं, उक्त पद्य में "यौवनोद्गमनितान्तशंकिताः" इस प्रथम पद का "संकुचन्ति" इस प्रथम क्रिया के साथ अन्वय है। और "शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः" इस द्वितीय पद का अन्वय "विकसन्ति" इस द्वितीय क्रिया के साथ क्रमिक अन्वय होने से यह यथासंख्या अलङ्कार का उदाहरण है।

अभिप्राय यह है कि युवावस्थाजन्य सहज सौकुमार्य के साथ लज्जातिशय के कारण सशङ्क उन नेत्रों का युवावस्थाविशेष रामचन्द्र जी के विषय में संकोच हो जाना स्वाभाविक ही है और शीलशौर्यादिगुणसम्पन्न रामचन्द्रजी के दर्शन में लालायित होने से भगवती सीता जी के नेत्र-सरोजों को विकास भी सहज ही है। उक्त पद्य में तत्तत् अवस्थाविशेष नयनों के संकोच व विकास से शंका व औत्सुक्य भावों की संधि प्रधानतया ध्वनित होती है। इसी का यथासंख्य उपस्कार करता है, अतएव यहाँ यथासंख्य अलंकार है। यहाँ का यह क्रमिक अन्वय शाब्द है, क्योंकि विशेषण व विशेष्य में परस्पर समास नहीं है।

पण्डितराज यथासंख्य अलंकार को अलंकार कोटि में मानने को तैयार नहीं हैं। आपका कहना है कि उक्त अलंकार में अलंकारता का जीवनभूत तत्त्व कवि-प्रतिभा-निर्मितत्त्व का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं है, जिससे कि इसे अलंकार माना जाय। उद्भट मतानुयायी भले ही इसे अलंकार रूप में मान्यता दें और वामन

इसका नाम बदलकर क्रमिक नाम से इसे अलंकार मानें, पर हमें तो इसका अलंकारत्व स्वीकार्य नहीं है ।

पर्याय-अलङ्कार

एक आधेय जब क्रमश अनेक: आधारों में रहे, तब पर्याय नामक अलंकार होता है, अथवा एक ही आधार में जहाँ अनेक आधेयों का क्रमश: वर्णन हो वह दूसरे प्रकार का पर्याय होता है ।

पर्याय पद की निष्पत्ति पण्डितराज ने अपने रसगङ्गाधर में इस प्रकार दिखलाई है—परि उपसर्ग पूर्वक इण् धातु से अनुपात्यय (क्रम प्राप्त का अनतिक्रमण) द्योत्य रहने पर घञ् प्रत्यय होता है, तब पर्याय यह शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है क्रम प्राप्त का अनतिक्रमण मात्र, इतने ही अर्थात् योगार्थ से उक्त अलंकार का निर्वाह नहीं हो सकता है । क्योंकि इतने से आधाराधेयभाव की प्रतीति नहीं होती है, जो कि उक्त अलंकार की भित्ति है । अत: पर्यायालंकार का अलग से लक्षण इस प्रकार होगा—

"क्रमेणानेकाधिकरणमेकमाधेयमेकपर्याय:, क्रमेणानेकाधेयकमेकमधिकरणमपर:" ।।

क्रम से अनेक अधिकरण वाला एक आधेय, एक प्रकार का पर्याय है और क्रम से अनेक आधेय वाला एक अधिकरण जिसमें हो वह दूसरा पर्याय है ।

अनेक अधिकरणों में एक आधेय का उदाहरण—

आयाता कमलासनस्य भवनाद् द्रष्टुं त्रिलोकीतलं,
गीर्वाणेषु दिनानि कानिचिदथो नीत्वा पुन: कौतुकात् ।
भ्रान्त्वा भूवलये महाकविकुलोपास्या तवास्याम्बुजे,
राजन् सम्प्रति सत्यधामनि गिरां देवी सुखं वर्तते ।।

"वाग्देवी सरस्वती ब्रह्मलोक से त्रिलोकीतल अर्थात् देवलोक व भूलोक को देखने के लिए आईं । कुछ दिन उसने देवलोक में बिताए, तदनन्तर कौतुक से महाकवि-कुल-सेवनीया वह भूमण्डल में भ्रमण करती रहीं । हे राजन् ! अब वह सत्य के निवासस्थानभूत तुम्हारे मुख-कमल में सुखपूर्वक रह रही हैं ।" उक्त पद्य में ब्रह्मलोक-भूलोक आदि अनेक अधिकरणों में सरस्वतीरूप एक आधेय के क्रमिक स्थिति के वर्णन से पर्यायालङ्कार है ।

पण्डितराज कुवलयानन्दकार के निम्न उदाहरण से सहमत नहीं हैं कि उसमें पर्यायालङ्कार माना जाय, पण्डितराज की सम्मति में वक्ष्यमाण इस पद्य में सार

अलंकार ही उचित है जिसे रत्नाकरकार वर्धमानक अलंकार कहते हैं। यह पद्य इस प्रकार है—

विम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत।
अधुना मृगशावाक्षि हृदयेऽप्येष दृश्यते॥

उक्त पद्य में पण्डितराज की अरुचि इसलिए है, क्योंकि यहाँ राग पूर्व अधिकरण को न छोड़ते हुए उत्तर अधिकरण में वर्णित हुआ है जबकि पर्यायालंकार में आधेय वस्तु को पूर्वाधिकरण छोड़ देना उचित है। तदनन्तर उत्तर अधिकरण के साथ सम्बन्ध स्थापित करना जैसा कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के द्वारा प्रदर्शित उदाहरण "श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुताम्" इत्यादि में व अलंकार-सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक द्वारा प्रदत्त उदाहरण "नन्वाश्रयस्थितिरियं" इत्यादि में प्रदर्शित किया गया है।

परिवृत्ति

परिवृत्ति का अर्थ है विनिमय, अर्थात् एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु का लेना। अलंकार-सर्वस्वकार के शब्दों में इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

"विनिमयोऽत्र किञ्चित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्"।

आचार्य मम्मट ने "विनिमय" का अर्थ किया है, किसी व्यक्ति के द्वारा अपनी कोई वस्तु देकर दूसरे से उसकी किसी भी वस्तु का लेना।

परिवृत्ति अलंकार के प्रसङ्ग में प्राचीनों के द्वारा उदाहृत यह पद्य कितना सुन्दर है।

तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना।
येन जर्जरकलेवरव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्वलं यशः॥

जिस जटायु ने अपने जर्जर शरीर को देखकर चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल यश को खरीदा, उस वृद्ध जटायु के मरने पर आप शोक क्यों कर रहे हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में परिवृत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है।

"परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्टं, परस्मै स्वकीयवत् किञ्चिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तिः"।

दूसरे की किसी वस्तु को लेकर, उसके बदले में अपनी किसी वस्तु का उसके लिए समर्पण परिवृत्ति अलंकार कहलाता है। यह प्रथमतः दो प्रकार का होता है। सम परिवृत्ति और विषम परिवृत्ति, पुनः समपरिवृत्ति भी दो प्रकार का होता है।

उत्तम वस्तु से उत्तम वस्तु का आदान, और न्यून वस्तु से न्यून वस्तु का आदान, विषमपरिवृत्ति भी दो प्रकार का होता है। उत्तम वस्तु से न्यून वस्तु का और न्यून वस्तु से उत्तम वस्तु का आदान।

सम व विषम परिवृति का उदाहरण

अङ्गानि दत्त्वा हेमाङ्गि प्राणान् क्रीणासि चेन्नृणाम्।
युक्तमेतन्न तु पुनर्लोचनाम्बुरुहद्वयम्॥

हे सुवर्णाङ्गि ! यदि तुम अपने (सुवर्णमय) अङ्गों को देकर मनुष्यों के प्राण खरीद लेती हो, तो यह उचित है। (क्योंकि प्राणों के मूल्य से तेरे सुवर्णमय अङ्गों का मूल्य समान है)। परन्तु अपने दो नेत्र कमलों को देकर जो तुम मनुष्यों के प्राण खरीद लेती हो, यह उचित नहीं, (क्योंकि कहाँ तो नेत्र-रूप दो फूल और कहाँ प्राण इन दोनों के मूल्यों में कोई समता नहीं है)। उक्त पद्य का पूर्वार्ध सम-परिवृत्ति का उदाहरण है। क्योंकि इसमें उत्तम से उत्तम का विनिमय हुआ है। उत्तरार्ध विषम परिवृत्ति का है क्योंकि इसमें अनुत्तम से उत्तम का विनिमय हुआ है। परिवृत्ति अलंकार में जो विनिमय अर्थात् लेन देन है उसे कविकल्पनाप्रसूत होना चाहिए, न कि वास्तव में,—**"एषु दानादानव्यवहारः कविकल्पित एव, न तु वास्तवः, यत्र वास्तवस्तत्र नालङ्कारः। यथा क्रीणन्ति प्रविकचलोचनाः समन्ता-न्युक्ताभिर्बदरफलानि यत्र बालाः"**।

अर्थात् बालाओं के द्वारा मोतियों से बेर का जो वास्तविक विनिमय करना है अर्थात् खरीदना है, वह तो उस नगर की समृद्धि का ही वर्णन है। अतः यहाँ परिवृत्ति नामक अलंकार नहीं होगा। और "विनिमय" न करके केवल समर्पण-त्याग देने में भी यह नहीं होगा, जैसे यहाँ पर **"किमित्यपास्ताभरणानि यौवने, धृतं त्वया वार्धकशोभिवल्कलम्"**।

परिसंख्या

परिसंख्या का अर्थ है वर्जनबुद्धि। पाणिनि के अनुसार "परेर्वर्जने" (8/1/5) इस सूत्र से परि शब्द का अर्थ वर्जन है और संख्या का अर्थ बुद्धि या ज्ञान है, जैसा कि गीता में भी कहा गया है—**"यत्साख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते"** इत्यादि। अतः वर्जनबुद्धि या अन्य का व्यपोह ही परिसंख्या है। इस प्रसङ्ग में आचार्य रुय्यक का यह कथन भी समुचित है कि **"कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् संख्यानं वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या"**।

अर्थात् पाक्षिक प्राप्ति के विषय में किसी अनभीष्ट वस्तु का परित्याग कर अभीष्ट वस्तु का संख्यान वर्णनीयत्वेन परिगणन करना या स्थापन करना परिसंख्या कहलाता है। यही परिसंख्या जब कवि की प्रतिभा का विषय बनती है तब इसे

परिसंख्या अलंकार कहते हैं ।

यद्यपि मीमांसा दर्शन के अनुसार "नियमः पाक्षिके सति" इत्यादि वचनों से यह पाक्षिक-प्राप्ति रूपार्थ नियम के ही अन्तर्गत आता है परन्तु वैय्याकरणों की तरह आलंकारिकों ने भी पाक्षिक-प्राप्तिरूप व युगपत् प्राप्तिरूप नियम व परिसंख्या का कोई अवान्तर भेद न मानकर एक जैसा ही माना है । मीमांसा दर्शन में विधि, नियम व परिसंख्या का स्वरूप पृथक्-पृथक् दिखलाया है—

विधिरत्यन्तमप्राप्ते, नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते, परिसंख्येति गीयते ।।

अर्थात् सर्वथा अप्राप्त, या प्रमाणान्तर से अप्राप्त में अपूर्व विधि होती है, वैकल्पिक प्राप्ति में एकत्र नियमन में नियमविधि होती है, और एक साथ उसमें व अन्यत्र दोनों जगह प्राप्त होने पर अन्यत्र के वर्जन में परिसंख्याविधि होती है ।

(1) अपूर्व विधि का उदाहरण—"स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्य हैं । यहाँ यज्ञ आदि किसी अन्य प्रमाण से या रागतः प्राप्त नहीं है आदि । "स्वर्गकामो यजेत" इसी वैदिक विधि वाक्य से प्राप्त है, अतः इसे अपूर्व विधि कहते हैं ।

(2) नियम विधि का उदाहरण—"व्रीहीनवहन्ति" इत्यादि वाक्य हैं । या "समे देशे यजेत" इत्यादि । यहाँ पुरोडाश (हवन के लिए विशिष्ट विधि से पकाये गये अन्न) के निर्माण के लिए व्रीहि की वितुषता अपेक्षित है । यद्यपि व्रीहियों की यह वितुषता, नखविदलन से अथवा मुसलावघात से भी हो सकती है, परन्तु "व्रीहीनवहन्ति" इत्यादि वाक्य के द्वारा मुसलावघात से ही उसकी फलोपधायकता बतलाई गई है । अतः यह अवहनन की प्राप्ति पाक्षिक होने से यह नियम विधि है ।

(3) परिसंख्या विधि का उदाहरण—"पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इत्यादि वाक्य है । यद्यपि शास्त्रतः पञ्चनखभक्षण का विधान है । जैसा कि देवलस्मृति में कहा गया है—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः ।
गोधा कूर्म शशः खड्गी शल्यकश्चेति ते स्मृताः ।।

परन्तु इस पञ्चनखभक्षण को न तो अपूर्व विधि मान सकते हैं, क्योंकि पञ्चनखभक्षण तो रागतः भी प्राप्त है । और न ही यह नियमविधि है, क्योंकि यहाँ पञ्चनखभक्षण व रागतः प्राप्त अपञ्चनखभक्षण इन दोनों की युगपत् प्राप्ति हैं । अतः पाक्षिकी प्राप्ति का अभाव है । इस प्रकार उभय पञ्चनख व अपञ्चनख दोनों की एकसाथ प्राप्ति होने से अपञ्चनखभक्षण निषेध परक यह वाक्य है, अतः अन्यत्र अप्राप्तिरूप अन्य व्यपोहपरक यह वाक्य होने से यहाँ परिसंख्या विधि है ।

अपूर्वविधि में प्रमाणान्तर से अप्राप्त वस्तु का जहाँ विधान होता है, वहाँ नियम-विधि में पाक्षिक विधान होता है। परन्तु परिसंख्या विधि में तो तात्पर्य केवल अन्य के व्यपोह अर्थात् निषेध में ही रहता है, न कि शास्त्रतः या रागतः प्राप्त के विधान में। अतः उक्त "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इत्यादि वाक्य का तात्पर्य पञ्चनख-भक्षण में नहीं है।

यह तो शास्त्रीय परिसंख्या की चर्चा हुई, काव्य जगत् की परिसंख्या का लक्षण पण्डितराज की दृष्टि में इस प्रकार है—

"सामान्यतः प्राप्तस्यार्थस्य कस्यश्चिद्विशेषाद् व्यावृत्तिः परिसंख्या"।

किसी विशेष या विलक्षण अर्थ को सूचित करने के लिए सामान्यतः प्राप्त अर्थ का निषेध करना परिसंख्या कहलाता है।

इस दर्शन में अर्थात् अलंकारशास्त्र में नियम को भी परिसंख्या के ही अन्तर्गत माना है, क्योंकि पाक्षिक प्राप्ति व युगपत्प्राप्तिरूप विशेष की कोई विवक्षा न होने से—**"नियमोऽप्यस्मिन् दर्शने निरुक्तलक्षणाक्रान्तत्वात् परिसंख्यैव, पाक्षिक-प्राप्तिर्युगपत् प्राप्तिरूपस्यावान्तरविशेषस्याविवक्षणात्।"**

यह परिसंख्या दो प्रकार की होती है, प्रश्नपूर्विका व शुद्धा,। यह दोनों प्रकार की फिर शाब्दी व आर्थी के भेद से सब मिलाकर चार भेद होते हैं।

आर्थी शुद्धा का उदाहरण

सेवायां यदि साभिलाषमसि रे लक्ष्मीपतिः सेव्यताम्,
चिन्तायामसि सस्पृहं यदि चिरं चक्रायुधश्चिन्त्यताम्।
आलापं यदि काङ्क्षते मधुरिपोर्गाथा तदालप्यताम्,
स्वापं वाञ्छसि चेन्निरर्गल सुखे चेतः सखे सुप्यताम्॥

हे सखे चित्त! यदि तुम सेवा करने की अभिलाषा रखते हो तो लक्ष्मीपति विष्णुभगवान् की सेवा कर। यदि चिन्ता करने की इच्छा है तो चिरकाल तक चक्रायुध (विष्णु) की चिन्ता किया कर। यदि बात करने की इच्छा है, तब मधुसूदन (विष्णु) की कथा की बात कर। और यदि सोना चाहता है तब प्रतिबन्ध-रहित अर्थात् मोक्ष सुख में सो जा। यहाँ भगवान् विष्णु की कथा से अतिरिक्त सांसारिक पदार्थों का चिन्तन तो रागतः प्राप्त है। अतः अन्य विषयों की चिन्ता न करें, जो कि स्वतः प्राप्त है। यहाँ तात्पर्य अन्य विषयों में उक्त क्रियाओं की कर्मता की निवृत्ति में तात्पर्य है। यह अर्थतः प्राप्त होने से यह आर्थी है और शुद्धा है।

प्रश्नपूर्विका आर्थी का उदाहरण

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किं रत्नमच्छा मतिः,
किं शास्त्र श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदयः।

किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधः सखे,
कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनासञ्चयः ॥

हे सखे ! तीर्थ क्या है ? भगवान् के चरण-कमल का भजन । रत्न क्या है ? स्वच्छ बुद्धि । शास्त्र क्या है जिसके सुनने से द्वैतरूप अन्धकार का उदय नष्ट हो जाता है । निरन्तर उपकार में रसिक मित्र कौन है ? तत्त्वज्ञान कष्ट देने में निपुण शत्रु कौन है ? दुर्वासनाओं का सञ्चय । उक्त पद्य में "भगवच्चरणभजनादिक" ही तीर्थादिक हैं, अन्य नहीं । यह अर्थ तात्पर्यमर्यादा से अवगत होता है । शब्द से नहीं, अतः यह आर्थी प्रश्नपूर्विका परिसंख्या है ।

शुद्धा शाब्दी परिसंख्या का उदाहरण

तीर्थं गङ्गा तदितरदपां निर्मलं सङ्घमात्रम्,
देवौ तस्याः प्रसवनिलयौ नाकिनोऽन्ये वराकाः ।
सा यत्रास्ते स हि जनपदो मृत्तिकामात्रमन्यत्,
तां यो नित्यं नमति स बुधो बोधशून्यस्ततोऽन्यः ॥

तीर्थ तो गङ्गा है, उससे भिन्न जिन्हें सामान्यतः तीर्थ कहते हैं, वे तो केवल जल का निर्मल संघ हैं । देव तो दो ही हैं । एक तो गङ्गा के उत्पत्तिस्थान हरि और गङ्गा के निवासस्थान हर और बेचारे तो स्वर्गवासीमात्र हैं । जनपद या देश वही है, जहाँ गङ्गा बहती है, अन्य स्थान तो मृत्रिकामात्र हैं । गङ्गा को जो नित्य प्रणाम करता है, वही ज्ञानवान् पण्डित है, उससे भिन्न जन तो अज्ञानी मूर्ख हैं । उक्त पद्य में "मात्र" आदि पदों से शब्दतः ही अन्य तीर्थादि का निषेध किया गया है, अतः यह शाब्दी व शुद्धा परिसंख्या है ।

प्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसंख्या का उदाहरण

किं मित्रमन्ते सुकृतं न लोकाः किं ध्येयमीशस्य पदं न तोकाः ।
किं काम्यमव्याजसुखं न भोगाः किं जल्पनीयं हरिनाम नान्यत् ॥

अन्त में कौन मित्र होता है पुण्य न कि लोग । अन्त में ध्यान किसका करना चाहिए ? ईश्वर के चरणों का न कि बाल बच्चों का । एषणा (अभिलाषा) किसकी करनी चाहिए ? निश्छल सुख (मोक्ष) की, न कि सांसारिक भोगों की । क्या बोलना चाहिए ? भगवन्नाम, और कुछ नहीं ।

उक्त पद्य में लोकादि का निषेध नञादि शब्दों द्वारा स्पष्टतः प्रतीत होने से यह शाब्दी प्रश्नपूर्विका परिसंख्या है ।

उक्त उदाहरणों को पण्डितराज ने केवल प्राचीनों के अनुरोध से प्रदर्शित किया है । वस्तुतः जहाँ अर्थतः प्रतीत होने वाला निषेध जहाँ कवि प्रतिभा के द्वारा निर्मित हो, वहीं परिसंख्या अलंकार होता है । इस प्रकार "यस्मिन् शासति वसु-

मतीपाकशासने महानसेषु सन्तापः, शरधिहृदयेषु सशल्यता, मञ्जीरेषु मौखर्यम्, भेरीषु ताडनम्, कामिनीनां कुन्तलेषु कौटिल्यम्, गतिषु मान्धम्" इत्यादि स्थलों में या इसी प्रकार के पद्यों में अथवा सुबन्धु-बाणादि के इस प्रकार के गद्यबन्धों में ही परिसंख्या अलंकार हो सकता है। पूर्व-उदाहृत पद्यों में "सेवायां यदि साभिलाषमसि" इत्यादि पद्य में केवल परिसंख्या है, न कि अलङ्कार। और "किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनम्" इत्यादि में प्रश्नपूर्वक दृढ़ारोपरूपक ही है और "तीर्थं गङ्गा तदितरमपां निर्मलम्" इत्यादि में भी केवल परिसंख्या ही है।

अर्थापत्ति

अर्थापत्ति शब्द का सीधा-सीधा अर्थ तो यह है कि जहाँ एक अर्थ से अनायास दूसरे अर्थ की प्रतीति हो। सोमेश्वर ने अपने काव्यप्रकाश की संकेत टीका में इसी प्रकार की अर्थापत्ति शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई है—**"अर्थादर्थस्यापत्तिरापतनमर्थापत्तिरिति"** काव्यक्षेत्र में यह अर्थापत्ति तब अलंकार का रूप धारण करती है, जब कि समान न्याय अर्थात् समान युक्ति के द्वारा एक उपपन्न अर्थ से दूसरे उपपाद्यमान अर्थ की कवि-कल्पना के साथ आपत्ति (प्रतीति) कराई जाय।

जिस प्रकार अनुमान लोक, शास्त्र व काव्य तीनों क्षेत्रों का विषय रहा है, उसी प्रकार यह अर्थापत्ति लोक, शास्त्र व काव्य तीनों क्षेत्रों में वर्णित है। यद्यपि सांख्य-योग दर्शन व न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन अर्थापत्ति को अनुमान प्रमाण में ही गतार्थ कर देते हैं, पृथक् से इसे प्रमाण नहीं मानते हैं। पर मीमांसा दर्शन इसे स्वतन्त्ररूप से प्रमाण मानता है। इस दर्शन में युक्ति-पूर्वक इसका विवेचन भी हुआ है। कुमारिल भट्ट अपने श्लोकवार्तिक में इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता॥

अर्थात् प्रत्यक्ष-उपपन्न अर्थ को देखकर, जहाँ उसके उपपादक अन्य अर्थ की कल्पना की जाय वह अर्थापत्ति प्रमाण है। इसमें उपपाद्य ज्ञान से उपपादक ज्ञान की कल्पना की जाती है। जब हम यह देखते हैं कि "पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" देवदत मोटा है, पर दिन में खाना नहीं खाता है, तब यह कल्पना कर ली जाती है कि "देवदत्त रात्रौ भुङ्क्ते" देवदत्त रात में अवश्य खोता होगा, यहाँ देवदत्त की पीनता अथात् मोटाई उपपाद्य है, इसके ज्ञान से इसके उपपादक रात्रि-भोजन की कल्पना ही अर्थापत्ति है, अर्थात् पीनत्वरूप अर्थ के द्वारा रात्रिभोजनरूप अर्थान्तर की आपत्ति, आपतन, कल्पना करना ही अर्थापत्ति है। यहाँ उपपाद्यज्ञान अर्थात् पीनत्व जो कि उपपादक ज्ञान रात्रिभोजन का करण है, वह भी अर्थापत्ति है, और उपपादक कल्पना अर्थात् रात्रि-भोजन, जो कि उपपाद्य ज्ञान का फल है, वह भी अर्थापत्ति है।

तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने अपनी तर्कभाषा में बड़े सुन्दर शब्दों में इसका विवेचन किया है, जो इस प्रकार है—

"नन्वर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति। अनुपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः। तथाहि "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" इति, दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। दिवाभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः, पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रि-भोजने प्रमाणम्। तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं, रात्रि-भोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्।

मीमांसकों के इस अर्थापत्ति प्रमाण में कोई विशेष वाच्यवैचित्र्य के न होने से, यह अलंकारकोटि में प्रविष्ट नहीं हो सकती है, अर्थात् इसे अर्थापत्ति अलंकार नहीं कहा जा सकता है, जैसा कि पण्डितराज का कथन है—

"अस्यां चार्थान्तरं लोकेऽविद्यमानमपि कविना स्वप्रतिभया कल्पयित्वा-यदापाद्यते तदालङ्कारत्वम्" इत्यादि।

अतः उक्त आलङ्कारिकों की अर्थापत्ति अलंकार का न तो मीमांसकों की शुष्क अर्थापत्ति प्रमाण में अन्तर्भाव किया जा सकता है, और न तार्किकों के अनुमानालंकार में ही इसका समावेश हो सकता है। क्योंकि समानन्यायमूलक एक अर्थ से अर्थान्तर की आपादकता में न तो व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध ही बन सकता है, जैसा कि धूम व अग्नि का है, और न पक्षधर्मता ही बन सकती है, यहाँ तो इस प्रकार का अर्थ भी हो सकता है, ऐसी सम्भावना हो सकती है, न कि निश्चय, जो कि अनुमान का प्रधान गुण है।

अथवा काव्यप्रकाशकारादि-सम्मत यदि अर्थक अतिशयोक्ति में भी इसे गतार्थ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उसमें पर्यन्त में प्रकृत व अप्रकृत दोनों अर्थों की विश्रान्ति विपरीतार्थ में ही होती है, परन्तु यहाँ तो आपादक के सिद्ध होने से, तथा आपादक अर्थ के सम्भाव्यमान होने से, दोनों अर्थों की विश्रान्ति यथाश्रुत अर्थ में ही होती है, न कि विपरीत अर्थ में। तस्मात् आलंकारिकों की यह अर्थापत्ति, इन सबसे भिन्न ही है। इसका स्वरूप है—जिस न्याय (युक्ति) से एक अर्थ सिद्ध होता है, उसी न्याय से दूसरे अर्थ की भी सिद्धि होना।

"अत्र विचार्यते—नेयं वाक्यवित्सम्मतायामर्थापत्तौ निविशते। आपादकस्यार्थस्यापतितमर्थं विनानुपपत्तेरत्राभावात्, नाप्यनुमाने, आपाततोऽर्थस्यापादकासामानाधिकरणत्वेन व्याप्यत्वपक्षधर्मत्वयोर्दूरापास्तत्वात्। न च येन कारणेनैकार्थसिद्धिस्तेनैव लिङ्गेनापरार्थानुमानमिति वाच्यम्। अर्थान्तरसिद्धेरनुमित्यात्मकताविरहात्। यतोऽयमर्थोऽपि भवितुमर्हति, इति बुद्धेराकारः, न तु भवत्येवेति। नापि यद्यर्थाति-

शयोक्तौ । तस्या विपरीतार्थ एव द्वयोर्विश्रान्तेः । न चेह तथा, आपादस्य सिद्धत्वादापततश्च[1] सम्भाव्यमानत्वाद्यथाश्रुता एव विश्रान्तेः । तस्माद्येन न्यायेनैकोऽर्थः सिद्धस्तेन्नैव यायेना परोऽप्यर्थः सेद्धुमर्हतीत्येवरूपेयमर्थापत्तिः ।"

प्राचीन आचार्यों में जिन्हें अर्थापत्ति अलंकार अभीष्ट है, रुय्यक आदि ने, इसका स्वरूप-निरूपण "दण्डापूपिका" न्याय से किया है । जब चूहा दण्ड को भी भक्षण कर गया, तो उसमें रखे मालपुये को भी खा गया, यह अर्थ प्रथम दण्डभक्षण अर्थ से ही आपतित हो जाता है । इसीलिए रुय्यक ने अपने अलंकार-सर्वस्व में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

"दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः ।"

अर्थात् मूषक के द्वारा दण्ड के भक्षण कर लेने पर उस दण्ड के साथ रखे मालपुये का भक्षण तो अर्थात् ही सिद्ध है । जिस प्रकार दण्डभक्षण से अपूप-भक्षण अर्थात् आ जाता है, इसी प्रकार किसी अर्थ के सामानन्याय से अर्थात् समान युक्ति के द्वारा जहाँ अर्थान्तर का आपतन होता है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं ।

"अत्र हि मूषककर्तृकेण दण्डभक्षणेन तत्सहभाव्यपूपभक्षणमर्थात् सिद्धम् । एवं न्यायो दण्डापूपिका शब्देनोच्यते । ततश्च यथा दण्डभक्षणादपूपभक्षणमर्थायातं, तद्वत् कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तौ सामर्थ्यात् समानन्यायत्वलक्षणादर्थान्तरमापतति सार्थापत्तिः ।"

इस प्रकार अर्थापत्ति अलंकार के इतिहास में रुय्यक से लेकर विश्वनाथ तक सभी ने उक्त न्याय द्वारा इसके स्वरूप का निर्धारण किया है, परन्तु अप्पय्यदीक्षित ने उक्त न्याय में कुछ परिवर्तन कर दिया, उन्होंने "दण्डापूपिकान्याय की जगह "कैमुतिक न्याय" की स्थापना की है, उनका अर्थापत्ति अलंकार का लक्षण इस प्रकार है—

"कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते ।"

जहाँ कैमुत्य न्याय के द्वारा किसी अर्थ की सिद्धि हो वहाँ अर्थापत्ति या काव्यार्थापत्ति अलंकार होता है । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

"स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम् ।"

अर्थात् जब तुम्हारे मुख ने चन्द्रमा तक जीत लिया तो फिर कमलों की तो

---

1. उपलब्ध रसगङ्गाधरों में आपादकस्य सिद्धत्वात् के आगे आपाततश्च ऐसा पाठ है । इसकी जगह "आपाद्यस्य" यह पाठ उचित प्रतीत होता है, नागेश ने भी टीका में इसी तरह का पाठ दिया है—इह आपादकस्य सिद्धावादापाद्यस्य सम्भाव्यमानत्वमिति विशेष इति वाच्यम् ।

बात ही क्या है। तात्पर्य यह है कि "किमिति" में इसका पर्यवसान होता है, परन्तु पण्डितराज ने इसका खण्डन किया है, उन्होंने "कैमुतिक न्याय" की जगह पर "तुल्य न्याय" की चर्चा की है, उनका कहना है कि उक्त कैमुतिक न्याय द्वारा यह अर्थापत्ति केवल अधिकार्थ-विषय के द्वारा न्यूनार्थविषयक वाली ही हो सकती है, न कि न्यूनार्थ-विषय से अधिकार्थ विषय वाली।

इसीलिए पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

"केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः।"

तुल्य युक्ति के बल पर किसी एक अर्थ से दूसरे अर्थ की आपत्ति (उपस्थिति) को अर्थापत्ति कहते हैं। प्रथमतः यह अर्थापत्ति चार प्रकार की होती है। प्रकृत अर्थ से प्रकृत अर्थ की आपत्ति, अप्रकृत से अप्रकृत अर्थ की आपत्ति, और प्रकृत से अप्रकृत की, व अप्रकृत से प्रकृत की, पुनः ये चार भेद सम, न्यून, व अधिक के भेद से बारह प्रकार के हो जाते हैं।

प्रकृत से अप्रकृत व न्यूनत्व का उदाहरण—

सदैव स्नेहार्द्रे सुरतटिनि निष्किञ्चनजने,
यदि त्वं नाधत्से सुरभिरिव वत्से मयि दयाम्।
तदा चिन्तारत्नत्रिदशपतिभूमिरुहमुखा-
ददीरन्नर्थिभ्यः किमिति कणभिक्षामपि जडाः॥

कोई भक्त गङ्गा जी से कहता है—

हे गङ्गे! सदा स्नेह से आर्द्र रहने वाली तू यदि मुझ अकिञ्चन जन पर, अपनी बछिया पर गाय के समान, दया नहीं करोगी, तो फिर क्या चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदि जड पदार्थ भला याचकों को एक कण भी क्यों देने लगेंगे। तात्पर्य यह है कि जो स्नेहमयी दयार्द्रभावसम्पन्न ममतामयी मां की तरह है, वह यदि दीन दुःखियों पर दया नहीं दिखायेगी, तो फिर ये अचेतन कल्पवृक्ष इत्यादि याचकों को बहुत कुछ देंगे ऐसी आशा कैसे की जा सकती है।

उक्त पद्य में दयाभाव के अभाव से कणमात्र भिक्षा के प्राप्ति के अभाव का आपादन होने के कारण अर्थापत्ति है। यहाँ स्नेहार्द्रगङ्गारूप प्रकृत पदार्थ से कल्पवृक्ष आदि अप्रकृत पदार्थों की जडता की आपत्ति होने से न्यूनता है। पण्डितराज ने आचार्य रुय्यक द्वारा उदाहृत पद्यों को अलंकार नहीं माना है, क्योंकि इनमें कवि-कल्पना न होकर, वास्तविकता है।

विकल्पालंकार

यद्यपि विकल्प शब्द का योगार्थ **"विविधाः कल्पाः यस्मिन् स विकल्पः"** अनेक

तरह के विचार या मतों को कहा जा सकता है, अथवा "विरुद्धाः कल्पाः, यस्मिन् सः," परस्पर विरुद्ध विचार वा मतों का आश्रय कहा जा सकता है, परन्तु प्रस्थान-भेद से अनेक पदार्थों का भी अर्थ-भेद हो जाता है। जैसे यही विकल्प शब्द योगशास्त्र में शब्दज्ञान का अनुसरण करने वाला वस्तु-शून्य अर्थ का वाचक है, जैसा कि योग-सूत्र में कहा भी है—

"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।"

केवल शब्द से ही जिनका ज्ञान होता हो, वस्तुतः जिनकी कोई अपनी वस्तुत्वेन, पदार्थत्वेन सत्ता न हो ऐसे शशशृङ्गादि, खपुष्पादि पदार्थों को योग-शास्त्र में विकल्प शब्द से कहा जाता है।

व्याकरण-शास्त्र में विकल्प शब्द का पर्याय वाचक 'वा' शब्द भी है, जिसका अर्थ है, पक्ष या एक पक्ष में प्राप्ति। मीमांसा में भी करीब-करीब विकल्प शब्द का यही अर्थ लिया जाता है, "यवैर्व्रीहिभिर्वा यजेत" इत्यादि। परन्तु यह विकल्प की वास्तविक स्थिति है, जैसे—"जीवनं मरणं वास्तु नैव धर्मं त्यजाम्यहम्" इत्यादि वस्तुकथनमात्र में किसी प्रकार अलंकार की स्थिति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार तत्तत् प्रस्थानों के प्रसङ्ग में प्रदर्शित विकल्पों में भी, किसी प्रकार का चमत्कार न होने से विकल्पालंकार नहीं माना जाता है।

विकल्पालंकार की कल्पना का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक को है, जिन्होंने अपने अलंकार-सर्वस्व नामक ग्रन्थ में इसका विवेचन किया।

प्राचीन आलंकारिकों ने विकल्प के चमत्कार को सन्देहादि अलंकारों में ही देखना चाहा, अतएव वे पृथक् से इसके स्वरूप का विवेचन नहीं कर पाये, इस बात की ओर स्वयं रुय्यक ने अपने ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व में संकेत किया है—**"पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम्।"**

सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने भी इसे सर्वप्रथम रुय्यक के द्वारा प्रतिपादित माना है, इसीलिए ग्रन्थकार के लिए उन्होंने ये शब्द लिखे हैं—**अनेनास्य (विकल्पालङ्कारस्य) ग्रन्थकृद्दुपज्ञत्वमेव दर्शितम्।"**

विकल्प एक प्रकार का ज्ञान-विशेष है। इस ज्ञान-प्रकार में नियत उभय पक्ष का अवलम्बन स्वाभाविक है। "व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा" आदि वास्तविक विकल्प में कोई अलंकार नहीं। अलंकार तो उसी विकल्प में सम्भव है, जोकि कवि-प्रतिभा-प्रसूत हो, इसीलिए विकल्प अलंकार के मूल में औपम्यगर्भता या श्लेषोत्थापित औपम्यगर्भता का होना आवश्यक है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ का भी कहना है कि "इस अलंकार में विकल्पित होने वाले पदार्थों का सादृश्य जो अभिव्यक्त होता

है, वही अलंकारता का बीज है, क्योंकि उसी सादृश्य को लेकर चमत्कार की सृष्टि होती है ।

"अत्र च विकल्प्यमानयोरौपम्यमलङ्कारताबीजम् । तदादायैव चमत्कारस्योल्लासात्, अन्यथा तु विकल्पमात्रम् ।"

साथ ही साथ विकल्प को समुच्चायालंकार का प्रतिपक्षी भी माना है जिस प्रकार व्यतिरेक उपमा का प्रतिपक्षी है ।

"अयं च समुच्चयस्य प्रतिपक्षभूतो व्यतिरेक इवोपमायाः ।"

वस्तुतः समुच्चय की ही प्रतिपक्षभावना से इसका जन्म हुआ है ।

रसगङ्गाधर में विकल्पालंकार का लक्षण पण्डितराज ने इस प्रकार किया है—**"विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः ।"**

अर्थात् दो विरोधी पदार्थों की पाक्षिक (जब एक प्राप्त हो तब दूसरा प्राप्त न हो ऐसी) प्राप्ति को विकल्पालंकार कहते हैं । यद्यपि यह पाक्षिकी-प्राप्ति दो विरोधियों की शब्दतः कथित नहीं होती है, तथापि वह पाक्षिक-प्राप्ति पर्यायतः बारी-बारी से होने के कारण आर्थ ही होती है । तात्पर्य यह है कि ऐसे दो धर्मों की एक धर्मी में एक साथ प्राप्ति तो मानने योग्य नहीं होगी, क्योंकि दो विरुद्ध पदार्थ एक साथ एक अधिकरण में नहीं रह सकते हैं, इनका एक साथ न रह सकना ही विरोध है । अतः ऐसे दो धर्मों का जो एक धर्मी में वर्णन रहता है, उसका तात्पर्य होता है, उन धर्मों की पाक्षिक-प्राप्ति—बारी बारी से स्थिति ।

उदाहरण

प्राणानर्पय सीतां वा गृध्रांस्तर्पय वा द्विजान् ।
यमं भजस्व रामं वा यथेच्छसि तथाचर ।।

रावण का कोई हितैषी मित्र उससे कहता है—

हे रावण ! तू प्राणों को अर्पण कर, अथवा सीता को, गृद्धों को तृप्त कर अथवा ब्राह्मणों को, यम की सेवा कर, अथवा राम की, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो ।

उक्त पद्य में अर्पण, तर्पण, व सेवन (भजन) तीन क्रियायें हैं, उनके कर्मकारक रूप में मानरक्षणरूप प्रमाण से—अर्थात् यदि रावण को अपने प्राणों की रक्षा करना अभीष्ट न हो तब यथाक्रमप्राप्त—प्राण, गृद्ध, और यम और जीवनरक्षणरूप प्रमाण से—अर्थात् यदि रावण को अपने जीवन की सुरक्षा अभीष्ट हो तब, उन्ही कारकों में क्रमशः सीता, ब्राह्मण और राम, कर्मकारक के रूप में प्राप्त है । इनका एक साथ होना परस्पर विरुद्धता के कारण सम्भव नहीं है, अर्थात् प्राणों का अर्पण करना हो तो सीता का अर्पण प्राप्त नहीं है । और सीता का अर्पण प्राप्त हो तो प्राणों का

अर्पण प्राप्त नहीं है। और एक दूसरे का बाध कर नहीं सकते हैं, क्योंकि ये अपने अपने प्रमाण से प्राप्त हैं, अतः समबल हैं। अतः पर्याय से अर्थात् क्रम से ही एक अथवा दूसरे की प्राप्ति मानी जायेगी। संस्कृत में इसका स्वरूप इस प्रकार होगा—

"तत्र यदि त्वं मानरक्षणं प्रमाणीकरोषि चेत् तदा प्राणान् अर्पय, गृध्रान् तर्पय, यमं भजस्व, इत्येवमन्वयः प्राप्तः।" यदि च जीवनरक्षणं प्रमाणीकुरुषे तदा सीतामर्पय, द्विजान् तर्पय, रामं भजस्व इत्यन्वयः प्राप्तः।" एवञ्च मानरक्षणजीवनरक्षणात्मकाभ्यां प्रमाणाभ्यां कर्मकारकतया समन्वितयोर्तयोर्द्विकयोर्विकल्प्यमानयोश्च प्राणसीतयोः, गृध्रद्विजयोः यमरामयोश्च, स्व-स्व-क्रिया-फलात्मकेन-अन्याधीनत्व-तृप्ति-परसुखोत्पत्तिरूपेण समानधर्मेणौपम्यमपि प्रतीयते इति भवतीदं पद्यं विकल्पालङ्कारोदाहरणम्।"

अर्पण-तर्पण व भजन, इन तीनों क्रियाओं के दोनों कर्मों (प्राण-सीता, गृध्र-द्विज,) का परस्पर सादृश्य भी प्रतीत होता है। और सादृश्य नियामक समान धर्म है अपनी अपनी क्रिया के फल अर्थात् प्राण और सीता का समानधर्म है अर्पण, उस क्रिया का फल दूसरे की अधीनता, गृध्र और द्विज का समान धर्म है तर्पण क्रिया का फल तृप्ति, तथा यम व राम का समान धर्म है भजन क्रिया का फल सुखी रहना। फलतः यह पद्य विकल्पालंकार का उदाहरण है।

समुच्चय

किसी कार्य की सिद्धि में, किसी एक कारण के रहने पर भी जहाँ, कारणान्तरों का (या गुण व क्रियाओं का) युगपत्, उसी कार्य की सिद्धि के रूप में जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ समुच्चयालंकार होता है।

इसमें यह कारणान्तरों का समवधान या समुच्चय 'खले कपोतन्याय' से होता है। जैसे खलिहान में दाना चुगने के लिए अनेक कबूतरों का एक साथ अवतरण होता है, उसी प्रकार यहाँ भी, प्रकृत कार्य की सिद्धि के लिए किसी एक हेतु, गुण या क्रियादि के रहते हुए भी, "खले कपोतन्याय" से कारणान्तरों, गुण या क्रियादिकों का युगपत् अवस्थान रहता है।

'खले कपोतन्याय' की परिभाषा इस प्रकार है—"खले कपोता इव प्रतिकृतिः खले कपोतिका। धान्यमर्दनस्थले कपोतानां युगपदापतनं तन्न्यायः खले कपोतिका-न्यायः।" मीमांसासूत्रभाष्य में भी शबरस्वामी ने इसी प्रकार का आशय दिखलाया है—

"अर्थेन प्रधानोपकारेण खले कपोतवत् युगपत्संनिपतन्त्यङ्गानि।"

यद्यपि समाधि अलंकार में भी कारणान्तर का आपतन होता है, परन्तु यहाँ

कारणान्तर का आपतन अकस्मात् होता है, जिसे काकतालीय न्याय कहते हैं।

"काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयं तस्य न्यायः।"

अर्थात् ज्यों ही कौवा ताल के पेड़ के पास आया त्यों ही अकस्मात् ताल के फल के गिरने से उसकी मृत्यु हो गई इस प्रकार के आकस्मिक किसी कार्य की सिद्धि में यही न्याय चरितार्थ होता है। अतः समाधि अलंकार में कारणान्तर का उपनिपात काकतालीय न्याय से होता है, जबकि समुच्चय अलंकार में कारणान्तरों का अवतरण खले कपोत या कपोतिका न्याय से होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने बड़े स्पष्ट शब्दों में उक्त दोनों अलंकारों का अन्तर इस प्रकार दिखलाया है—

"न चास्मिन् वक्ष्यमाणसमाध्यलङ्कारत्वमाशङ्क्यम्। समाधौ हि एकेन कार्ये निष्पाद्यमानेऽप्यन्येनाकस्मिकमापतता कारणेन सौकर्यादिरूपातिशयो यत्र सम्पाद्यते स विषयः। अस्मिंस्तु समुच्चय-प्रभेदे यत्रैककार्यं सम्पादयितुं युगपदनेके खले कपोत इवाहमहमिकया सम्पतन्ति, कार्यस्य च न कोऽप्यतिशयः सः।"

अर्थात् समुच्चयालंकार के उस भेद में, जिसमें कार्यकारण-भाव सम्बन्ध द्वारा एक धर्मी में अन्वय होता है, जिसका निरूपण आगे किया जायेगा ऐसे समाधि अलंकार की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि जहाँ एक कारण के द्वारा किसी कार्य की सिद्धि के समय में अकस्मात् आने वाले कारणान्तरों से सौकर्य-सुविधा आदि किसी अतिशय का आधान किया जाता है, वहाँ समाधि अलंकार होता है, और समुच्चय का यह तृतीय भेद तो वहाँ होता है, जहाँ एक कार्य को सम्पन्न करने के लिए, अनेक कारण 'खले कपोतन्याय' से अहमहमिका-पूर्वक अर्थात् मैं पहिले मैं पहिले इस रीति से उपस्थित होते हैं पर कार्य-सिद्धि में कोई अतिशय पैदा नहीं करते हैं। पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में समुच्चयालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"युगपत् पदार्थानामन्वयः समुच्चयः।"

अनेक पदार्थों के एक साथ होने वाले को समुच्चयालङ्कार कहते हैं। उक्त समुच्चय प्रथमतः दो प्रकार का होता है—भिन्न धर्मियों वाला और एक धर्मी वाला। एक धर्मी वाले भेद के भी दो अवान्तर भेद होते हैं। एक धर्मी में कर्मकारणभाव से अतिरिक्त सम्बन्ध द्वारा अन्वय वाला, और एक धर्मी में कार्यकारणभाव से अन्वय वाला, इस प्रकार समुच्चय तीन प्रकार का होता है। आगे गुण व क्रियाओं के अन्वय उनके रमणीय व अरमणीय भेदों से इसके भेदों की संख्या बहुत हो जाती है, जिन्हें आकर-ग्रन्थों में देख लेना चाहिए। एक धर्मी में कार्यकारणभाव सम्बन्ध द्वारा रमणीय अनेक पदार्थों के अन्वय वाले समुच्चयालंकार का उदाहरण—

समुत्पत्तिः पद्मारमणपदपद्मामलनखा-,
न्निवासः कन्दर्पप्रतिभटजटाजूटभवने ।
अथायं व्यासङ्गः पतितजननिस्तारणविधे-
र्न कस्मादुत्कर्षस्तव जननि जागर्ति जगतः ।।

भक्त गङ्गा जी की स्तुति में कहता है कि—

हे मातः, लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के चरणकमल के निर्मल नख से आपकी उत्पत्ति है, कामशत्रु शिव के जटाजूट रूप भवन में आपका निवास है, और पतित जनों के उद्धार की विधि आपकी लगन है, फिर सांसारिक किस व्यक्ति से आपका उत्कर्ष जागरित अर्थात् उन्नत नहीं होता है अर्थात् संसार में आपका उत्कर्ष सर्वोन्नत है ।

उक्त पद्य में गङ्गाजी के उत्कर्ष-वर्णन में, भगवान् के चरणनख से उत्पत्ति, शिवजी के जटाजूट में निवास और पतितों के उद्धार में निरन्तर व्यासक्त, ये तीन कारण कहे गये हैं । यद्यपि इनमें से एक भी गङ्गा जी के उत्कर्ष को सिद्ध कर सकता था, परन्तु यहाँ अहमहमिका से "मैं ही क्यों न सिद्ध करूँ" इस तरह की स्पर्धा से मानों सभी कारण जुट गये हैं । इस प्रकार जुटने वाले ये तीनों ही कारणीभूत पदार्थ रमणीय हैं जिनका उत्कर्षरूप एक धर्मी में कारणता-सम्बन्ध से अन्वय हुआ है। अतः यह पद्य एकधर्मी में एक साथ अनेक रमणीयों के अन्वय होने से समुच्चयालंकार का उदाहरण है ।

समाधि

किसी कार्य-सिद्धि के अनुकूल एक हेतु के रहने पर, आकस्मिक समुपस्थित अन्य हेतु के द्वारा उक्त कार्य की सिद्धि में शीघ्रता या सुगमता का वर्णन जहाँ किया जाता है, वहाँ समाधि नामक अलंकार होता है । अलंकार-सर्वस्वकार ने समाधि का लक्षण इस प्रकार किया है—

"कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः ।" केनचिदारब्धस्य कार्यस्य कारणान्तरयोगात् सौकर्यं यत् स सम्यगाधानात् समाधिः, समुच्चयसादृश्यात्तदनन्तरमुपक्षेपः ।"

समुच्चय व समाधि में कारणान्तर के योगरूप सादृश्य के होने से, समुच्चय के बाद समाधि का वर्णन किया गया है । बहुत कुछ सादृश्य के होने पर भी उक्त दोनों अलंकारों के स्वरूप में महान् अन्तर भी है । समुच्चय में जहाँ 'खले कपोतन्याय' से कारणान्तरों का समवतरण होता है, वहाँ समाधि में 'काकतालीय न्याय' से कारणान्तर का आपतन होता है । साथ ही साथ समाधि में कारणान्तर के द्वारा

कार्यसिद्धि में कुछ सौकर्य रूप या शीघ्रतारूप अतिशय भी होता है। तात्पर्य यह है कि समाधि में कारणान्तर के समापतन से कार्य का सरलता से सम्पादन होता है, जब कि समुच्चय में कार्य-सिद्धि में इस प्रकार का कोई भी अतिशय नहीं होता है।

पण्डितराज ने समाधि अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितसौकर्यं समाधिः।"

किसी एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य में जो अन्य कारण के आकस्मिक आ जाने से सुकरता (सुगमता) होती है, उसको समाधि अलंकार कहते हैं।

उदाहरण

आयातैव निशा मनो मृगदृशामुन्निद्रमातन्वती,
मानो मे कथमेष सम्प्रति निरातङ्कं हृदि स्थास्यति।
ऊहापोहमिमं सरोजनयना यावद् विधत्तेतराम्,
तावत् कामनृपातपत्रसुषमं बिम्बं बभासे विधोः॥

मृगनयनाओं के मन को जगाती हुई (उत्सुक करती हुई) रात्रि आ ही गई, अब यह मान निःशङ्क होकर कैसे रह सकेगा, इस प्रकार का उहापोह जब तक कमलनयना नायिका कर रही थी, तब तक नृपति काम के छत्र के समान उत्कृष्ट शोभावाला चन्द्रमण्डल चमक उठा।

उक्त पद्य में केवल रात हो जाने से भी जिस मानभङ्ग की सिद्धि हो सकती थी, उसी की (अर्थात् मानभङ्ग की) अनायास सिद्धि चन्द्रोदय के कारण हो गई, अतः यहाँ समाधि नामक अलंकार है।

प्रत्युदाहरण

कथय कथमिवाशा जायतां जीविते मे,
मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः।
अयमपि वत गुञ्जत्यालि! माकन्दमौलौ,
मनसिजमहिमानं मन्यमानो मिलिन्दः॥

मलयाचलस्थ सर्पों के द्वारा उद्गीर्ण विषमय, अतएव कृतान्त-स्वरूप वायु बह रहे हैं, और कामदेव की महिमा को मानने वाला या मनवाने वाला यह भ्रमर भी आम्रतरु के शिखरों पर गूंज रहा है। हे सखि! कहो, ऐसी परिस्थिति में मेरे जीवन की आशा कैसे की जा सकती है।

उक्त पद्य समाधि अलंकार का उदाहरण नहीं हो सकता है, क्योंकि यहाँ प्राणनाश के प्रति वायु का बहना, भ्रमर का गूंजना, ये दोनों क्रियायें अहमहमिका से अर्थात् "खले कपोतन्याय" से हेतु है।

इन दोनों क्रियात्मक कारणों में से कोई भी आकस्मिक नहीं है, जो कि समाधि के लिए आवश्यक है। इस पद्य में दो समुच्चय हैं, एक तो क्रियात्मक वहन व गुञ्जन कारण वाला, जो कि जीवन-नाश रूप एक धर्मी में उचित है, और दूसरा है, भिन्न धार्मिक गुञ्जन व वहन के कर्त्ता भ्रमर व वायु, जिसके पृथक्-पृथक् धर्मी हैं। अतः यह भिन्न धार्मिक हुआ। ये दोनों परस्पर सापेक्ष होने से इन समुच्चयों का संकर यहाँ माना जायेगा।

प्रत्यनीक

साक्षात् प्रतिपक्षी-शत्रु को जीतने में असमर्थ कोई कर्त्ता (उसी प्रतिपक्षी के उत्कर्ष के लिए) जब शत्रुपक्ष के किसी सम्बन्धी का तिरस्कार करता है तब, वहाँ प्रत्यनीक नामक अलंकार होता है।

काव्यप्रकाश की वामनी टीका में प्रत्यनीक शब्द में 'प्रति' इस अव्यय को प्रतिनिधि अर्थ में माना है। अनीक का अर्थ है सेना, प्रत्यनीक का अर्थ सेना का प्रतिनिधि (विपक्ष की) सेना से साम्य के कारण, लक्षणा द्वारा प्रकृत में भी प्रत्यनीक का अर्थ सेना के समान होता है, अर्थात् इस अलंकार का यह नाम लाक्षणिक है। 'अनीकात् प्रति' इस विग्रह में "अपदिशम्" की तरह यहाँ भी अव्ययीभाव समास है।

प्रत्यनीक शब्द में रसगङ्गाधरकार जगन्नाथ ने विग्रह इस प्रकार दिखलाया है। 'अनीकेन सैन्येन सदृशं इति प्रत्यनीकम्,' अर्थात् जिस प्रकार सेना (अनीक) प्रतिपक्ष (शत्रु) का तिरस्कार करती है, ठीक इसी प्रकार इस अलंकार में भी, साक्षात् प्रतिपक्ष का तिरस्कार करने में असमर्थ होने के कारण, प्रतिपक्ष के किसी सम्बन्धी मित्रादि का तिरस्कार होता है।

यहाँ "अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम्" इस विग्रह मे "सदृशं" कहने से तो सादृश्ययुक्त अर्थात् सादृश्यवाले पदार्थ की प्रधानता होगी, केवल "सादृश्य" की नहीं-सादृश्य तो यहाँ गुणीभूत होगा।

"अव्ययं विभक्ति" इत्यादि सूत्र से "सादृश्य" में ही अव्ययीभाव समास होता है, न कि सदृश अर्थ में तब यहाँ अव्ययीभाव समास कैसे होगा ?

इस शङ्का के समाधान में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि "अव्ययं विभक्ति" इत्यादि सूत्र में यथा शब्द के अर्थ (योग्यता,-वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति-सादृश्यानि-यथार्थाः) से ही सादृश्यार्थ का भी लाभ हो जाता है, पुनः सूत्र में पृथक् सादृश्य पद के ग्रहण-सामर्थ्य से, यह द्योतित होता है कि गुणीभूत सादृश्य में भी समास हो जाता है। इसीलिए "सदृश सख्या ससखि" जैसे उदाहरणों में भी अव्ययीभाव समास हो जाता है।

"अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम् । सादृश्यस्य यथार्थत्वेन संग्रहे पुनः सादृश्य-ग्रहणाद् गुणभूतेऽपि सादृश्येऽव्ययीभावः ।"

प्रस्तुत अलङ्कार के प्रसङ्ग में पण्डितराज का विचार इस प्रकार है कि प्रत्यनीक अलंकार को हेतूत्प्रेक्षा का ही एक भेद माना जाय, अर्थात् जहाँ हेतूत्प्रेक्षा में दोनों अंश हेत्वंश व उत्प्रेक्षांश आर्थ हों अथवा केवल हेत्वंश शाब्द हो, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार माना जायेगा, पर जहाँ दोनों शाब्द होंगे वहाँ तो उत्प्रेक्षा ही होगी ।

वस्तुतः हेतूत्प्रेक्षा ही उक्त अलंकार का उपजीव्य है । प्रत्यनीक के अवान्तर भेदों में किञ्चित् विलक्षणता होने पर भी वे उत्प्रेक्षा से भिन्न नहीं हैं । जैसे घट तथा पट के परस्पर भेद होने पर भी, वे दोनों पृथिवी से भिन्न नहीं हो सकते हैं ।

"अत्र विचार्यते—हेतूत्प्रेक्षैव गतार्थत्वेन नेदमलंकारान्तरं भवितुमर्हति"

रसगङ्गाधर में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

"प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम्" ।

प्रतिपक्ष (शत्रु) से सम्बद्ध व्यक्ति अथवा वस्तु के तिरस्कार को प्रत्यनीक अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण

जितमौक्तिकसम्पदां रदानां सहवासेन परां मुद ददानाम् ।
विरसादधरीकरोति नासामधुना साहसशालि मौक्तिकं ते ॥

कोई चाटुकार किसी नायिका से कहता है—मोतियों की सम्पत्ति की शोभा को जीतने वाले दांतों को, सहवास से आनन्द देने वाली नासिका को, विरसता के कारण अर्थात् वैर से तेरा साहसिक मोती इस समय नीचा दिखा रहा है । उक्त पद्य में साक्षात् दांतों को तिरस्कृत करने में असमर्थ मोती ने, दाँतों के सम्बन्धी या दाँतों के सहवास में होने वाली नासिका का तिरस्कार किया, इसलिए यहाँ प्रत्यनीकालंकार है । यहाँ दांतों व नासिका का परस्पर उपजीव्य व उपजीवक सम्बन्ध है, अर्थात् दांत उपजीव्य है, जिनके सहयोग से नासिका आनन्ददायक होती है, नासिका उपजीवक ।

प्रतीप

प्रतीप अलंकार ठीक उपमा के विपरीत है । उपमा का उपमानोपमेयभाव प्रतीप में आकर विपरीत हो जाता है । उपमा में जहाँ चन्द्रादि उपमान व मुखादि उपमेय होते हैं, ठीक इसके विपरीत प्रतीप में मुखादि उपमानभाव को प्राप्त करते हैं, और चन्द्रादि उपमेय भाव को । इसकी व्युत्पत्ति से भी लगभग यही अर्थ

निकलता है। काव्यप्रकाश की वामनी टीका में प्रतीप शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

"प्रतिगच्छन्ति आपो यस्मिन्निति प्रतीपं निम्नोन्नतस्थलम्, तत्सादृश्यादलंकारे लक्षणा",—प्रतीप शब्द का योगार्थ तो है निम्नोक्तस्थल, जिसके अभिमुख जल हो, परन्तु गौणी लक्षणा के द्वारा उक्त अलङ्कार के विषय में इसका अर्थ होगा उपमा के प्रसिद्ध उपमानोपमेयभाव के विपरीत। काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार चक्रवर्ति आदि का भी यही कहना है कि ये प्रतीपादि शब्द स्वभावतः गौणीवृत्ति विषय हैं अर्थात् प्रसिद्ध उपमान के अपकर्ष-बोधक हैं।

> **प्रतीपादयः स्वभावाद् गौणा एवेति प्राञ्चो वृद्धाः" इत्याहुः। (चक्रवर्त्यादयः) तथा चोपमानापकर्षबोधानुकूलो व्यापारः प्रतीपमिति सामान्यलक्षणं बोध्यम्"** इति।

उपमान के प्रति आक्षेप या उपमान को ही उपमेय बना देना प्रतीप है। ऐसा अलंकार-सर्वस्वकार का कहना है—**"उपमानस्य आक्षेपः, उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम्।"**

पण्डितराज ने प्रतीप के पाँच भेदों को प्राचीनों के अनुरोध से दिखलाया है। वस्तुतः उनका अपना विचार तो यह है कि प्रतीप के जो तीन भेद हैं, वे तो उपमा में ही गतार्थ हो जाते हैं। इसका चौथा भेद वामनादि के मत से आक्षेपालंकार है और पाँचवाँ भेद अनुक्त वैधर्म्यवाले व्यतिरेक में गतार्थ हो जाता है। पण्डितराज का तो यहाँ तक कहना है कि यह कोई जरूरी नहीं है कि प्रसिद्ध कमलप्रतियोगिक सादृश्य-वर्णन में ही उपमा हो, ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है। अथवा उपमा-विरुद्ध वाचक प्रतीप शब्द के माहात्म्य से या उस प्रकार की उपमा का कोई विधान है।

यह प्रसिद्ध उपमानोपमेय भाव का पुरस्कार या तिरस्कार तो उपमा के अवान्तर वैलक्षण्य का प्रयोजक है न कि उपमा-सामान्य का, अर्थात् उपमा-सामान्य में तो वह उपमा भी समाई हुई है, जिसमें उपमान का तिरस्कार है। जैसे द्राक्षा (अंगूर) में विलक्षण मधुरता होने पर भी, अर्थात्-अन्य पार्थिव पदार्थों से माधुर्यप्रयुक्त वैलक्षण्य के रहने पर भी उसे आपार्थिव नहीं कहते हैं।

प्रतीपालंकार के प्रसङ्ग में एक और समस्या का समाधान पण्डितराज कर रहे हैं। प्रतीप में यह उपमान की न्यूनता और उपमेय की अधिकता किस आधार पर की जाती है, जबकि यह सादृश्यमूलक अलंकार है, अर्थात् उपमान व उपमेय में जब सादृश्य रहता ही है, तब तो परस्पर उनमें समान भाव ही रहना चाहिये उपमा व प्रतीप में यह परस्पर विरुद्ध अधिकता व न्यूनता कैसे ?

इसका समाधान इस प्रकार है कि उपमान में साधारण धर्म के सम्बन्ध का अनुवाद रहता है अर्थात् पूर्व-सिद्ध का पुनः कथनमात्र रहता है। जबकि उपमेय में उसका विधान किया जाता है। ये विधान व अनुवाद निर्भर है साध्यता व सिद्धता पर अर्थात् साध्य का विधान किया जाता है, और सिद्ध का अनुवाद।

अभिप्राय यह हुआ कि सिद्ध रहने के कारण अनूद्यमान साधारण धर्मवाले उपमान की अधिकता, और साध्य रहने के कारण विधीयमान साधारणधर्म-सम्बन्ध वाले उपमेय की न्यूनता स्वतः सिद्ध है अर्थात् ज्ञात ही है। लोक में भी यह देखा जाता है कि निश्चित विद्या वाले विद्वान् की अधिक पूजा और अनिश्चित विद्यावाले विद्वान् की उसकी अपेक्षा कम पूजा होती है। अतएव उपमा में उपमान अधिक गुण वाला, और उपमेय न्यून गुणवाला होता है। पर प्रतीप में ठीक इसके बिपरीत होता है। क्योंकि उपमान व उपमेय के बीच में साध्यत्व व सिद्धत्व वक्ता की विवक्षा के अधीन है। वक्ता अपनी इच्छा से किसी को भी सिद्ध अथवा साध्य बना सकता है।

पण्डितराज ने प्रतीपालङ्कार के पाँचों भेदों का निरूपण इस प्रकार किया है—

(1)—"प्रसिद्धौपम्यवैपरीत्येन वर्ण्यमानमौपम्यमेकं प्रतीपम्"॥

लोकप्रसिद्ध उपमा से विपरीतरूप में वर्णित होने वाला औपम्य अर्थात् उपमानोपमेयभाव प्रतीप अलङ्कार कहलाता है, यह प्रतीप का प्रथम प्रकार है।

(2-3)—"उपमानोपमेययोरन्यतरस्य किञ्चिद्गुणप्रयुक्तमद्वितीयतोत्कर्षं परिहर्तुं द्वितीयप्रदर्शनेनोल्लास्यमानं सादृश्यमपरं द्विविधम्"।

किसी गुण-विशेष द्वारा होने वाले उपमान के अद्वितीयतारूप उत्कर्ष का परिहार करने के लिए, द्वितीय तत्-समकक्ष वस्तु को दिखला कर, उपस्थित किया जाता हुआ सादृश्य प्रतीप का द्वितीय भेद है।

किसी गुण-विशेष के कारण होने वाले उपमेय में अद्वितीयतारूप उत्कर्ष का परिहार करने के लिए द्वितीय तादृश वस्तु को दिखलाकर वर्णित होने वाला सादृश्य प्रतीप का तृतीय भेद है।

(4)—"उपमानस्य कैमर्थ्यं चतुर्थम्"।

उपमान के विषय में "यह क्यों है" "इसका क्या प्रयोजन है" इस तरह की जिज्ञासा होने पर प्रतीप का चौथा भेद होता है।

(5)—"सादृश्यविघटनं पञ्चमम्"

सादृश्य के विघटन के वर्णन होने पर पाँचवाँ भेद होता है।

प्रथम प्रतीप का उदाहरण

"किं जल्पसि मुग्धतया हन्त ममाङ्गं सुवर्णवर्णमिति ।
तद् यदि पतति हुताशे, तदा हताशे तवाङ्गवर्णं स्यात् ।।

कोई नायक नायिका से कहता है कि—तुम मुग्धता से अर्थात् अपने भोलेपन से, मेरा अङ्ग सुवर्णवर्षा है, ऐसा क्यों कहती हो ? खेद की बात है कि हे हताशे ? यदि वह सुवर्ण अग्नि में गिर जाय, तब कहीं तेरे अङ्गों के समान वर्णवाला हो सकेगा ।

उक्त पद्य के पूर्वार्ध में कवि या नायक ने उपमा का प्रयोग किया, जिसमें सुवर्ण के समान वर्णवाला उस नायिका ने अपना अङ्ग माना है । परन्तु उत्तरार्ध में जाकर फिर नायक ने उक्त बात को प्रतीपालङ्कार द्वारा सम्भाल लिया, जिसमें नायिका का अङ्ग उपमान अधिक गुणवाला हुआ, और सुवर्ण-उपमेय न्यूनगुण वाला है । प्रसिद्ध उपमान सुवर्णवर्ण के तिरस्कार हो जाने से, यह प्रथम प्रतीप के भेद का उदाहरण है । जिज्ञासु पाठक प्रतीप के अन्य भेदों के उदाहरण मूलग्रन्थ में ही देखें ।

प्रौढोक्ति

प्रौढोक्ति अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ किसी पदार्थ में किसी धर्म के कारण, अतिशय प्रतिपादन की इच्छा से, जिसमें वह प्रसिद्ध धर्म है, उस पदार्थ के साथ, उक्त पदार्थ के सम्बन्ध का उद्भावन किया जाय, पण्डितराज के शब्दों में यह इस प्रकार है—

"कस्मिंश्चिदर्थे किञ्चिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया प्रसिद्धतद्धर्मवता संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्तिः" ।

प्राचीनों का यह प्रौढोक्ति का उदाहरण अत्यन्त सुन्दर है—

"कचाः कलिन्दजातीरतमालस्तोममेचकाः"

उस नायिका के बाल, यमुना के तीर में उत्पन्न तमाल-वृक्षों के समूह के समान अत्यन्त नीले हैं । उक्त पद्यांश में सुन्दरी के केशों में अतिशय श्यामता के लिए, उसी तरह के नीलता वाले तमाल-वृक्षों की अतिशय श्यामता के लिए कवि ने यमुना-तीर की उद्भावना की, जिससे कि उन तमालों की सघनता के साथ श्यामता में भी सघनता आ जाय, और इस प्रकार उद्भावित इस उपमानगत श्यामता से वर्णनीय नायिका के उन केशों में श्यामतातिशय का आभास होता है । पण्डितराज अप्पय्य दीक्षित द्वारा स्वीकृत मिथ्याध्यवसिति नामक अलङ्कार को प्रौढोक्ति द्वारा ही गतार्थ मान लेते हैं ।

मम्मट व रुय्यक प्रौढोक्ति अलङ्कार को नहीं मानते हैं अन्य आलङ्कारिक

मिथ्याध्यवसिति को अतिशयोक्ति के भेदों में ही गतार्थ मान लेते हैं।

ललित

ललित अलङ्कार निदर्शना अलङ्कार से मिलता जुलता अलंकार है। प्राचीन आचार्यों ने तो इसे निदर्शना में ही गतार्थ कर लिया था। अन्य नवीन आलंकारिक भी पण्डितराज व विश्वेश्वर पाण्डेय आदि तो इसे निदर्शना का एक प्ररोह ही मानते हैं। ललित में प्रस्तुत धर्मी के साथ, उसके स्वयं के धर्म या व्यवहार का वर्णन न करके, केवल उसके प्रतिबिम्बभूत अप्रस्तुत के धर्म या व्यवहार का वर्णन किया जाता है।

निदर्शना तथा ललित में केवल यही भेद है। निदर्शना में कवि प्रस्तुत व अप्रस्तुत दोनों धर्मियों के बिम्बप्रतिबिम्बभूत धर्मों (व्यवहारों) का साक्षात् वर्णन करता है, तथा दोनों का पर्यवसान उपमा में होता है, नवीनों के मतानुसार दोनों व्यवहारों का पर्यवसान ऐक्य-समारोप में होता है। परन्तु ललित में प्रस्तुत धर्मी के धर्म-व्यवहार का शब्दतः उपादान नहीं होता है। केवल अप्रस्तुत (धर्मी) के व्यवहार का ही प्रयोग होता है। उक्त अलंकार की उद्भावना का श्रेय अप्पयदीक्षित को है, इन्होंने कुवलयानन्द नामक ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ इसका वर्णन किया है।

वर्ण्ये स्याद् वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्।
ललितं निर्गते नीरे, सेतुमेषा चिकीर्षति॥

"प्रस्तुते धर्मिणी यो वर्णनीयो वृत्तान्तस्तमवर्णयित्वा तथैव तत्प्रतिबिम्बरूपस्य कस्यचिदप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वर्णनं ललितम्। यथा कथञ्चिद्दाक्षिण्यसमागत-तत्कालोपेक्षितप्रतिनिवृत्तनायिकान्तरासक्तनायकानयनार्थं सखीं प्रेषयितुकामां नायिकामुद्दिश्य सख्या वचनेन तद्व्यापारप्रतिबिम्बभूतगतजलसेतुबन्ध-वर्णनम्"।

प्रस्तुत विषय में जिस वृत्तान्त का वर्णन किया जाना चाहिए, उसका वर्णन न करके. जहाँ उसी के सम्बन्ध में उसके प्रतिबिम्बभूत किसी अन्य अप्रस्तुतवृत्तान्त का वर्णन किया जाय, वहाँ ललितालंकार होता है। उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

कोई अपराधी नायक किसी तरह नायिका के पास आकर उसे प्रसन्न करने की कोशिश करता है, परन्तु उस समय वह नायिका उसकी उपेक्षा कर देती है, अतएव वह लौट जाता है। तत्पश्चात् उस लौटे हुए नायक को पुनः वापिस बुला लाने के लिए-सखी को भेजने की इच्छावाली नायिका को उद्देश्य करके, सखी के वचन द्वारा (कवि) उस प्रकृत व्यापार के प्रतिविम्बभूत अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन इस प्रकार करता है—

यह नायिका नदी या तालाब के जल के निकल जाने पर अब सेतु (बाँध) बाँधने की इच्छा कर रही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उक्त अलंकार का वर्णन अपने रसगङ्गाधर में किया है, पर पण्डितराज ललित को एक स्वतन्त्रतया अलंकार मानने के पक्ष में नहीं है। आप आर्थी निदर्शना में ही इसका समावेश कर लेना चाहते हैं।

उक्त अलङ्कार की समालोचना को ही दृष्टि से आपने लक्षणोदाहरण सहित रसगङ्गाधर में उल्लेख किया है। पण्डितराज के शब्दों में ललित का लक्षण इस प्रकार है—

"प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहारसम्बन्धो ललितालंकारः।"

प्रस्तुत धर्मी में प्रस्तुत व्यवहार का उल्लेख न करके, निरूपित किया जाता हुआ अप्रस्तुत व्यवहार का सम्बन्ध ललितालङ्कार कहलाता है।

"प्रकृत व्यवहार का अनुल्लेख" इस अंश से निदर्शना में होने वाली अतिव्याप्ति का निरास हो जाता है, जैसे—**"आददानः परद्रव्यं विषं भक्षयसि ध्रुवम्"** इत्यादि निदर्शना के उदाहरण में उक्त लक्षण की प्रसक्ति नहीं होती है। यहाँ पर द्रव्यग्रहण-रूप प्रस्तुत व्यवहार का उल्लेख करके, प्रस्तुत धर्मी वर्णनीय पुरुष में विष-भक्षण-रूप अप्रस्तुत व्यवहार का सम्बन्ध निरूपित हुआ है। यहाँ प्रस्तुत धर्मी वर्णनीय पुरुष में प्रस्तुत व अप्रस्तुत दोनों वृत्तान्तों का साक्षात् उपादान हुआ है, और पर्यन्त में परद्रव्य-ग्रहण, विषभक्षण के समान अनर्थकारी है, इस औपम्य में पर्यवसित होता है। अत एव यहाँ निदर्शना अलङ्कार है।

उदाहरण

नान्यास्ति किं भूमितले सुरूपा सीताऽथवा वा भवतोऽनुरूपा।
आकर्षता चन्दनशाखिशाखां प्रबोधितोऽयं भवता फणीन्द्रः॥

रावण के प्रति उसके मन्त्री या मित्र की यह उक्ति है—

"भूतल पर क्या और कोई सुन्दरी नहीं है? अथवा क्या सीता ही आपके अनुरूप है? आपने चन्दनतरु की शाखा को खींचते हुए इस सर्पराज फणीन्द्र को जगाया है। उक्त पद्य में रावणरूप प्रस्तुत धर्मी में, "आपने रामपत्नी सीता का हरण कर राम को क्रुद्ध कर दिया है," इस प्रस्तुत धर्म या व्यवहार का उल्लेख न करके "चन्दन की शाखा को खींचकर सर्पराज को आपने जगा दिया" इस अप्रस्तुत व्यवहार (या प्रस्तुत के प्रतिबिम्ब) का वर्णन होने से यहां ललितालङ्कार है।

इसी प्रकार महाकवि कालिदास के इस पद्य में भी ललितालंकार ही है ऐसा ललितालंकारवादियों का आशय है—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।।

काव्यप्रकाशकारादि उक्त पद्य में निदर्शना अलंकार ही मानते हैं। इसका उपपादन वे इस प्रकार करते हैं कि—**स्वत्वग्राहिण्या मन्मत्या सूर्यवंश-वर्णनं, लघुनौकया सागरतरणवदस्ति।"**

अर्थात् परिमित विषयों का ग्रहण करने वाली मेरी गति के द्वारा सूर्यवंश का वर्णन, छोटी सी नाव से, समुद्र-तरण की तरह है, इस प्रकार अन्त में वाक्यार्थ के औपम्य में पर्यवसान होने से यहाँ निदर्शनालंकार है। परन्तु ललितालंकारवादी दीक्षितादि के मत में उक्त कालिदासीय पद्य में निदर्शना न होकर ललित है, क्योंकि उक्त पद्य में स्वल्प-मति-करणक सूर्यवंश-वर्णन-रूप प्रकृत व्यवहार का उल्लेख नहीं है, अपितु "छोटी नौका से दुस्तर समुद्र को पार करना चाहता हूँ," इस प्रस्तुत वृत्तान्त के प्रतिबिम्बभूत अप्रस्तुत वृत्तान्त का ही यहाँ वर्णन है।

स्वयं दीक्षित जी ने कुवलयानन्द में उक्त पद्य की विवेचना करते हुए लिखा है—

"अत्रापि निदर्शना भ्रान्तिर्न कार्या। "अल्पविषयया मत्या सूर्यवंशवर्णनयितुमिच्छुरहम्" इति प्रस्तुतवृत्तान्तानुपन्यासात् तत् प्रतिबिम्बभूतस्य "उडुपेन सागरं तितीर्षुरस्मि" इत्यप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वर्णनादौ विषमालंकारविन्यसनेन च केवलं तात्पर्यस्य गम्यमानत्वात्।"

प्रस्तुत अलंकार के प्रसङ्ग में पण्डितराज प्राचीन आचार्यों की तरह से पहल करते हुए, उनके आशय का रहस्य बतला रहे हैं—अलंकार शास्त्र में प्रायः सभी अलंकार श्रौत तथा आर्थ दोनों तरह के होते हैं। इसमें श्रौतों तथा आर्थी की पृथक्-पृथक् गणना नहीं होती है। अपितु वह अलंकार जिसका एक भेद श्रौत होता है और दूसरा भेद आर्थ होता है, वह एक ही अलंकारसामान्य के लक्षण से आक्रान्त रहता है, और वाक्यार्थ निदर्शना का स्वरूप है—दो व्यवहारों वाले दो धर्मियों के अभेद के प्रतिपादन से आक्षिप्त होने वाला दो व्यवहारों का अभेद। इसमें दोनों व्यवहारों का प्रतिपादन श्रौत ही हो ऐसा कोई नियम नहीं हैं। किसी तरह का श्रौत या आर्थ प्रतिपादन होना चाहिए। जैसे जो पर द्रव्य का हरण करता है, वह विष-समूह को निगलता है। इस वाक्य में दो व्यवहारों वाले धर्मियों के अभेद का श्रौत-प्रतिपादन होने पर जैसे निदर्शना है, वैसे ही **"धिक् परस्वं तथाप्येष गिलति क्ष्वेद संचयम्"** अर्थात् परकीय धन को धिक्कार है तथापि यह विष-समूह को निगलता है। इस आर्थ प्रस्तुत व्यवहार वाले वाक्य में भी निदर्शना मानने में कोई क्षति नहीं है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जिसे लोग "ललित" कहते हैं, वह वाक्यार्थ निदर्शना का आर्थ-प्रभेद ही है। तदतिरिक्त कुछ भी नहीं, ऐसा प्राचीनों का मत है।

नवीन आचार्यों के मत से (जिनमें पण्डितराज व विश्वेश्वर पाण्डेय भी सम्मिलित हैं) ललित को वाक्यार्थ निदर्शना से पृथक् अलंकार मानना तो केवल मनोरथमात्र है, अर्थात् जिसके मत में अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि प्रसिद्ध अलंकार भी रूपक-अलंकार के भेद माने जाते हैं, उस मत में ललित अलंकार जो कि अप्रसिद्ध है, वह फिर निदर्शना से भिन्न कैसे माना जायेगा।

रूपकालंकार के विषय में नवीनों का मत इस प्रकार है,—"उपमेय में उपमान का यह अभेद रूपक है, जो आहार्य निश्चय (अर्थात् बाधकालिक इच्छामूलक निश्चय) का विषय हो, इतना ही रूपक का स्वरूप कहा जाता है, उसमें विषयता-वच्छेदक आदि का निवेश नहीं किया जाता है। यदि विषयतावच्छेदक रूप से भासित विषय में विषयी का अभेद ही रूपक है ऐसा रूपक का लक्षण किया जायेगा, तो रूपक के स्वरूप में एक गौरव दोष आ जायेगा, अतः "विषय में विषयी का अभेद" यही लघुभूत लक्षण अभीष्ट है। इस प्रकार के लघुभूत लक्षण में यदि निगरणपूर्वक साध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति और अपह्नुति अलंकार रूपक के ही भेद हो जायें, तो इसमें उक्त मतानुयायियों का कोई नुकसान नहीं है, अपितु निगरण व निह्नव को ये लोग रूपक की ही अवान्तर विलक्षणता मानते हैं।

इस प्रकार ललित के अलंकारान्तरत्व के निरसन-पूर्वक प्राचीन-रीति से कालिदासीय पद्य का निदर्शनालंकार के रूप में मण्डन कर रहे हैं—

"एवं तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्" निदर्शना साधु सङ्गच्छते। क्व सूर्येत्यादिना स्वमतिसूर्यप्रभववंशयोरत्यन्ताननुकूलत्वकथनोत्तरमुडुपकरणक-सागरतरणेच्छाया अप्रकृतायाः कथनेन तादृशमतिकरणक-वर्णनेच्छायाः प्रकृतायाः प्रतिपत्तेः।

उक्त रीति से ललित को निदर्शना में गतार्थ कर देने पर "तितीर्षुः"—इत्यादि काव्यप्रकाशोक्त उदाहरण में निदर्शना अच्छी तरह सङ्गत हो जाती है। क्योंकि **"क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः"** इस पूर्वार्ध द्वारा "अपनी मति व सूर्योत्पन्न कुल की अत्यन्त अननुरूपता" के वर्णन के बाद, अप्रस्तुत लघु नौका द्वारा दुस्तर समुद्रतरणेच्छा के वर्णन से छोटी बुद्धि द्वारा सूर्योत्पन्न कुल के वर्णन की इच्छा जो प्रस्तुत है, अर्थात विदित हो जाती है।

प्रहर्षण

प्रहर्षण अलंकार को अप्पय्यदीक्षित व पण्डितराज दोनों मानते हैं—मम्मट

रुय्यक व विश्वनाथ ने अपने अपने ग्रन्थों में उक्त अलंकार का वर्णन नहीं किया है।

पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

"साक्षात् तदुद्देश्यकमूलमन्तरेणाप्यभीष्टार्थलाभः प्रहर्षणम्"।

किसी अभीष्ट लाभ को उद्देश्य करके प्रयत्न न किया गया हो, फिर भी उस अभीष्ट की प्राप्ति जहाँ होती है, उसे प्रहर्षण अलंकार कहते हैं।

यह प्रहर्षणालंकार का सामान्य लक्षण है, वैसे इसके तीन प्रकार होते हैं—

(1) अकस्मात् बिना किसी प्रयत्न के अभीष्ट-अर्थ की प्राप्ति।

(2) प्रयत्न करने पर वाञ्छित से भी अधिक अर्थ की प्राप्ति।

(3) फल-प्राप्ति के उपाय की सिद्धि के लिए किए जाने वाले यत्न से साक्षात् फल की प्राप्ति। अर्थात् फलप्राप्ति के उपाय के मध्य में ही अभीष्ट का लाभ हो जाना, जिससे फिर उस फल के लिए आगे यत्न अपेक्षित नहीं होता है।

प्रहर्षण का उदाहरण, जिसमें वाञ्छित से अधिकतर का लाभ है—

लोभाद् वराटिकानां विक्रेयं तक्रमानिशमटन्त्या।
लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्रनीलमणिः॥

कौडियों के लोभ से, तक्र बेचने के लिये रात तक घूमती हुई गोपकिशोरी ने गली के बीच में महान् इन्द्रमणि पा ली।

उक्त पद्य में गोपी की वाञ्छित वस्तु कुछ कौडियाँ थी; पर रात तक घूमते हुए, अर्थात् प्रयत्न करते हुए उसने, उससे अधिक मूल्यवान् वस्तु इन्द्र नीलमणि को अथवा 'इन्द्रनीलमणित्वेन अध्यवसित भगवान्' को प्राप्त किया।

यहाँ इन्द्रनीलमणि रूप विषयी (उपमान) के द्वारा भगवान् कृष्णरूप विषय (उपमेय) का निगीर्ण हुआ है, अतः इस अंश में अतिशयोक्ति है, पर यह अतिशयोक्ति उक्त प्रहर्षण के अनुकूल ही है, क्योंकि यहाँ उपमान मणि तथा उपमेय भगवान् कृष्ण दोनों ही वाञ्छित कौडियों से मूल्यवान् हैं, और दोनों उत्कृष्ट हैं। यद्यपि यहाँ कहाँ तो वह बेचारी दो चार कौडियों के लिए रात-दिन दही बेच रही थी, और कहाँ अकस्मात् बहुमूल्य मणि का लाभ हो गया, इस प्रकार से विषमालंकार का आक्षेप भी पर्यन्त में होता है परन्तु वह उक्त अलंकार के लिए उतना उपयोगी नहीं है।

अप्पय्यदीक्षित ने भी प्रहर्षणालङ्कार के इसी तरह तीन भेद माने हैं।

प्रहर्षण के द्वितीय भेद को जिसमें "वाञ्छितादधि कार्यस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्" ऐसा उनका लक्षण है। अर्थात् जहाँ अभीप्सित वस्तु से अधिक वस्तु की प्राप्ति हो उसे भी प्रहर्षण कहते हैं।

इसका उदाहरण यह पद्य दिया है—

चातकस्त्रिचतुरान्पयःकणान् याचते जलधरं पिपासया ।
सोऽपि पूरयति विश्वमम्भसा हन्त हन्त महतामुदारता ।।

चातक पक्षी अपनी प्यास बुझाने के लिए केवल तीन चार बूंद ही पानी मांगता है, मेघ समस्त संसार को ही पानी से भर देता है, बड़े हर्ष की बात है कि महान् व्यक्ति बड़े उदार होते हैं । इस उदाहरण के विषय में पण्डितराज का कहना है कि यहाँ याचक चातक के याचना से अधिक अर्थ की संसिद्धि—अर्थात् निष्पत्ति भले ही हो, पर याचक चातक का सन्तोष किन्ही शब्दों से अभिव्यक्त नहीं होता है, अतः प्रहर्षण शब्द का जो योगार्थ है वह यहाँ चरितार्थ नहीं हो रहा है ।

चातक केवल तीन चार जलकणों का याचक है, दाता मेघ ने विश्व को ही जल से भर दिया, इसमें तो याचक की अपेक्षा दाता के ही हर्ष की अधिकता मालूम पड़ती है, जिसकी पुष्टि "हन्त-हन्त महतामुदारता" इस अर्थान्तरन्यास से हो रही है । पण्डितराज के मतानुसार यहाँ याचक को अधिक सन्तोष होना चाहिए था, क्योंकि तीन चार जल-कणों की तो उसकी माँग ही है, उससे अधिक जल यदि वरस भी गया तो, वह तो सब जमीन पर गिर गया, तब चातक को वाञ्छित से अधिक लाभ क्या हुआ, जिससे कि उसके सन्तोष का अनुमान भी लगाया जाय, बल्कि यहां तो जैसा लक्षण कहा गया है कि वाञ्छित से कम ही लाभ है, न कि उससे अधिक तब ऐसी स्थिति में प्रहर्षणालंकार कैसे होगा ? यद्यपि मेघ में तो इतना अधिक जल बरसा दिया कि जिससे पूरा महीतल ही भर गया, इससे यह ध्वनित तो कदाचित् हो सकता है, कि चातक ने भी तीन चार जलकणों में ही फिर सन्तोष नहीं किया होगा, इच्छा से अधिक जल भी पी लिया होगा, या अपने चञ्चुपुट भी धो लिए होंगे । पर यह प्रकरण तो वाच्यालंकार का चल रहा है जिसको अभिहित करने वाला ऐसा कोई भी शब्द नहीं है ।

महावैय्याकरण नागेश ने यहाँ पण्डितराज के इस आक्षेप पर कुछ चिन्ता व्यक्त की है । अतः दीक्षित जी की तरफ से कुछ समाधान प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की है, जो रसगङ्गाधर के मर्मप्रकाश में इस प्रकार है—

"चिन्त्यमिदम्, चातकवृत्तान्तस्याप्रस्तुतत्वात्तद्व्यङ्ग्यदातृयाचकवृत्तान्ते पर्यवसानेन सन्तो सातिशयस्य दुर्वारत्वात् ।"

अर्थात् अप्रस्तुत चातक-वृत्तान्त के द्वारा व्यङ्ग्य में पर्यवसान होने वाला किसी दाता और याचक का वृत्तान्त है, अतः दाता के द्वारा अधिक देने से याचक के मन में अधिक सन्तोष का होना अनिवार्य है । नागेश के मतानुसार यहाँ दीक्षितजी का कथन ठीक ही है । परन्तु नागेश का यह समाधान सभी सहृदयों के हृदयानुकूल नहीं मालूम पड़ता है, एक तो यह मोटी सी बात है कि उक्त सन्तोष वाच्य प्रहर्षणालंकार से न हो कर, अप्रस्तुतप्रशंसा के द्वारा हो रहा है, वह भी वाच्य अप्रस्तुत-

प्रशंसा से व्यङ्ग्य यहाँ प्रहर्षण है। नागेश की प्रक्रिया के अनुसार तो यहाँ वाच्यालंकार न होकर प्रहर्षणध्वनि ही है, जैसा कि हमने उक्त पद्य के विवेचन-प्रसङ्ग में कहा है। यह समाधान तो एक प्रकार से "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे" के न्याय का अनुसरण करता है।

विषादन

जहाँ अभीप्सित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति हो वहाँ विषादन नामक अलंकार होता है।

विषमालंकार से इसमें यह भेद है कि विषय में जहाँ अभीष्ट अर्थ के लिए कारण या उपाय का प्रयोग भी किया जाता है, पर उत्पाद्योत्पादकभाव की अननुरूपता के कारण, वहाँ विरूद्ध अर्थ की प्राप्ति होती है। जबकि विषादन अलंकार में अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए कारण का प्रयोग न करके केवल उसके प्रयोग की इच्छा ही वर्णित होती है। पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

"अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विषादनम्"।

इष्ट वस्तु से विरुद्ध वस्तु की प्राप्ति का नाम विषादन है।

उदाहरण

स्वं स्वं व्यापृत्ति-मग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने,
चच्चूकोटिनिराकृतार्गल इतो यास्याम्यहं पञ्जरात्।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः संप्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः॥

लोग अपने अपने कर्तव्यकर्मों में मग्नचित्त होकर जब मुक्त से निवृत्त हो जायेंगे, अर्थात् मेरी ओर से उनका ध्यान हट जायेगा, तब मैं चोंच की नोंक से अर्गला (पिजड़े की शलाका) को हटा कर, इस पिजड़े से निकल भागूंगा, इस प्रकार जब शुभ मनोरथमय अमृत का आस्वादन कर रहा था, तभी गजशुण्डाकार विशाल सर्पराज पिंजड़े के भीतर प्रविष्ट हो गया।

उक्त पद्य में शुक को पिंजड़े से निर्गमन रूप इष्ट के लिए पिंजड़े की शलाका को हटाने रूप कारण के प्रयोग की इच्छामात्र करने पर "सर्पराज का पञ्जर में प्रवेशरूप" विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति है। अतः यहाँ विषादनालंकार है।

यद्यपि यहाँ अङ्गीरूप में अप्रस्तुत शुक-वृत्तान्त से प्रस्तुत किसी भग्नाश पुरुष-वृत्तान्त की अभिव्यक्ति होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा है, पर उसके अङ्गरूप में विषादन अलंकार भी है।

अप्पय्यदीक्षित द्वारा कुवलयानन्द में उदाहृत विषादन अलंकार का यह पद्य भी सुन्दर उदाहरण है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ।।

कोई भौंरा कमल में बन्द हो गया, वह रात भर यह सोचता रहा कि अब रात समाप्त हो जायेगी । प्रातःकाल होगा, सूर्योदय होगा और कमलशोभा विकसित होगी, जब कमल-कलिका में बन्द भौंरा यह सोच ही रहा था, बड़े दुख की बात है कि इसी बीच किसी हाथी ने उस कमलिनी को उखाड़ डाला ।

उक्त पद्य में भ्रमर प्रातःकाल की प्रतीक्षा कर ही रहा था कि सूर्योदय हो तो मैं इस बन्धन से छूट जाऊँ, और पुनः मकरन्द का पान करूं । इसी बीच में हाथी का कमलिनी को उखाड़ फेंकना अभीप्सित वस्तु से विरुद्ध वस्तु की प्राप्ति है, अतः यहाँ विषादन अलंकार है ।

उल्लास

उल्लास अलंकार को दीक्षित व पण्डितराज दोनों ने माना है, इसमें अन्य किसी व्यक्ति के गुणदोषों से अन्य के गुण दोषों का वर्णन होता है । यह वर्णन चार प्रकार का होता है । (1) किसी वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु के गुण का वर्णन (2) किसी वस्तु के गुण से अन्य वस्तु के दोष का वर्णन, (3) किसी वस्तु के दोष से अन्य वस्तु के गुण का वर्णन । (4) किसी वस्तु के दोष से अन्य वस्तु के दोष का वर्णन ।

पण्डितराज ने उल्लास सामान्य का लक्षण इस प्रकार किया है—**"अन्यदीय-गुणदोषाप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लासः"** ।

दूसरे के गुण दोष के कारण, दूसरे में गुणदोष का आधान अर्थात् गुणदोष-युक्तता का ज्ञान, उल्लासालङ्कार कहलाता है ।

गुण से गुण के आधान का उदाहरण

अलभ्यं सौरभ्यं हरति सततं यः सुमनसां,
क्षणादेव प्राणानपि विरहशस्त्रक्षतहृदाम् ।
त्वदीयानां लीला-चलितलहरीणां व्यतिकरात्,
पुनीते सोऽपि द्रागदृह पवमानस्त्रिभुवनम् ।।

हे गङ्गे ! जो अनिल पुष्पों के अलभ्य सौरभ का सदा हरण करता है, और विरहरूपशस्त्र से आहत हृदयवाले विरहियों के प्राणों का भी क्षणभर में हरण कर लेता है, वह भी तुम्हारी लीला से चलती हुई लहरियों के संसर्गमात्र से तत्काल त्रिलोकी को पवित्र करने वाला बन जाता है ।

उक्त पद्य में गङ्गा-तरङ्गगत उत्कृष्ट पवित्रतारूप गुण से होने वाले पवनगत पवित्रता गुण के ज्ञान का वर्णन हुआ है, अतः यह उल्लास का प्रथम भेद है।

गुण से दोष के आधान का उदाहरण

विशालाभ्यामाभ्यां किमिह नयनाभ्यां खलु फलम्,
न याभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनुः।
अयं तु न्यक्कारो जनयति मनुजस्य श्रवणयो-
र्ययोर्नान्तर्यातस्तव लहरिलीलाकलकलः॥

भक्त गङ्गा की स्तुति करता है कि—हे मातः ! इस संसार में, उन बड़े-बड़े नेत्रों का क्या फल है ? जिन्होंने परम मनोहर आपके स्वरूप का आस्वादन नहीं किया, अर्थात् परम रमणीय आपकी बहती हुई धारा को नहीं देखा। और मनुष्य के उन कानों के लिए भी धिक्कार ही है जिनके अन्दर आपकी लहरों की लीला का कल-कल नहीं पहुंचा, अर्थात् जिन कानों ने उत्ताल तरङ्गों की सुन्दर कल-कल ध्वनि नहीं सुनी वे निन्दनीय ही है।

उक्त पद्य में गङ्गा के "रमणीयता रूप" गुण से गङ्गा के स्वरूप से विमुख नेत्रों की निष्फलतारूप दोष का, और गङ्गा के कलकल शब्द से विमुख कानों का धिक्काररूप दोष का वर्णन हुआ है, अतः यह पद्य उल्लास के द्वितीय भेद का उदाहरण है।

किन्हीं विद्वानों का मत है कि उल्लास अलंकार काव्यलिङ्ग नामक अलंकार में ही गतार्थ हो जाता है। इसलिये इसे स्वतन्त्र अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है। अन्य विद्वानों का कहना है कि अन्य के गुणदोषों के कारण अन्य में गुण-दोष की प्रतीति तो लौकिक अर्थ ही है। इसमें कवि-कल्पना का अभाव है। अतः यह काव्यालंकारों की गणना से बाहर है।

अवज्ञा

अवज्ञा अलंकार ठीक उल्लास अलंकार का उलटा है। उल्लास में जहाँ कोई व्यक्ति किसी के गुण दोष से प्रभावित होकर गुणदोष-युक्त होता है, तो अवज्ञा में एक में रहने वाले गुणदोषों से, उससे सम्बन्धित प्रभावित नहीं होता है। इसीलिए पण्डितराज ने इसका लक्षण "तद्विपर्ययोऽवज्ञा" ऐसा किया है। अर्थात् उल्लास का अभाव अवज्ञा है।

उदाहरण

निष्णातोऽपि च वेदान्ते वैराग्यं नैति दुर्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम्॥

वेदान्त दर्शन में निपुण होकर भी, दुर्जन उसी तरह वैराग्य को नहीं पाता है, जिस तरह मैनाक पर्वत चिरकाल तक समुद्र में मग्न रह कर भी कोमलता को नहीं प्राप्त कर सका।

उक्त पद्य के पूर्वार्ध में "सांसारिक प्रपञ्चों की अनित्यता का बोध कराना" जो कि वेदान्तशास्त्र का प्रमुख गुण है, तत्प्रयुक्त उसके द्वारा, दुर्जन में वैराग्यरूप गुण के आधान का अभाव वर्णित है। और उत्तरार्ध में द्रवत्वरूप समुद्रगत गुण के कारण मैनाक में मृदुतारूप गुण के आधान का अभाव वर्णित है, फलतः यह अवज्ञा अलंकार का उदाहरण है।

कुछ लोग अवज्ञा नामक अलंकार को पृथक् नहीं मानते हैं। विशेषोक्ति में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं।

अनुज्ञा

किसी विशेष गुण की स्थिति को देखकर जहाँ किसी दोष की भी इच्छा की जाती है, वहाँ अनुज्ञा अलंकार होता है। दीक्षित जी ने कुवलयानन्द में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात्।
विपदः सन्तु नः शश्वद् यासु संकीर्त्यते हरिः॥

कोई भक्त कहता है कि हमें सदा विपत्तियों का सामना करना पड़े तो अच्छा है, क्योंकि उसमें भगवान् का कीर्तन होता है।

यहाँ विपत्तियों की (जो कि दोष हैं) अभ्यर्थना इसलिए की जाती है कि, उनमें भगवद्भजनरूप गुण विद्यमान है।

पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

"उत्कटगुणविशेषलालसया दोषत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुनः प्रार्थनमनुज्ञा।"

किसी गुण-विशेष के कारण, दोषरूप में प्रसिद्ध वस्तु के विषय में भी की जाने वाली उत्कट इच्छा को अनुज्ञा कहते हैं।

उदाहरण

प्रणिपत्य विधे भवन्तमद्धा विनिवद्धाञ्जलिरेकमेव याचे।
जनुरस्य कुले कृषीवलानामपि गोविन्दपदारविन्दभाजाम्॥

हे विधातः! आप से हाथ जोड़कर प्रणाम करने के बाद, एक ही यथार्थ प्रार्थना करता हूँ कि मेरा जन्म ऐसे कृषकों के कुल में हो, जो भगवच्चरणारविन्दों के सेवक हों।

उक्त पद्य में भगवान् की भक्ति की लालसा से उस कृषक-कुल जन्म की भी प्रार्थना की गई है जो दोषरूप में भी प्रसिद्ध है, अतः यहाँ अनुज्ञा अलङ्कार है।

तिरस्कार

तिरस्कार अलङ्कार पण्डितराज का स्वोपज्ञ अलङ्कार है। अन्य किसी भी पूर्ववर्ती आलङ्कारिक ने इसका वर्णन सम्भवतः नहीं किया है। यह अलङ्कार अनुज्ञा अलङ्कार से मिलता जुलता है। अनुज्ञा में जहाँ किसी गुण-विशेष की लालसा से दोष की परवाह नहीं की जाती है वहाँ तिरस्कार में किसी दोष-विशेष के सम्पर्क से किसी गुणान्वित वस्तु में भी द्वेष पाया जाता है। जैसा कि पण्डितराज ने इसका लक्षण किया है—

"दोषविशेषानुबन्धाद् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः।"

अर्थात्—किसी दोष के सम्बन्ध से गुणरूप से प्रसिद्ध वस्तु का भी द्वेष तिरस्कार अलङ्कार कहलाता है।

अनुज्ञा व तिरस्कार का भेद बतलाते हुए कहते हैं कि अनुज्ञा में प्रार्थना होती है, और प्रार्थना का अर्थ है इच्छा, और तिरस्कार में द्वेष होता है, अतः तिरस्कार का अर्थ है द्वेष। फलतः अनुज्ञा का स्वरूप हुआ दोष की इच्छा करना, और तिरस्कार का स्वरूप हुआ गुणों का द्वेष करना। यह तो एक विचित्र बात हुई कि दोष में तो इष्ट-साधनता का ज्ञान करना, और गुणों में द्विष्ट-साधनता का ज्ञान करना, जब कि लोक में इसके विपरीत देखा जाता है।

"ननु कथमनयोरलंकारयोः सम्भवः! यावता प्रार्थनमिच्छा तिरस्कारश्च द्वेषः। तत्र दोषे इष्टसाधनताज्ञानरूपकारणाभावादिच्छा न युक्ता, गुणे च द्विष्टसाधनता ज्ञानभावाद् द्वेषोऽपि तथा। वैपरीत्यं तु कारणसत्त्वादुचितमिति चेत्।"

पण्डितराज ने इसका समाधान तीन प्रकार की युक्तियों से दिया है जिसका संक्षेप में यहाँ प्रदर्शन किया जाता है।

(1) प्रथम समाधान तो इस प्रकार है कि संसार की सभी वस्तुएँ दोष तथा गुण से मिश्रित ही होती है, अतः दोष में भी किसी गुणविशेषांश को लेकर इष्टसाधनता-ज्ञान हो जाता है, और गुण में भी किसी दोष-विशेषांश को लेकर द्विष्टसाधनता ज्ञान हो जाता है। फलतः दोष की इच्छा व गुण के द्वेष में तत्तद् अंश-विशेष को कारण मान लेने से परिहार हो जाता है।[1]

---

1. अयं भावः—संसारे न किमपि वस्तु सर्वथा दुष्टम्, नापि सर्वथा गुणविशिष्टम्।

फिर दूसरी बात यह है कि किसी विषय-विशेष में इच्छा व द्वेष का होना तो कुछ देशकाल व परिस्थिति के ऊपर भी निर्भर करता है। किसी स्थान में, किसी देश में किसी व्यक्ति को कोई चीज माफिक आती है कोई चीज नहीं।[1]

(2) द्वितीय समाधान इस प्रकार समझना चाहिए कि जब किसी फल के विषय में उत्कट इच्छा होती है, तो फिर उसके उपाय के विषय में भी उत्कट इच्छा होती है, इसी प्रकार जब किसी फल के विषय में उत्कट द्वेष होता है, तो उसके उपाय के विषय में भी उत्कट द्वेष होता है। परन्तु यह भी उचित मालूम नहीं पड़ता है, क्योंकि चान्द्रायणादि व्रत-विशेष एक ही पदार्थ में पारलौकिक सुख विशेष होने से अनिष्टाननुबन्धित्व-ज्ञान है अर्थात् इष्टसाधनतारूप ज्ञान है और इहलोक में अनुष्ठान में अत्यन्त दुष्कर होने से, इष्ट के अननुबन्धित्व का ज्ञान भी है, अर्थात् इष्टसाधनता ज्ञान नहीं है, या द्विष्ट-साधनतारूप ज्ञान है। इस प्रकार चान्द्रायणादि व्रतानुष्ठानरूप एक ही पदार्थ में उभयविधज्ञान के रहने से यह नहीं कहा जा सकता है कि वलवदनिष्टाननुबन्धित्व ही इच्छा या द्वेष के प्रति बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ही कारणता का अवच्छेदक है, अर्थात् नियामक है अपितु तत्तत् उत्कट सामग्री की समवधानता ही किसी के इच्छा व द्वेष के प्रति कारण हो सकती है।

(3) तृतीय समाधान इस प्रकार है—कि फलेच्छा के प्रति फलेच्छा और फलसाधनताज्ञान दोनों सम्मिलितरूप से कारण हैं। इसी प्रकार उपायद्वेष के प्रति फलद्वेष और तत्-साधनताज्ञान दोनों सम्मिलित रूप से कारण हैं और उत्कट सामग्री की बलवत्ता भी सर्वथा अभीष्ट है।

इस प्रकार उपसंहार में यह कहा जाता है कि जो दोष इष्ट व अनिष्ट दोनों का साधन है। उसमें गुण के मिश्रित रहने से इच्छा की उत्पत्ति, और जो गुण इष्ट व अनिष्ट दोनों का साधन है, उसमें दोष के मिश्रित रहने से द्वेष की उत्पत्ति सहृदयों के लिए उचित ही है।

जैसे हरीतकी व केला के खाने में इच्छा व द्वेष हुआ करता है। अर्थात्

अपितु सर्वत्र कश्चन गुणः, कश्चन दोषश्चावश्यं भवति। तदनुसारं दोषेऽपि यो गुणांशः, गुणेऽपि च यो दोषांशस्तमादाय दोषे इष्टसाधनताज्ञानस्य, गुणे च द्विष्टसाधनताज्ञानस्य सत्त्वात् प्रार्थनादेः कारणमव्याहतम्।

1. ननु समयानुरोधने इच्छाद्वेषौ भवतः कस्मिंश्चित् समये इष्टमप्यनिष्टम्। कस्मिंश्चित् समये च अनिष्टमपीष्टं भवति। एवं ग्राहकवशादपि, कस्यचित् किञ्चिदिष्टम्, कस्यचित्तदेवानिष्टम्। अतएव इच्छाद्वेषयो कारणता-विषये कालपुरुषयोर्निवेश आवश्यक इत्यत आह—अत्र पुरुषकालप्रवेशक आवश्यक इति। (सरला टीका)

हरीतकी के कटुकादिकस्वाद-रूप शेष के रहने पर भी उदर-शुद्धिरूप पाचकगुण के रहने से उसकी ओर इच्छा होती है, और केले में स्वादुता रूप गुण के रहने पर भी कोष्ठबद्धतारूप दोष के कारण उसमें द्वेष-बुद्धि का होना भी स्वाभाविक ही है। "एवं चेष्टानिष्टोभयसाधने दोषे गुणे च गुणेन दोषेण च मिश्रिते सहृदयानामिच्छाद्वेष-योरुचितैवोत्पत्तिः, हरीतकीकदलभक्षणयोरिव।"

उदाहरण

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरसंगीतसुभगाः।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलहृदां,
सपर्या-सौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते ॥

मदमत्त गज-समूह के लिए घूमती हुई भ्रमर-पंक्ति के मधुर संगीत से सुन्दर वे सम्पत्तियाँ मुझे नहीं चाहिये, जिनमें डूबे हुए, तथा धन के रस से व्याकुल मन वाले लोगों के लिए, भगवान् के चरणों की सेवा का सौविध्य समाप्त हो जाता है।

उक्त पद्य में भगवच्चरण की सेवा के छूट जाने के भय से, राज्यसुख का द्वेष वर्णित है, अतः यह तिरस्कार अलङ्कार का उदाहरण है।

लेश

लेश अलङ्कार को दीक्षित व पण्डितराज दोनों ही मानते हैं, परन्तु दोनों के लक्षण असमान हैं। जहाँ दोष तथा गुण का दोष व गुण के रूप में ही वर्णन किया जाय वहाँ लेश नामक अलंकार होता है, ऐसा दीक्षित का कहना है। पण्डितराज के शब्दों में इसका लक्षण इस प्रकार है।

"गुणस्यानिष्टसाधनतया दोषत्वेन, दोषस्येष्टसाधनतया गुणत्वेन च वर्णनं लेशः।"

अनिष्ट का साधन हो जाने के कारण, गुण का दोष-रूप में और इष्टसाधन होने के कारण दोष का गुणरूप में वर्णित होना, लेशालङ्कार कहलाता है।

व्याजस्तुति अलंकार से यह गतार्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि इसमें आरम्भ में वर्णित अर्थ पर्यवसान में विपरीत नहीं होता है, जबकि (निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दारूप) व्याजस्तुति में आरम्भ में वर्णित अर्थ पर्यवसान में विपरीत हो जाता है।

गुण का दोषरूप में उदाहरण

अपि बत गुरुगर्वं मास्म कस्तूरि यासी-
रखिलपरिमलानां मौलिना सौरभेण।

गिरिगहनगुहायां लीनमत्यन्तदीनं
स्वजनकममुनैव प्राणहीनं करोषि ।।

हे कस्तूरी! सब सौरभों में मैं श्रेष्ठ सौरभ हूँ, इस कारण तुम अत्यधिक गर्व मत करो। तुम्हारा यह गर्व अत्यन्त खेदजनक है, क्योंकि इसी सौरभ के कारण तुम पर्वत की गम्भीर गुफा में छिपे अत्यन्त दीन अपने जनक (मृग) को प्राणहीन करती हो। उक्त पद्य में कस्तूरी के अपने उस गुण का दोषरूप में वर्णन हुआ है।

दोष का गुणरूप में उदाहरण

नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् ।
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः ।।

निर्गुणता ही अच्छी है, गुणों के गौरव को धिक्कार है। दूसरे वृक्ष सुशोभित रहते हैं, पर चन्दन के वृक्ष काटे जाते हैं। उक्त पद्य में दोष का गुणरूप में वर्णन हुआ है।

तद्गुण

कोई वस्तु जब किसी उत्कृष्ट वस्तु के सम्पर्क से अपने (रूप) गुण को छोड़कर उस वस्तु के गुण को ग्रहण कर लेती है, तो वहाँ तद्गुण नामक अलंकार होता है। "आचार्य मम्मट ने उक्त उत्कृष्ट वस्तु को अत्युज्ज्वलगुणवाली वस्तु कहा है।"[1]

"तद्गुण" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—**"तस्य उत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति"**

अर्थात्—उत्कृष्टगुणवाली "अप्रकृत" वस्तु का गुण "प्रकृत" वस्तु में वर्णित हुआ करता है। अलंकारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक का इस प्रसङ्ग में बहुत स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार है—

"यत्र परिमितस्य वस्तुनः समीपवर्तिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं स तद्गुणः।"

जहाँ कोई निकृष्ट वस्तु अपने समीपवर्ती उत्कृष्ट वस्तु के गुण को ग्रहण करे वहाँ तद्गुण नामक अलंकार होता है। अप्पय्यदीक्षित का तद्गुणालंकार का लक्षण भी इसी प्रकार का है। इनके लक्षण व उदाहरण दोनों ही सरल हैं। कुवलयानन्द में जिनका उल्लेख इस प्रकार है—

---

1. स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् । वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः । (का० प्र० 10 पृ०)

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः ।
पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा ॥

यहाँ सफेद मोती अपने श्वेत-गुण को छोड़कर अधर की लालिमा को ग्रहण कर लेता है, अतएव पद्मराग सा मालूम पड़ता है ।

पण्डितराज ने तद्गुण अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धि गुणग्रहणं तद्गुणः ।"

अर्थात्—अपने गुण का त्याग करके, समीपस्थ अन्य वस्तु के गुण का ग्रहण तद्गुणालङ्कार है ।

उदाहरण

नीतो नासान्तिकं तन्व्या मालत्याः कुसुमोत्करः ।
बन्धूकभावमानिन्ये रागेणाधरवर्तिना ॥

कृशाङ्गी ने मालती के जिस पुष्प को अपनी नासिका के निकट रखा, वह अधर की लालिमा से रक्तपुष्प अर्थात् जपाकुसुम की तरह बन गया ।

उक्त पद्य में नायिका ने जब मालती के पुष्प को सूंघने के लिए अपनी नासिका के समीप रक्खा तो वह समीपस्थ अधर की लालिमा से लाल हो गया, अतएव जपाकुसुम की तरह दिखाई दिया । यहाँ उक्त मालती-पुष्प के सन्निकट अधर की लालिमा के गुण के ग्रहण करने से तद्गुणालंकार है ।

द्वितीय उदाहरण

अधरेण समागमाद् रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुद्धभावः ।
हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्याः पुनरुल्लासमवाप जातपक्षः ॥

प्रशस्तपक्ष्म युक्त नयनों वाली नायिका के दाँतों की शुभ्रता, यद्यपि अधर के साथ सम्पर्क के कारण, पहिले लालिमा से अच्छादित हो गई थी, पुनः धवल हास के कारण अपने पूर्वरूप में आकर उल्लसित हो गई ।

उक्त पद्य के पूर्वार्ध में दाँतों में अधर की लाली के आ जाने से, तद्गुणालंकार है, परन्तु उत्तरार्ध में वह तद्गुण पुनर्जन्य के सदृश हास के द्वारा पुनः शुभ्रता से आच्छादित कर देने से भङ्गुर नामक एक तद्गुण का भेद हो गया, पूर्वतद्गुण की अपेक्षा यह स्थिर न होने से इसे भङ्गुर कहते हैं, अथवा अधर ने भी अपनी लालिमा को छोड़कर हास की धवलता को अपना लिया, इस प्रकार यह एक और तद्गुणालंकार ही हो गया । अप्पय्यदीक्षित ऐसी जगह पूर्वरूप नामक तद्गुण के प्रभेद को ही मानते हैं । मम्मट केवल तद्गुण ही मानते हैं । उल्लास व तद्गुण में अन्तर यह है कि उल्लास में जहाँ एक के गुण से दूसरे में गुणान्तर का आधान होता

है, जैसे चूने आदि के क्षार से हन्डी में लाली उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् उसमें एक प्रकार का अतिशय आ जाता है जिसे रूपान्तर भी कह सकते हैं। वहाँ तद्गुण में सन्निहित वस्तु के गुण का ही यथावत् संक्रमण होता है जैसे जपाकुसुम की लालिमा स्फटिकमणि में संक्रान्त होती है।

अप्पय्यदीक्षित आदि विद्वान् उक्त अलंकारों के भेद को दूसरी तरह से दिखलाते हैं। उनका कहना है कि उल्लास व अवज्ञा में तो गुण शब्द दोष-विपरीतार्थक है। परन्तु तद्गुण तथा अतद्गुण में गुण-शब्द न्यायादि दर्शनों में प्रसिद्ध समरस अदि पारिभाषिक गुणों का बोधक है।

अप्पय्यदीक्षित ने ऐसी जगह भी पूर्वरूप अलंकार को माना है, जहाँ किसी वस्तु के विकृत हो जाने पर भी पूर्वावस्था की अनुवृत्ति बनी रहे।

अतद्गुण

अतद्गुण अलंकार ठीक तद्गुणालंकार का विपरीतरूप है। यहाँ कोई पदार्थ अपने सम्बद्ध अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण नहीं करता है।

कुछ विद्वान् अतद्गुण को स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते हैं, इन लोगों का कहना है कि उत्कृष्ट गुणयुक्त वस्तु के सन्निधानरूप गुणग्रहणरूप हेतु के विद्यमान रहने पर भी उसके गुणों के अग्रहण-रूप कार्याभाव होने से यह विशेषोक्ति का ही कोई अवान्तर भेद हो सकता है। अतः इसे पृथक् से एक अलंकार मानना उचित नहीं है। अन्य आचार्यों का कथन है कि इसमें कार्यकारणभाव के विवक्षित न होने से विशेषोक्ति की प्रसक्ति ही नहीं है, अतः यह एक स्वतन्त्र अलंकार है।

किन्हीं नवीन आचार्यों का मत है कि उक्त अलंकार में विरोध विवक्षित रहता है, जो कि इस अलंकार का जीवातु है और वह विरोध बिना कार्यकारण-भाव की विवक्षा में हो नहीं सकता है। अतः इसे विशेषोक्ति का ही प्रकार माना जाय। पण्डितराज ने अतद्गुणालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—**"तद्विपर्ययेऽतद्गुणः"**।

तद्गुण का विपर्यय या विपरीत अतद्गुण है। अर्थात् अपने गुण का त्याग न करने के कारण निकटस्थ अन्य वस्तु के गुण का ग्रहण न करना अतद्गुण अलंकार कहलाता है।

उदाहरण

"कुचाभ्यामालीढं सहजकठिनाभ्यामपि रमे,
न काठिन्यं धत्ते तव हृदयमत्यन्तमृदुलम्।
मृगाङ्गनामन्तर्जननि निवसन्तो खलु चिरं,
न कस्तूरी दूरी भवति निजसौरभ्यविभवात्॥

उक्त पद्य में दो अतद्गुणालंकार है। एक पूर्वार्ध में दूसरा दृष्टान्तरूप में कथित उत्तरार्ध में। पूर्वार्ध में तो हृदय कुचों की कठिनता को ग्रहण नहीं करता है। इस अर्थ का बोधक शब्दसमूह यहाँ विद्यमान है, और स्वकीय-गुण का अत्याग यहाँ अर्थतः ज्ञात होता है, अर्थात् हृदय अपनी सहज कोमलता को नहीं छोड़ता है यह अर्थ ज्ञात होता है। उत्तरार्ध में ठीक इसके विपरीत है अर्थात् उसमें स्वकीयगुण का अत्याग ही शब्दतः ज्ञात होता है और परकीय गुण का अग्रहण, अर्थतः मालूम पड़ता है।

अभिप्राय यह है कि "कस्तूरी अपनी सुगन्ध को नहीं छोड़ती है" इस अर्थ के बोधक पद तो यहाँ उक्त हैं पर "कस्तूरी मृग के अङ्गों के गुण जो निर्गन्धता है," उसे ग्रहण नहीं करती है, इस अर्थ के बोधक पद यहाँ नहीं हैं।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने अतद्गुण अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण अंकित किया है जो इस प्रकार है—

गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलानमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता, चीयते न पचाय चीयते॥

मीलित

किसी समान धर्म वाली वस्तु से जहाँ वस्त्वन्तर की प्रतीति नहीं होती है, वहाँ मीलितालङ्कार होता है। यह समान धर्म कहीं स्वाभाविक होता है, और कहीं आगन्तुक होता है, जैसा कि रुय्यक ने अपने अलंकार-सर्वस्व में कहा है—

"सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्ववस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरं निगूह्यते, तदन्वर्था-भिधानं मीलितम्। न चायं सामान्यालङ्कारः, तस्य हि साधारणगुणयोगाद् भेदानुपलक्षणं रूपम्। अस्य तूत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानमिति महाननयोर्विशेषः।"

अर्थात् मीलित वह अलंकार है, जहाँ किसी वस्तु के उत्कृष्ट-गुण के द्वारा दूसरी वस्तु के निकृष्ट-गुण का तिरोधान प्रतीत होता हो। सामान्यालङ्कार में समान गुण का योग रहता है जिसके कारण अन्य वस्तु का भेद मालूम नहीं होता है, परन्तु उक्त मीलित में तो एक गुण या धर्म से दूसरी वस्तु या गुण का तिरोधान ही होता है।

अप्पय्यदीक्षित के अनुसार वहाँ मीलित अलंकार होता है, जहाँ दो वस्तुयें इतनी सदृश हों कि उसके परस्पर संश्लिष्ट होने पर भेद लक्षित न हो सके। कुवलयानन्द द्वारा इसका लक्षण इस प्रकार है—

"मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।"

इसका उदाहरण यह है—

"रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे ।"

अर्थात् उस नायिका के स्वाभाविक अरुण चरण में लाक्षारस का पता ही नहीं चला । यहाँ लाक्षारस व चरण की अरुणिमा सदृश होने के कारण परस्पर उनका भेद लक्षित नहीं हुआ ।

इस प्रसङ्ग में दीक्षित जी ने, मीलित व सामान्य अलंकार में परस्पर भेद दिखलाते हुए, कहा है कि मीलित अलंकार में एक वस्तु दूसरी से इतनी घुलमिल जाती है कि उनके भिन्न स्वरूप का आभास ही लुप्त हो जाता है, पर सामान्यालंकार में दो वस्तुओं के भिन्न स्वरूप का आभास लुप्त नहीं होता है, अपितु उनको भिन्न सिद्ध करने वाला उनका व्यावर्तक धर्म वहाँ परिलक्षित नहीं होता है ।

मीलित अलंकार में चरणादि की स्वाभाविक अरुणिमा के कारण, आगन्तुक को लाक्षारस (महावर) की अरुणिमा का पता नहीं चलता है । अतः यहाँ भिन्न स्वरूप का आभास नहीं होता है, परन्तु सामान्यालंकार के उदाहरण —'पद्माकरप्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम्' इत्यादि में कमल व मुखों का भिन्न स्वरूप तो भासित होता ही है, किन्तु यह कमल है, और यह मुख है,—इस प्रकार का विशेष (कोई भेदक-धर्म) लक्षित नहीं होता है ।

पण्डितराज का मीलितालङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

"स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद् वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद् भिन्नत्वेनागृह्यमाणानां वस्त्वन्तरलिङ्गानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम् ।"

अत्यन्त समानता के कारण स्पष्ट उपलब्ध होने वाली किसी वस्तु के लिङ्गों (ज्ञापकों) से, भिन्नरूप प्रतीत न होनेवाली किसी अन्य वस्तु के लिङ्गों के द्वारा अपने कारण (अन्य वस्तु) का अनुमान न होना मीलित अलंकार कहलाता है ।

उक्त लक्षण के अनुसार मीलित अलंकार के स्वरूप में दो वस्तुयें हुआ करती हैं, इनमें से एक वस्तु प्रत्यक्ष व दूसरी अप्रत्यक्ष होती है ।

प्रत्यक्ष वस्तु के लिङ्गों (धर्मों) या चिह्नों से अप्रत्यक्ष वस्तु के चिह्नों के भेद का ज्ञान न होने के कारण अप्रत्यक्ष वस्तु का प्रकाशित न होना ही मीलित अथवा निमीलित कहलाता है, जैसा कि पण्डितराज ने निम्न कारिका में इसका संग्रह किया है—

भेदाग्रहेण लिङ्गानां लिङ्गैः प्रत्यक्षवस्तुनः ।
अप्रकाशो ह्यनध्यक्षवस्तुनस्तन्निमीलितम् ॥

कारिका में आये हुए "अनध्यक्ष" पद का प्रयोजन दिखला रहे हैं । मीलित

में प्रत्यक्ष वस्तु के लिङ्गों के द्वारा अनध्यक्ष वस्तु अर्थात् परोक्ष वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, जब कि सामान्यालंकार में वस्तुओं में भी परस्पर भेद मालूम नहीं पड़ता है, क्योंकि यहाँ प्रबल सजातीय गुणों का मिश्रण रहता है।

उदाहरण

जलकुम्भमुम्भितरसं सपदि सरस्याः समानयन्त्यास्ते।
तटकुञ्जगूढसुरतं भगवानेको मनोभवो वेद ॥

लघु जलाशय से शीघ्रतापूर्वक जलपूर्ण घड़े को लाती हुई तेरे तटकुञ्ज में किये गये गुप्त सम्भोग को केवल अकेले भगवान् कामदेव ही जानते हैं।

उक्त पद्य में गुप्त सम्भोग के गमक जो स्वेदनिश्वासादि हैं, वे ही स्वेद-निश्वासादि जल से भरे कुम्भ के आनयन से भी हैं अतः ये प्रत्यक्ष घटानयन से जन्य स्वेदादि, अप्रत्यक्ष उस गुप्त सम्भोग-जन्य स्वेदादि से घुलमिल जाने के कारण परस्पर भेद लक्षित नहीं होता है, अतः पृथक्तया सुरत के अनुमापक नहीं हो सकते हैं। इसीलिए अप्रत्यक्ष सुरत का इन लिङ्गों से प्रकाश या ज्ञान नहीं होता है।

सरसिसहोदरसुरभावधरितविम्बाधरे मृगाक्षि तव।
वद वदने मणिरदने ताम्बूलं केन लक्षयेम वयम् ॥

हे मृगनयने ! कमल के मध्यभाग के समान सुगन्ध वाले, विम्बफल को नीचा दिखाने वाले, अर्थात् अतिशय लाल अधर से युक्त, और मणितुल्य दाँतों वाले तेरे मुख में ताम्बूल को हम किस प्रकार समझें, पहचानें ?

उक्त पद्य प्रकरण-सापेक्ष है अतः इसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—किसी प्रिय के अपनी प्रिया के प्रति यह पूछने पर कि "ताम्बूल क्यों नहीं ले रही हो" इसके उत्तर में "अभी अभी ताम्बूल चबाकर आयी हूँ" ऐसा कहने वाली प्रिया के प्रति प्रिय की पूर्वोक्त पद्य की उक्ति है।

यहाँ प्रिया के मुख की सुरभि (सुगन्ध) तथा ओठों की लालिमा के कारण ताम्बूल की सुरभि (सुगन्ध) व राग (लालिमा) परिलक्षित नहीं होते हैं। प्रथम उदाहरण में प्रत्यक्ष वस्तु के लिङ्ग स्वेदादि आगन्तुक हैं, "अर्थात् आकस्मिक है" और इस द्वितीय उदाहरण में अधर-रूप प्रत्यक्ष वस्तु का लिङ्ग लालिमा स्वाभाविक है, आगन्तुक नहीं है। यही इन दोनों उदाहरणों में अन्तर है।

"पूर्वोदाहरणे प्रत्यक्षवस्तुलिङ्गान्यागन्तुकानि, अत्र तु साहजिकानीति विशेषः।"

सामान्य

जहाँ दो पदार्थों में गुणों की समता के कारण एकता की प्रतीति होती है,

वहाँ सामान्य नामक अलंकार होता है। "समानयोर्भावः सामान्यम्" इस व्युत्पत्ति से भी गुण द्वारा वस्त्वन्तरों की एकता की प्रतीति ही सामान्य है।

इस अलंकार में वक्ता या कवि का लक्ष्य प्रस्तुत व अप्रस्तुत पदार्थों के गुण-साम्य की विवक्षा होती है। इस विषय में आचार्य रुय्यक का भी यही कथन है—

"यत्र प्रस्तुतस्य वस्तुनोऽप्रस्तुतेन साधारणगुणयोगादैकात्म्यं भेदानध्यवसायादिकरूपत्वं निबध्यते, तत्समानगुणयोगात् सामान्यम्।"

अर्थात् समानगुणयोग के कारण प्रस्तुत व अप्रस्तुत के भेद का जहाँ ज्ञान नहीं होता है, वहाँ सामान्यालंकार होता है। पण्डितराज ने सामान्य अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत् सजातीयग्रहणकृतं तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम्।"

बलवान् सजातीय पदार्थ के ज्ञान के कारण, जहाँ प्रत्यक्ष वस्तु का भी सजातीय पदार्थ से भिन्न-रूप में ज्ञान न हो, वहाँ सामान्य अलंकार होता है।

उदाहरण

यस्मिन् हिमानीनिकरावदाते, चन्द्रांशु कैवल्यमिव प्रयाते।
पुच्छाश्रयाम्यां विकला इवाद्रौ चरन्ति राकासु चिरं चमर्यः॥

हिम के समूह से धवल हिमालय, जिस समय चन्द्र-किरणों के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् चाँदनी में डूब जाता है, उस समय, उस हिमालय पर्वत में, पूर्णिमा की रातों में चमरियाँ (चमरीगायें) चिरकाल तक पूंछ व आधार से रहित सी (मालूम पड़ती हैं) घूमती हैं।

उक्त पद्य में प्रबलसजातीय चाँदनी के द्वारा आधारभूत हिमालय की व चमरी के पुच्छ की शुभ्रता को अपने में लीन कर लेने के कारण (प्रत्यक्षभूत) हिमालयरूप आधार का और पुच्छ का पृथक् रूप से ग्रहण नहीं होता है, इसलिए यहाँ सामान्यालंकार है। परन्तु यह सामान्यालंकार यहाँ "मानो बिना आधार व पूंछ से रहित घूमती हैं" इस उत्प्रेक्षा का अङ्ग बन गया है, अतः अङ्गाङ्गिभाव-संकरालंकार यहाँ है।

अर्थात् पुच्छाश्रय के वैकल्यसम्भावनारूप उत्प्रेक्षा का उत्थापक यह सामान्यालंकार होने से अङ्ग है।

"स्तबकभरैर्ललिताभिश्चलिताभिर्मरुत्तैर्नृप लताभिः।
वृत्तमुपवनमेवासीदरिमहिलानां महावनं भवतः॥

हे राजन् ! पुष्प-गुच्छों के समूह से सुन्दर तथा अनिलों से हिलने-वाली लताओं से परिवृत्त उपवन ही आपकी शत्रु-महिलाओं के लिये महावन बन गया ।

उक्त पद्य में उपवन को महावन कहा गया है कि छिपना आदि जो महावन का कार्य है उसको उपवन ही सम्पन्न कर रहा है । कहने का तात्पर्य यह है कि उपवन में स्थित शत्रुराजा की महिलाओं को प्रस्तुत राजा के सैनिक लताओं से पृथक् दृष्टिगोचर नहीं कर पा रहे हैं । यद्यपि लताओं में व महिलाओं में परस्पर पृथक् व्यक्तित्व का भान हो रहा है तथापि सैनिकों की दृष्टि में ये महिलायें भी लतायें ही हैं । लता से पृथक् जातीयत्वेन उनका ग्रहण नहीं हो रहा है ।

यहाँ सामान्यालंकार उनके मत से होगा, जिनके मत में व्यक्ति-भेद के ज्ञान होने पर भी, भिन्न जातीयत्वेन ज्ञान नहीं होता है—"व्यक्तिभेदग्रहेऽपि, भिन्न-जातीयत्वेनाग्रहणम्" इत्यादि मत में । कुछ विद्वानों की सम्मति में "भेदाग्रह" नामक एक अलंकार मान लिया जाय, उसी के अवान्तर-भेद ये मीलित, सामान्य व तद्गुण मान लिये जाय, जैसे एक उपमा के मान लेने पर फिर लुप्ता, पूर्णा आदि उसके अवान्तर-भेद हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी केवल "भेदाग्रह" नामक एक ही अलंकार माना जाय तो क्या हानि है ? इसके समाधान में पण्डितराज का कथन है कि इस प्रकार तो "अभेद" नाम का एक ही अलंकार मान लिया जाय, फिर रूपक, परिणाम व अतिशयोक्ति आदि उसी के अवान्तर प्रभेद क्यों न मान लिये जायें, जिस अवान्तर विच्छित्ति-विशेष के कारण इनको अलग-अलग अलंकार माना जाता है, उसी आधार पर मीलितादि अलंकारों को भी पृथक्-पृथक् मानना उचित ही है ।

अप्पय्य दीक्षित ने कुवलयानन्द में दो नये अलंकारों की उद्भावना की है । इनके नाम हैं, उन्मीलित और विशेषक । उन्मीलित, मीलित अलंकार का प्रतिद्वन्द्वी है । कुवलयानन्द में इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

"भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ" ।

अर्थात् जहाँ मीलित का लक्षण होने पर भी किसी कारण-विशेष से भेदज्ञान हो जाय, वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है । इसी प्रकार जहाँ सामान्य का लक्षण होने पर भी किसी कारण से वैशिष्ट्य-ज्ञान हो जाय वहाँ विशेष अलंकार होता है । क्रमशः इनके उदाहरण हैं—

(1) हिमाद्रि त्वद्यशोमग्न सुरा शीतेन जानते ।

हे राजन् ! हिमालय तुम्हारे यश में मिल गया है । परन्तु देवता उसे शीतगुण के कारण जानते हैं ।

(2) लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च ।

चन्द्रमा के उदय होने पर तालाब में प्रविष्ट नायिकाओं के मुख तथा कमलों का वैशिष्ट्य-ज्ञान स्पष्ट हो गया। पण्डितराज जगन्नाथ इन दोनों अलंकारों को नहीं मानते हैं। इन दोनों अलंकारों का समावेश वे अनुमान अलंकार में ही कर देते हैं। अर्थात् शीतगुण विशेष के दर्शन-रूप-हेतु से हिमालय की अतिरिक्तता का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् जहाँ-जहाँ शीत (गुण) रहता है, वहाँ वहाँ यशोभिन्नता रहती है। इसी अनुमिति-करणक व्याप्तिज्ञानरूप अनुमान के द्वारा यश से हिमाद्रि-भिन्नता का अनुमान कर लिया जाता है।

यहाँ प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के भी होने से और अनुमानात्मक ज्ञान के भी विद्यमान होने से समानविषयक अनुमिति के प्रति प्रत्यक्ष की ज्येष्ठ व श्रेष्ठ होने से बलवत्ता है, अर्थात् यहाँ प्रत्यक्ष व अनुमिति दोनों की सामग्रियाँ जुटी हैं। फलतः प्रत्यक्ष के ज्येष्ठ व श्रेष्ठ होने से हिमाचल में यशोभिन्नता का और मुखों में कमलापेक्षया भिन्न-जातीयता का प्रत्यक्ष ही होगा, न कि अनुमान। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अनुमानालङ्कार में अनुमिति का अर्थ वह ज्ञान है, जो व्याप्ति-विशिष्ट पदार्थ के पक्ष में रहने के ज्ञान से उत्पन्न होता हो, अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानजन्य ज्ञान हो, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अनुमान भी। इसीलिए हमने अनुमानालंकार के लक्षण-निरूपण-प्रसङ्ग में अनुमिति की व्याख्या करते हुए दूसरा पक्ष "अनुमितिश्चानुमितित्ववती" ऐसा लिखा है। अर्थात् "मैं अनुमान करता हूँ," इस प्रकार का मानस-साक्षात्कार साक्षिक-ज्ञान विशेष ही तो अनुमिति है। **"अनुमितित्वञ्च—अनुमिनोमीति मानससाक्षात्कारसाक्षिको जातिविशेषः" "अथवा व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मतानिश्चयजन्यं ज्ञानं वानुमितिः"** तात्पर्य यह है कि यहाँ हिमालय में यशोभिन्नता का और मुखों में कमलभिन्न जातीयता का ज्ञान भले ही प्रत्यक्षात्मक ही होता हो, पर वह होता है, शीत के ज्ञान तथा चन्द्रोदय होने पर भी संकुचित न होने के ज्ञान से ही। यद्यपि नैय्यायिकों ने प्रत्यक्षत्व से सर्वथा अस्पृष्ट अनुमिति की परिभाषा की है, यथापि हम आलंकारिक वैसी ही परिभाषा मानने के लिए बाध्य नहीं हैं। हम लोगों के परस्पर भिन्न मार्ग हैं। नैय्यायिकों को तो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द इन चार प्रमाणों का का विभाग करना लक्ष्य था। अतः उन्होंने प्रत्यक्ष ज्ञान से सर्वथा भिन्न अनुमिति की परिभाषा बनाई है। अन्यथा प्रमाणों का उक्त विभाजन नहीं हो सकता पर आलंकारिकों के सम्मुख ऐसी कोई बात नहीं है, अतः वे स्वतन्त्ररूप से अनुमिति की ऐसी परिभाषा बना सकते हैं, जो शुद्ध अनुमिति में और किसी किसी प्रत्यक्ष में भी संघटित हो। यद्यपि उक्त अर्थ में अनुमिति पद का व्यवहार मान्यजनों के द्वारा नहीं किया गया है, तथापि जिस प्रकार "उन्मीलित" आदि की नवीन परिभाषा बना दी जाती है। वैसे ही अनुमिति की भी नवीन परिभाषा हो सकती है।

अथवा अनुमिति की कोई नवीन परिभाषा न भी बनाई जाय, केवल अनुमितित्व-जातियुक्त ज्ञान-विशेष को अनुमान या अनुमिति कहा जाय, तथापि हमारे अनुमानालंकार में कोई बाधा नहीं आती है। प्रत्यक्ष सामग्री की प्रबलता के कारण, यदि अनुमिति की उत्पत्ति में प्रत्यक्षप्रमाण को प्रतिबन्धक माना जाय तो भी अनुमिति के करण की निर्विघ्न स्थिति की अनुमानता में कोई व्याघात नहीं आता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिबन्धकता के कारण अनुमिति के उदय न होने पर भी अनुमिति के कारण व्याप्तिज्ञान तो यहाँ है ही, अतः अनुमानालंकार मानने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि—**"अनुमितिकरणमनुमानम्"** इस लक्षण के अनुसार अनुमिति के करण का ही तो नाम अनुमान है। यदि यह कहा जाय कि जब अनुमिति ही नहीं हुई, तब उसका करण कैसे होगा, क्योंकि **"फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्"** ऐसा नियम है। अर्थात् फल के असम्बन्ध का अर्थात् फल के साथ नित्य सम्बन्धित जो कारण वही करण होता है, तो हम उक्त नियम को मानने के लिए बाध्य नहीं है। फल को उत्पन्न करता हुआ ही पदार्थ कारण हो ऐसा नहीं है, अपितु किसी प्रतिबन्धक विशेष से यदि फल को न भी उत्पन्न करे, पर फलजनक-व्यापार से युक्त पदार्थ करण कहलाता ही है, जैसे मणि मन्त्रादि से प्रतिबद्ध हो जाने पर भी अग्नि दाह के प्रति कारण नहीं है, ऐसा कोई नहीं कहता है। इस विषय में सरला टीकाकार की उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है, पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ उसे उद्धृत करना अनुचित न होगा—

> **"अर्थात् फलेन नित्यसम्बद्धता यदि भवति तदैव कारणता भवति, एवं च दाहरूपं फलं यत्र न भवति, तत्र अग्नेः करणताऽपि न भवतीति तु न शक्यते वक्तुम्। व्यापार एव (अर्थात् फलजनकव्यापारवत्त्वैव) करणत्वं प्रयोजयति। व्यापारवत्त्वं तु अग्न्यादेरस्त्येवेति, करणत्वसिद्धौ न प्रतिबन्धकं किञ्चिदित्यर्थः"।**

पण्डितराज पुनः अप्पय्यदीक्षित के उन्मीलितालंकार के उदाहरण की आलोचना कर रहे हैं।

कुवलयानन्द में यह पद्य इस प्रकार है—

> **नृत्यद्भर्गट्टहासप्रसरसहचरैस्तावकीनैर्यशोभिः,**
> **धावल्यं नीयमाने त्रिजगति परितः श्रीनृसिंहक्षितीन्द्रः।**
> **नेहम् यद्येष नाभीकमलपरिमलप्रौढिमासादयिष्यद्-**
> **देवानां नाऽभविष्यत् कथमपि कमलाकामुकस्यावबोधः॥**

कुवलयानन्दकार अप्पय्यदीक्षित का यहाँ यह कथन है कि विष्णु ने अपने नीलगुण को या नीलवर्ण को छोड़कर, श्रीनृसिंहदेव के यश की धवलता का ग्रहण कर लिया है, क्योंकि नृसिंह का यश तीनों लोकों में व्याप्त है, अतः उसकी

धवलिमा से वैकुण्ठ लोक भी धवल (शुभ) हो गया है। वैकुण्ठलोक में स्थित अन्य देवता जैसे शुभ्र हो गये वैसे ही उस यश से भगवान् विष्णु भी धवल हो गये, अब भगवान् विष्णु व देवताओं में कोई खास पहिचान तो रही नहीं क्योंकि यश की धवलिमा ने उन्हें भी आच्छादित कर दिया, अर्थात् उनका जो स्वाभाविक नीलगुण था, अब उसने धवलगुण को ग्रहण कर लिया, अतएव इस अंश में तद्गुण है। जिससे यश व भगवान् में भेद की प्रतीति नहीं हो रही है। परन्तु नाभि-कमल की सुगन्ध के कारण भगवान् विष्णु का भेद-ज्ञान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यश भी शुभ्र है और उसी यश से भगवान् भी शुभ्र हैं। (साथ ही साथ अन्य देवी देवता भी शुभ्र है) अब परस्पर भेदज्ञान कैसे हो सकता है, यदि भेदक भगवान् की नाभिकमल की सुगन्ध न हो तो, यश और भगवान् विष्णु के पारस्परिक भेद को पुनः नाभि-कमल के सौरभ ने ज्ञात करा दिया। यहाँ भेदक सुगन्ध के द्वारा यश व विष्णु के भेद का उन्मीलन कर देने से उन्मीलित अलंकार है।

इस प्रसङ्ग में पण्डितराज की आलोचना है कि तद्गुण अलंकार में दो गुणों के भेद का अग्रहण होता है न कि दो धर्मियों का या गुणियों का। प्रथम तो यह तद्गुण का ही उचित उदाहरण नहीं बनता है, क्योंकि दीक्षित जी ने यहाँ दो गुणों के भेद का अग्रहण न दिखलाकर गुणी यश व विष्णु के भेद का अग्रहण दिखलाया है। यथा कथञ्चित् अर्थात् "तुष्यतु दुर्जनन्याय" से इसको किसी प्रकार तद्गुण का उदाहरण मान भी लिया जाय, तो फिर इसमें "उन्मीलित" का लक्षण सङ्गत नहीं होता है। आपका कहना है कि नाभि के कमल के परिमल से भगवत्त्वेन भगवान् विष्णु का ज्ञान हो जाता है। ऐसी स्थिति में कमल-सौरभ द्वारा भगवत्तया भगवान् का ज्ञान होने पर भी भगवान् के गुण नीलिमा में यश के गुण धवलिमा के भेद के अग्रहणरूप तद्गुण में तो किसी प्रकार की बाधा नहीं आ रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि न तो यहाँ किसी प्रकार उक्त धवलगुणाभेद की प्रतीति में कोई परिवर्तन हो रहा है, जिससे कि तद्गुण की असङ्गति या असामञ्जस्य समझा जाय, और न तद्गुण के प्रतिद्वन्द्विता का ही यहाँ भान हो रहा है, क्योंकि सौरभ द्वारा भगवान् का ज्ञान होने पर भी यश के श्वेतत्व से जो भगवान् की नीलिमा तिरोहित हुई थी, वह तो फिर भी जैसी की तैसी ही है, अर्थात् फिर लौटकर तो नीलिमा आई नहीं। अब जब तद्गुण में किसी प्रकार की बाधा, परिवर्तन या न्यूनता ही नहीं आई, तो फिर तद्गुण की यहाँ प्रतिद्विन्द्विता कहाँ रही, जिससे कि यहाँ उन्मीलित माना जाय। दूसरी बात यह है कि उक्त उन्मीलित और विशेष अलंकारों को किसी भी प्रामाणिक प्राचीन आचार्य ने नहीं माना है, ये तो केवल आपकी ही कपालकल्पना के परिणाम हैं, इस प्रकार की विशृङ्खलित या शिथिल स्वोपज्ञता का अभिनय करना तो प्राचीनों की मर्यादा को तोड़कर बेलगाम आगे को दौड़ना है।

"अतः प्राचीनैः कृतविभागेष्वलङ्कारेष्विदं प्रथमोत्प्रेक्षितस्य यावदलङ्कारस्य शक्योऽन्तर्भावः कर्तुम् । न तावत् पृथगलङ्कारत्ववाचोयुक्त्या विगलितभ्रूङ्खलित्वमात्मनो नाटयितुं साम्प्रतं मर्यादावशंवदैरार्यैरिति ।"

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने सामान्यालङ्कार के उदाहरण के रूप में निम्न पद्य को प्रस्तुत किया है—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ।।

अर्थात् वेंत की छाल के समान कान्तिवाले (गौरवर्णा) बधुओं के कानों के ऊपर से कपोलतल पर आये हुए चम्पा के पुष्पों को, कौन पहचानता यदि गूंजते हुए भ्रमर उन पर नहीं गिरते तो ।

उक्त पद्य में मम्मट के कथन का अभिप्राय यह है कि यद्यपि पीछे भ्रमरों के पतन के कारण चम्पकपुष्प तथा कपोलतल की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है, तथापि पहिले जो दोनों में अभेदज्ञान होता है, उसके आधार पर यहाँ "सामान्यालंकार" है । क्योंकि पश्चात् किसी विरुद्ध ज्ञान के होने पर भी पूर्वज्ञान का नाश नहीं होता है ।[1]

इस पर पण्डितराज का कथन यह है कि उत्तरज्ञान से पूर्वज्ञान बाधित होता ही है, फिर चमत्कार भी उत्तरज्ञान-जन्य ही है, जो कि अलंकार का जीवातु है । यदि उत्तरज्ञान से पूर्वज्ञान को बाधित न माना जायेगा, तब तो व्यतिरेकस्थल में भी उपमा ही होगी, क्योंकि वहाँ भी व्यतिरेकज्ञान के पूर्व साम्य रहता ही है ।[2]

केवल एक विरोधाभास अलंकार ऐसा है, जो पूर्वोत्तर स्थिति में चमत्कारी बना ही रहता है, क्योंकि उसका स्वरूप ही दो तरह के ज्ञानों (विरोध तथा अविरोध) से बना हुआ है ।

---

1. वेत्रत्वग्वर्णसदृशगौरवर्णेन सह चम्पकस्य वर्णोऽभिन्नो जातः । इदानीं भृङ्गपातरूपे भेदनिमित्ते सत्यपि अभेदो न निवृत्तः, अपितु भृङ्गपातजनितः साम्प्रतिकी भेद एव द्रढयति यत्पूर्वमभेदो जात, इति । पूर्वमुत्पन्नस्य (अभेदस्य) इदानीमनुक्तत्वात्, कथं स्यात् ? अत एव भेदनिमित्ते उपस्थितेऽपि अभेदो न व्युदस्यते, इति काव्यप्रकाशाशयः ।
2. उत्तरकालिक्या भेदप्रतीत्या पूर्वबुद्धिस्तिरोहिता । अतएव पूर्वबुद्धेर्न चमत्कारिता । (उत्तरप्रतीत्या च) चमत्कारेण व्यपदेशः । अतएव भेदप्रतीतिरेव न्याय्येति पण्डितराजाशयः । (सरला टीका)

"अत्रोत्तरप्रतिपत्या तिरस्कृतत्वात् पूर्वप्रतीतेर्न चमत्कारित्वम् किन्तूत्तरप्रतीतेरेवेति, तयैव व्यपदेशो न्याय्यः। अन्यथा व्यतिरेकेऽप्युपमापत्तेः। विरोधाभासस्तु पूर्वोत्तरप्रतीतिद्वयात्मक इति भवति चमत्कारी।"

उत्तर

जहाँ किसी विशेष अभिप्राय से युक्त उत्तर दिया जाता है, वहाँ उत्तर अलंकार होता है। इसमें कहीं-कहीं तो उत्तर से ही स्वयं प्रश्न का अनुमान कर लेना पड़ता है, जिसे उन्नीत प्रश्न वाला उत्तर कहा जाता है, और कहीं कहीं वाक्यार्थ में प्रश्न शब्दतः उपात्त रहता है, जिसे निबद्ध प्रश्न वाला उत्तर कहा जाता है।

इस प्रकार उत्तरालंकार निबद्ध प्रश्न व उन्नीत प्रश्न के भेद से दो प्रकार का हुआ। पुनः यह उत्तरालंकार कभी कभी प्रश्न व उत्तर के साभिप्राय व निरभिप्राय होने से चार प्रकार का हो जाता है। उन्नीत व निबद्ध में भी उक्त साभिप्रायता के जोड़ देने से सब मिलाकर आठ प्रकार का हो जाता है। कहीं कहीं एक ही काव्य, वाक्य या पद्य में एक साथ प्रश्नोत्तरों की माला भी पाई जाती है।

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में उत्तरालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

"प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम्।"

प्रश्न के प्रतिबन्धकज्ञान के विषयीभूत अर्थ का नाम उत्तर है। अर्थात् जिस अर्थ के ज्ञान हो जाने पर प्रश्न रुक जाय, उस अर्थ को उत्तर या उत्तरालंकार कहते हैं। "प्रच्छ" धातु से भाव अर्थ में "नङ्" प्रत्यय करने पर "प्रश्न" शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है ज्ञीप्सा[1] अर्थात् ज्ञानविषयक इच्छा। फलतः प्रश्न शब्द का अर्थ हुआ जिज्ञासा—जानने की इच्छा। यह इच्छा या जिज्ञासा उत्तरवाक्य से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि प्रश्न के द्वारा जिस विषय या वस्तु को जानने की इच्छा प्रकट की जाती है, उस वस्तु या विषय का ज्ञान हो जाने पर, वह इच्छा या जिज्ञासा शान्त हो जाती है। जिस वाक्यार्थ से उस विषय का ज्ञान होता है वही उत्तर है। यही उत्तर जब कविप्रतिभोत्थित होता है तो यह अलंकार कहलाता है।

जिज्ञासा का अर्थ होता है, किसी विषय को जानने की इच्छा। किसी विषय को जानने की इच्छा तभी हो सकती है जब कि उक्त विषय में इष्टसाधनता का

---

1. "ज्ञीप्सा—ज्ञानविषयेच्छा, ज्ञानं विषयो यस्याः, ईदृशी इच्छा, जिज्ञासेति भावः।"

ज्ञान हो, अन्यथा तो प्रमत्त के सिवाय और कोई भी उस निरर्थक विषय को जानने की इच्छा नहीं करेगा ।

अभिप्राय यह है कि किसी प्रश्न में तभी प्रवृत्ति हो सकती है, या कोई भी विषय तभी जिज्ञास्य हो सकता है, जब कि उसमें "इदं मदिष्टसाधनम्" यह ज्ञान हो, क्योंकि इष्टसाधनताज्ञान ही प्रवृत्ति का प्रयोजक है ।

अब जब प्रश्न-विषयक ज्ञान में इष्टसाधनताज्ञान हो ही गया, तब जिज्ञास्य विषय में भी वह सम्पन्न हो जायेगा अर्थात् उसमें भी इष्टसाधनता-ज्ञान की सिद्धि हो जायेगी, जब प्रश्नवेला में ही प्रश्नविषयीभूत ज्ञान की सिद्धि हो गई, फिर आगे तद्विषयक किसी प्रश्न का उत्थान ही नहीं होगा, अर्थात् जिज्ञासा ही नहीं होगी। क्योंकि अब प्रश्नविषयक इच्छा की सिद्धि प्रतिबन्धिका हो जायेगी ।

इस प्रकार की आशङ्का पर समाधान देते हैं कि—"किमेकं दैवतं लोके" इत्यादि । जैसे किसी ने प्रश्न किया कि संसार में मुख्य देवता कौन है ? प्रश्नकर्त्ता का यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि दैवतत्व व्याप्य धर्म है प्रकार जिनमें ऐसे विष्णुत्वादि का ज्ञान मेरा इष्टसाधन है, अर्थात् "एकदैवतत्वव्याप्यधर्मप्रकारकज्ञानं मे जायताम्" इस प्रकार की इच्छा उक्त "किमेकं दैवतं लोके" इस वाक्य से अनुमित होती है । यद्यपि यहाँ प्रश्न में केवल दैवतत्वव्याप्यधर्मप्रकारकज्ञान ही इष्ट था, परन्तु उत्तर में दैवतत्वव्याप्यधर्मप्रकारकज्ञान से "विष्णु दैवतम्" इत्यादि ज्ञान भी अभीष्ट है । अब यह स्पष्ट हो गया कि प्रश्नकर्त्ता को जो इष्ट है, उत्तर-वाक्य द्वारा उस तरह के ज्ञान होने पर ही इच्छा प्रतिबद्ध होगी, अर्थात् प्रश्न रुकेगा । अर्थात् यद्विषयक जिज्ञासा तद्विषयक उत्तर हुआ । जिज्ञासा व उत्तर का विषय एक ही हुआ अर्थात् अन्यविषयक जिज्ञासा व अन्यविषयक उत्तर नहीं हुआ ।[1]

उन्नीत प्रश्नविषयक उत्तरालङ्कार का उदाहरण

त्वमिव पथिकः प्रियो मे विटपिस्तोमेषु गमयति क्लेशान् ।
किमितोऽन्यत् कुशलं मे सम्प्रति यत्पान्थ जीवामि ॥

हे पथिक ! मेरा प्रिय तेरे ही जैसा पथिक है, और वृक्षसमूहों में अर्थात्

---

1. अयं भावः—एकं दैवतं किम् इति जिज्ञासायाम्, "विष्णुदेवतम्, शिवो दैवतम्," इत्यादीनि विशेषज्ञानानि अन्तर्भूतानि, यतस्तस्यास्तान्येव विषयाः । अतः, उत्तरवाक्यगतैस्तैरेव तस्याः शान्तिर्जायते । ततश्च एक एव जिज्ञासा उत्तरयोर्विषयो जात इति पूर्वशङ्कायाः समाधानम् । (सरला टीका)

सघन वृक्षों की छाया में मार्ग के परिश्रम को दूर करता है। इससे अतिरिक्त मेरी और कुशल क्या है कि अभी जी रही हूँ।

उक्त पद्य में किसी पथिक की पत्नी के द्वारा, किसी दूसरे पथिक के प्रति दिया गया यह उत्तर है।

इस उत्तर से ही पथिक के द्वारा किये गये प्रश्न का अनुमान किया जाता है, क्योंकि विना कुशल प्रश्न के, कुशल-विषयक उत्तर का कथन असङ्गत होता है, अतः यह अवर्णित प्रश्न का वर्णित उत्तर के आधार पर प्रश्न का उन्नयन होने से उन्नीत प्रश्न-विषयक उत्तरालंकार का उदाहरण है।

"अत्र कस्यचित् पान्थस्य पुरन्ध्र्याः कञ्चित् पथिकान्तरं प्रत्युत्तरेण, तत्कर्तृकः कुशलप्रश्नोऽनुमीयते, कुशलमपृष्टायाः कुशलोक्तेरयोगात्।"

निबद्धप्रश्नविषयक उत्तरालंकार का उदाहरण

किमिति कृशासि कृशोदरी ! किं तव परकीयवृत्तान्तैः।
कथय तथापि मुदे मम कथमिष्यति याहि पान्थ तव जाया॥

उक्त पद्य में उत्तर के साथ-साथ प्रश्नों का भी वर्णन है, अतः यह निबद्ध-प्रश्न विषयक उत्तरालंकार का उदाहरण है। यहाँ कवि ने जो प्रश्नोत्तरों का निबन्धन किया है, उनसे ध्वनित होने वाले अर्थ का यहाँ विवेचन किया जाता है "किमिति" इस पद्य में "क्यों दुर्बल हो !" इस प्रश्न से यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है कि "यदि कृशता का कारण बता दो तो, उसका मैं प्रतीकार करूँगा" पुनः "तुम्हें दूसरों के वृत्तान्तों से क्या प्रयोजन" इस उत्तर का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि—"मैं पतिव्रता हूँ, पर-पुरुष के सामने अपनी कृशता का कारण कहना उचित नहीं है, और न तुम उसका प्रतीकार ही कर सकते हो।" तब भी कुछ कहो, मुझे सन्तोष होगा, पथिक के इस द्वितीय प्रश्न का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि पातिव्रत्य में क्या रक्खा है, पातिव्रत्य तो केवल असहृदयों की हठकल्पना है, संसार का सार तो, अपने आपको और दूसरों को सन्तुष्ट करना है, पुनः उस सुन्दरी का "पथिक जाओ, तुम्हारी पत्नी स्वयं कह देगी" इस द्वितीय उत्तर का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि "जो दशा मेरी है, वह तेरी पत्नी की भी है, तुम उसकी दुर्दशा का प्रतीकार करो, कोई भी अपने घर को जलता छोड़कर, दूसरे के घर की आग नहीं बुझाता, यदि अपनी हानि सहकर भी परोपकार करना चाहिए' 'यह तुम्हारी इच्छा है तो ऐसे उपकार में प्रवृत्त तेरी पत्नी का उपकार भी तेरे ही जैसे किसी दूसरे परोपकारी को करना पड़ेगा, अतः मेरे ही समान परपुरुष से दूर रहने वाली अपनी पत्नी की ही विरहवेदना तुम दूर करो, यही तुम्हारे लिए उचित है।'

कुछ विद्वानों का कथन है कि उत्तरालंकार में तब चमत्कार आता है, जबकि

प्रश्न व उत्तरों की परम्परा हो या प्रश्नोत्तरों की माला हो, इन लोगों के अनुसार निम्न पद्य उत्तरालंकार का उदाहरण है—

श्यामं यज्ञोपवीतं तव किमित मषीसंगमात्कुत्र जातः,
सोऽयं शीतांशुकन्यापयसि कथमभूत्तज्जलं कज्जलाक्तम् ।
व्याकुप्यन्नूरदीनक्षितिरमणरिपुक्षोणिभृत्पक्ष्मलाक्षी-
लक्षाक्षीणाश्रुधारासमुदितसरितां सर्वतः सङ्गमेन ॥

हे ब्राह्मण ! तेरा यज्ञोपवीत काला क्यों है ? स्याही की तरह मटमैले जल के सम्पर्क से । यज्ञोपवीत में यह मटमैले जल का सम्पर्क कहाँ से हुआ ? नर्मदा के जल से नर्मदा का जल स्याही की तरह मलिन कैसे हो गया ? क्रोधयुक्त बादशाह जहाँगीर (नूरदीन) के शत्रुभूत राजाओं की लाखों सघनपलकोंवाली सुन्दरियों की निरन्तर अश्रुधाराओं से बनी नदियों के चारों ओर से मिल जाने के कारण ।

उक्त पद्य में प्रश्नोत्तरों की शृङ्खलारूप माला होने से उत्तरालंकार है ।

कभी कभी यह उत्तरालंकार प्रहेलिका-रूप में भी उपलब्ध होता है, और प्रश्नोत्तर भी एक ही वाक्यान्तर्गत या पदान्तर्गत होते हैं । कहीं तो उत्तर-ज्ञान के लिए एक बार ही शब्द का श्रवण पर्याप्त होता है, और कहीं कहीं पद या वाक्य की आवृत्ति भी अपेक्षित होती है । कहीं कहीं अनेक प्रश्नों का एक ही पद से उत्तर हो जाता है । इन्हीं को शब्दान्तर से अन्तर्लापिका व बहिर्लापिका प्रहेलिका-भेद भी कह सकते हैं ।

दिग्दर्शनमात्र के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—

किं कुर्वते दरिद्राः, का सारवती धरा मनोज्ञतरा ।
कोऽपावनस्त्रिलोक्याम्,.....॥

"किं कुर्वते दरिद्राः" दरिद्र लोग क्या करते हैं ? इस प्रश्न का संस्कृत भाषा में, यही वाक्य उत्तर भी हैं,—"दरिद्राः किंकुर्वते" अर्थात् दरिद्र लोग किंकरता (नौकरी चाकरी) करते हैं । इसी प्रकार "का सारवती धरा मनोज्ञतरा" अर्थात् कौन सी पृथ्वी सारयुक्त और अत्यन्त सुन्दर होती है इस प्रश्न प्रश्न का संस्कृत में उत्तर भी यही वाक्य है । "कासारवती धरा मनोज्ञतरा" अर्थात्—तालाबों वाली पृथ्वी अत्यन्त सुन्दर होती है । प्रकार "कोऽपावनस्त्रिलोक्याम्" अर्थात् त्रिलोकी में अपवित्र कौन है ? इस प्रश्न का संस्कृत में उत्तर है । "कोपावनः" क्रोध का अवनया-रक्षक, अर्थात् क्रोधी तीनों लोकों में सबसे अपवित्र है ।

गङ्गाधरस्य कृपया एकमध्ययनमिदम् ।
रसगङ्गाधरस्यास्य थानेशचन्द्रेण निर्मितम् ।।

व्याख्याप्रसादमादाय विदुषां विहिता मया ।
विनोदाय सतां चात्र मीमांसा कापि नूतना ।।

विरुद्धमविरुद्धं वा विवेचनमिदं मम ।
विज्ञाय विज्ञाः क्षाम्यन्तु शोधयन्त्विति प्रार्थये ।।

———

शुभम् भूयात्

उप्रेत्युपनामक थानेशचन्द्र द्वारा निर्मित "रसगङ्गाधर एक अध्ययन" नामक ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ ।

परिशिष्ट

उदाहरण रूप में उदधृत श्लोकों की सूची

अकरुण मृषाभाषसिन्धो	262	अवधौ दिवसावसानकाले	252
अकरुणहृदय प्रियतम	265, 271	अवाप्य भङ्गं खलु	265
अङ्गानि दत्वा हेमाङ्गि	516	असावुदयमारुढः	296
अङ्गैः सुकुमारतरैः	479	अष्टावेव रसाः नाट्ये	204
अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति	348	अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे	393
अत्रानुगोदं मृगया	349	अहं लताया सदृशी	337
अधरद्युतिरस्तपल्लवा	257	अहन्नेको रणे राम	508
अधरेण समागमाद्	549	अहिव्रत पापात्मन्	272
अद्य या मम गोविन्द	340	अहीनचन्द्रा लसताननेन	360
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य	345	आपद्गतः खलु महाशय चक्रवर्ती	424
अनल्पतापाः कृतकोटिपापा	379	आमूलाद्रत्नसानो	258
अनाथः स्नेहार्द्रां	484	आयाता कमलासनस्य	514
अनिशं नयनाभिरामया	432	आयातैव निशा मन	529
अनुकूलभावमथवा	436	आलीषु केलीरभसेन	261
अनौचित्यादृते नान्यद्	226	आलोक्य सुन्दरि मुखं	376
अन्याः जगद्धितमयी	412	इत एव निजालयं गताया	346
अपहाय सकलबान्धव	215	इन्दुना परसौन्दर्य	361
अपारे किल संसारे	433	उन्मूलितः सह बलेन	437
अपारे संसारे विषय	359	उन्मेषं यो मम न सहते	395
अपि बत गुरुगर्वं	547	उपकारमेव कुरुते	344, 507
अभूदप्रत्यूहः कुसुम	470	उपनिषदः परिपीता	477
अमितगुणोऽपि पदार्थः	343	उल्लासः फुल्लपङ्के	175
अमृतलहरीचन्द्रज्योत्स्ना	482	उर्वी शासति मप्युपद्रवलवः	467
अमृतस्य चन्द्रिकाया	421	एतत्तर्कय कैरवल्कमहरे	367
अयं पततु निर्दयं	245	ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण	443
अयं स रसनोत्कर्षी	162	करतलनिर्गलदविरल	302
अयमतिजरठाः	452	कलिन्दगिरिनन्दिनी	410
अये राजन्नाकर्णय	492	कनकद्रवकान्तिकान्तया	371
अलं हिमानी परिदीर्णगात्रः	453	कथय कथमिवाशा	529
अलभ्यं सौरभ्यं	542	कस्ते शौर्यमदो योद्धुं	464

कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित् 376
काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी 368
कालिन्दजानीरभरेऽर्धमग्ना 402
कालागुरुद्रवं सा 249
किं ब्रूमस्तव वीरतां 233
किं नाम तेन न कृतं 494
किं मित्रं सततोपकारसिकं 519
किमिति कृशासि कृशोदरि 562
किं जल्पसि मुग्धतया 534
किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं 518
किं कुर्वते दरिद्राः 563
किमहं वदामि खल 467
कुण्डलीकृतकोदण्ड 225
कुचकलशयुगान्त 254
कुचाभ्यामालीढं 550
कुत्र शैवं धनुरिदं 270
कुवलयलक्ष्मीं हरते 484
कुसुमानि शरा 473
कृतं त्वयोन्नतं कृत्यं 308
कृतक्षुद्राघौघानथ 339
केशैर्वधूनामथ सर्वकोषैः 436
कोदण्डच्युतकाण्डमण्डल 493
कौमुदीव भवती विभाति 335
क्व सूर्यप्रभवो वंशः 537
क्वाहं तमो महदहं 488
क्षीण क्षीणोऽपि शशि 430
गगने चन्द्रिकायन्ते 378
गच्छ गच्छसि चेत् कान्त 290
गणिकाजामिमुख्या 241
गाङ्गमम्बु सितमम्बु 551
गीर्भिर्गुरुणां परुषक्षराभिः 424
गुञ्जन्ति मञ्जु परितो 303
गुरुमध्यगता मया 161
गुरुमध्ये कमलाक्षी 240
चपला जलदाच्युता 365
ग्रामतरुणं तरुण्या 169
चराचरजगज्जाल 227
चातकस्त्रिचतुरान् 540
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते 206
चोलस्य यद्भीति पलायितस्य 295
जम्भीरश्रियमतिलङ्घ्य 503
जलकुम्ममुम्भितरसं 553
जितमौक्तिकसम्पदां 531
जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं 499
ढुंढलायमानो मरिष्यसि 342
तदवधि कुशली पुराण 305
तद्गुणः स्वगुणत्यागात् 549
तद्वल्गुना युगपत् 338
तथा सजातीयविजातीयै 206
तन्मञ्जुमन्दहसितं 252
तरणितनया किं स्यादेषा 364
तल्पगताऽपि च सुतनुः 161
तस्मिन् माणीव्रातहृतान्धकारे 511
तस्य च प्रवयसो जटायुषः 515
तां तमालतरुकान्ति 245
तापत्रयं खलु नृणां 426
तावत् कोकिल विरसान् 423
तारानायकशेखराय 360
तृष्णा लोलविलोचने 271
त्वत्पादनखरत्नानां 351,427
त्वत्प्रतापमहादीप 391
त्वमिव पथिकः प्रियः 561
त्वां सुन्दरीनिवहनिष्ठुर 463
त्वामन्तरात्मनि लसन्त 428
दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती 266
दयिते रदनत्विषां 306

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी 369
दिगन्ते श्रूयन्ते 458
दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृत 346
दिवानिशं वारिणि 392
दीनव्राते दयार्द्रा 378
दीनद्रुमान्वचोभिः 495
दूरीकरोति कुमति 419
दृशा दग्धं मनसिजं 496
दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्तं 480
दृष्ट्वैकासनसंस्थिते 237
देव त्वद्दर्शनादेव 416
देवाः के पूर्वदेवाः 305
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया 415
नखैर्विदारितान्त्राणां 219
नगेभ्यो यान्तीनां 341
नदन्ति मददन्तिनः 304
न धनं न च राज्यसम्पदं 273
नयनानन्दसन्दोह 410
नयने सुदृशां पुरः 493
नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ 375
नवोच्छलितयौवन 215
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा 263
नारिकेल-जलक्षीर 279
नार्यः स यो न स्वहितं 500
नान्यास्ति किं भूमितले 536
निखिलं जगदेव नश्वरं 260
निखिलां रजनीं प्रियेण 270
निगीर्याध्यवसानं तु 413
नितरां परुषा सरोजमाला 234
नितरां हितयाद्य निद्रया 263
निपतद्वाष्पसंरोध 268
निमानेन क्लेशैर्मननजलधे 146
निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या 441
निरुपादानसम्भार 474
निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि 243
निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं 147, 175
निःशेषच्युतचन्दनं 162
निष्णातोऽपि च वेदान्ते 543
नीतो नासान्तिकं तन्व्या 549
नृत्यद्भर्गाट्टहास 557
नैगुर्ण्यमेव साधीय 548
पङ्क्तैर्विना सरो भाति 439
पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः 517
परपुरुषदृष्टिपातवज्राहति 489
परिष्कुर्वन् त्वर्थान् 147
पापं हन्त मया हतेन 279
पाषाणादपि पीयूषं 146
पुरा यत्र स्रोतः 445
पुरा सरसि मानसे 459
पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे 326
प्रणिपत्य विधे भवन्तमद्धा 544
प्रमोदभरतुन्दिल 236
प्रसङ्गे गोपानां गुरुषु 264
प्रहरविरतौ मध्ये वा 171
प्राणानर्पय सीतां वा 525
प्रिये विषादं जहिहीति वाचं 218
बधान प्रागेव द्रढि 309
बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् 485
ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैव 227
भद्रात्मनो दुरधिरोहतनो 287
भवनं करुणावती 275
भास्करसूनावस्तं 267
भूमिनाथ शहाबुदीन 242
मननतरितीर्णविद्यार्णवो 147
मन्त्रैर्मीलितमोषधैः 451
मधुरतरं स्मयमानः 258
मरकतमणिमेदिनीधरो वा 364
मलयानिलकालकूटयो 215

मलिनेऽपि रागपूर्णा 447
महतः परमव्यक्तं 503
मा कुरु कशां कराब्जे 262
मान्थर्यमाप गमनं 436
मित्रत्रिपुत्रनेत्राय 174
मुञ्चसि नाद्यापि रूपं 277
मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा 421
मृद्वीका रसिता सिता 303
यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां 269
यदि लक्ष्मण सा मृगेक्षणा 273
यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी 266
यस्मिन् हिमानीनिकरावदाते 554
यथा तालं विना राग 440
यथासंख्यं क्रमेणेव 512
यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु 490
या निशा सर्वभूतानां 415
युक्तं तु याते दिवकासफेन्द्रौ 492
युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः 486
यौपनोद्गमनितान्तशंकिता 278,513
रणे दीनान् देवान् 216
रतिः शोकश्च निर्वेदः 204
रतिर्देवादिविषया 222
रत्यादयः स्थायिभावाः 207
रमणीयस्तवकयुता 336
रम्यहासा रसोल्लासा 307
रसगङ्गाधरनामा 147
राघवविरहज्वाला 170
राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे 302,447
रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति 542
रामं स्निग्धतरश्यामं 375
लभ्यते पुण्यैर्गृहिणी मनोज्ञा 498
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि 394
लीलया विहितसिन्धुबन्धनः 260
लोकानां विपदं धुनोषि 487
लोभाद् वराटिकानां 539
वदने विनिवेशिता भुजङ्गी 383
वाचा निर्मलया सुधा 246
विधिरत्यन्तमप्राप्ते 517
विनयेन विना का श्रीः 438
विनिन्द्यान्युन्मत्तैरपि 505
विद्वानेव विजानाति 424
वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी 277
वदनं विना सुकवितां 439
वक्षोजाग्रं पाणिनामृष्य दूरे 263
वागर्थाविव सम्पृक्तौ 213
वाचो माङ्गलिकी प्रयाणसमये 214
विधत्तां निःशंक 339
विधाय सा मद्वदनानुकूलं 258
विधिवञ्चितया मया 255
विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां 475
विमुञ्चसि यदि प्रिय 495
विम्बोष्ठ एव रागस्ते 515
विरहेण विकलहृदया 254
विरुद्धैरविरुद्धैर्वा 206
विशालाभ्यामाभ्यां किमिह 440,543
वेत्रत्वचा तुल्यरुचां 559
शयिता शैवलशयने 256
शयिता सविधेऽप्यनीश्वराः 159 213
शशिना च निशा निशया च शशि 434
शिञ्जानैर्मञ्जरीति 373
शानास्य शमसाध्यत्व 203
शीलभारवती कान्ता 421
शृङ्गारः करुणः शान्तः 209
शृङ्गारहास्यकरुण 202
श्यामं यज्ञोपवीतं 563
श्यामं सितञ्च सुदृशो 382
श्येनमम्बरकलात् 219
श्लेषः प्रसादः समता 231

श्रियो मे मा सन्तु	547	सुदृशो जितरत्नजालया	488
श्रीतातपादैर्विहिते	217	सेवायां यदि साभिलाषमसि	518
श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोः	146	सौमित्रै ननु सेव्यतां	347
संसारे चेतनास्तत्र	502	सैषा स्थली यत्र	398
सदैव स्नेहासुद्रे रतटिनि	523	स्वं स्वं व्यावृतिमग्न मानसतया	541
सन्तापयामि हृदयं	255	स्वर्गनिर्गतनिरर्गल	237
सम्पदा सम्परिष्वक्तः	439	स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मी	498
सम्भूत्यर्थं सकलजगतो	454	स्तबकभरैर्ललिताभिः	554
समुत्पत्तिः पद्मारमणपद	528	स्मृतिः सादृश्यमूला वा	347
सरसिजवनबन्धु	241	स्पष्टास्ता नन्दने शच्याः	461
सरसि सहोदरसुरभाव	553	स्मितं नैतत् किन्तु	381
सर्वेऽपि विस्मृतिपथं	276	स्मृतापि तरुणातपं	145
साधु दूति पुनः साधु	464	स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालि	235
सा मदागमनबृंहित	260	हतकेन मया वनान्तरे	256
साहंकारसुरासुराबलि	236,303	हृदये कृतशैवलानुषङ्गा	261
साहित्यपाथोनिधि	469	हरिः पिता हरिर्माता	238
सिन्दूरैः परिपूरितं	365	हरिमागतमाकर्ण्य	272

PARIMAL PUBLICATIONS
A House of Indological Books
27/28 Shakti Nagar, Delhi-110007